सम्पादकीय

भगवतीसूत्र : एकादशांगी का उत्तमांग

जैन-आगम-साहित्य में समस्त जैनसिद्धान्तों के मूल स्रोत बारह अंगशास्त्र माने जाते हैं (जो 'द्वादशांगी' के नाम से अतीव प्रचलित हैं। इन बारह अंगशास्त्रों में 'दृष्टिवाद' नामक अन्तिम अंगशास्त्र विच्छिन्न हो जाने के कारण अब जैनसाहित्य के भंडार में एकादश अंगशास्त्र ही वर्तमान में उपलब्ध हैं। ये अंग 'एकादशांगी' अथवा 'गणिपिटक' के नाम से विश्रुत हैं।

जो भी हो, वर्तमान काल में उपलब्ध ग्यारह अंगशास्त्रों में भगवती अथवा 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र जैन आगमों का उत्तमांग माना जाता है। एक तरह से समस्त उपलब्ध आगमों में भगवती सूत्र सर्वोच्चस्थानीय एवं विशालकाय शास्त्र है। द्वादशांगी में व्याख्याप्रज्ञप्ति पंचम अंगशास्त्र है, जो गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित है।

नामकरण और महत्ता

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी अद्भुत ज्ञाननिधि से परिपूर्ण है। जिस शास्त्रराज में अनन्तलब्धिनिधान गणधर गुरु श्रीइन्द्रभूति गौतम तथा प्रसंगवश अन्य श्रमणों आदि द्वारा पूछे गए ३६,००० प्रश्नों का श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के श्रीमुख से दिये गए उत्तरों का संकलन-संग्रह है, उसके प्रति जनमासन में श्रद्धा-भक्ति और पूज्यता होना स्वाभाविक है। वीतरागप्रभु की वाणी में समग्र जीवन को पावन एवं परिवर्तित करने का अद्भुत सामर्थ्य है, वह एक प्रकार से भागवती शक्ति है, इसी कारण जब भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का वाचन होता है तब गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामी को सम्बोधित करके जिनेश्वर भगवान् महावीर प्रभु द्वारा व्यक्त किये गए उद्गारों को सुनते ही भावुक भक्तों का मन-मयूर श्रद्धा-भक्ति से गद्गद होकर नाच उठता है। श्रद्धालु भक्तगण इस शास्त्र के श्रवण को जीवन का अपूर्व अलभ्य लाभ मानते हैं। फलतः अन्य अंगों की अपेक्षा विशाल एवं अधिक पूज्य होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो 'भगवती' शब्द विशेषण न रह कर स्वतंत्र नाम हो गया है। वर्तमान में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम ही अधिक प्रचलित है। वर्तमान **'व्याख्याप्रज्ञप्ति'** का प्राकृतभाषा **'वियाहपण्णत्ति'** नाम है। कहीं-कहीं इसका नाम 'विवाहपण्णत्ति' या 'विवाहपण्णत्ति' भी मिलता है। किन्तु वृत्तिकार आचार्यश्री अभयदेव सूरि ने 'वियाह-पण्णत्ति' नाम को ही प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित माना है। इसी के तीन संस्कृतरूपान्तर मान कर इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है—

व्याख्याप्रज्ञप्ति—गौतमादि शिष्यों को उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में भगवान् महावीर के विविध प्रकार से कथन का समग्रतया विशद (प्रकृष्ट) निरूपण जिस ग्रन्थ में हो। अथवा जिस शास्त्र में विविधरूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्ररूपण किया गया हो।

व्याख्या-प्रज्ञाप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञा (बुद्धिकुशलता) से प्राप्त होने वाला अथवा व्याख्या करने में प्रज्ञ (पटु) भगवान् से गणधर को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, वह श्रुतविशेष।

※ समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में नाना प्रकार के ३६००० प्रश्नों का व्याख्यान (कथन) है; जो कि अनेक देवों, राजाओं, राजर्षियों, अनगारों तथा गणधर गौतम आदि द्वारा भगवान् से पूछे गए हैं। 'कषायपाहुड' के अनुसार प्रस्तुत आगम में जीव-अजीव, स्वसमय-परसमय, लोक-अलोक आदि की व्याख्या के रूप में ६० हजार प्रश्नोत्तर हैं। आचार्य अकलंक के मतानुसार इसमें 'जीव है या नहीं ?' इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निरूपण है। आचार्य वीरसेन के मतानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरों के साथ ९६ हजार छिन्नछेदनयों से ज्ञापनीय शुभाशुभ का वर्णन है।[1]

※ प्राचीन सूची के अनुसार प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, सौ से अधिक अध्ययन (शतक), दश हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर तथा २८८००० (दो लाख अठासी हजार) पद एवं संख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि में अनन्तगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते हैं।[2]

※ वर्तमान में उपलब्ध 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' में ४१ शतक हैं। 'शतक' शब्द शत (सयं) का ही रूप है। प्रत्येक शतक में उद्देशकरूप उपविभाग हैं। कतिपय शतकों में दश-दश उद्देशक हैं, कुछ में इससे भी अधिक हैं। ४१ वें शतक में १९६ उद्देशक हैं।[3]

※ प्रत्येक शतक का विषयनिर्देश शतक के प्रारम्भ में यथास्थान दिया गया है। पाठक वहाँ देखें।

※ प्रस्तुत शास्त्र में भगवान् महावीर के जीवन का तथा, उनके शिष्य, भक्त, गृहस्थ, उपासक, अन्यतीर्थिक गृहस्थ, परिव्राजक, आजीवक एवं उनकी मान्यताओं का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। साथ ही उस युग में प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन, मत एवं उनके अनुयायियों की मनोवृत्ति तथा कतिपय साधकों की जिज्ञासाप्रधान, सत्यग्राही, सरल, साम्प्रदायिक कट्टरता से रहित उदारवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इसमें जैनसिद्धान्त, समाज, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, भूगोल, गणित आदि सभी विषयों का स्पर्श किया गया है। विश्वविद्या की कोई भी ऐसी विद्या नहीं है, जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इसमें न हुई हो। अन्य आगमों की अपेक्षा इसमें विषय-वस्तु की दृष्टि से विविधता है।[4] □□

---

१. (क) समवायांग सू. ९३, नन्दीसूत्र सू. ८५,४९, (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक १/२० (ग) कषायपाहुड भा. १, पृ. १२५ (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ. १८९

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४ (ख) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. ११३, (ग) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ. १८९

४. (क) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ. १२५, १२६, ११३

[An auspicious publication at the Holy occasion of Birth Century of Rev. Acharya Sri Atmaramji Maharaj the first Acharya of Vardhman Sthanakvasi Jain Sramana Sangha]

☐ **Board of Editors**

Anuyoga-pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharill

☐ **Managing Editor**

Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**

Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Financial Assistance**

Shri Seth Hirachandji Chauradiya

☐ **Publishers**

Sri Agam Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305901

☐ **Printer**

Satishchandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer—305001

☐ Price [illegible]

समर्पण

जो अपने युग में असाधारण व्यक्तित्व के वैभव से विभूषित थे,

जिनागम-निरूपित विमल साधना का संकल्प ही जिनका एकमात्र साध्य रहा,

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार एवं जिन-शासन के उद्योत के लिए जिनका संयम-जीवन समर्पित रहा,

जिनकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा ने काला-नुक्रम से विशाल-विराट् रूप धारण किया,

जिन्होंने अपने जीवन द्वारा जैन इतिहास के नूतन अध्यायों का निर्माण किया, उन

परमपूज्य

आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज

के कर-कमलों में

सादर सविनय सभक्ति !

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

आगमप्रेमी स्वाध्यायशील पाठकों के कर-कमलों में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' अंग, जो अपनी अनेक विशिष्टताओं के कारण 'भगवती' नाम से प्रख्यात है, समर्पित करते हुए सन्तोष और आनन्द का अनुभव होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति विशालकाय आगम है। प्रस्तुत ग्रंथ उसका प्रथम भाग है, जिसमें पांच शतकों का सन्निवेश हुआ है। दूसरा भाग लगभग इतना ही दलदार प्रेस में दिया जा चुका है। इससे आगे का सम्पादन-कार्य चालू है।

प्रस्तुत आगम समिति द्वारा अब तक प्रकाशित आगमों में से १४ वां ग्रन्थाङ्क है। इससे पूर्व विपाकश्रुत, नन्दी और औपपातिक आदि सूत्र प्रकाशित किए जा चुके हैं।

यशस्वी साहित्यसर्जक श्री देवेन्द्रमुनिजी म. शास्त्री भगवती की प्रस्तावना लिखने वाले थे और वह प्रथम भाग के साथ ही प्रकाशित होने वाली थी, किन्तु स्वास्थ्य अनुकूल न होने के कारण प्रस्तावना लिखी नहीं जा सकी। अतएव वह अन्तिम भाग में दी जाएगी।

प्रस्तुत आगम का अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित प्रवर श्रमणसंघीय मुनिवर श्रीपद्मचंदजी म. (भंडारी) के सुयोग्य शिष्य मुनिवर श्री अमरमुनिजी म. तथा श्रीयुत श्रीचंदजी सुराणा ने किया है। मुनिश्री के इस अनुग्रह-पूर्ण सहयोग के लिए समिति अतीव आभारी है। आगम-प्रकाशन का यह महान् भगीरथ-कार्य न व्यक्तिगत है, न सम्प्रदायगत। यह समग्र समाज के लिए समान रूप से उपयोगी है। अतएव हमारा यह आशा करना कि समग्र समाज एवं सभी मुनिराजों का हमें समान रूप से हार्दिक सहयोग प्राप्त होगा, उचित ही है।

इसके मुद्रण में श्रीमान् सेठ हीराचन्दजी चोरड़िया साहब का विशिष्ट आर्थिक सहकार प्राप्त हुआ है। उनके प्रति भी हम आभारी हैं। आपके अतिरिक्त सभी अर्थसहयोगी सदस्य महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता-भावना प्रकट करना भी हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

आगमवेत्ता विद्वानों के सहयोग के विना भी यह पुण्य-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। अतएव हम उन सब विद्वानों के भी आभारी हैं, जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है।

आगमप्रकाशन समिति प्रकाशित आगमों का मूल्य लागत से भी कम रखती है। अग्रिम ग्राहकों में से संघ, शिक्षणसंस्था, पुस्तकालय आदि को ७०० रु. में तथा व्यक्तियों को १००० रु. में सम्पूर्ण बत्तीसी दी जाने वाली है। यह मूल्य लागत की तुलना में बहुत ही कम है। इसके पीछे एकमात्र भावना यही है कि आगमों का प्रचार-प्रसार अधिक से अधिक हो और भ. महावीर की पावन वाणी से अधिक से अधिक लोग लाभान्वित हो सकें। किन्तु खेद है कि समाज में आगमज्ञान की वह तीव्र पिपासा दृष्टिगोचर नहीं होती। यही कारण है कि अग्रिम ग्राहकों की जितनी संख्या होनी चाहिए, नहीं हो पाई है। हम अर्थसहयोगी सदस्यों से तथा अग्रिम ग्राहक महानुभावों से निवेदन करना चाहते हैं कि वे प्रत्येक कम से कम पांच अग्रिम ग्राहक बना कर समिति के पावन उद्देश्य की पूर्त्ति में भी सहयोगी बनें। तथा श्रमणसंघीय युवाचार्य पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म. सा. ने जो घोर श्रमसाध्य पवित्रतम उत्तरदायित्व अपने कंधों पर ओढ़ा है उसमें सहभागी बनें।

रतनचंद मोदी	जतनराज मेहता	चांदमल विनायकिया
अध्यक्ष	प्रधानमंत्री	मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

सम्पादन—सहयोगी सत्कार

[भगवती सूत्र जैसे महनीय विशाल आगम का सम्पादन-प्रकाशन वास्तव में ही बहुत श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य कार्य है। इसका सम्पादन प्रवचन-भूषण श्री अमर मुनिजी महाराज के सान्निध्य में उन्हीं के प्रमुख सहयोग से सम्पन्न हुआ। इसमें गुरुदेव भंडारी श्री पदमचन्दजी महाराज की प्रेरणा सदा कार्य को गति देती रही। साथ ही अन्य साधन जुटाने, विद्वानों आदि की व्यवस्था में जो व्यय हुआ, इसका सहयोग निम्न उदार सद्‌गृहस्थों से प्राप्त हुआ, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद]

१. **श्री भोजराजजी जैन बजाज**
   भोजराज जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, भटिंडा (पंजाब)
२. **डा. मोतीरायजी जैन** (देहली)
   सुपुत्र-ला. जौहरीमलजी जैन, खेवड़ा (जि. सोनीपत)
३. **श्री प्रेमचन्द जैन सी. ए.**
   चंडीगढ
४. **श्री रामस्वरूपजी अग्रवाल**
   हनुमान राईस मिल्स सफीदो मंडी (हरियाणा)
५. **ला. अनन्तराय मलेरीरायजी**
   सफीदो मंडी (हरियाणा)
६. **श्री धनपतराय जी जैन**
   श्री गंगानगर (राजस्थान)
७. **ला. कबूलचन्द जगमन्दिरलाल जैन**
   पदमपुर मंडी (राज.)
८. **श्रीमती चलनी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री ओमप्रकाश जैन**
   नरेला मंडी (देहली)

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन में अर्थसहयोगी

माननीय सेठ श्रीहीराचन्दजी सा. चोरड़िया

[संक्षिप्त परिचय-रेखा]

नोखा (चांदावतों का) का चोरड़िया-परिवार जितना विशाल है, उतना ही इस परिवार का हृदय विशाल है। आर्थिक दृष्टि से जितना सम्पन्न है, उदारभावना से भी उतना ही सम्पन्न है। सार्वजनिक सेवा, शासन-अभ्युदय और परोपकार के कार्यों में जितना अग्रसर है, उतना ही विनम्र, सौम्य और सरल है। सेठ हीराचन्दजी सा. इस परिवार के वयोवृद्ध सम्माननीय सदस्य हैं। आपकी सरलता और गम्भीरता असाधारण है।

चोरड़ियाजी का जन्म वि. सं. १९५६ की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को नोखा में हुआ। पिताजी श्रीमान् सिरेमलजी चोरड़िया के आप सुपुत्र हैं। आपने श्रीमती सायबकुंवरजी की कुक्षि को पावन किया।

जब आप केवल १८ वर्ष के थे तभी आपको पितृवियोग के दारुण प्रसंग का सामना करना पड़ा। पिताजी के बिछुड़ते ही परिवार का समग्र उत्तरदायित्व आपके कन्धों पर आ पड़ा। आपने बड़ी कुशलता, सूझबूझ, धैर्य और साहस से अपने दायित्व का निर्वाह किया।

आज आप की गणना मद्रास के प्रतिष्ठित व्यवसायियों में की जाती है। आप अपने व्यवसाय-कौशल के कारण अनेक फर्मों के संस्थापक एवं संचालक हैं। आपकी मुख्य फर्म 'सिरेमल हीराचन्द फाइनेन्सीयर्स' (साहूकार पेट, मद्रास) है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित संस्थानों के भी आप अधिपति हैं—

(१) सिरेमल हीराचन्द एण्ड कम्पनी
(२) इन्टरनेशनल टायर सर्विस—टायर्स एण्ड बेटरीज डीलर्स, माउन्ट रोड, मद्रास
(३) चोरड़िया रबर प्रोडक्टस् प्रा. लि. मद्रास

व्यवसाय के क्षेत्र में संलग्न और अग्रसर होने पर भी आपका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उसी के लिए समर्पित नहीं है। आपने उपार्जित लक्ष्मी का समाजसेवा एवं परोपकार में व्यय किया है और कर रहे हैं। मरुभूमि में जल और जलाशय का कितना मूल्य और महत्त्व है, यह सर्वविदित है। संस्कृतभाषा में जल का एक नाम 'जीवन' है। वास्तव में जल के अभाव में जीवन टिक नहीं सकता। वह जीवन की सर्वोच्च आवश्यकता है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर आपने आज से चालीस वर्ष पूर्व नोखा-निवासियों की सुविधा के लिए कुआं खुदवाया, जिससे सारा गांव आज भी लाभ उठा रहा है।

यही नहीं, आपके जन्मग्राम नोखा में ही 'सिरेमल जोरावरमल प्राइमरी हेल्थसेंटर' के निर्माण में भी आपका विशिष्ट योगदान रहा है।

मद्रास में होने वाले प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में आपका सक्रिय एवं सार्थक योगदान रहा है, चाहे वह हाईस्कूल हो, जैन कालेज हो या बालिकाओं का हाईस्कूल हो।

मगर आपका सब से महत्त्वपूर्ण और विशेष उल्लेखनीय सेवाकार्य है—हीराचन्द आई हॉस्पिटल नामक नेत्रचिकित्सालय। यह मद्रास के साहूकार पेट में अवस्थित है। यह अस्पताल सेठ हीराचन्दजी सा. तथा आपके तीन सुपुत्रों—श्रीतेजराजजी, प्रकाशचन्दजी तथा शरदचन्दजी सा. ने बड़े ही उत्साह के साथ स्थापित किया है।

आपने अपने परिवार के 'सिरेमल हीराचन्द चेरिटेबिल ट्रस्ट' द्वारा सात लाख रुपयों की बड़ी राशि लगा कर बनवाया है। यह अस्पताल आधुनिक साधन-सामग्री से सम्पन्न है। इसमें १५ बिस्तर (Beds) हैं, आउट पेशेन्ट वार्ड है, आधुनिक एयरकन्डीशण्ड (वातानुकूलित) आपरेशन थियेटर है तथा स्पेशल वार्ड आदि सभी सुविधाएं हैं। यह आधुनिक यन्त्रों तथा साज-सामान से सुसज्जित है।

इस अस्पताल में प्रतिदिन ७५ रोगी लाभ उठा रहे हैं और प्रतिवर्ष ६०० आपरेशन होते हैं। विशेष उल्लेखनीय तो यह है कि इस अस्पताल का दैनिक प्रबन्ध सेठ साहब और आपके सुपुत्र स्वयं ही करते हैं।

समाजसेवा की उत्कट भावना के अतिरिक्त आपका धार्मिक जीवन भी सराहनीय है। प्रतिदिन सामायिक-प्रतिक्रमण करना तो आपका नियमित अनुष्ठान है ही, कई वर्षों से आप चौविहार भी बराबर कर रहे हैं।

आपका परिवार खूब भरा-पूरा है। तीन सुपुत्र, नौ पौत्र, सात प्रपौत्र एवं चार सुपुत्रियां हैं।

इस समय आपकी उम्र ८२ वर्ष की है, फिर भी आप अपने सात्विक आहार-विहार तथा विचारों की बदौलत स्वस्थ और सक्रिय हैं।

संक्षेप में सेठ श्रीहीराचन्दजी सा. पूर्वोपार्जित पुण्य के धनी हैं और भविष्य के लिए भी पुण्य की महानिधि संचित कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपके विशिष्ट अर्थ-सहयोग के लिए समिति अत्यन्त आभारी है।

—मन्त्री

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण होने से संज्ञाक्षररूप (ब्राह्मीलिपिरूप) द्रव्यश्रुत को भी मंगलरूप माना है। वस्तुतः यहाँ नमस्करणीय भावश्रुत ही है, वही पूज्य है। अथवा शब्दनय की दृष्टि से शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। इस अभेद विवक्षा से ब्राह्मीलिपि को नमस्कार भगवान् ऋषभदेव (ब्राह्मी लिपि के आविष्कर्ता) को नमस्कार करना है। अत: मात्र लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरविन्यास को नमस्कार करना लिया जाएगा तो अतिव्याप्ति दोष होगा।

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र स्वयं मंगलरूप है, तथापि इस शास्त्र के लिए जो मंगलाचरण किया गया है, वह इस उद्देश्य से कि शिष्यगण शास्त्र को मंगलरूप (श्रुतज्ञानरूप मंगल हेतु) समझ सकें। तथा मंगल का ग्रहण उनकी बुद्धि में हो जाए अर्थात् वे यह अनुभव करें कि हमने मंगल किया है।[1]

शास्त्र की उपादेयता के लिए चार बातें—वृत्तिकार ने शास्त्र की उपादेयता सिद्ध करने के लिए चार बातें बताई हैं—(१) मंगल, (२) अभिधेय, (३) फल और (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध में मंगल का निरूपण किया जा चुका है, तथा प्रस्तुत शास्त्र के विविध नामों का निर्देश एवं उनकी व्याख्या करके इस शास्त्र का अभिधेय भी बताया जा चुका है। अब रहे फल और सम्बन्ध। अभिधेय सम्बन्धी अज्ञान दूर होकर शास्त्र में जिन-जिन बातों का वर्णन किया गया है, उन बातों का ज्ञान हो जाना, शास्त्र के अध्ययन या श्रवण का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से प्राप्त हुए ज्ञान का परम्परा से फल मोक्ष है। शास्त्र में जिन अर्थों की व्याख्या की गई है, वे अर्थ वाच्य हैं, और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भावसम्बन्ध यहाँ विद्यमान है, 'अथवा' इस शास्त्र का यह प्रयोजन है, यह[2] सम्बन्ध (प्रयोज्य-प्रयोजक-भावसम्बन्ध) भी है।

प्रथम शतक : विषयसूची मंगल—

२—रायगिह चलण १ दुक्खे २ कंखपओसे य ३ पगति ४ पुढवीओ ५।
जावंते ६ नेरइए ७ बाले ८ गुरुए य ९ चलणाओ १०॥१॥

२—(प्रथम शतक के दस उद्देशकों की संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—) (१) राजगृह नगर में "चलन" (के विषय में प्रश्न), (२) दु:ख, (३) कांक्षा-प्रदोष, (४) (कर्म) प्रकृति (५) पृथ्वियाँ, (६) यावत् (जितनी दूर से इत्यादि), (७) नैरयिक, (८) बाल, (९) गुरुक और (१०) चलनादि।

विवेचन—प्रथम शतक की विषयसूची—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम शतक के दस उद्देशकों का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रत्येक का स्पष्टीकरण आगे यथास्थान किया जाएगा।

३—नमो सुयस्स।

३—श्रुत (द्वादशांगीरूप अर्हत्प्रवचन) को नमस्कार हो।

---

१. (क) एवं तावत्परमेष्ठिनो नमस्कृत्याऽधुनातनजनानांश्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारित्वात्। तस्य च द्रव्यभावश्रुतरूपत्वात् भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतहेतुत्वात् संज्ञाक्षररूपं द्रव्यश्रुतं....।'—भग. अ. वृ. पत्रांक ५

(ख) 'लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीइ दाहिण करेणं।'—भग. अ. वृत्ति, पत्रांक ५

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ५

है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण होने से संज्ञाक्षररूप (ब्राह्मीलिपिरूप) द्रव्यश्रुत को भी मंगलरूप माना है। वस्तुतः यहाँ नमस्करणीय भावश्रुत ही है, वही पूज्य है। अथवा शब्दनय की दृष्टि से शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। इस अभेद विवक्षा से ब्राह्मीलिपि को नमस्कार भगवान् ऋषभदेव (ब्राह्मी लिपि के आविष्कर्ता) को नमस्कार करना है। अत: मात्र लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरविन्यास को नमस्कार करना लिया जाएगा तो अतिव्याप्ति दोष होगा।

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र स्वयं मंगलरूप है, तथापि इस शास्त्र के लिए जो मंगलाचरण किया गया है, वह इस उद्देश्य से कि शिष्यगण शास्त्र को मंगलरूप (श्रुतज्ञानरूप मंगल हेतु) समझ सकें। तथा मंगल का ग्रहण उनकी बुद्धि में हो जाए अर्थात् वे यह अनुभव करें कि हमने मंगल किया है।[1]

शास्त्र की उपादेयता के लिए चार बातें—वृत्तिकार ने शास्त्र की उपादेयता सिद्ध करने के लिए चार बातें बताई हैं—(१) मंगल, (२) अभिधेय, (३) फल और (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध में मंगल का निरूपण किया जा चुका है, तथा प्रस्तुत शास्त्र के विविध नामों का निर्देश एवं उनकी व्याख्या करके इस शास्त्र का अभिधेय भी बताया जा चुका है। अब रहे फल और सम्बन्ध। अभिधेय सम्बन्धी अज्ञान दूर होकर शास्त्र में जिन-जिन बातों का वर्णन किया गया है, उन बातों का ज्ञान हो जाना, शास्त्र के अध्ययन या श्रवण का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से प्राप्त हुए ज्ञान का परम्परा से फल मोक्ष है। शास्त्र में जिन अर्थों की व्याख्या की गई है, वे अर्थ वाच्य हैं, और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भावसम्बन्ध यहाँ विद्यमान है, 'अथवा' इस शास्त्र का यह प्रयोजन है, यह[2] सम्बन्ध (प्रयोज्य-प्रयोजक-भावसम्बन्ध) भी है।

प्रथम शतक : विषयसूची मंगल—

२—रायगिह चलण १ दुक्खे २ कंखपओसे य ३ पगति ४ पुढवीओ ५।
जावंते ६ नेरइए ७ बाले ८ गुरुए य ९ चलणाओ १०॥१॥

२—(प्रथम शतक के दस उद्देशकों की संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—) (१) राजगृह नगर में "चलन" (के विषय में प्रश्न), (२) दुःख, (३) कांक्षा-प्रदोष, (४) (कर्म) प्रकृति (५) पृथ्वियाँ, (६) यावत् (जितनी दूर से इत्यादि), (७) नैरयिक, (८) बाल, (९) गुरुक और (१०) चलनादि।

विवेचन—प्रथम शतक की विषयसूची—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम शतक के दस उद्देशकों का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रत्येक का स्पष्टीकरण आगे यथास्थान किया जाएगा।

३—नमो सुयस्स।

३—श्रुत (द्वादशांगीरूप अर्हत्प्रवचन) को नमस्कार हो।

---

१. (क) एवं तावत्परमेष्ठिनो नमस्कृत्याऽधुनातनजनानांश्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारित्वात्। तस्य च द्रव्यभाव श्रुतरूपत्वात् भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतहेतुत्वात् संज्ञाक्षररूपं द्रव्यश्रुतं....।'—भग. अ. वृ. पत्रांक ५
(ख) 'लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीइ दाहिण करेणं।'—भग. अ. वृत्ति, पत्रांक ५

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ५

चातुरन्त-चक्रवर्ती, अप्रतिहत (निराबाध) ज्ञान-दर्शनधर, छद्मरहित (छलकपट और ज्ञानादि आवरणों से दूर), जिन (रागद्वेषविजेता), ज्ञायक (सम्यक् ज्ञाता), बुद्ध (समग्र तत्त्वों को जानकर रागद्वेषविजेता), बोधक (दूसरों को तत्त्वबोध देने वाले), मुक्त (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित), मोचक (दूसरों को कर्मबन्धनों से मुक्त कराने वाले), सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों के विशेष रूप से ज्ञाता) सर्वदर्शी (सर्व पदार्थों के सामान्य रूप से ज्ञाता) थे। तथा जो शिव (सर्व बाधाओं से रहित), अचल (स्वाभाविक प्रायोगिक चलन-हेतु से रहित), अरुज (रोगरहित), अनन्त (अनन्तज्ञानदर्शनादियुक्त), अक्षय (अन्तरहित), अव्याबाध (दूसरों को पीड़ित न करने वाले या सर्व प्रकार की बाधाओं से विहीन), पुनरागमनरहित सिद्धिगति (मोक्ष) नामक स्थान को सम्प्राप्त करने के कामी (इच्छुक) थे।

(यहाँ से लेकर समवसरण तक का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(भगवान् महावीर का पदार्पण जानकर) परिषद् (राजगृह के राजादि लोग तथा अन्य नागरिकों का समूह भगवान् के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एवं धर्मोपदेश श्रवण के लिए) निकली। (निर्गमन का समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए)। (भगवान् ने उस विशाल परिषद् को) धर्मोपदेश दिया। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन कहना चाहिए)। (धर्मोपदेश सुनकर और यथाशक्ति धर्मधारण करके वह) परिषद् (अपने स्थान को) वापस लौट गई। (यह समग्र वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(३) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसभनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेयलेसे चउदसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

(३) उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पास (न बहुत दूर, न बहुत निकट), उत्कुटुकासन से (घुटना ऊंचा किये हुए) नीचे सिर झुकाए हुए, ध्यानरूपी कोठे (कोष्ठ) में प्रविष्ट श्रवण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार संयम और तप से आत्मा को भावित (वासित) करते हुए विचरण करते थे। वह गौतम-गोत्रीय थे, (शरीर से) सात हाथ ऊंचे, समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रऋषभनाराच संहनन वाले थे। उनके शरीर का वर्ण सोने के टुकड़े की रेखा के समान तथा पद्म-पराग के समान (गौर) था। वे उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर (परीषह तथा इन्द्रियादि पर विजय पाने में कठोर), घोरगुण (दूसरों द्वारा दुश्चर मूलगुणादि) सम्पन्न, घोरतपस्वी, घोर (कठोर) ब्रह्मचर्यवासी, शरीर-संस्कार के त्यागी थे। उन्होंने विपुल (व्यापक) तेजोलेश्या (विशिष्ट तपस्या से प्राप्त तेजोज्वाला नामक लब्धि) को संक्षिप्त (अपने शरीर में अन्तर्लीन) करली थी, वे चौदह पूर्वों के ज्ञाता और चतुर्ज्ञानसम्पन्न सर्वाक्षरसन्निपाती थे।

(४) तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेति।

चातुरन्त-चक्रवर्ती, अप्रतिहत (निराबाध) ज्ञान-दर्शनधर, छद्मरहित (छलकपट और ज्ञानादि आवरणों से दूर), जिन (रागद्वेषविजेता), ज्ञायक (सम्यक् ज्ञाता), बुद्ध (समग्र तत्त्वों को जानकर रागद्वेषविजेता), बोधक (दूसरों को तत्त्वबोध देने वाले), मुक्त (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित), मोचक (दूसरों को कर्मबन्धनों से मुक्त कराने वाले), सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों के विशेष रूप से ज्ञाता) सर्वदर्शी (सर्व पदार्थों के सामान्य रूप से ज्ञाता) थे। तथा जो शिव (सर्व बाधाओं से रहित), अचल (स्वाभाविक प्रायोगिक चलन-हेतु से रहित), अरुज (रोगरहित), अनन्त (अनन्तज्ञानदर्शनादियुक्त), अक्षय (अन्तरहित), अव्याबाध (दूसरों को पीड़ित न करने वाले या सर्व प्रकार की बाधाओं से विहीन), पुनरागमनरहित सिद्धिगति (मोक्ष) नामक स्थान को सम्प्राप्त करने के कामी (इच्छुक) थे।

(यहाँ से लेकर समवसरण तक का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(भगवान् महावीर का पदार्पण जानकर) परिषद् (राजगृह के राजादि लोग तथा अन्य नागरिकों का समूह भगवान् के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एवं धर्मोपदेश श्रवण के लिए) निकली। (निर्गमन का समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए)। (भगवान् ने उस विशाल परिषद् को) धर्मोपदेश दिया। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन कहना चाहिए)। (धर्मोपदेश सुनकर और यथाशक्ति धर्मधारण करके वह) परिषद् (अपने स्थान को) वापस लौट गई। (यह समग्र वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(३) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसभनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेयलेसे चउदसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

(३) उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पास (न बहुत दूर, न बहुत निकट), उत्कुटुकासन से (घुटना ऊंचा किये हुए) नीचे सिर झुकाए हुए, ध्यानरूपी कोठे (कोष्ठ) में प्रविष्ट श्रवण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार संयम और तप से आत्मा को भावित (वासित) करते हुए विचरण करते थे। वह गौतम-गोत्रीय थे, (शरीर से) सात हाथ ऊंचे, समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रऋषभनाराच संहनन वाले थे। उनके शरीर का वर्ण सोने के टुकड़े की रेखा के समान तथा पद्म-पराग के समान (गौर) था। वे उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर (परीषह तथा इन्द्रियादि पर विजय पाने में कठोर), घोरगुण (दूसरों द्वारा दुश्चर मूलगुणादि) सम्पन्न, घोरतपस्वी, घोर (कठोर) ब्रह्मचर्यवासी, शरीर-संस्कार के त्यागी थे। उन्होंने विपुल (व्यापक) तेजोलेश्या (विशिष्ट तपस्या से प्राप्त तेजोज्वाला नामक लब्धि) को संक्षिप्त (अपने शरीर में अन्तर्लीन) करली थी, वे चौदह पूर्वों के ज्ञाता और चतुर्ज्ञानसम्पन्न सर्वाक्षरसन्निपाती थे।

(४) तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेति।

उट्ठाए उट्ठेता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेत्ता वंदति, नमंसति, नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलियडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

(४) तत्पश्चात् जातश्रद्ध (प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले), जातसंशय, जातकुतूहल, संजातश्रद्ध, समुत्पन्न श्रद्धा वाले, समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से (अपने स्थान से उठकर) खड़े होते हैं।

उत्थानपूर्वक खड़े होकर श्रमण गौतम जहाँ (जिस ओर) श्रमण भगवान् महावीर हैं, उस ओर (उनके निकट) आते हैं। निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर को उनके दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। फिर वन्दन-नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके वे न तो बहुत पास और न बहुत दूर भगवान् के समक्ष विनय से ललाट पर हाथ जोड़े हुए भगवान् के वचन सुनना चाहते हुए उन्हें नमन करते व उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—राजगृह में भगवान् महावीर का पदार्पण : गौतम स्वामी की प्रश्न पूछने की तैयारी— प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र से शास्त्र का प्रारम्भ किया गया है। इसमें नगर, राजा, रानी, भगवान् महावीर, परिषद्—समवसरण, धर्मोपदेश, गौतमस्वामी तथा उनके द्वारा प्रश्न पूछने की तैयारी तक का क्षेत्र या व्यक्तियों का वर्णन किया गया है, वह सब भगवती सूत्र में यत्र-तत्र श्री भगवान् महावीर स्वामी से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न और उनके द्वारा दिये गए उत्तरों की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित किया गया है। इस समग्र पाठ में कुछ वर्णन के लिए 'वर्णक' या 'जाव' से अन्य सूत्र से जान लेने की सूचना है, कुछ का वर्णन यहीं कर दिया गया है। इस समग्र पाठ का क्रमशः वर्णन इस प्रकार है—

(१) भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर का वर्णन[1]

(२) वहाँ के तत्कालीन राजा श्रेणिक और रानी चिल्लणा का उल्लेख

(३) अनेक विशेषणों से युक्त श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह के आसपास विचरण।

(४) इसके पश्चात् 'समवसरण' तक के वर्णन में निम्नोक्त वर्णन गर्भित हैं—(अ) भगवान् के १००८ लक्षणसम्पन्न शरीर तथा चरण-कमलों का वर्णन, (जिनसे वे पैदल विहार कर रहे थे), (आ) उनकी बाह्य (अष्ट महाप्रातिहार्यरूपा) एवं अन्तरंग विभूतियों का वर्णन, (इ) उनके चौदह हजार साधुओं और छत्तीस हजार आर्यिकाओं के परिवार का वर्णन, (ई) बड़े-छोटे के क्रम से ग्रामानुग्राम सुखपूर्वक विहार करते हुए राजगृह नगर तथा तदन्तर्गत गुणशीलक चैत्य में पदार्पण का वर्णन, (उ) तदनन्तर उस चैत्य में अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान हुए और उनका समवसरण लगा। (ए) समवसरण में विविध प्रकार के ज्ञानादि शक्तियों से सम्पन्न साधुओं आदि का वर्णन[2], तथा असुरकुमार, शेष भवनपतिदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिष्कदेव एवं वैमानिकदेवों का भगवान् के समीप आगमन एवं उनके द्वारा भगवान् की पर्युपासना का वर्णन[3]।

---

१. राजगृह वर्णन—औपपातिक सूत्र १

२. भगवान् के शरीरादि का वर्णन—औपपातिक सूत्र १०,१४,१५,१६,१७

३. देवागमन वर्णन—औपपातिक सूत्र २२ से २६ तक

(५) परिषद् के निर्गमन का विस्तृत वर्णन ।[1]

(६) भगवान् महावीर द्वारा दिये गये धर्मोपदेश का वर्णन ।[2]

(७) सभाविसर्जन के बाद श्रोतागण द्वारा कृतज्ञताप्रकाश, यथाशक्ति धर्माचरण का संकल्प, एवं स्वस्थान प्रतिगमन का वर्णन ।[3]

(८) श्री गौतम स्वामी के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व का वर्णन ।

(९) श्री गौतमस्वामी के मन में उठे हुए प्रश्न और भगवान् महावीर से सविनय पूछने की तैयारी ।[4]

प्रस्तुत शास्त्र किसने, किससे कहा ? प्रस्तुत भगवतीसूत्र का वर्णन पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के समक्ष किया था। इसका कारण आवश्यकसूत्र-निर्युक्ति में बताया गया है कि सुधर्मास्वामी का ही तीर्थ चला है। अन्य गणधरों की शिष्य परम्परा नहीं चली, सिर्फ सुधर्मास्वामी के शिष्य-प्रशिष्य हुए हैं ।[5]

'चलमाणे चलिए' आदि पदों का एकार्थ-नानार्थ—

५. (१) से नूणं भंते ! चलमाणे चलिते १ ? उदीरिज्जमाणे उदीरिते २ ? वेइज्जमाणे वेइए ३ ? पहिज्जमाणे पहीणे ४ ? छिज्जमाणे छिन्ने ५ ? भिज्जमाणे भिन्ने ६ ? डज्झमाणे डड्ढे ७ ? मिज्जमाणे मडे ८ ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ९ ?

हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ।

५—[१ प्र.] हे भदन्त (भगवन्) ! क्या यह निश्चित कहा जा सकता है कि १. जो चल रहा हो, वह चला ?, २. जो (कर्म) उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ ?, ३. जो (कर्म) वेदा (भोगा) जा रहा है, वह वेदा गया ?, ४. जो गिर (पतित या नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (पतित हुआ या हटा) ?, ५. जो (कर्म) छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ ?, ६. जो (कर्म) भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ (भेदा गया) ?, ७. जो (कर्म) दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ ?, ८. जो मर रहा है, वह मरा ?, ९. जो (कर्म) निर्जरित हो रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ ?

---

१. परिषद् निर्गमन वर्णन—औपपातिक सूत्र २७ से ३३ तक

२. धर्मकथा वर्णन—औपपातिक सूत्र ३४

३. परिषद् प्रतिगमन वर्णन—औपपातिक सूत्र ३५-३६-३७

४. चतुर्ज्ञानी गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न पूछने के पांच कारण—(१) अतिशययुक्त होते हुए भी छद्मस्थ होने के कारण, (२) स्वयं जानते हुए भी ज्ञान की अविसंवादिता के लिए, (३) अन्य अज्ञजनों के बोध के लिए, (४) शिष्यों को अपने वचन में विश्वास बिठाने के लिए, (५) शास्त्ररचना की यही पद्धति होने से ।
—भगवतीसूत्र वृत्ति, पत्रांक १६ ।

५. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ७ से १४ तक का सारांश
(ख) वही—पत्रांक ६—"तित्थं च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा ।"
(ग) जम्बूस्वामी द्वारा पृच्छा—'जइ णं भंते ! पंचमस्स अंगस्स विवाहपन्नत्तीए....के अट्ठे पण्णत्ते ?"
—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र

भेदन—वद्ध कर्म के तीव्र रस को अपवर्त्तनाकरण द्वारा मन्द करना अथवा उद्वर्त्तनाकरण द्वारा मन्द रस को तीव्र करना ।

दग्ध—कर्मरूपी काष्ठ को ध्यानाग्नि से जलाकर अकर्म रूप कर देना ।

मृत—पूर्ववद्ध आयुष्यकर्म के पुद्गलों का नाश होना ।

निर्जीर्ण—फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से पृथक् होना—क्षीण होना ।

एकार्थ—जिनका विषय एक हो, या जिनका अर्थ एक हो ।

घोष—तीन प्रकार के हैं—उदात्त (जो उच्चस्वर से वोला जाए), अनुदात्त (जो नीचे स्वर से वोला जाए) और स्वरित (जो मध्यमस्वर से वोला जाए) । यह तो स्पष्ट है कि इन नौ पदों के घोष और व्यञ्जन पृथक्-पृथक् हैं ।

चारों एकार्थक—चलन, उदीरणा, वेदना और प्रहाण, ये चारों क्रियाएँ तुल्यकाल (एक अन्तर्मुहूर्त्तस्थितिक) की अपेक्षा से, गत्यर्थक होने से तथा एक ही कार्य (केवलज्ञान प्रकटीकरण रूप) की साधक होने से एकार्थक हैं ।

पाँचों भिन्नार्थक—छेदन, भेदन, दहन, मरण, निर्जरण, ये पाँचों पद वस्तु विनाश की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं । तात्पर्य यह है कि छेदन स्थितिवन्ध की अपेक्षा से, भेदन अनुभाग (रस) वन्ध की अपेक्षा से, दहन प्रदेशवन्ध को अपेक्षा से, मरण आयुष्यकर्म की अपेक्षा से और निर्जरण समस्त कर्मो की अपेक्षा से कहा गया है । अतएव ये सव पद भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं ।[1]

चौबीस दंडकगत स्थिति आदि का विचार—

(नैरयिक चर्चा)

६. (१.१) नेरइयाणं भंते ! केवइकालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

६—[१. १ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की स्थिति (आयुष्य) कितने काल की कही है ?

[१. १. उ.] हे गौतम ! जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष की, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) तैंतीस सागरोपम की कही है ।

(१.२) नेरइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?

जहा ऊसासपदे ।

[१. २. प्र.] भगवन् ! नारक कितने काल (समय) में श्वास लेते हैं और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं—कितने काल में उच्छ्वास लेते हैं और निःश्वास छोड़ते हैं ?

[१. २. उ.] (प्रज्ञापना-सूत्रोक्त) उच्छ्वास पद (सातवें पद) के अनुसार समझना चाहिए ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५ से १९ तक

भेदन—वद्ध कर्म के तीव्र रस को अपवर्त्तनाकरण द्वारा मन्द करना अथवा उद्वर्त्तनाकरण द्वारा मन्द रस को तीव्र करना ।

दग्ध—कर्मरूपी काष्ठ को ध्यानाग्नि से जलाकर अकर्म रूप कर देना ।

मृत—पूर्वबद्ध आयुष्यकर्म के पुद्गलों का नाश होना ।

निर्जीर्ण—फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से पृथक् होना—क्षीण होना ।

एकार्थ—जिनका विषय एक हो, या जिनका अर्थ एक हो ।

घोष—तीन प्रकार के हैं—उदात्त (जो उच्चस्वर से वोला जाए), अनुदात्त (जो नीचे स्वर से वोला जाए) और स्वरित (जो मध्यमस्वर से वोला जाए) । यह तो स्पष्ट है कि इन नौ पदों के घोष और व्यञ्जन पृथक्-पृथक् हैं ।

चारों एकार्थक—चलन, उदीरणा, वेदना और प्रहाण, ये चारों क्रियाएँ तुल्यकाल (एक अन्तर्मुहूर्त्तस्थितिक) की अपेक्षा से, गत्यर्थक होने से तथा एक ही कार्य (केवलज्ञान प्रकटीकरण रूप) की साधक होने से एकार्थक हैं ।

पाँचों भिन्नार्थक—छेदन, भेदन, दहन, मरण, निर्जरण, ये पाँचों पद वस्तु विनाश की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं । तात्पर्य यह है कि छेदन स्थितिवन्ध की अपेक्षा से, भेदन अनुभाग (रस) वन्ध की अपेक्षा से, दहन प्रदेशवन्ध की अपेक्षा से, मरण आयुष्यकर्म की अपेक्षा से और निर्जरण समस्त कर्मों की अपेक्षा से कहा गया है । अतएव ये सव पद भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं ।[1]

चौबीस दंडकगत स्थिति आदि का विचार—

(नैरयिक चर्चा)

६. (१.१) नेरइयाणं भंते ! केवइकालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

६—[१. १ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की स्थिति (आयुष्य) कितने काल की कही है ?

[१. १. उ.] हे गौतम ! जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष की, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) तैंतीस सागरोपम की कही है ।

(१.२) नेरइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?

जहा ऊसासपदे ।

[१. २. प्र.] भगवन् ! नारक कितने काल (समय) में श्वास लेते हैं और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं—कितने काल में उच्छ्वास लेते हैं और निःश्वास छोड़ते हैं ?

[१. २. उ.] (प्रज्ञापना-सूत्रोक्त) उच्छ्वास पद (सातवें पद) के अनुसार समझना चाहिए ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५ से १९ तक

इसी प्रकार प्रस्तुत आगम में बताया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय में जीवत्व-शक्ति है। वे हमारी तरह श्वास लेते और निःश्वास छोड़ते हैं, आहार आदि ग्रहण करते हैं, उनके शरीर में भी चय-उपचय, हानि-वृद्धि, सुखदुःखात्मक अनुभूति होती है आदि।[1]

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्र बोस ने अपने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति क्रोध और प्रेम भी प्रदर्शित करती है। स्नेहपूर्ण व्यवहार से वह पुलकित हो जाती है और घृणापूर्ण दुर्व्यवहार से वह मुरझा जाती है। श्री बोस के प्रस्तुत परीक्षण को समस्त वैज्ञानिक जगत् ने स्वीकृत कर लिया है। प्रस्तुत आगम में वनस्पतिकाय में १० संज्ञाएँ (आहारसंज्ञा आदि) बताई गई हैं। इन संज्ञाओं के रहते वनस्पति आदि वही व्यवहार अस्पष्टरूप से करती हैं, जिन्हें मानव स्पष्टरूप से करता है।

इसी प्रकार पृथ्वी में भी जीवत्वशक्ति है, इस सम्भावना की ओर प्राकृतिक चिकित्सक एवं वैज्ञानिक अग्रसर हो रहे हैं। सुप्रसिद्ध भूगर्भ वैज्ञानिक फ्रांसिस अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'Ten years under earth'** में दशवर्षीय विकट भूगर्भयात्रा के संस्मरणों में लिखते हैं—"मैंने अपनी इन विविध यात्राओं के दौरान पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे हैं, जो आधुनिक पदार्थविज्ञान के विरुद्ध थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमों द्वारा समझाए नहीं जा सकते।" अन्त में वे स्पष्ट लिखते हैं—'तो क्या प्राचीन विद्वानों ने पृथ्वी में जो जीवत्व शक्ति की कल्पना की थी, वह सत्य है ?'

इसी प्रकार जैनदर्शन पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव मानता है। वर्तमान वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप के द्वारा पानी की बूंद का सूक्ष्मनिरीक्षण करके अगणित सूक्ष्म प्राणियों का अस्तित्व स्वीकार किया है। जैन जीवविज्ञान इससे अब भी बहुत आगे है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने अगणित परीक्षणों द्वारा जैनदर्शन के इस सिद्धान्त को निरपवाद रूप से सत्य पाया है कि कोई भी पुद्गल (Matter) नष्ट नहीं होता, वह दूसरे रूप (Form) में बदल जाता है।

भगवान् महावीर द्वारा भगवतीसूत्र में पुद्गल की अपरिमेय शक्ति के सम्बन्ध में प्रतिपादित यह तथ्य आधुनिक विज्ञान से पूर्णतः समर्थित है कि 'विशिष्टपुद्गलों में, जैसे तैजस पुद्गल में, अंग, बंग, कलिंग आदि १६ देशों को विध्वंस करने की शक्ति विद्यमान है। आज तो आधुनिक विज्ञान ने एटमबम से हिरोशिमा और नागासाकी नगरों का विध्वंस करके पुद्गल ((Matter) की असीम शक्ति सिद्ध कर बताई है।

इसी प्रकार नरसंयोग के बिना ही नारी का गर्भधारण, गर्भस्थानान्तरण आदि सैकड़ों विषय प्रस्तुत आगम में प्रतिपादित हैं, जिन्हें सामान्यबुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, परन्तु आधुनिक विज्ञान ने नूतन शोधों द्वारा परीक्षण करके ऐसे अधिकांश तथ्य स्वीकृत कर लिये हैं, धीरे-धीरे शेष विषयों को भी परीक्षण करके स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा है।

'समवायांग' में बताया गया है कि अनेक देवों, राजाओं एवं राजर्षियों ने भगवान् महावीर से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे, उन्हीं प्रश्नों का भगवान् ने विस्तृत रूप से उत्तर दिया है। वही व्याख्याप्रज्ञप्ति में अंकित है।

---

१. आचारांग में वनस्पति में जीव होने के निम्नलिखित लक्षण दिये हैं—(१) जाइधम्मयं (उत्पन्न होने का स्वभाव) (२) वुड्ढिधम्मयं (शरीर की वृद्धि होने का स्वभाव), (३) चित्तमंतयं (चैतन्य-सुखदुःखात्मक अनुभवशक्ति), (४) छिन्नंमिलाति (काटने से दुःख के चिह्न—सूखना आदि-प्रकट होते हैं। (५) आहारगं (आहार भी करता है) (६) अणिच्चयं असासयं (शरीर अनित्य अशाश्वत है।), (७) चओवचइयं (शरीर में चय-उपचय भी होता है)।

इसमें स्वसमय-परसमय, जीव-अजीव, लोक-अलोक आदि की व्याख्या की गई है। आचार्य अकलंक के अभिमतानुसार इस शास्त्र में 'जीव है या नहीं ?' इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निरूपण किया गया है। आचार्य 'वीरसेन' के कथनानुसार इस आगम में प्रश्नोत्तरों के साथ ९६,००० छिन्न-छेदक नयों से प्रज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है।

निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत विराट् आगम में एक श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १०००० उद्देशनकाल, १०,००० समुद्देशनकाल, ३६,००० प्रश्नोत्तर, २,८८,००० पद और संख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि में अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आ जाते हैं।

व्यापक विवेचन-शैली

भगवतीसूत्र की रचना प्रश्नोत्तरों के रूप में हुई है। प्रश्नकर्ताओं में मुख्य हैं—श्रमण भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम। इनके अतिरिक्त माकन्दिपुत्र, रोह अनगार, अग्निभूति, वायुभूति आदि। कभी-कभी स्कन्धक आदि कई परिव्राजक, तापस एवं पार्श्वापत्य अनगार आदि भी प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित होते हैं। कभी-कभी अन्यधर्मतीर्थावलम्बी भी वाद-विवाद करने या शंका के समाधानार्थ आ पहुंचते हैं। कभी तत्कालीन श्रमणोपासक अथवा जयंती आदि जैसी श्रमणोपासिकाएं भी प्रश्न पूछ कर समाधान पाती हैं। प्रश्नोत्तरों के रूप में ग्रथित होने के कारण इसमें कई वार पिष्टपेषण भी हुआ है, जो किसी भी सिद्धान्तप्ररूपक के लिए अपरिहार्य भी है, क्योंकि किसी भी प्रश्न को समझाने के लिए उसकी पृष्ठभूमि वतानी भी आवश्यक हो जाती है।

जैनागमों की तत्कालीन प्रश्नोत्तर पद्धति के अनुसार प्रस्तुत आगम में भी एक ही वात की पुनरावृत्ति बहुत है, जैसे—प्रश्न का पुनरुच्चारण करना, फिर उत्तर में उसी प्रश्न को दोहराना, पुनः उत्तर का उपसंहार करते हुए प्रश्न को दोहराना। उस युग में यही पद्धति उपयोगी रही होगी।

एक वात और है—भगवतीसूत्र में विषयों का विवेचन प्रज्ञापना, स्थानांग आदि शास्त्रों की तरह सर्वथा विषयवद्ध, क्रमवद्ध एवं व्यवस्थित पद्धति से नहीं है और न गौतम गणधर के प्रश्नों का संकलन ही निश्चित क्रम से है। इसका कारण भगवतीसूत्र के अध्येता को इस शास्त्र में अवगाहन करने से स्वतः ज्ञात हो जाएगा कि गौतम गणधर के मन में जव किसी विषय के सम्वन्ध में स्वतः या किसी अन्यतीर्थिक अथवा स्वतीर्थिक व्यक्ति का या उससे सम्वन्धित वक्तव्य सुनकर जिज्ञासा उत्पन्न हुई; तभी उन्होंने भगवान् महावीर के पास जाकर सविनय अपनी जिज्ञासा प्रश्न के रूप में प्रस्तुत की। अतः संकलनकर्ता श्रीसुधर्मास्वामी गणधर ने उस प्रश्नोत्तर को उसी क्रम से, उसी रूप में ग्रथित कर लिया। अतः यह दोप नहीं, वल्कि प्रस्तुत आगम की प्रामाणिकता है।

इससे सम्वन्धित एक प्रश्न वृत्तिकार ने प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ में, जहाँ से प्रश्नों की शुरुआत होती है; उठाया है कि प्रश्नकर्त्ता गणधर श्रीइन्द्रभूतिगौतम स्वयं द्वादशांगी के विधाता हैं, श्रुत के समस्त विषयों के पारगामी हैं, सव प्रकार के संशयों से रहित हैं। इतना ही नहीं, वे सर्वाक्षरसन्निपाती हैं, मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान के धारक हैं, एक दृष्टि से सर्वज्ञ-तुल्य हैं, ऐसी स्थिति में संशययुक्त सामान्यजन की भांति उनका प्रश्न पूछना कहाँ तक युक्तिसंगत है ? इसका समाधान स्वयं वृत्तिकार ही देते हैं—(१) गौतमस्वामी कितने ही अतिशययुक्त क्यों न हों, छद्मस्थ होने के नाते उनसे भूल होना असम्भव नहीं। (२) स्वयं जानते हुए भी, अपने ज्ञान की अविसंवादिता के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं। (३) स्वयं जानते हुए भी अन्य अज्ञानिजनों के वोध के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं। (४) शिष्यों को अपने वचन में विश्वास जमाने के लिए भी प्रश्न पूछा जाना सम्भव है। (५) अथवा शास्त्ररचना की यही पद्धति या आचारप्रणाली है। इनमें से एक या अनेक कुछ भी कारण हों, गणधर गौतम का प्रश्न पूछना असंगत नहीं कहा जा सकता।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में जो प्रश्नोत्तरशैली विद्यमान है, वह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। अचेलक-परम्परा के ग्रन्थ राजवार्तिक में अकलंकभट्ट ने व्याख्याप्रज्ञप्ति में इसी प्रकार की शैली होने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

प्रस्तुत आगम में अनेक प्रकरण कथाशैली में लिखे गए हैं। जीवनप्रसंगों, घटनाओं और रूपकों के माध्यम से कठिन विषयों को सरल करके प्रस्तुत किया गया है। भगवान् महावीर को जहाँ कहीं कठिन विषय को उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता महसूस हुई, वहाँ उन्होंने दैनिक जीवनधारा से कोई उदाहरण उठा कर दिया है। किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के साथ-साथ वे हेतु का निर्देश भी किया करते थे। जहाँ एक ही प्रश्न के एक से अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर होते, वहाँ वे प्रश्नकर्ता की दृष्टि और भावना को मद्देनजर रख कर तदनुरूप समाधान किया करते थे। जैसे—रोहक अनगार के प्रश्न के उत्तर में स्वयं प्रतिप्रश्न करके भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया है।

मुख्यरूप में यह आगम प्राकृत भाषा में या कहीं कहीं शौरसेनी भाषा में सरल-सरस गद्यशैली में लिखा हुआ है। प्रतिपाद्य विषय का संकलन करने की दृष्टि से संग्रहणीय गाथाओं के रूप में कहीं-कहीं पद्यभाग भी उपलब्ध होता है। कहीं पर स्वतंत्ररूप से प्रश्नोत्तरों का क्रम है, तो कहीं किसी घटना के पश्चात् प्रश्नोत्तरों का सिलसिला चला है।

प्रस्तुत आगम में द्वादशांगी-पश्चाद्वर्ती काल में रचित राजप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, प्रश्नव्याकरण एवं नन्दीसूत्र आदि (में वर्णित अमुक विषयों) का अवलोकन करने का निर्देश या उल्लेख देख कर इतिहासवेत्ता विद्वानों का यह अनुमान करना यथार्थ नहीं है कि यह आगम अन्य आगमों के बाद में रचा गया है। वस्तुतः जैनागमों को लिपिबद्ध करते समय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने ग्रन्थ की अनावश्यक बृहद्ता कम करने तथा अन्य सूत्रों में वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति से बचने की दृष्टि से पूर्वलिखित आगमों का निर्देश-अतिदेश किया है। आगम-लेखनकाल में सभी आगम क्रम से नहीं लिखे गए थे। जो आगम पहले लिखे जा चुके थे, उन आगमों में उस विषय का विस्तार से वर्णन पहले हो चुका था, अतः उन विषयों की पुनरावृत्ति न हो, ग्रन्थगुरुत्व न हो, इसी उद्देश्य से श्रीदेवर्द्धिगणी आदि पश्चाद्वर्ती आगमलेखकों ने इस निर्देशपद्धति का अवलम्बन लिया था। इसलिए यह आगम पश्चाद्ग्रथित है, ऐसा निर्णय नहीं करना चाहिए। वस्तुतः व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र गणधर रचित ही है, इसकी मूलरचना प्राचीन ही है।

अद्यावधि मुद्रित व्याख्याप्रज्ञप्ति

सन् १९१८-२१ में अभयदेवसूरिकृत वृत्तिसहित व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र धनपतसिंह जी द्वारा बनारस से प्रकाशित हुआ। यह १४ वें शतक तक ही मुद्रित हुआ था।

वि. सं. १९७४-७९ में पण्डित बेचरदासजी दोशी द्वारा सम्पादित एवं टीका का गुजराती में अनूदित भगवतीसूत्र छठे शतक तक दो भागों में जिनागम-प्रकाशकसभा बम्बई से प्रकाशित हुआ, तत्पश्चात् गुजरात विद्यापीठ तथा जैनसाहित्य प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद से सातवें से ४१ वें शतक तक दो भागों में पं. भगवानदास दोशी द्वारा केवल मूल का गुजराती अनुवाद होकर प्रकाशित हुआ।

---

१. 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम्........इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्।'
—तत्त्वार्थ० राजवार्तिक अ. ४, सू. २६, पृ. २४५

सन् १९३८ में श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल द्वारा गुजराती में छायानुवाद होकर जैनसाहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से भगवती-सार प्रकाशित हुआ।

वि. सं २०११ में श्री मदनकुमार द्वारा भगवतीसूत्र १ से २० शतक तक का केवल हिन्दी अनुवाद श्रुतप्रकाशन मन्दिर, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

इसी प्रकार वीर संवत् २४४६ में आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म. कृत हिन्दी अनुवादयुक्त भगवती सूत्र हैदराबाद से प्रकाशित हुआ।

सन् १९६१ में आचार्य घासीलालजी महाराज कृत भगवतीसूत्र-संस्कृतटीका तथा उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद श्वे. स्था. जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट द्वारा प्रकाशित हुआ।

जैन संस्कृति रक्षकसंघ सैलाना द्वारा प्रकाशित एवं पं. घेवरचन्दजी बांठिया, 'वीरपुत्र' द्वारा हिन्दी-अनुवाद एवं विवेचन सहित सम्पादित भगवतीसूत्र ७ भागों में प्रकाशित हुआ।

सन् १९७४ में पं. बेचरदास जीवराज दोशी द्वारा सम्पादित 'वियाहपण्णत्तिसुत्तं' मूलपाठ-टिप्पणयुक्त श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें अनेक प्राचीन-नवीन प्रतियों का अवलोकन करके शुद्ध मूलपाठ तथा सूत्रसंख्या का क्रमशः निर्धारण किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के इतने सब मुद्रित संस्करणों में अनेक संस्करण तो अपूर्ण ही रहे, जो पूर्ण हुए उनमें से कई अनुपलब्ध हो चुके हैं। जो उपलब्ध हैं वे आधुनिक शिक्षित तथा प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक आधार ढूंढने वाली जैनजनता एवं शोधकर्त्ता विद्वानों के लिए उपयुक्त नहीं थे। अतः न तो अतिविस्तृत और न अतिसंक्षिप्त हिन्दी विवेचन तथा तुलनात्मक टिप्पणयुक्त भगवतीसूत्र की मांग थी। क्योंकि केवल मूलपाठ एवं संक्षिप्त सार से प्रस्तुत आगम के गूढ़ रहस्यों को हृदयंगम करना प्रत्येक पाठक के वस की बात नहीं थी।

भगवती के अभिनव संस्करण की प्रेरणा

इन्हीं सब कारणों से श्रमणसंघ के युवाचार्य आगममर्मज्ञ पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म. 'मधुकर' ने तथा श्रमणसंघीय प्रथम आचार्य आगमरत्नाकर स्व. पूज्य श्रीआत्मारामजी म. की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में उनके प्रशिष्य जैनविभूषण परमश्रद्धेय गुरुदेव श्री पद्मचन्द भण्डारीजी महाराज ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का अभिनव सर्वजनग्राह्य सम्पादन करने की बलवती प्रेरणा दी; इसके पश्चात् इसे प्रकाशित करने का बीड़ा श्रीआगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर ने उठाया; जिसका प्रतिफल हमारे सामने है।

प्रस्तुत सम्पादन की विशेषता

प्रस्तुत सम्पादन की विशेषता यह है कि इसमें पाठों की शुद्धता के लिए श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित शुद्ध मूलपाठ, टिप्पण, सूत्रसंख्या, शीर्षक, पाठान्तर एवं विशेषार्थ से युक्त 'वियाहपण्णत्तिसुत्तं' का अनुसरण किया गया है। प्रत्येक सूत्र में प्रश्न और उत्तर को पृथक् पृथक् पंक्ति में रखा गया है। प्रत्येक प्रकरण के शीर्षक-उपशीर्षक दिये गए हैं, ताकि पाठक को प्रतिपाद्य विषय के ग्रहण करने में आसानी रहे। प्रत्येक परिच्छेद के मूलपाठ देने के बाद सूत्रसंख्या देकर क्रमशः मूलानुसार हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। जहाँ कठिन शब्द हैं, या मूल में संक्षिप्त शब्द हैं, वहाँ कोष्ठक में उनका सरल अर्थ तथा कहीं-कहीं पूरा भावार्थ भी दे दिया गया है। शब्दार्थ के पश्चात् विवेच्यस्थलों का हिन्दी में परिमित शब्दों में विवेचन भी दिया गया है। विवेचन प्रसिद्ध वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरिरचित वृत्ति को केन्द्र में रख कर किया गया है। वृत्ति में जहाँ अतिविस्तार है वहाँ उसे छोड़कर सारभाग ही ग्रहण किया गया है। जहाँ मूलपाठ अतिविस्तृत है अथवा पुनरुक्त

है, वहाँ विवेचन में उसका निष्कर्षमात्र दे दिया गया है। कहीं-कहीं विवेचन में कठिन शब्दों का विशेषार्थ अथवा विशिष्ट शब्दों की परिभाषाएँ भी दी गई हैं। कहीं-कहीं मूलपाठ में उक्त विषय को युक्ति हेतु पूर्वक सिद्ध करने का प्रयास भी विवेचन में किया गया है। विवेचन में प्रतिपादित विषयों एवं उद्धृत प्रमाणों के सन्दर्भ स्थलों का उल्लेख भी पादटिप्पणों (Foot notes) में कर दिया गया है। जहाँ कहीं आवश्यक समझा गया, वहाँ जैन, बौद्ध, वैदिक एवं अन्यान्य ग्रन्थों के तुलनात्मक टिप्पण भी दिये गए हैं। प्रत्येक शतक के प्रारम्भ में प्राथमिक देकर शतक में प्रतिपादित विषयवस्तु की समीक्षा की गई है, ताकि पाठक उक्त शतक का हार्द समझ सकें। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र विशालकाय आगम है, इसे और अधिक विशाल नहीं बनाने तथा पुनरुक्ति से बचने के लिए हमने संक्षिप्त एवं सारगर्भित विवेचनशैली रखी है। जहाँ आगमिक पाठों के संक्षेप-सूचक 'जाव', जहा, एवं आदि शब्द हैं, उनका स्पष्टीकरण प्रायः शब्दार्थ में कर दिया गया है।

प्रस्तुत सम्पादन को समृद्ध बनाने के लिए अन्त में हमने तीन परिशिष्ट दिये हैं—एक में सन्दर्भग्रन्थों की सूची है, दूसरे में पारिभाषिक शब्दकोश, और तीसरे में विशिष्ट शब्दों की अकारादि क्रम से सूची। ये तीनों ही परिशिष्ट अन्तिम खण्ड में देने का निर्णय किया गया है। इस विराट् आगम को हमने कई खण्डों में विभाजित किया है। यह प्रथम खंड प्रस्तुत है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत विराट्काय शास्त्र का सम्पादन करने में जिन-जिनके अनुवादों, मूलपाठों, टीकाओं एवं ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उन सब अनुवादकों, सम्पादकों, टीकाकारों एवं ग्रन्थकारों के प्रति हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

मैं श्रमणसंघीय **युवाचार्यश्री मिश्रीमलजी महाराज** एवं मेरे पूज्य गुरुदेव **श्री भण्डारी पद्मचन्दजी महाराज** के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से हम इस दुरूह, एवं बृहत्काय शास्त्र-सम्पादन में अग्रसर हो सके हैं। आगमतत्त्वमनीषी प्रवचनप्रभाकर **श्री सुमेरमुनिजी म.** एवं विद्वद्वर्य पं० **मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म०** के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने निष्ठापूर्वक प्रस्तुत आगम-सम्पादनयज्ञ में पूरा सहयोग दिया है। आगम-मर्मज्ञ **पं० शोभाचन्दजी भारिल्ल** की श्रुतसेवाओं को कैसे विस्मृत किया जा सकता है?, जिन्होंने इस विराट् शास्त्रराज को संशोधित-परिष्कृत करके मुद्रित कराने का दायित्व सफलतापूर्वक पूर्ण किया है। साथ ही हम अपने ज्ञात-अज्ञात सहयोगीजनों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनकी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस सम्पादनकार्य में सहायता मिली है।

प्रस्तुत सम्पादन के विषय में विशेष कुछ कहना उपयुक्त नहीं होगा। सुज्ञ पाठक, विद्वान् शोधकर्ता, आगमरसिक महानुभाव एवं तत्त्वमनीषी साधुसाध्वीगण सम्पादनकला की कसौटी पर कस कर इसे हृदय से अपनाएँगे और इसके अध्ययन-मनन से अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र को समुज्ज्वल बनाएँगे तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे। सुज्ञेषु किं बहुना!

—अमरमुनि
श्रीचन्द सुराना

श्रीआगम प्रकाशन समिति ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१.	श्रीमान् सेठ मोहनमलजी चोरड़िया	अध्यक्ष	मद्रास
२.	श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	श्रीमान् कँवरलालजी बैताला	उपाध्यक्ष	गोहाटी
४.	श्रीमान् दौलतराजजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
५.	श्रीमान् रतनचन्दजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
६.	श्रीमान् खूबचन्दजी गादिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
७.	श्रीमान् जतनराजजी मेहता	महामन्त्री	मेड़ता सिटी
८.	श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
९.	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०.	श्रीमान् चाँदमलजी चौपड़ा	सहमन्त्री	ब्यावर
११.	श्रीमान् जौहरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१२.	श्रीमान् गुमानमलजी चोरड़िया	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१३.	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१४.	श्रीमान् जी. सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१५.	श्रीमान् जेठमलजी चोरड़िया	सदस्य	बैंगलोर
१६.	श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१७.	श्रीमान् बादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१८.	श्रीमान् मांगीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दराबाद
१९.	श्रीमान् माणकचन्दजी बैताला	सदस्य	बागलकोट
२०.	श्रीमान् भंवरलालजी गोठी	सदस्य	मद्रास
२१.	श्रीमान् भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२२.	श्रीमान् सुगनचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२३.	श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२४.	श्रीमान् खींवराजजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२५.	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	सदस्य	भरतपुर
२६.	श्रीमान् भंवरलालजी मूथा	सदस्य	जयपुर
२७.	श्रीमान् जालमसिंहजी मेड़तवाल	(परामर्शदाता)	ब्यावर

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

विषय-सूची

द्वितीय शतक १६२–२५१

तृतीय शतक २५३–३९९

चतुर्थ शतक ३९१—३९९

पंचम शतक ४००—५२२

□□

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं पंचमं अंगं

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

[भगवई]

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचित पञ्चम अङ्ग

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

[भगवती]

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

परिचय

※ द्वादशांगी में पंचम अंग का नाम **'व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र'** है।

※ इसका वर्तमान में प्रसिद्ध एवं प्रचलित नाम **'भगवती सूत्र'** है।

※ वृत्तिकार ने **'वियाहपण्णत्ति'** शब्द के संस्कृत में पांच रूपान्तर करके इनका पृथक्-पृथक् निर्वचन किया है—(१) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (२) व्याख्याप्रज्ञाप्ति, (३) व्याख्या-प्रज्ञात्ति, (४) विवाह-प्रज्ञप्ति, (५) विवाधप्रज्ञप्ति।

※ **व्याख्या-प्रज्ञप्ति**—(वि+आ+ख्या+प्र+ज्ञप्ति)—जिस ग्रन्थ में विविध प्रकार (पद्धति) से भगवान् महावीर द्वारा गौतमादि शिष्यों को उनके प्रश्नों के उत्तर के रूप में जीव-अजीव आदि अनेक ज्ञेय पदार्थों की व्यापकता एवं विशालतापूर्वक की गई व्याख्याओं (कथनों) का श्रीसुधर्मा-स्वामी द्वारा जम्बूस्वामी आदि शिष्यों के समक्ष प्रकर्षरूप से निरूपण (ज्ञप्ति) किया गया हो। अथवा जिस शास्त्र में विविध रूप से या विशेष रूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्रतिपादन किया गया हो। अथवा व्याख्याओं—अर्थ-प्रतिपादनाओं का जिसमें प्रकृष्ट ज्ञान (ज्ञप्ति) दिया गया हो, वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है।

※ **व्याख्याप्रज्ञाप्ति**—(व्याख्या+प्रज्ञा+आप्ति) और **व्याख्याप्रज्ञात्ति**—(व्याख्या+प्रज्ञा+आत्ति)—व्याख्या (अर्थ-कथन) की प्रज्ञा (प्रज्ञान हेतुरूप बोध) की प्राप्ति (या ग्रहण) जिस ग्रन्थ से हो। अथवा व्याख्या करने में प्रज्ञ (पटु भगवान्) से प्रज्ञ (गणधर) को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, या ग्रहण करने का अवसर मिले।

※ **विवाहप्रज्ञप्ति**—(वि+वाह+प्रज्ञप्ति)—जिस शास्त्र में विविध या विशिष्ट अर्थप्रवाहों या नयप्रवाहों का प्रज्ञापन (प्ररूपण या प्रबोधन) हो।

※ **विवाधप्रज्ञप्ति**—जिस शास्त्र में बाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित निरूपण उपलब्ध हो।[1]

※ **भगवती**—अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक विशाल एवं अधिक आदरास्पद होने के कारण इसका दूसरा नाम 'भगवती' भी प्रसिद्ध है।

※ अचेलक परम्परा में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम का उल्लेख है। उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति की शैली गौतम गणधर के प्रश्नों और भगवान् महावीर के उत्तरों के रूप में है, जिसे 'राजवार्तिककार' ने भी स्वीकार किया है।[2]

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेववृत्ति, पत्रांक १,२,३

२. (क) राजवार्तिक अ. ४, सू. २६, पृ. २४५, (ख) कषाय-पाहुड भा. १, पृ. १२५ (ग) अभयदेववृत्ति पत्रांक २ (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ. १८७ (ङ) 'शिक्षासमुच्चय' पृ. १०४ से ११२ में प्रज्ञा-पारमिता' को 'भगवती' कहा गया है।

※ समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में नाना प्रकार के ३६००० प्रश्नों का व्याख्यान (कथन) है; जो कि अनेक देवों, राजाओं, राजर्षियों, अनगारों तथा गणधर गौतम आदि द्वारा भगवान् से पूछे गए हैं। 'कषायपाहुड' के अनुसार प्रस्तुत आगम में जीव-अजीव, स्वसमय-परसमय, लोक-अलोक आदि की व्याख्या के रूप में ६० हजार प्रश्नोत्तर हैं। आचार्य अकलंक के मतानुसार इसमें 'जीव है या नहीं ?' इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निरूपण है। आचार्य वीरसेन के मतानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरों के साथ ९६ हजार छिन्नछेदनयों से ज्ञापनीय शुभाशुभ का वर्णन है।[1]

※ प्राचीन सूची के अनुसार प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, सौ से अधिक अध्ययन (शतक), दश हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर तथा २८८००० (दो लाख अठासी हजार) पद एवं संख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि में अनन्तगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते हैं।[2]

※ वर्तमान में उपलब्ध 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' में ४१ शतक हैं। 'शतक' शब्द शत (सयं) का ही रूप है। प्रत्येक शतक में उद्देशकरूप उपविभाग हैं। कतिपय शतकों में दश-दश उद्देशक हैं, कुछ में इससे भी अधिक हैं। ४१ वें शतक में १९६ उद्देशक हैं।[3]

※ प्रत्येक शतक का विषयनिर्देश शतक के प्रारम्भ में यथास्थान दिया गया है। पाठक वहाँ देखें।

※ प्रस्तुत शास्त्र में भगवान् महावीर के जीवन का तथा, उनके शिष्य, भक्त, गृहस्थ, उपासक, अन्यतीर्थिक गृहस्थ, परिव्राजक, आजीवक एवं उनकी मान्यताओं का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। साथ ही उस युग में प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन, मत एवं उनके अनुयायियों की मनोवृत्ति तथा कतिपय साधकों की जिज्ञासाप्रधान, सत्यग्राही, सरल, साम्प्रदायिक कट्टरता से रहित उदारवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इसमें जैनसिद्धान्त, समाज, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, भूगोल, गणित आदि सभी विषयों का स्पर्श किया गया है। विश्वविद्या की कोई भी ऐसी विद्या नहीं है, जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इसमें न हुई हो। अन्य आगमों की अपेक्षा इसमें विषय-वस्तु की दृष्टि से विविधता है।[4] □□

---

१. (क) समवायांग सू. ९३, नन्दीसूत्र सू. ८५,४९, (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक १/२० (ग) कषायपाहुड भा. १, पृ. १२५ (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ. १८९

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४ (ख) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. ११३, (ग) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ. १८९

४. (क) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ. १२५, १२६, ११३

पढम सतगं

प्रथम शतक

प्राथमिक

※ भगवतीसूत्र का यह प्रथम शतक है। इस शतक में दस उद्देशक हैं।

※ दस उद्देशकों की विषयानुक्रमणिका इस प्रकार है—(१) चलन, (२) दुःख, (३) कांक्षाप्रदोष, (४) प्रकृति, (५) पृथ्वियाँ, (६) यावन्त, (जितने) (७) नैरयिक (८) बाल (९) गुरुक, (१०) चलनादि।

※ प्रथम उद्देशक प्रारम्भ करने से पूर्व शास्त्रकार ने उपर्युक्त विषयसूची देकर श्रुतदेवता को नमस्कार के रूप में मंगलाचरण किया है।

※ प्रथम उद्देशक में उपोद्घात देकर **'चलमाणे चलिए'** इत्यादि पदों की एकार्थ-नानार्थ-प्ररूपणा, चौवीस दण्डकों की स्थिति आदि का विचार, जीवों की आरम्भ प्ररूपणा, चौवीस दण्डकों की आरम्भ प्ररूपणा, लेश्यायुक्त जीवों में आरम्भ की प्ररूपणा, भव की अपेक्षा ज्ञानादि प्ररूपणा, असंवृत-संवृतसिद्धिविचार, असंयत जीव देवगतिविचार आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

※ द्वितीय उद्देशक में जीव की अपेक्षा से एकत्व-पृथक्त्व रूप से दुःखवेदन-आयुष्यवेदन-प्ररूपण, चौवीस दण्डकों में समाहारादि सप्त द्वार प्ररूपण, जीवादि की संसारस्थितिकाल के भेदाभेद, अल्प-बहुत्व-अन्तक्रिया कारकादि निरूपण, दर्शनव्यापन्न पर्याप्तक असंयत-भव्य-देवादि की विप्रतिपत्ति विचार, असंज्ञी जीवों के आयु, आयुबंध, अल्प-बहुत्व का विचार प्रतिपादित है।

※ तृतीय उद्देशक में संसारी जीवों के कांक्षामोहनीय कर्म के विषय में विविध पहलुओं से विचार प्रस्तुत किया गया है।

※ चतुर्थ उद्देशक में कर्मप्रकृतियों के बन्ध तथा मोक्ष आदि का निरूपण किया गया है।

※ पंचम उद्देशक में नारकी आदि २४ दण्डकों की स्थिति, अवगाहना, शरीर, संहनन, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग आदि द्वारों की दृष्टि से निरूपण किया गया है।

※ छठे उद्देशक में सूर्य के उदयास्त के अवकाश, प्रकाश, लोकान्तादि स्पर्शना, क्रिया, रोहप्रश्न, लोकस्थिति, स्नेहकाय आदि का निरूपण किया गया है।

※ सातवें उद्देशक में नारक आदि २४ दण्डकों के जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, विग्रहगति, गर्भस्थ जीव के आहारादि का विचार प्रस्तुत किया गया है।

※ आठवें उद्देशक में बाल, पण्डित और बालपण्डित मनुष्यों के आयुष्यबंध, कायिकादि क्रिया, जय-पराजय, हेतु, सवीर्यत्व-अवीर्यत्व की प्ररूपणा है।

※ नौवें उद्देशक में विविध पहलुओं से जीवों के गुरुत्व-लघुत्व आदि का निरूपण किया गया है।

※ दसवें उद्देशक में 'चलमान चलित' आदि सिद्धान्तों के विषय में अन्यतैर्थिक प्ररूपणा प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया गया है।

※ कुल मिला कर समस्त जीवों को सब प्रकार की परिस्थितियों के विषय में इस शतक में विचार किया गया है, इस दृष्टि से यह शतक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। □□

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भगवतीसूत्र)

प्रथम उद्देशक

समग्र-शास्त्र-मंगलाचरण—

१—नमो अरहंताणं। नमो सिद्धाणं। नमो आयरियाणं। नमो उवज्झायाणं। नमो लोए सव्वसाहूणं।[1] नमो बंभीए लिवीए।

१—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

विवेचन—मंगलाचरण—प्रस्तुत सूत्र में समग्रशास्त्र का भावमंगल दो चरणों में किया गया है। प्रथम चरण में पंच परमेष्ठी नमस्कार और द्वितीय चरण में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार।

प्रस्तुत मंगलाचरण क्यों और किसलिए ?—शास्त्र सकल कल्याणकर होता है, इसलिए उसकी रचना तथा उसके पठन-पाठन में अनेक विघ्नों की सम्भावनाएँ हैं। अतः शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के तीन कारण बताए गए हैं—

(१) विघ्नों के उपशमन के लिए।

(२) अशुभक्षयोपशमार्थ मंगलाचरण में शिष्यवर्ग की प्रवृत्ति के लिए।

(३) विशिष्ट ज्ञानी शिष्टजनों की परम्परा के पालन के लिए।

प्रस्तुत मंगलाचरण भावमंगलरूप है क्योंकि द्रव्यमंगल एकान्त और अत्यन्त अभीष्टसाधक मंगल नहीं है। यद्यपि भावमंगल स्तुति, नमस्कार, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि कई प्रकार का है, किन्तु 'चत्तारि मंगलं' आदि महामंगलपाठ में जो परमेष्ठीमंगल है, वह लोकोत्तम एवं इन्द्रादि द्वारा शरण्य है, तथा पंचपरमेष्ठी-नमस्कार सर्व पापों का नाशक होने से विघ्नशान्ति का कारण एवं सर्वमंगलों में प्रधान (प्रथम) है। इसलिए उसे सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तर बताकर प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2]

'नमः' पद का अर्थ—द्रव्यभाव से संकोच करना होता है। इस दृष्टि से पंचपरमेष्ठी नमस्कार का अर्थ हुआ—द्रव्य से दो हाथ, दो पैर और मस्तक, इन पांच अंगों को संकोच कर अर्हन्त आदि

---

१. कुछ प्रतियों में 'नमो सव्वसाहूणं' पाठ है।

२. (क) भगवतीसूत्र अभयदेववृत्ति पत्रांक २

(ख) 'चत्तारि मंगलं-अरिहंतामंगल, सिद्धामंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।'—आवश्यकसूत्र

(ग) 'एसो पंच णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।'—आवश्यकसूत्र

(घ) 'सो सव्वसुयक्खंधऽब्भंतरभूओ'—भगवती वृत्ति पत्रांक २

पंचपरमेष्ठी को नमन करता हूँ, तथा भाव से आत्मा को अप्रशस्त परिणति से पृथक् करके अर्हन्त आदि के गुणों में लीन करता हूँ।[1]

'अरहंताणं' पद के रूपान्तर और विभिन्न अर्थ—प्राकृत भाषा के 'अरहंत' शब्द के संस्कृत में ७ रूपान्तर बताए गए हैं—(१) अर्हन्त, (२) अरहोन्तर, (३) अरथान्त, (४) अरहन्त, (५) अरहयत् (६) अरिहन्त और (७) अरुहन्त आदि। क्रमशः अर्थ यों हैं—

अर्हन्त—वे लोकपूज्य पुरुष, जो देवों द्वारा निर्मित अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य हैं, इन्द्रों द्वारा भी पूजनीय हैं।

अरहोन्तर—सर्वज्ञ होने से एकान्त (रह) और अन्तर (मध्य) की कोई भी बात जिनसे छिपी नहीं है, वे प्रत्यक्षद्रष्टा पुरुष।

अरथान्त—रथ शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का सूचक है। जो समस्त प्रकार के परिग्रह से और अन्त (मृत्यु) से रहित हैं।

अरहन्त—आसक्ति से रहित, अर्थात् राग या मोह का सर्वथा अन्त—नाश करने वाले।

अरहयत्—तीव्र राग के कारणभूत मनोहर विषयों का संसर्ग होने पर भी (अष्ट महाप्राति-हार्यादि सम्पदा के विद्यमान होने पर भी) जो परम वीतराग होने से किञ्चित् भी रागभाव को प्राप्त नहीं होते, वे महापुरुष अरहयत् कहलाते हैं।

अरिहन्त—समस्त जीवों के अन्तरंग शत्रुभूत आत्मिक विकारों या अष्टविध कर्मों का विशिष्ट साधना द्वारा क्षय करने वाले।

अरुहन्त—रुह कहते हैं—सन्तान परम्परा को। जिन्होंने कर्मरूपी बीज को जलाकर जन्म-मरण की परम्परा को सर्वथा विनष्ट कर दिया है, वे अरुहन्त कहलाते हैं।[2]

'सिद्धाणं' पद के विशिष्ट अर्थ—सिद्ध शब्द के वृत्तिकार ने ६ निर्वचनार्थ किये हैं—(१) बंधे हुए (सित) अष्टकर्म रूप ईन्धन को जिन्होंने भस्म कर दिया है, वे सिद्ध हैं, (२) जो ऐसे स्थान में सिधार (गमन कर) चुके हैं, जहाँ से कदापि लौटकर नहीं आते, (३) जो सिद्ध—कृतकृत्य हो चुके हैं, (४) जो ससार को सम्यक् उपदेश देकर संसार के लिए मंगलरूप हो चुके हैं, (५) जो सिद्ध—नित्य हो चुके हैं, शाश्वत स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, (६) जिनके गुणसमूह सिद्ध-प्रसिद्ध हो चुके हैं।[3]

---

१. 'दव्वभावसंकोयण पयत्थो नमः'—भगवती वृत्ति पत्रांक ३

२. (क) भगवती वृत्ति पत्रांक ३

(ख) 'अरिहंति वंदणनमंसणाणि, अरिहंति पूयसक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति॥'

(ग) अट्ठविहंपि य कम्मं अरिभूयं होइ सयलजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति॥—भगवती वृत्ति पत्रांक ३

३. (क) भगवती वृत्ति पत्रांक ३

(ख) ध्मातं सितं येन पुराणकर्म्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे॥—भगवती वृत्ति पत्रांक ४

'आयरियाणं' पद के विशिष्ट अर्थ—वृत्तिकार ने आचार्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—(१) आ=मर्यादापूर्वक या मर्यादा के साथ जो भव्यजनों द्वारा, चार्य=सेवनीय हैं, वे आचार्य कहलाते हैं, (२) आचार्य वह है जो सूत्र का परमार्थ ज्ञाता, उत्तम लक्षणों से युक्त, गच्छ के मेढीभूत, गण को चिन्ता से मुक्त करने वाला एवं सूत्रार्थ का प्रतिपादक हो, (३) ज्ञानादि पंचाचारों का जो स्वयं आचरण करते हैं, दूसरों को आचरण कराते हैं, वे आचार्य हैं। (४) जो (मुक्ति) दूत (आ+चार) की तरह हेयोपादेय के, संघहिताहित के अन्वेषण करने में तत्पर हैं, वे आचार्य हैं।[1]

'उवज्झायाणं' पद के विशिष्ट अर्थ—उपाध्याय शब्द के पांच अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) जिनके पास आकर सूत्र का अध्ययन, सूत्रार्थ का स्मरण एवं विशेष अर्थचिन्तन किया जाता है, (२) जो द्वादशांगीरूप स्वाध्याय का उपदेश करते हैं, (३) जिनके सान्निध्य (उपाधान) से श्रुत का या स्वाध्याय का अनायास ही आय-लाभ प्राप्त होता है, (४) आय का अर्थ है—इष्टफल। जिनकी सन्निधि (निकटता) ही इष्टफल का निमित्त-कारण हो, (५) आधि (मानसिक पीड़ा) का लाभ (आय) आध्याय है तथैव 'अधी' का अर्थ है—कुबुद्धि, उसकी आय अध्याय है, जिन्होंने आध्याय और अध्याय (कुबुद्धि या दुर्ध्यान) को उपहत—नष्ट कर दिया है, वे उपाध्याय कहलाते हैं।[2]

'सव्वसाहूणं' पद के विशिष्ट अर्थ—साधु शब्द के भी वृत्तिकार ने तीन अर्थ बताए हैं—(१) ज्ञानादि शक्तियों के द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं, (२) जो सर्वप्राणियों के प्रति समता-भाव धारण करते हैं, किसी पर रागद्वेष नहीं रखते, निन्दक-प्रशंसक के प्रति समभाव रखते हैं, प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हैं, (३) जो संयम पालन करने वाले भव्य प्राणियों की मोक्षसाधना में सहायक बनते हैं, वे साधु कहलाते हैं।

साधु के साथ 'सर्व' विशेषण लगाने का प्रयोजन—जैसे अरिहन्तों और सिद्धों में स्वरूपतः सर्वथा समानता है, वैसी समानता साधुओं में नहीं होती। विभिन्न प्रकार की साधना के कारण साधुओं के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। साधुत्व की दृष्टि से सब साधु समान हैं, इसलिए वन्दनीय हैं। 'सव्व' (सर्व) विशेषण लगाने से सभी प्रकार के, सभी कोटि के साधुओं का ग्रहण हो जाता है, फिर चाहे वे सामायिकचारित्री हों, चाहे छेदोपस्थापनिक, परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्परायी हों या यथाख्यातचारित्री, अथवा वह प्रमत्तसंयत हों या अप्रमत्तसंयत (सातवें से १४वें गुणस्थान तक के साधु) हों, या वे पुलाकादि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों में से कोई एक हों, अथवा वे जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रतिमाधारी, यथालन्दकल्पी या कल्पातीत हों, अथवा वे प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध या बुद्ध-बोधित में से किसी भी कोटि के हों, अथवा भरतक्षेत्र, महाविदेहक्षेत्र, जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड आदि

---

१. (क) भगवती वृत्ति पत्रांक ३

(ख) 'सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ॥'

(ग) पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता।
आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति॥ —भ. वृ. ४

२. (क) भगवती वृत्ति पत्रांक ४

(ख) बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति॥ —भ. वृ. ४

किसी भी क्षेत्र में विद्यमान हों, साधुत्व की साधना करने वालों को नमस्कार करने की दृष्टि से 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया गया है। सर्व शब्द-प्रयोग अन्य परमेष्ठियों के साथ भी किया जा सकता है।

'सव्व' शब्द के वृत्तिकार ने १ सार्व, २ श्रव्य और ३ सव्य, ये तीन रूप बताकर पृथक्-पृथक् अर्थ भी बताए हैं। सार्व का एक अर्थ है—समानभाव से सब का हित करने वाले साधु, दूसरा अर्थ है—सब प्रकार के शुभ योगों या प्रशस्त कार्यों की साधना करने वाले साधु, तीसरा अर्थ है—सार्व अर्थात्—अरिहन्त भगवान् के साधु अथवा अरिहन्त भगवान् की साधना-आराधना करने वाले साधु या एकान्तवादी मिथ्यामतों का निराकरण करके सार्व यानी अनेकान्तवादी आर्हतमत की प्रतिष्ठा करने वाले साधु सार्वसाधु हैं।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' पाठ का विशेष तात्पर्य—इस पाठ के अनुसार प्रसंगवशात् सर्व शब्द यहाँ एकदेशीय सम्पूर्णता के अर्थ में मान कर इसका अर्थ किया जाता है—ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य लोक में विद्यमान सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। लोकशब्द का प्रयोग करने से किसी गच्छ, सम्प्रदाय, या प्रान्तविशेष की संकुचितता को अवकाश नहीं रहा। कुछ प्रतियों में 'लोए' पाठ नहीं है।

श्रव्यसाधु का अर्थ होता है—श्रवण करने योग्य शास्त्रवाक्यों में कुशलसाधु (न सुनने योग्य को नहीं सुनता)। **सव्यसाधु** का अर्थ होता है—मोक्ष या संयम के अनुकूल (सव्य) कार्य करने में दक्ष।[१]

पाँचों नमस्करणीय और मांगलिक कैसे?—अर्हन्त भगवान् इसलिए नमस्करणीय हैं कि उन्होंने आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप शक्तियों को रोकने वाले घातीकर्मों को सर्वथा निर्मूल कर दिया है, वे सर्वज्ञतालाभ करके संसार के सभी जीवों को कर्मों के बन्धन से मुक्ति पाने का मार्ग बताने एवं कर्मों से मुक्ति दिलाने वाले, परम उपकारी होने से नमस्करणीय हैं एवं उनको किया हुआ नमस्कार जीवन के लिए मंगलकारक होता है। सिद्ध भगवान् के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य आदि गुण सदा शाश्वत और अनन्त हैं। उन्हें नमस्कार करने से व्यक्ति को अपनी आत्मा के निजी गुणों एवं शुद्ध स्वरूप का भान एवं स्मरण होता है, गुणों को पूर्णरूप से प्रकट करने की एवं आत्मशोधन की, आत्मबल प्रकट करने की प्रेरणा मिलती है, अतः सिद्ध भगवान् संसारी आत्माओं के लिए नमस्करणीय एवं सदैव मंगलकारक हैं। आचार्य को नमस्कार इसलिए किया जाता है कि वे स्वयं आचारपालन में दक्ष होने के साथ-साथ दूसरों के आचारपालन का ध्यान

---

१. (क) साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः। समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति साधवः॥
(ख) निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहेंति साहुणो। समया सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो॥
(ग) असहाए सहायत्तं करेंति मे संयमं करेंतस्स। एएण कारणेणं णमामिऽहं सव्वसाहूणं॥
(घ) सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वाः सार्वस्य वाऽर्हतः साधवः सार्वसाधवः। सर्वान्शुभयोगान् साधयन्ति... ....।—भगवती वृत्ति पत्रांक ३
(च) लोके मनुष्यलोके, न तु गच्छन्ति, ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नमः। —भगवती वृत्ति पत्रांक ४
(छ) भगवती वृत्ति पत्रांक ५

रखते हैं और संघ को ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थिर रखते हैं। इस महान् उपकार के कारण तथा ज्ञानादि मंगल प्राप्त कराने के कारण आचार्य नमस्करणीय एवं मांगलिक हैं। संघ में ज्ञानवल न हो तो अनेक विपरीत और अहितकर कार्य हो जाते हैं। उपाध्याय संघ में ज्ञानवल को सुदृढ़ वनाते हैं। शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान उपाध्याय की कृपा से प्राप्त होता है, इसलिए उपाध्याय महान् उपकारी होने से नमस्करणीय एवं मंगलकारक हैं। मानव के सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ एवं परमसाधना के ध्येयस्वरूप मोक्ष की साधना—संयम साधना —में असहाय, अनभिज्ञ एवं दुर्वल को सहायता देने वाले साधु निराधार के आधार, असहाय के सहायक के नाते परम उपकारी, नमस्करणीय एवं मंगलफल-दायक होते हैं। अरिहंत तीर्थंकर विशेप समय में केवल २४ होते हैं, आचार्य भी सीमित संख्या में होते हैं, अतः उनका लाभ संवको, सव क्षेत्र और सर्वकाल में नहीं मिल सकता, साधु-साध्वी ही ऐसे हैं, जिनका लाभ सर्वसाधारण को सर्वक्षेत्रकाल में मिल सकता है। पाँचों कोटि के परमेष्ठी को नमस्कार करने का फल एक समान नहीं है, इसलिए **'सव्वसाहूणं'** एक पद से या **'नमो सव्व सिद्धाणं व नमो सव्वसाहूणं'** इन दो पदों से कार्य नहीं हो सकता। अतः पाँच ही कोटि के परमेष्ठीजनों को नमस्कार-मंगल यहाँ किया गया है।[1]

द्वितीय मंगलाचरण—ब्राह्मी लिपि को नमस्कार—क्यों और कैसे?—अक्षर विन्यासरूप अर्थात्—लिपिवद्ध श्रुत द्रव्यश्रुत है; लिपि लिखे जाने वाले अक्षरसमूह का नाम है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से लिखने के रूप में जो लिपि सिखाई, वह ब्राह्मी लिपि कहलाती है। ब्राह्मीलिपि को नमस्कार करने के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठते हैं—(१) लिपि अक्षरस्थापनारूप होने से उसे नमस्कार करना द्रव्यमंगल है, जो कि एकान्तमंगलरूप न होने से यहाँ कैसे उपादेय हो सकता है? (२) गणधरों ने सूत्र को लिपिवद्ध नहीं किया, ऐसी स्थिति में उन्होंने लिपि को नमस्कार क्यों किया? (३) प्रस्तुत शास्त्र स्वयं मंगलरूप है, फिर शास्त्र के लिए यह मंगल क्यों किया गया? इनका क्रमशः समाधान यों है—प्राचीनकाल में शास्त्र को कण्ठस्थ करने की परम्परा थी, लिपिवद्ध करने की नहीं, ऐसी स्थिति में लिपि को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसका आशय वृत्तिकार स्पष्ट करते हैं कि यह नमस्कार प्राचीनकालिक लोगों के लिए नहीं, आधुनिक लोगों के लिए है। इससे यह भी सिद्ध है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार नहीं किया है, यह नमस्कार शास्त्र को लिपिवद्ध करने वाले किसी परम्परानु-गामी द्वारा किया गया है। अक्षरस्थापनारूप लिपि अपने आप में स्वतः नमस्करणीय नहीं होती, ऐसा होता तो लाटी, यवनी, तुर्की, राक्षसी आदि प्रत्येक लिपि नमस्करणीय होती, परन्तु यहाँ ब्राह्मी लिपि ही नमस्करणीय वताई है, उसका कारण है कि शास्त्र ब्राह्मीलिपि में लिपिवद्ध हो जाने के कारण वह लिपि आधुनिकजनों के लिए श्रुतज्ञान रूप भावमंगल को प्राप्त करने में अत्यन्त उपकारी

---

१. (क) नमस्करणीयता चैषां भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्दरूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन् परमोप-कारित्वादिति।
(ख) नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततयास्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्याना-मतीवोपकारहेतुत्वादिति।
(ग) नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्।
(घ) नमस्यता चैषांमुसम्प्रदायाप्तजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वात्।
(ङ) एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात्॥"—भगवती वृत्ति पत्रांक ३-४

है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण होने से संज्ञाक्षररूप (ब्राह्मीलिपिरूप) द्रव्यश्रुत को भी मंगलरूप माना है। वस्तुतः यहाँ नमस्करणीय भावश्रुत ही है, वही पूज्य है। अथवा शब्दनय की दृष्टि से शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। इस अभेद विवक्षा से ब्राह्मीलिपि को नमस्कार भगवान् ऋषभदेव (ब्राह्मी लिपि के आविष्कर्ता) को नमस्कार करना है। अतः मात्र लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरविन्यास को नमस्कार करना लिया जाएगा तो अतिव्याप्ति दोष होगा।

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र स्वयं मंगलरूप है, तथापि इस शास्त्र के लिए जो मंगलाचरण किया गया है, वह इस उद्देश्य से कि शिष्यगण शास्त्र को मंगलरूप (श्रुतज्ञानरूप मंगल हेतु) समझ सकें। तथा मंगल का ग्रहण उनकी बुद्धि में हो जाए अर्थात् वे यह अनुभव करें कि हमने मंगल किया है।[1]

शास्त्र की उपादेयता के लिए चार बातें—वृत्तिकार ने शास्त्र की उपादेयता सिद्ध करने के लिए चार बातें बताई हैं—(१) मंगल, (२) अभिधेय, (३) फल और (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध में मंगल का निरूपण किया जा चुका है, तथा प्रस्तुत शास्त्र के विविध नामों का निर्देश एवं उनकी व्याख्या करके इस शास्त्र का अभिधेय भी बताया जा चुका है। अब रहे फल और सम्बन्ध। अभिधेय सम्बन्धी अज्ञान दूर होकर शास्त्र में जिन-जिन बातों का वर्णन किया गया है, उन बातों का ज्ञान हो जाना, शास्त्र के अध्ययन या श्रवण का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से प्राप्त हुए ज्ञान का परम्परा से फल मोक्ष है। शास्त्र में जिन अर्थों की व्याख्या की गई है, वे अर्थ वाच्य हैं, और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भावसम्बन्ध यहाँ विद्यमान है, 'अथवा' इस शास्त्र का यह प्रयोजन है, यह[2] सम्बन्ध (प्रयोज्य-प्रयोजक-भावसम्बन्ध) भी है।

प्रथम शतक : विषयसूची मंगल—

२—रायगिह चलण १ दुक्खे २ कंखपओसे य ३ पगति ४ पुढवीओ ५।
जावंते ६ नेरइए ७ बाले ८ गुरुए य ९ चलणाओ १०॥१॥

२—(प्रथम शतक के दस उद्देशकों की संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—) (१) राजगृह नगर में "चलन" (के विषय में प्रश्न), (२) दुःख, (३) कांक्षा-प्रदोष, (४) (कर्म) प्रकृति (५) पृथ्वियाँ, (६) यावत् (जितनी दूर से इत्यादि), (७) नैरयिक, (८) बाल, (९) गुरुक और (१०) चलनादि।

विवेचन—प्रथम शतक की विषयसूची—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम शतक के दस उद्देशकों का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रत्येक का स्पष्टीकरण आगे यथास्थान किया जाएगा।

३—नमो सुयस्स।

३—श्रुत (द्वादशांगीरूप अर्हत्प्रवचन) को नमस्कार हो।

---

१. (क) एवं तावत्परमेष्ठिनो नमस्कृत्याऽधुनातनजनानांश्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारित्वात्। तस्य च द्रव्यभाव श्रुतरूपत्वात् भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतहेतुत्वात् संज्ञाक्षररूपं द्रव्यश्रुतं....।'—भग. अ. वृ. पत्रांक ५
(ख) 'लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीइ दाहिण करेणं।'—भग. अ. वृत्ति, पत्रांक ५

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ५

विवेचन—प्रथम शतक का मंगलाचरण—यद्यपि शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण किया गया है, तथापि शास्त्रकार प्रथम शतक के प्रारम्भ में श्रुतदेवतानमस्काररूप विशेष मंगलाचरण करते हैं। आचारांग आदि बारह शास्त्र अर्हन्त भगवान् के अंगरूप प्रवचन हैं, उन्हीं को यहाँ 'श्रुत' कहा गया है। इष्टदेव को नमस्कार करने की अपेक्षा यहाँ इष्टदेव की वाणीरूप श्रुत को नमस्कार किया गया है, इसके पीछे आशय यह है कि श्रुत भी इष्टदेवरूप ही है, क्योंकि अर्हन्त भगवान् जैसे सिद्धों को नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार '**णमो तित्थस्स**' (तीर्थ को नमस्कार हो) कह कर परम आदरणीय तथा परम उपकारी होने से श्रुत (प्रवचन या सिद्धान्त)—रूप भावतीर्थ को भी नमस्कार करते हैं।

श्रुत भी भावतीर्थ है क्योंकि द्वादशांगी-ज्ञानरूप श्रुत के सहारे से भव्यजीव संसारसागर से तर जाते हैं, तथा श्रुत अर्हन्त भगवान् के परम केवलज्ञान से उत्पन्न हुआ है, इस कारण इष्टदेव-रूप है। गणधर ने श्रुत को नमस्कार किया है उसके तीन कारण प्रतीत होते हैं—(१) श्रुत की महत्ता प्रदर्शित करने हेतु, (२) श्रुत पर भव्यजीवों की श्रद्धा बढ़े एवं (३) भव्य जीव श्रुत का आदर करें, आदरपूर्वक श्रवण करें।

प्रथम उद्देशक : उपोद्घात—

४—(१) तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे गुणसिलए नामं चेइए होत्था।

४—(१) उस काल (अवसर्पिणी काल के) और उस समय (चौथे आरे–भगवान् महावीर के युग में) राजगृह नामक नगर था। वर्णक। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र में अंकित चम्पानगरी के वर्णन के समान समझ लेना चाहिए) उस राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व के दिग्भाग (ईशानकोण) में गुणशीलक नामक चैत्य (व्यन्तरायतन) था। वहाँ श्रेणिक (भम्भासार–बिम्बसार) राजा राज्य करता था और चिल्लणादेवी उसकी रानी थी।

(२) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थगरे सहसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवरपुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी लोगणाहे लोगप्पदीवे लोगपज्जोयगरे अभयदये चक्खुदये मग्गदये सरणदये धम्मदेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाण-दंसणधरे वियट्टछउमे जिणे जावए बुद्धे बोहए मुत्ते मोयए सव्वण्णू सव्वदरिसी सिवमयलमरुजमणंत-मक्खयमव्वाबाहं 'सिद्धिगति' नामधेयं ठाणं संपाविउकामे जाव समोसरणं।

परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

(२) उस काल में, उस समय में (वहाँ) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरण कर रहे थे, जो आदि-कर (द्वादशांगीरूप श्रुत के प्रथम कर्ता), तीर्थंकर (प्रवचन या संघ के कर्ता) सहसम्बुद्ध (स्वयं तत्त्व के ज्ञाता), पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह (पुरुषों में सिंह की तरह पराक्रमी), पुरुषवर-पुण्डरीक (पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक—श्वेत-कमल रूप), पुरुषवरगन्धहस्ती (पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान), लोकोत्तम, लोकनाथ (तीनों लोकों की आत्माओं के योग-क्षेमकर), (लोकहितंकर) लोक-प्रदीप, लोकप्रद्योतकर, अभयदाता, चक्षुदाता (श्रुतधर्मरूपी नेत्रदाता), मार्गदाता (मोक्षमार्ग-प्रदर्शक), शरणदाता (त्राण-दाता), (बोधिदाता), धर्मदाता, धर्मोपदेशक, (धर्मनायक), धर्मसारथि (धर्मरथ के सारथि), धर्मवर-

१. भगवती अभयदेववृत्ति पत्रांक ६

चातुरन्त-चक्रवर्ती, अप्रतिहत (निरावाध) ज्ञान-दर्शनधर, छद्मरहित (छलकपट और ज्ञानादि आवरणों से दूर), जिन (रागद्वेषविजेता), ज्ञायक (सम्यक् ज्ञाता), बुद्ध (समग्र तत्त्वों को जानकर रागद्वेषविजेता), वोधक (दूसरों को तत्त्ववोध देने वाले), मुक्त (वाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित), मोचक (दूसरों को कर्मवन्धनों से मुक्त कराने वाले), सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों के विशेष रूप से ज्ञाता) सर्वदर्शी (सर्व पदार्थों के सामान्य रूप से ज्ञाता) थे। तथा जो शिव (सर्व वाधाओं से रहित), अचल (स्वाभाविक प्रायोगिक चलन-हेतु से रहित), अरुज (रोगरहित), अनन्त (अनन्तज्ञानदर्शनादियुक्त), अक्षय (अन्तरहित), अव्यावाध (दूसरों को पीड़ित न करने वाले या सर्व प्रकार की वाधाओं से विहीन), पुनरागमनरहित सिद्धिगति (मोक्ष) नामक स्थान को सम्प्राप्त करने के कामी (इच्छुक) थे।

(यहाँ से लेकर समवसरण तक का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(भगवान् महावीर का पदार्पण जानकर) परिषद् (राजगृह के राजादि लोग तथा अन्य नागरिकों का समूह भगवान् के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एवं धर्मोपदेश श्रवण के लिए) निकली। (निर्गमन का समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए)। (भगवान् ने उस विशाल परिषद् को) धर्मोपदेश दिया। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन कहना चाहिए)। (धर्मोपदेश सुनकर और यथाशक्ति धर्म-धारण करके वह) परिषद् (अपने स्थान को) वापस लौट गई। (यह समग्र वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(३) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसभनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेयलेसे चउदसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

(३) उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पास (न वहुत दूर, न वहुत निकट), उत्कुटुकासन से (घुटना ऊंचा किये हुए) नीचे सिर झुकाए हुए, ध्यानरूपी कोठे (कोष्ठ) में प्रविष्ट श्रवण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार संयम और तप से आत्मा को भावित (वासित) करते हुए विचरण करते थे। वह गौतम-गोत्रीय थे, (शरीर से) सात हाथ ऊंचे, समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रऋषभनाराच संहनन वाले थे। उनके शरीर का वर्ण सोने के टुकड़े की रेखा के समान तथा पद्म-पराग के समान (गौर) था। वे उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर (परीषह तथा इन्द्रियादि पर विजय पाने में कठोर), घोरगुण (दूसरों द्वारा दुश्चर मूलगुणादि) सम्पन्न, घोरतपस्वी, घोर (कठोर) ब्रह्मचर्यवासी, शरीर-संस्कार के त्यागी थे। उन्होंने विपुल (व्यापक) तेजोलेश्या (विशिष्ट तपस्या से प्राप्त तेजोज्वाला नामक लब्धि) को संक्षिप्त (अपने शरीर में अन्तर्लीन) करली थी, वे चौदह पूर्वों के ज्ञाता और चतुर्ज्ञानसम्पन्न सर्वाक्षर-सन्निपाती थे।

(४) तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेति।

उट्ठाए उट्ठेता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेत्ता वंदति, नमंसति, नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलियडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

(४) तत्पश्चात् जातश्रद्ध (प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले), जातसंशय, जातकुतूहल, संजातश्रद्ध, समुत्पन्न श्रद्धा वाले, समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से (अपने स्थान से उठकर) खड़े होते हैं।

उत्थानपूर्वक खड़े होकर श्रमण गौतम जहाँ (जिस ओर) श्रमण भगवान् महावीर हैं, उस ओर (उनके निकट) आते हैं। निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर को उनके दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। फिर वन्दन-नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके वे न तो बहुत पास और न बहुत दूर भगवान् के समक्ष विनय से ललाट पर हाथ जोड़े हुए भगवान् के वचन सुनना चाहते हुए उन्हें नमन करते व उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—राजगृह में भगवान् महावीर का पदार्पण : गौतम स्वामी की प्रश्न पूछने की तैयारी— प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र से शास्त्र का प्रारम्भ किया गया है। इसमें नगर, राजा, रानी, भगवान् महावीर, परिषद्—समवसरण, धर्मोपदेश, गौतमस्वामी तथा उनके द्वारा प्रश्न पूछने की तैयारी तक का क्षेत्र या व्यक्तियों का वर्णन किया गया है, वह सब भगवती सूत्र में यत्र-तत्र श्री भगवान् महावीर स्वामी से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न और उनके द्वारा दिये गए उत्तरों की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित किया गया है। इस समग्र पाठ में कुछ वर्णन के लिए 'वर्णक' या 'जाव' से अन्य सूत्र से जान लेने की सूचना है, कुछ का वर्णन यहीं कर दिया गया है। इस समग्र पाठ का क्रमशः वर्णन इस प्रकार है—

(१) भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर का वर्णन[1]

(२) वहाँ के तत्कालीन राजा श्रेणिक और रानी चिल्लणा का उल्लेख

(३) अनेक विशेषणों से युक्त श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह के आसपास विचरण।

(४) इसके पश्चात् 'समवसरण' तक के वर्णन में निम्नोक्त वर्णन गर्भित हैं—(अ) भगवान् के १००८ लक्षणसम्पन्न शरीर तथा चरण-कमलों का वर्णन, (जिनसे वे पैदल विहार कर रहे थे), (आ) उनकी बाह्य (अष्ट महाप्रातिहार्यरूपा) एवं अन्तरंग विभूतियों का वर्णन, (इ) उनके चौदह हजार साधुओं और छत्तीस हजार आर्यिकाओं के परिवार का वर्णन, (ई) बड़े-छोटे के क्रम से ग्रामानुग्राम सुखपूर्वक विहार करते हुए राजगृह नगर तथा तदन्तर्गत गुणशीलक चैत्य में पदार्पण का वर्णन, (उ) तदनन्तर उस चैत्य में अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान हुए और उनका समवसरण लगा। (ए) समवसरण में विविध प्रकार के ज्ञानादि शक्तियों से सम्पन्न साधुओं आदि का वर्णन[2], तथा असुरकुमार, शेष भवनपतिदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिष्कदेव एवं वैमानिकदेवों का भगवान् के समीप आगमन एवं उनके द्वारा भगवान् की पर्युपासना का वर्णन[3]।

---

१. राजगृह वर्णन—औपपातिक सूत्र १

२. भगवान् के शरीरादि का वर्णन—औपपातिक सूत्र १०,१४,१५,१६,१७

३. देवागमन वर्णन—औपपातिक सूत्र २२ से २६ तक

(५) परिषद् के निर्गमन का विस्तृत वर्णन ।[1]

(६) भगवान् महावीर द्वारा दिये गये धर्मोपदेश का वर्णन ।[2]

(७) सभाविसर्जन के बाद श्रोतागण द्वारा कृतज्ञताप्रकाश, यथाशक्ति धर्माचरण का संकल्प, एवं स्वस्थान प्रतिगमन का वर्णन ।[3]

(८) श्री गौतम स्वामी के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व का वर्णन ।

(९) श्री गौतमस्वामी के मन में उठे हुए प्रश्न और भगवान् महावीर से सविनय पूछने की तैयारी ।[4]

प्रस्तुत शास्त्र किसने, किससे कहा ? प्रस्तुत भगवतीसूत्र का वर्णन पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के समक्ष किया था। इसका कारण आवश्यकसूत्र-निर्युक्ति में बताया गया है कि सुधर्मास्वामी का ही तीर्थ चला है। अन्य गणधरों की शिष्य परम्परा नहीं चली, सिर्फ सुधर्मास्वामी के शिष्य-प्रशिष्य हुए हैं ।[5]

'चलमाणे चलिए' आदि पदों का एकार्थ-नानार्थ—

५. (१) से नूणं भंते ! चलमाणे चलिते १ ? उदीरिज्जमाणे उदीरिते २ ? वेइज्जमाणे वेइए ३ ? पहिज्जमाणे पहीणे ४ ? छिज्जमाणे छिन्ने ५ ? भिज्जमाणे भिन्ने ६ ? डज्झमाणे डड्ढे ७ ? मिज्जमाणे मडे ८ ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ९ ?

हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ।

५—[१ प्र.] हे भदन्त (भगवन्) ! क्या यह निश्चित कहा जा सकता है कि १. जो चल रहा हो, वह चला ?, २. जो (कर्म) उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ ?, ३. जो (कर्म) वेदा (भोगा) जा रहा है, वह वेदा गया ?, ४. जो गिर (पतित या नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (पतित हुआ या हटा) ?, ५. जो (कर्म) छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ ?, ६. जो (कर्म) भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ (भेदा गया) ?, ७. जो (कर्म) दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ ?, ८. जो मर रहा है, वह मरा ?, ९. जो (कर्म) निर्जरित हो रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ ?

---

१. परिषद् निर्गमन वर्णन—औपपातिक सूत्र २७ से ३३ तक

२. धर्मकथा वर्णन—औपपातिक सूत्र ३४

३. परिषद् प्रतिगमन वर्णन—औपपातिक सूत्र ३५-३६-३७

४. चतुर्ज्ञानी गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न पूछने के पांच कारण—(१) अतिशययुक्त होते हुए भी छद्मस्थ होने के कारण, (२) स्वयं जानते हुए भी ज्ञान की अविसंवादिता के लिए, (३) अन्य अज्ञजनों के बोध के लिए, (४) शिष्यों को अपने वचन में विश्वास बिठाने के लिए, (५) शास्त्ररचना की यही पद्धति होने से । —भगवतीसूत्र वृत्ति, पत्रांक १६ ।

५. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ७ से १४ तक का सारांश
(ख) वही—पत्रांक ६—"तित्थं च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा ।"
(ग) जम्बूस्वामी द्वारा पृच्छा—'जइ णं भंते ! पंचमस्स अंगस्स विवाहपन्नत्तीए....के अट्ठे पण्णत्ते ?"
—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र

[१ उ.] हाँ गौतम ! जो चल रहा हो, उसे चला, यावत् निर्जरित हो रहा है, उसे निर्जीर्ण हुआ, (इस प्रकार कहा जा सकता है।)

(२) एए णं भंते ! नव पदा किं एगट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा उदाहु नाणट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा ?

गोयमा ! चलमाणे चलिते १, उदीरिज्जमाणे उदीरिते २, वेइज्जमाणे वेइए ३, पहिज्जमाणे पहीणे ४, एए णं चत्तारि पदा एगट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा उप्पन्नपक्खस्स। छिज्जमाणे छिन्ने १, भिज्जमाणे भिन्ने २, डज्झमाणे डड्ढे ३, मिज्जमाणे मडे ४, निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ५, एए णं पंच पदा नाणट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा विगतपक्खस्स।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या ये नौ पद, नानाघोष और नाना व्यञ्जनों वाले एकार्थक हैं ? अथवा नाना घोष वाले और नाना व्यञ्जनों वाले भिन्नार्थक पद हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! १. जो चल रहा है, वह चला; २. जो उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ; ३. जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया; ४. और जो गिर (नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (नष्ट हुआ), ये चारों पद उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक, नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनों वाले हैं। तथा १. जो छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ, २. जो भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ, ३. जो दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ; ४. जो मर रहा है, वह मरा; और ५. जो निर्जीर्ण किया जा रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ, ये पांच पद विगतपक्ष की अपेक्षा से नाना अर्थ वाले, नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनों वाले हैं।

विवेचन—चलन आदि से सम्बन्धित नौ प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत पंचम सूत्र में दो विभाग हैं—प्रथम विभाग में कर्मबन्ध के नाश होने की क्रमश: प्रक्रिया से सम्बन्धित ९ प्रश्न और उनके उत्तर हैं; दूसरे विभाग में इन्हीं ९ कर्मबन्धनाशप्रक्रिया के एकार्थक या नानार्थक होने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं।[1]

विशेषावश्यकभाष्य में श्रावस्ती में प्रादुर्भूत 'बहुरत' नामक निह्नवदर्शन के प्रवर्तक जमालि का वर्णन है। उसका मन्तव्य था कि जो कार्य किया जा रहा है, उसे संपूर्ण न होने तक 'किया गया', ऐसा कहना मिथ्या है; इस प्रकार के प्रचलित मत को लेकर श्रीगौतमस्वामी द्वारा ये प्रश्न समाधानार्थ प्रस्तुत किए गए।[2]

जो क्रिया प्रथम समय में हुई है, उसने भी कुछ कार्य किया है, निश्चयनय की अपेक्षा से ऐसा मानना उचित है।

चलन—कर्मदल का उदयावलिका के लिए चलना।

उदीरणा—कर्मों की स्थिति परिपक्व होने पर उदय में आने से पहले ही अध्यवसाय विशेष से उन कर्मों को उदयावलिका में खींच लाना।

वेदना—उदयावलिका में आए हुए कर्मों के फल का अनुभव करना।

प्रहाण—आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हुए कर्मों का हटना-गिरना।

छेदन—कर्म की दीर्घकालिक स्थिति को अपवर्तना द्वारा अल्पकालिक स्थिति में करना।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४,१५ का सारांश

२. विशेषावश्यकभाष्य गा. २३०६, २३०७ (विशेष चर्चा जमालि प्रसंग में देखें)

भेदन—बद्ध कर्म के तीव्र रस को अपवर्त्तनाकरण द्वारा मन्द करना अथवा उद्वर्त्तनाकरण द्वारा मन्द रस को तीव्र करना।

दग्ध—कर्मरूपी काष्ठ को ध्यानाग्नि से जलाकर अकर्म रूप कर देना।

मृत—पूर्वबद्ध आयुष्यकर्म के पुद्गलों का नाश होना।

निर्जीर्ण—फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से पृथक् होना—क्षीण होना।

एकार्थ—जिनका विषय एक हो, या जिनका अर्थ एक हो।

घोष—तीन प्रकार के हैं—उदात्त (जो उच्चस्वर से बोला जाए), अनुदात्त (जो नीचे स्वर से बोला जाए) और स्वरित (जो मध्यमस्वर से बोला जाए)। यह तो स्पष्ट है कि इन नौ पदों के घोष और व्यञ्जन पृथक्-पृथक् हैं।

चारों एकार्थक—चलन, उदीरणा, वेदना और प्रहाण, ये चारों क्रियाएँ तुल्यकाल (एक अन्तर्मुहूर्त्तस्थितिक) की अपेक्षा से, गत्यर्थक होने से तथा एक ही कार्य (केवलज्ञान प्रकटीकरण रूप) की साधक होने से एकार्थक हैं।

पाँचों भिन्नार्थक—छेदन, भेदन, दहन, मरण, निर्जरण, ये पाँचों पद वस्तु विनाश की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं। तात्पर्य यह है कि छेदन स्थितिबन्ध की अपेक्षा से, भेदन अनुभाग (रस) बन्ध की अपेक्षा से, दहन प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से, मरण आयुष्यकर्म की अपेक्षा से और निर्जरण समस्त कर्मों की अपेक्षा से कहा गया है। अतएव ये सब पद भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं।[1]

चौबीस दंडकगत स्थिति आदि का विचार—

(नैरयिक चर्चा)

६. (१.१) नेरइयाणं भंते! केवइकालं ठिई पण्णत्ता?

गोयमा! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

६—[१. १ प्र.] भगवन्! नैरयिकों की स्थिति (आयुष्य) कितने काल की कही है?

[१. १. उ.] हे गौतम! जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष की, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) तैंतीस सागरोपम की कही है।

(१.२) नेरइया णं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा?

जहा ऊसासपदे।

[१. २. प्र.] भगवन्! नारक कितने काल (समय) में श्वास लेते हैं और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं—कितने काल में उच्छ्वास लेते हैं और निःश्वास छोड़ते हैं?

[१. २. उ.] (प्रज्ञापना-सूत्रोक्त) उच्छ्वास पद (सातवें पद) के अनुसार समझना चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५ से १९ तक

(१.३) नेरइया णं भंते ? आहारट्ठी ?

जहा पण्णवणाए पढमए आहार उद्देसए तथा भाणियव्वं।

ठिति उस्सासाहारे किं वा ऽऽहारेंति सव्वओ वा वि।

कतिभागं सव्वाणि व कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥२॥

[१. ३. प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक आहारार्थी होते हैं ?

[१. ३. उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के आहारपद (२८वें) के प्रथम उद्देशक के अनुसार समझ लेना।

गाथार्थ—नारक जीवों की स्थिति, उच्छ्वास तथा आहार-सम्बन्धी कथन करना चाहिए। क्या वे आहार करते हैं ? वे समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं ? वे कितने भाग का आहार करते हैं या वे सर्व-आहारक द्रव्यों का आहार करते हैं ? और वे आहारक द्रव्यों को किस रूप में वार-वार परिणमाते हैं।

(१.४) नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिता पोग्गला परिणता १ ? आहारिता आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणता २ ? अणाहारिता आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ३ ? अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ४ ?

गोयमा ! नेरइयाणं पुव्वाहारित्ता पोग्गला परिणता १, आहारिता आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणता परिणमंति य २, अणाहारिता आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला नो परिणता, परिणमिस्संति ३, अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला नो परिणता, नो परिणमिस्संति ४।

[१. ४. प्र.] भगवन् ! नैरयिकों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ? आहारित (आहार किये हुए, तथा (वर्तमान में) आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल अनाहारित (नहीं आहार किये हुए) हैं, वे तथा जो पुद्गल (भविष्य में) आहार के रूप में ग्रहण किये जाएँगे, वे परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल अनाहारित हैं और आगे भी आहारित (आहार के रूप में) नहीं होंगे, वे परिणत हुए ?

[१. ४. उ.] हे गौतम ! नारकों द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए; १. (इसी तरह) आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए परिणत होते हैं, २. किन्तु नहीं आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नहीं हुए, तथा भविष्य में जो पुद्गल आहार के रूप में ग्रहण किये जाएँगे, वे परिणत होंगे, ३. अनाहारित पुद्गल परिणत नहीं हुए, तथा जिन पुद्गलों का आहार नहीं किया जाएगा, वे भी परिणत नहीं होंगे ४.।

(१.५) नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिता० पुच्छा।

जहा परिणया तहा चिया वि। एवं उवचिता, उदीरिता, वेदिता, निज्जिण्णा। गाहा—

परिणत चिता उवचिता उदीरिता वेदिया य निज्जिण्णा।

एक्केक्कम्मि पदम्मी चउव्विहा पोग्गला होंति ॥३॥

[१.५ प्र.] हे भगवन् ! नैरयिकों द्वारा पहले आहारित (संगृहीत) पुद्गल चय को प्राप्त हुए ?

[१. ५. उ.] हे गौतम ! जिस प्रकार वे परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए; उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए; उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए।

गाथार्थ—परिणत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण, इस एक-एक पद में चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर के विषय) होते हैं।

(१.६) नेरइया णं भंते ! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति ?

गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणं अहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति। तं जहा—अणू चेव वादरा चेव १।

नेरइया णं भंते ! कतिविहा पोग्गला चिज्जंति ?

गोयमा ! आहारदव्ववग्गणं अहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति। तं जहा—अणू चेव वादरा चेव २। एवं उवचिज्जंति ३।

नेरइया णं भंते ! कतिविहे पोग्गले उदीरेंति ?

गोयमा ! कम्मदव्वग्गणं अहिकिच्च दुविहे पोग्गले उदीरेंति। तं जहा—अणू चेव वादरे चेव ४।

एवं वेदेंति ५। निज्जरेंति ६। ओयट्टिंसु ७। ओयट्टेंति ८। ओयट्टिस्संति ९। संकामिंसु १०। संकामेंति ११। संकामिस्संति १२। निहत्तिंसु १३। निहत्तेंति १४। निहत्तिस्संति १५। निकायंसु १६। निकाएंति १७। निकाइस्संति १८। सव्वेसु वि कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च। गाहा—

भेदित चिता उवचिता उदीरिता वेदिया य निज्जिण्णा।
ओयट्टण-संकामण-निहत्तण-निकायणे तिविह कालो ॥४॥

(१. ६. प्र.) हे भगवन् ! नारकजीवों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं ?

(१. ६. उ.) गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—अणु (सूक्ष्म) और वादर (स्थूल) १।

(प्र.) भगवन् ! नारक जीवों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल चय किये जाते हैं ?

(उ.) गौतम ! आहार द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा वे दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं, वे इस प्रकार हैं—अणु और वादर २.; इसी प्रकार उपचय समझना ३.।

(प्र.) भगवन् ! नारक जीव कितने प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ?

(उ.) गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं। वह इस प्रकार है—अणु और वादर ४। शेष पद भी इसी प्रकार कहने चाहिए:—वेदते हैं ५, निर्जरा करते हैं ६, अपवर्त्तन को प्राप्त हुए ७, अपवर्त्तन को प्राप्त हो रहे हैं ८, अपवर्त्तन को प्राप्त करेंगे ९; संक्रमण किया १०, संक्रमण करते हैं ११, संक्रमण करेंगे १२, निधत्त हुए १३, निधत्त होते हैं १४, निधत्त होंगे १५; निकाचित हुए १६, निकाचित होते हैं १७, निकाचित होंगे १८, इन सब पदों में भी कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा (अणु और वादर पुद्गलों का कथन करना चाहिए।)

गाथार्थ—भेदेगए, चय को प्राप्त हुए, उपचय को प्राप्त हुए, उदीर्ण हुए, वेदे गए और निर्जीर्ण हुए (इसी प्रकार) अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन और निकाचन, (इन पिछले चार) पदों में भी तीनों प्रकार काल कहना चाहिए।

(१.७) नेरइया णं भंत्ते ! जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गेण्हंति ते किं तीतकालसमए गेण्हंति ? पडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति ? अणागतकालसमए गेण्हंति ?

गोयमा ! नो तीतकालसमए गेण्हंति, पडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति, नो अणागतकालसमए गेण्हंति १ ।

[१. ७ प्र.] हे भगवन् ! नारक जीव जिन पुद्गलों को तैजस और कार्मणरूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें क्या अतीत काल में ग्रहण करते हैं ? प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) काल में ग्रहण करते हैं ? अथवा अनागत (भविष्य) काल में ग्रहण करते हैं ?

[१. ७. उ.] गौतम ! अतीत काल में ग्रहण नहीं करते; वर्तमान काल में ग्रहण करते हैं; भविष्यकाल में ग्रहण नहीं करते ।

(१.८) नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गहिए उदीरेंति ते किं तीतकालसमयगहिते पोग्गले उदीरेंति ? पडुप्पन्नकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति ? गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले उदीरेंति ?

गोयमा ! तीयकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, नो पडुप्पन्नकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, नो गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले उदीरेंति २ । एवं वेदेंति ३, निज्जरेंति ४ ।

[१. ८. प्र.] हे भगवन् ! नारक जीव तैजस और कार्मणरूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलों को उदीरणा करते हैं, सो क्या अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? या वर्तमान काल में ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? अथवा जिनका उदयकाल आगे आने वाला है, ऐसे भविष्यकालविषयक पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ?

[१. ८. उ.] हे गौतम ! वे अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं, (परन्तु) वर्तमान काल में ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलों की उदीरणा नहीं करते, तथा आगे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं करते ।

इसी प्रकार (उदीरणा की तरह) अतीत काल में गृहीत पुद्गलों को वेदते हैं, और उनकी निर्जरा करते हैं ।

(१.९) नेरइयाणं भंते ! जीवातो किं चलियं कम्मं बंधंति ? अचलियं कम्मं बंधंति ?

गोयमा ! नो चलियं कम्मं बंधंति, अचलितं कम्मं बंधंति १ । एवं उदीरेंति २ वेदेंति ३ ओयट्टेंति ४ संकामेंति ५ निहत्तेंति ६ निकाएंति ७ । सव्वेसु णो चलियं, अचलियं ।

[१. ९. प्र.] भगवन् ! क्या नारक जीवप्रदेशों से चलित (जो जीवप्रदेशों में अवगाढ़ नहीं है, ऐसे) कर्म को बांधते हैं, या अचलित (जीवप्रदेशों में स्थित) कर्म को बांधते हैं ?

[१. ९. उ.] गौतम ! (वे) चलित कर्म को नहीं बांधते, (किन्तु) अचलित कर्म को बांधते हैं ।

इसी प्रकार (बंध के अनुसार ही वे) अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं, अचलित कर्म का ही वेदन करते हैं, अपवर्त्तन करते हैं, संक्रमण करते हैं, निधत्ति करते हैं और निकाचन करते हैं। इन सब पदों में अचलित (कर्म) कहना चाहिए, चलित (कर्म) नहीं ।

(१.१०) नेरइयाणं भंते ! जीवातो किं चलियं कम्मं निज्जरेंति ? अचलियं कम्मं निज्जरेंति ?

गोयमा ! चलिग्रं कम्मं निज्जरेंति, नो ग्रचलियं कम्मं निज्जरेंति ८। गाहा—

बंधोदय-वेदोव्वट्ट-संकमे तह निहत्तण-निकाए।
अचलियं कम्मं तु भवे चलितं जीवाउ निज्जरए ॥५॥

[१. १०. प्र.] भगवन् ! क्या नारक जीवप्रदेश से चलित कर्म की निर्जरा करते हैं अथवा ग्रचलित कर्म की निर्जरा करते हैं ?

[१. १०. उ.] गौतम ! (वे) चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते।

गाथार्थ—बन्ध, उदय, वेदन, ग्रपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन ग्रौर निकाचन के विपय में ग्रचलित कर्म समझना चाहिए ग्रौर निर्जरा के विषय में चलित कर्म समझना चाहिए।

विवेचन—नारकों की स्थिति ग्रादि के सम्बन्ध के प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत छठे सूत्र के २४ ग्रवान्तर विभाग (दण्डक) करके शास्त्रकार ने प्रथम अवान्तर विभाग में नारकों को स्थिति आदि से सम्वन्धित १० प्रश्नोत्तर-समूह प्रस्तुत किये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) स्थिति, (२) श्वासोच्छ्वास समय, (३) ग्राहार, (४) ग्राहारित-ग्रनाहारित पुद्गल परिणमन, (५) इन्हीं के चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, ग्रौर निर्जराविषयक विचार, (६) ग्राहारकर्म द्रव्यवर्गणा के पुद्गलों के भेदन, चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, निर्जरा, ग्रपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन ग्रौर निकाचन से सम्वन्धित विचार, (७-८) तैजस-कार्मण के रूप में गृहीत पुद्गलों के ग्रहण, उदीरणा, वेदना ग्रौर निर्जरा की अपेक्षा त्रिकालविषयक विचार, (९-१०) चलित-ग्रचलित कर्म सम्वन्धी वन्ध, उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्तन, निकाचन एवं निर्जरा की ग्रपेक्षा विचार।[1]

स्थिति—आत्मारूपी दीपक में ग्रायुकर्मपुद्गलरूपी तेल के विद्यमान रहने की सामयिक मर्यादा।[2]

ग्राणमन-प्राणमन तथा उच्छ्वास-निःश्वास—यद्यपि ग्राणमन-प्राणमन तथा उच्छ्वास-निःश्वास का ग्रर्थ समान है, किन्तु इनमें ग्रपेक्षाभेद से ग्रन्तर वताने की दृष्टि से इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है। ग्राध्यात्मिक (ग्राभ्यन्तर) श्वासोच्छ्वास को ग्राणमन-प्राणमन ग्रौर वाह्य को उच्छ्वास-निःश्वास कहते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में नारकों के सतत श्वासोच्छ्वास लेने-छोड़ने का वर्णन है।[3]

नारकों का ग्राहार—प्रज्ञापनासूत्र में बताया है कि नारकों का ग्राहार दो प्रकार का होता है—ग्राभोग निर्वर्तित (खाने की बुद्धि से किया जाने वाला) ग्रौर ग्रनाभोगनिर्वर्तित (ग्राहार की इच्छा के विना भी किया जाने वाला)। ग्रनाभोग ग्राहार तो प्रतिक्षण—सतत होता रहता है, किन्तु ग्राभोगनिर्वर्तित-ग्राहार की इच्छा कम से कम ग्रसंख्यात समय में, ग्रर्थात्—ग्रन्तर्मुहूर्त्त में होती है।

---

१. भगवतीसूत्र ग्र. वृत्ति, पत्रांक १९ से २५ तक का सारांश
२. भगवतीसूत्र ग्र. वृत्ति पत्रांक १९
३. (क) वही, पत्रांक १९, (ख) प्रज्ञापना, उच्छ्वासपद—७ में—"**गोयमा ! सययं संतयामेव ग्राणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा।**

इसके अतिरिक्त नारकों के आहार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, दिशा, समय आदि की अपेक्षा से भी विचार किया गया है।[1]

परिणत, चित, उपचित आदि—आहार का प्रसंग होने से यहाँ परिणत का अर्थ है—शरीर के साथ एकमेक होकर आहार का शरीररूप में पलट जाना। जिन पुद्गलों को आहाररूप में परिणत किया है, उनका शरीर में एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय (चित) कहलाता है। जो चय किया गया है, उसमें अन्यान्य पुद्गल एकत्रित कर देना उपचय (उपचित) कहलाता है।[2]

आहार शब्द यहाँ ग्रहण करने और उपभोग करने (खाने) दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। प्रस्तुत में प्रत्येक पद के आहार से सम्बन्धित (१) आहारित, (२) आहारित-आह्रियमाण, (३) अनाहारित-आहारिष्यमाण, एवं अनाहारित—अनाहारिष्यमाण, इन चारों प्रकार के पुद्गल विषयक चार-चार प्रश्न हैं।[3]

पुद्गलों का भेदन—अपवर्त्तनाकरण तथा उद्वर्त्तनाकरण (अध्यवसायविशेष) से तीव्र, मन्द, मध्यम रस वाले पुद्गलों को दूसरे रूप में परिणत (परिवर्तित) कर देना। जैसे—तीव्र को मन्द और मन्द को तीव्र बना देना।

पुद्गलों का चय-उपचय—यहाँ शरीर का आहार से पुष्ट होना चय और विशेष पुष्ट होना उपचय है। ये आहारद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा जानना चाहिए।

अपवर्तन—अध्यवसायविशेष के द्वारा कर्म की स्थिति एवं कर्म के रस को कम कर देना। अपवर्त्तनाकरण से कर्म की स्थिति आदि कम की जाती है, उद्वर्तनाकरण से अधिक।

संक्रमण—कर्म की उत्तरप्रकृतियों का अध्यवसाय-विशेष द्वारा एक दूसरे के रूप में बदल जाना। यह संक्रमण (परिवर्त्तन) मूल प्रकृतियों में नहीं होता। उत्तरप्रकृतियों में भी आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियों में नहीं होता तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह में भी एक दूसरे के रूप में संक्रमण नहीं होता।

निधत्त करना—भिन्न-भिन्न कर्म-पुद्गलों को एकत्रित करके धारण करना। निधत्त अवस्था में उद्वर्तना और अपवर्तना, इन दो करणों से ही निधत्त कर्मों में परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इन दो करणों के सिवाय किसी अन्य संक्रमणादि के द्वारा जिसमें परिवर्त्तन न हो सके, कर्म की ऐसी अवस्था को निधत्त कहते हैं।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्रांक २० से २३ तक
(ख) देखिये, प्रज्ञापना, आहारपद, पद २८ उद्दे. १ में

२. भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्रांक २४

३. (१) पूर्वाहृत, (२) आह्रियमाण, (३) आहारिष्यमाण, (४) अनाहृत, (५) अनाह्रियमाण और (६) अनाहारिष्यमाण; इन ६ पदों के ६३ भंग होते हैं—एकपदाश्रित ६, द्विकसंयोग से १५, त्रिकसंयोग से २०, चतुष्कसंयोग से १५, पंचकसंयोग से ६ और षट्संयोग से एक।

—भगवती. अ. वृत्ति अनुवाद, पृ. ६२-६३

निकाचित करना—निधत्त किये गए कर्मों का ऐसा सुदृढ़ हो जाना कि, जिससे वे एक-दूसरे से पृथक् न हो सकें, जिनमें कोई भी करण कुछ भी परिवर्तन न कर सके। अर्थात्—कर्म जिस रूप में बांधे हैं, उसी रूप में भोगने पड़ें, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं।[1]

चलित-अचलित—जिन आकाशप्रदेशों में जीवप्रदेश अवस्थित हैं उन्हीं आकाशप्रदेशों में जो अवस्थित न हों, ऐसे कर्म चलित कहलाते हैं, इससे विपरीत कर्म अचलित।[2]

देव (असुरकुमार) चर्चा—

(२.१) असुरकुमाराणं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णता?
जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं।

[२.१ प्र.] भगवन्! असुरकुमारों की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[२.१ उ.] हे गौतम! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम से कुछ अधिक की है।

(२.२) असुरकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा[3] ४?
गोयमा! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं,[4] उक्कोसेणं साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा ४।

[२.२ प्र.] भगवन्! असुरकुमार कितने समय में श्वास लेते हैं और कितने समय में निःश्वास छोड़ते हैं?

[२.२ उ.] गौतम! जघन्य सात स्तोकरूप काल में और उत्कृष्ट एक पक्ष (पखवाड़े) से (कुछ) अधिक काल में श्वास लेते और छोड़ते हैं।

(२.३) असुरकुमाराणं भंते! आहारट्ठी?
हंता, आहारट्ठी।

[२.३ प्र.] हे भगवन्! क्या असुरकुमार आहार के अभिलाषी होते हैं?

[२.३ उ.] हाँ, गौतम! (वे) आहार के अभिलाषी होते हैं।

(२.४) असुरकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४-२५
२. वही, पत्रांक २८
३. 'आणमंति वा' के बाद '४' का अंक 'पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा'; इन शेष तीन पदों का सूचक है।
४. हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसास-निसासे, एस पाणुत्ति वुच्चइ॥
सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए॥

अर्थात्—रोगरहित, स्वस्थ, हृष्टपुष्ट प्राणी के एक श्वासोच्छ्वास (उच्छ्वास-निःश्वास) को एक प्राण कहते हैं। सात प्राणों का एक स्तोक होता है, सात स्तोकों का एक लव और ७७ लवों का एक मुहूर्त होता है।

गोयमा ! असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं जहा–आभोगनिव्वत्तिए य, अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

[२.४ प्र.] हे भगवन् ! असुरकुमारों को कितने काल में आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ?

[२.४ उ.] गौतम ! असुरकुमारों का आहार दो प्रकार का कहा गया है; जैसे कि—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोग-निर्वर्तित । इन दोनों में से जो अनाभोग-निर्वर्तित (बुद्धिपूर्वक न होने वाला) आहार है, वह विरहरहित प्रतिसमय (सतत) होता रहता है । (किन्तु) आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चतुर्थभक्त अर्थात्—एक अहोरात्र से और उत्कृष्ट एक हजार वर्ष से कुछ अधिक काल में होती है ।

(२.५) असुरकुमारा णं भंते ! किं आहारं आहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खित्त-काल-भावा पण्णवणागमेणं । सेसं जहा नेरइयाणं जाव ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! सोइंदियत्ताए ५[1] सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए इट्ठत्ताए इच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए, उड्ढत्ताए, णो अहत्ताए, सुहत्ताए, णो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

[२.५ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार किन पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[२.५ उ.] गौतम ! द्रव्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्यों का आहार करते हैं । क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से प्रज्ञापनासूत्र का वही वर्णन जान लेना चाहिए, जो नैरयिकों के प्रकरण में कहा गया है ।

(प्र.) हे भगवन् ! असुरकुमारों द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप में बार-बार परिणत होते हैं ?

(उ.) हे गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय रूप में, सुन्दर रूप में, सु-वर्णरूप में, इष्ट रूप में, इच्छित रूप में, मनोहर (अभिलषित) रूप में, ऊर्ध्वरूप में परिणत होते हैं, अधःरूप में नहीं; सुखरूप में परिणत होते हैं, किन्तु दुःखरूप में परिणत नहीं होते ।

(२.६) असुरकुमाराणं पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया ?

असुरकुमाराभिलावेणं जहा नेरइयाणं जाव[2] । चलियं कम्मं निज्जरंति ।

[२.६ प्र.] हे भगवन् ! क्या असुरकुमारों द्वारा आहृत—पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ?

---

१. 'इंदियत्ताए' के आगे '५' का अंक शेष चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय का सूचक है ।

२. असुरकुमारों के विषय में 'चलियं कम्मं निज्जरंति' पर्यन्त शेष प्रश्न प्रज्ञापनासूत्रानुसार नारकों की तरह समझ लेने चाहिए । इसी बात के द्योतक 'जहा' और 'जाव' शब्द हैं ।

[२-६ उ.] गौतम ! असुरकुमारों के अभिलाप में, अर्थात्—नारकों के स्थान पर 'असुरकुमार' शब्द का प्रयोग करके अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं, यहाँ तक सभी आलापक नारकों के समान ही समझने चाहिए।

नागकुमार चर्चा

(३.१) नागकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं।

[३.१ प्र.] हे भगवन् ! नागकुमार देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३.१ उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट देशोन = कुछ कम दो पल्योपम की है।

(३.२) नागकुमारा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ४ ?

गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहत्तस्स[1] आणमंति वा ४।

[३.२ प्र.] हे भगवन् ! नागकुमार देव कितने समय में श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं ?

[३.२ उ.] गौतम ! जघन्यतः सात स्तोक में और उत्कृष्टतः मुहूर्त्त-पृथक्त्व में (दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त के अन्दर किसी भी समय) श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

(३.३) नागकुमारा णं भंते ! आहारट्ठी ?

हंता, गोयमा ! आहारट्ठी।

[३.३ प्र.] भगवन् ! क्या नागकुमारदेव आहारार्थी होते हैं ?

[३.३ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं।

(३.४) नागकुमाराणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

गोयमा ! नागकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते। तं जहा—आभोगनिव्वत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य। तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जेइ, तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए, से जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं दिवस-पुहत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेसं जहा असुरकुमाराणं जाव चलियं कम्मं निज्जरेंति, नो अचलियं कम्मं निज्जरेंति।

[३.४ प्र.] भगवन् ! नागकुमार देवों को कितने काल के अनन्तर आहार की अभिलापा उत्पन्न होती है ?

[३.४ उ.] गौतम ! नागकुमार देवों का आहार दो प्रकार का कहा गया है—आभोग-निर्वर्त्तित और अनाभोग-निर्वर्त्तित। इन में जो अनाभोग-निर्वर्त्तित आहार है, वह प्रतिसमय विरहरहित (सतत) होता है; किन्तु आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलापा जघन्यतः चतुर्थभक्त (एक अहोरात्र) के पश्चात् और उत्कृष्टतः दिवस-पृथक्त्व (दो दिवस से लेकर नौ दिवस तक), के बाद उत्पन्न होती

---

१ 'पृथक्त्व' शब्द दो से लेकर नौ तक के अर्थ में सिद्धान्त में प्रसिद्ध है।

है। शेष "चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, किन्तु अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते"; यहाँ तक सारा वर्णन असुरकुमार देवों की तरह समझ लेना चाहिए।

(४-११) एवं सुवण्णकुमाराण वि जाव[1] थणियकुमाराणं ति।

[४ से ११ तक] इसी तरह सुपर्णकुमार देवों से लेकर स्तनितकुमार (शेष सभी भवनपति) देवों तक के भी (स्थिति से लेकर चलित कर्म-निर्जरा तक के) सभी आलापक (पूर्ववत्) कह देने चाहिए।

विवेचन—भवनपतिदेवों की स्थिति आदि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—छठे सूत्र के दूसरे अवान्तर विभाग (दण्डक) से (असुरकुमार से) लेकर ग्यारहवें अवान्तर विभाग (दण्डक) तक (स्तनितकुमार पर्यन्त) की स्थिति आदि के सम्बन्ध में नारकों की तरह, क्रमशः प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

नागकुमारों की स्थिति के विषय में स्पष्टीकरण—मूल पाठ में उक्त नागकुमारों की देशोन दो पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति उत्तर दिशा के नागकुमारों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। दक्षिण-दिशावर्ती नागकुमारों की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्योपम की है।[2]

पृथिवीकाय आदि स्थावर चर्चा

(१२.१) पुढविक्काइयाणं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णता?

गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं।

[१२.१ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[१२.१ उ.] गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की, और उत्कृष्टः बाईस हजार वर्ष की है।

(१२.२) पुढविक्काइया केवइकालस्स आणमंति वा ४?

गोयमा! वेमायाए आणमंति वा ४।

[१२.२ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव कितने काल में श्वास निःश्वास लेते हैं?

[१२.२ उ.] गौतम! (वे) विमात्रा से—विविध या विषम काल में श्वासोच्छ्वास लेते हैं, (अर्थात्—इनके श्वासोच्छ्वास का समय स्थिति के अनुसार नियत नहीं है।)

(१२.३) पुढविक्काइया आहारट्ठी?

हंता, आहारट्ठी।

[१२.३ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव आहार के अभिलाषी होते हैं?

[१२.३ उ.] हाँ, गौतम! वे आहारार्थी होते हैं।

(१२.४) पुढविक्काइयाणं केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

गोयमा! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार, इन शेष ८ भवनपतिदेवों का सूचक है।

२. कहा है—"दाहिणदिवड्ढपलियं, दो देसूणुत्तरिल्लाणं।"

[१२.४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१२.४ उ.] हे गौतम ! (उन्हें) प्रतिसमय विरहरहित निरन्तर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

(१२.५) पुढविक्काइया किं आहारं आहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ जहा नेरइयाणं जाव निव्वाघाएणं छद्दिसिं; वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं । वण्णओ काल-नील-लोहित-हालिद्द-सुक्किलाणि । गंधओ सुब्भिगंध २, रसओ तित्त ५, फासओ कक्खड ८[1] । सेसं तहेव । नाणत्तं कतिभागं आहारेंति ? कइभागं फासादेंति ?

गोयमा ! असंखिज्जइभागं आहारेंति, अणंतभागं फासादेंति जाव ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । सेसं जहा नेरइयाणं जाव चलियं कम्मं निज्जरेंति, नो अचलियं कम्मं निज्जरेंति ।

[१२-५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव क्या (किसका) आहार करते हैं ?

[१२-५ उ.] गौतम ! वे द्रव्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्यों का आहार करते हैं, इत्यादि (आहार-विषयक) सब बातें नैरयिकों के समान जानना चाहिए । यावत् पृथ्वीकायिक जीव व्याघात न हो तो छहों दिशाओं से आहार लेते हैं । व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से आहार लेते हैं । वर्ण की अपेक्षा से काला, नीला, पीला, लाल, हारिद्र (हल्दी जैसा) तथा शुक्ल (श्वेत) वर्ण के द्रव्यों का आहार करते हैं । गन्ध की अपेक्षा से सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध, दोनों गन्ध वाले, रस की अपेक्षा से तिक्त आदि पांचों रस वाले, स्पर्श की अपेक्षा से कर्कश आदि आठों स्पर्श वाले द्रव्यों का आहार करते हैं । शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए । सिर्फ भेद यह है—(प्र.) भगवन् ! पृथ्वीकाय के जीव कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का स्पर्श—आस्वादन करते हैं ?

(उ.) गौतम ! वे असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं और अनन्तवें भाग का स्पर्श—आस्वादन करते हैं । यावत्—"हे भगवन् ! उनके द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप में वार-वार परिणत होते हैं ?" हे गौतम ! स्पर्शेन्द्रिय के रूप में साता—असातारूप विविध प्रकार से वार-वार परिणत होते हैं । (यावत्) यहाँ से लेकर 'अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते'; यहाँ तक का अवशिष्ट सब वर्णन नैरयिकों के समान समझना चाहिए ।

(१३-१६) एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । नवरं ठिती वण्णेयव्वा जा जस्स, उस्सासो वेमायाए ।

[१३-१६] इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तक के जीवों के विषय में समझ लेना चाहिए । अन्तर केवल इतना है कि जिसकी जितनी स्थिति हो उसकी उतनी

---

१. '२' अंक से सुरभि दुरभि दो गन्ध का, '५' अंक से तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल (खट्टा) और मधुर, यों पांच रसों का, और '८' अंक से—कर्कश, कोमल, भारी, हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ प्रकार के स्पर्श का ग्रहण करना चाहिए ।

स्थिति कह देनी चाहिए तथा इन सबका उच्छ्वास भी विमात्रा से—विविध प्रकार से—जानना चाहिए; (अर्थात्—स्थिति के अनुसार वह नियत नहीं है।)

विवेचन—पंच स्थावर जीवों की स्थिति आदि के विषय में प्रश्नोत्तर—छठे सूत्र के अन्तर्गत १२ वें दण्डक से सोलहवें दण्डक तक के पृथ्वीकायादि पांच स्थावर जीवों की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति—खरपृथ्वी की अपेक्षा से २२ हजार वर्ष की कही गई है। क्योंकि सिद्धान्तानुसार स्निग्ध पृथ्वी की एक हजार वर्ष की, शुद्ध पृथ्वी की वारह हजार वर्ष की, वालुका पृथ्वी की १४ हजार वर्ष की, मनःशिला पृथ्वी की १६ हजार वर्ष की, शर्करा पृथ्वी की १८ हजार वर्ष की और खर पृथ्वी की २२ हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति मानी गई है।

विमात्रा-आहार, विमात्रा श्वासोच्छ्वास—पृथ्वीकायिक जीवों का रहन-सहन विचित्र होने से उनके आहार की कोई मात्रा—आहार की एकरूपता—नहीं है। इस कारण उनमें श्वास की मात्रा नहीं है कि कब कितना लेते हैं। इनका श्वासोच्छ्वास विषमरूप है—विमात्र है।

व्याघात—लोक के अन्त में, जहाँ लोक-अलोक की सीमा मिलती है, वहीं व्याघात होना सम्भव है। क्योंकि अलोक में आहार योग्य पुद्गल नहीं होते।

आहार स्पर्शेन्द्रिय से कैसे—पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों के एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय ही होती है, इसलिये ये स्पर्शेन्द्रिय द्वारा आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं।

शेष स्थावरों की उत्कृष्ट स्थिति—पृथ्वीकाय के अतिरिक्त शेष स्थावरों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अप्काय की ७ हजार वर्ष की, तेजस्काय की ३ दिन की, वायुकाय की ३ हजार वर्ष की, और वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की है।[1]

द्वीन्द्रियादि त्रस-चर्चा—

(१७. १) बेइन्दियाणं ठिई भाणियव्वा। ऊसासो वेमायाए।

[१७.१] द्वीन्द्रिय जीवों की स्थिति कह लेनी चाहिए। उनका श्वासोच्छ्वास विमात्रा से (अनियत) कहना चाहिए।

(१७.२) बेइन्दियाणं आहारे पुच्छा। अणाभोगनिव्वत्तिओ तहेव। तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेसं तहेव जाव अणंतभागं आसायंति।

[१७.२] (तत्पश्चात्) द्वीन्द्रिय जीवों के आहार के विषय में (यों) पृच्छा करनी चाहिए—(प्र.) भगवन्! द्वीन्द्रिय जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा होती है? (उ.) अनाभोग-निर्वर्त्तित आहार पहले के ही समान (निरन्तर) समझना चाहिए। जो आभोग-निर्वर्तित आहार है, उसकी अभिलाषा विमात्रा से असंख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त में होती है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत् अनन्तवें भाग का आस्वादन करते हैं।

(१७.३) बेइन्दिया णं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते किं सव्वे आहारेंति? नो सव्वे आहारेंति?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २९

गोयमा ! बेइन्दियाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं जहा—लोमाहारे पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति तेसि णं पोग्गलाणं असंखिज्जभागं आहारेंति, अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति ।

[१७.३.प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहाररूप से ग्रहण करते हैं, क्या वे उन सवका आहार कर लेते हैं ? अथवा उन सवका आहार नहीं करते ?

[१७.३ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवों का आहार दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—रोमाहार (रोमों द्वारा खींचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर, बूंद आदि रूप में मुंह आदि में डाल कर किया जाने वाला आहार)। जिन पुद्गलों को वे रोमाहार द्वारा ग्रहण करते हैं, उन सवका सम्पूर्णरूप से आहार करते हैं; जिन पुद्गलों को वे प्रक्षेपाहाररूप से ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों में से असंख्यातवाँ भाग आहार ग्रहण किया जाता है, और (शेष) अनेक-सहस्रभाग विना आस्वाद किये और विना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते हैं ।

(१७.४) एतेसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४[1] ?

गोयमा ! सव्वत्थो वा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा ।

[१७.४ प्र.] हे भगवन् ! इन विना आस्वादन किये हुए और विना स्पर्श किये हुए पुद्गलों में से कौन-से पुद्गल, किन पुद्गलों से अल्प हैं, वहुत हैं, अथवा तुल्य हैं, या विशेषाधिक हैं ?

[१७.४ उ.] हे गौतम ! आस्वाद में नहीं आए हुए पुद्गल सवसे थोड़े हैं, (जवकि) स्पर्श में नहीं आए हुए पुद्गल उनसे अनन्तगुणा हैं ।

(१७.५) बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते णं तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

गोयमा ! जिब्भिंदिय-फासिंदिय-वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

[१७.५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहाररूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल उनके किस रूप में वार-वार परिणत होते हैं ?

[१७.५ उ.] गौतम ! वे पुद्गल उनके विविधतापूर्वक जिह्वेन्द्रिय रूप में और स्पर्शेन्द्रिय-रूप में वार-वार परिणत होते हैं ।

(१७.६) बेइंदियाणं भंते ! पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया तहेव जाव[2] चलियं कम्मं निज्जरंति ।

[१७.६ प्र.] हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों को क्या पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए हैं ?

---

१. यहाँ 'अप्पा वा' के आगे ४ का अंक 'वहुआ वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा' इन शेष तीन पदों का सूचक है ।
२. यहाँ 'जाव' पद से छठे सूत्र के १-४ से १-१० पर्यन्त सूत्रपाठ देखें ।

[१७.६ उ.] ये 'चलित कर्म की निर्जरा करते हैं' यहां तक सारा वक्तव्य पहले की तरह समझ लेना चाहिए।

[१८-१९.१] तेइंदिय-चउरिंदियाणं णाणत्तं ठितीए जाव णेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति।

[१८।१९.१] त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति में भेद है, (शेष सब वर्णन पूर्ववत् है,) यावत् अनेक-सहस्रभाग विना सूंघे, विना चखे तथा विना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते हैं।

[१८-१९.२] एतेसि णं भंते! पोग्गलाणं अणाघाइज्जमाणाणं ३,[1] पुच्छा।

गोयमा! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा।

[१८।१९-२ प्र.] भगवन्! इन नहीं सूंघे हुए, नहीं चखे हुए और नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गलों में से कौन किससे थोड़ा, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक है? ऐसी पृच्छा करनी चाहिए।

[१८।१९-२ उ.] गौतम! नहीं सूंघे हुए पुद्गल सबसे थोड़े हैं, उनसे अनन्तगुने नहीं चखे हुए पुद्गल हैं, और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल नहीं स्पर्श किये हुए हैं।

[१८.३] तेइंदियाणं घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[१८.३] त्रीन्द्रिय जीवों द्वारा किया हुआ आहार घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप में वार-वार परिणत होता है।

[१९.३] चउरिंदियाणं चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[१९.३] चतुरिन्द्रिय जीवों द्वारा किया हुआ आहार चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्दिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप में वार-वार परिणत होता है।

विवेचन—विकलेन्द्रिय जीवों की स्थिति आदि का वर्णन—छठे सूत्र के अन्तर्गत १७-१८-१९वें दण्डक के रूप में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

विकलेन्द्रिय जीवों की स्थिति—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, उत्कृष्ट द्वीन्द्रिय की वारह वर्ष की, त्रीन्द्रिय की ४९ अहोरात्र की, एवं चतुरिन्द्रिय की छह मास की है।

असंख्यातसमयवाला अन्तर्मुहूर्त—एक अन्तर्मुहूर्त्त में असंख्यात समय होने से वह असंख्येय भेदवाला होता है, इसलिए द्वीन्द्रिय जीवों को आभोग आहार की अभिलाषा असंख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् वताई गई है।

रोमाहार—वर्षा आदि में स्वतः (ओघतः) रोमों द्वारा जो पुद्गल प्रविष्ट हो जाते हैं, उनके ग्रहण को रोमाहार कहते हैं।[2]

---

१. यहाँ '३' अंक से 'अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं' ये दो पद सूचित किये गए हैं।

२. भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ३०

[२०] पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं ठिति भाणिऊण ऊसासो वेमायाए। आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ अणुसमयं अविरहिओ। आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स। सेसं जहा चउरिंदियाणं जाव[1] चलियं कम्मं निज्जरेंति।

[२०] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों की स्थिति कह कर उनका उच्छ्वास विमात्रा से (विविध प्रकार से—अनियत काल में) कहना चाहिए, उनका अनाभोगनिर्वतित आहार प्रतिसमय विरहरहित (निरन्तर) होता है। आभोगनिर्वतित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में और उत्कृष्ट षष्ठभक्त अर्थात् दो दिन व्यतीत होने पर होता है। इसके सम्बन्ध में शेष वक्तव्य 'अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते,' यहाँ तक चतुरिन्द्रिय जीवों के समान समझना चाहिए।

मनुष्य एवं देवादि विषय

[२१] एवं मणुस्साण वि। नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स। सोइंदिय ५[2] वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं तहेव जाव निज्जरेंति।

[२१] मनुष्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए; किन्तु इतना विशेष है कि उनका आभोगनिर्वतित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में, उत्कृष्ट अष्टमभक्त अर्थात् तीन दिन बीतने पर होता है।

पंचेन्द्रिय जीवों द्वारा गृहीत आहार श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, और स्पर्शनेन्द्रिय, इन पाँचों इन्द्रियों के रूप में विमात्रा से वार-वार परिणत होता है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए; यावत् वे 'अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते।'

[२२] वाणमंतराणं ठिईए नाणत्तं। अवसेसं जहा[3] नागकुमाराणं।

[२२] वाणव्यन्तर देवों की स्थिति में भिन्नता (नानात्व) है। (उसके सिवाय) शेष समस्त वर्णन नागकुमारदेवों की तरह समझना चाहिए।

[२३] एवं जोइसियाण वि। नवरं उस्सासो जहन्नेणं मुहुत्तपुहत्तस्स, उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहत्तस्स। आहारो जहन्नेणं दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहत्तस्स। सेसं तहेव।

[२३] इसी तरह ज्योतिष्क देवों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व और उत्कृष्ट भी मुहूर्त्तपृथक्त्व के वाद होता है। उनका आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व से और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व के पश्चात् होता है। शेष सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

[२४] वेमाणियाणं ठिती भाणियव्वा ओहिया। ऊसासो जहन्नेणं मुहुत्तपुहत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं। आहारो आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेणं दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं। सेसं तहेव जाव[4] निज्जरेंति।

[२४] वैमानिक देवों की औघिक स्थिति कहनी चाहिए। उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व से, और उत्कृष्ट तैंतीस पक्ष के पश्चात् होता है। उनका आभोगनिर्वतित आहार जघन्य

१. 'जाव' शब्द से छठे सूत्र के १-२ से १-१० तक का सूत्रपाठ देखें।
२. यहाँ '५' का अंक पांचों इन्द्रियों का सूचक है।
३. यहाँ 'जहा' शब्द सू-६, के ३-२ से लेकर ३-१० तक के पाठ का सूचक है।
४. यहाँ 'जाव' शब्द के लिए सूत्र-६, के १-४ से १-१० तक का सूत्रपाठ देखें।

दिवसपृथक्त्व से और उत्कृष्ट तैंतीस हजार वर्ष के पश्चात् होता है। वे 'चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते,' इत्यादि (यहाँ तक) शेष समग्र वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

विवेचन—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों की स्थिति आदि का वर्णन—छठे सूत्र के अन्तर्गत चौवीस दण्डकों में से अन्तिम २० से २४ वें दण्डक के जीवों की स्थिति आदि का निरूपण किया गया है।

पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति—प्रस्तुत में तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, मनुष्य एवं तीनों निकायों के देवों का समावेश हो जाता है। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और मनुष्य की स्थिति जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त्त की, उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है। वाणव्यन्तर देवों की स्थिति जघन्य १० हजार वर्ष की, उत्कृष्ट एक पल्योपम की है। ज्योतिष्क देवों की स्थिति जघन्य पल्योपम के ८वें भाग की, और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है। वैमानिक देवों की औघिक (समस्त वैमानिक देवों की अपेक्षा से सामान्य) स्थिति कही है। औघिक का परिमाण एक पल्योपम से लेकर तैंतीस सागरोपम तक है। इसमें जघन्य स्थिति सौधर्म देवलोक की अपेक्षा से और उत्कृष्ट स्थिति अनुत्तरविमानवासी देवों की अपेक्षा से कही गई है।

तिर्यंचों और मनुष्यों के आहार की अवधि : किस अपेक्षा से ? प्रस्तुत में तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय का आहार षष्ठभक्त (दो दिन) बीत जाने पर बतलाया गया है, वह देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के यौगलिक तिर्यञ्चों की तथा ऐसी ही स्थिति (आयु) वाले भरत-ऐरवत क्षेत्रीय तिर्यंचयौगलिकों की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसी प्रकार मनुष्यों का आहार अष्टमभक्त बीत जाने पर कहा गया है, वह भी देवकुरु-उत्तरकुरु के यौगलिक मनुष्यों की तथा भरत-ऐरवतक्षेत्र में जब उत्सर्पिणीकाल का छठा आरा समाप्ति पर होता है, और अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा प्रारम्भ होता है, उस समय के मनुष्यों की अपेक्षा से समझना चाहिए।

वैमानिक देवों के श्वासोच्छ्वास एवं आहार के परिमाण का सिद्धान्त—यह है कि जिस वैमानिक देव की जितने सागरोपम की स्थिति हो, उसका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष में होता है, और आहार उतने ही हजार वर्ष में होता है।[1] इस दृष्टि से यहाँ श्वासोच्छ्वास और आहार का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति वाले वैमानिक देवों की अपेक्षा और उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों की अपेक्षा से समझना चाहिए।

मुहूर्त्तपृथक्त्व : जघन्य और उत्कृष्ट—जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व में दो या तीन मुहूर्त्त और उत्कृष्ट मुहूर्त्तपृथक्त्व में आठ या नौ मुहूर्त्त समझना चाहिए।[2]

जीवों की आरंभ विषयक चर्चा

७. [१] जीवा णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ?

---

१. "जस्स जाइं सागराइं तस्स ठिई तत्तिएहिं पक्खेहिं।
उस्सासो देवाणं वाससहस्सेहिं आहारो ॥"

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ३०-३१

गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि,[1] नो अणारंभा। अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा।

[७-१ प्र.] हे भगवन् ! क्या जीव आत्मारम्भी हैं, परारम्भी हैं, तदुभयारम्भी हैं, अथवा अनारम्भी हैं ?

[७-१ उ.] हे गौतम ! कितने ही जीव आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी हैं और उभयारम्भी भी हैं, किन्तु अनारम्भी नहीं हैं। कितने ही जीव आत्मारम्भी नहीं हैं, परारम्भी भी नहीं हैं, और न ही उभयारम्भी हैं, किन्तु अनारम्भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति–अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि ? एवं पडिउच्चारेतव्वं।

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संजता य, असंजता य। तत्थ णं जे ते संजता ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पमत्तसंजता य, अप्पमत्तसंजता य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजता ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुभं जोगं पडुच्च नो आयारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। तत्थ णं जे ते असंजता ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया जीवा जाव[2] अणारंभा।

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि कितने ही जीव आत्मारम्भी भी हैं ? इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न का फिर से उच्चारण करना चाहिए।

[७-२ उ.] गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं—संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक। उनमें से जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध (मुक्त) हैं और सिद्ध भगवान् न तो आत्मारम्भी हैं, न परारम्भी हैं और न ही उभयारम्भी हैं, किन्तु अनारम्भी हैं। जो संसार-समापन्नक जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं—संयत और असंयत। उनमें जो संयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं; जैसे कि—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। उनमें जो अप्रमत्त-संयत हैं, वे न तो आत्मारम्भी हैं, न परारम्भी हैं, और न उभयारम्भी हैं; किन्तु अनारम्भी हैं। जो प्रमत्तसंयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारम्भी हैं, न परारम्भी हैं, और न उभयारम्भी हैं; किन्तु अनारम्भी हैं। अशुभयोग की अपेक्षा वे आत्मारम्भी भी हैं, परारंभी भी हैं और उभयारम्भी भी हैं, किन्तु अनारम्भी नहीं हैं। जो असंयत हैं, वे अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भी हैं, परारम्भी हैं, उभयारम्भी हैं किन्तु अनारम्भी नही हैं। इस कारण (हेतु से) हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कितने ही जीव आत्मारम्भी भी हैं, यावत् अनारम्भी भी हैं।

---

१. 'वि' (अपि) शब्द पूर्वपद और उत्तरपद के सम्बन्ध को तथा कालभेद से एकाश्रयता या भिन्नाश्रयता सूचित करने के लिए है। जैसे—एक ही जीव किसी समय आत्मारम्भी, किसी समय परारम्भी और किसी समय तदुभयारम्भी होता है। इसलिए अनारम्भी नहीं होता। भिन्नाश्रयता भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिए। जैसे कई (असंयती जीव) आत्मारम्भी, कई परारम्भी और कई उभयारम्भी भी होते हैं, इत्यादि।

२. 'जाव' पद के लिए देखिये सू. ७-१ का सूत्रपाठ

चौवीस दंडक में आरंभ प्ररूपणा

८. [१] नेरइया णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ?

गोयमा ! नेरइया आयारंभा वि जाव नो अणारंभा । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव नो अणारंभा ।

[८-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव क्या आत्मारम्भी हैं, परारम्भी हैं, उभयारम्भी हैं, या अनारम्भी हैं ?

[८-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी हैं, और उभयारम्भी भी हैं, किन्तु अनारम्भी नहीं हैं ।

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ.] हे गौतम ! अविरति की अपेक्षा से, अविरति होने के कारण (ऐसा कहा जाता है कि) नैरयिक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी और उभयारम्भी हैं, किन्तु अनारम्भी नहीं हैं ।

[२-२०] एवं जाव असुरकुमारा वि, जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ।

[८.२ से २०] इसी प्रकार असुरकुमार देवों के विषय में भी जान लेना चाहिए, यावत् तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय तक का भी (आलापक) इसी प्रकार कहना चाहिए ।

[२१] मणुस्सा जहा जीवा । नवरं सिद्धविरहिता भाणियव्वा ।

[२२-२४] वाणमंतरा जाव वेमाणिया जधा नेरतिया ।

[८-२१ से २४] मनुष्यों में भी सामान्य जीवों को तरह जान लेना विशेष यह है कि सिद्धों का कथन छोड़कर । वाणव्यन्तर देवों से वैमानिक देवों तक नैरयिकों की तरह कहना चाहिए ।

सलेश्य जीवों में आरंभ प्ररूपणा

९. [१] सलेसा जहा ओहिया (सु. ७) ।

[२] किण्हलेस-नीललेस-काउलेसा जहा ओहिया जीवा, नवरं पमत्तअप्पमत्ता न भाणियव्वा । तेउलेसा पम्हलेसा सुक्कलेसा जहा ओहिया जीवा (सु. ७), नवरं सिद्धा न भाणियव्वा ।

[९-१-२] लेश्यावाले जीवों के विषय में सामान्य (औधिक) जीवों की तरह कहना चाहिए । कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्यावाले जीवों के सम्बन्ध में सामान्य जीवों की भांति ही सब कथन समझना चाहिए; किन्तु इतना विशेष है कि (सामान्य जीवों के आलापक में उक्त) प्रमत्त और अप्रमत्त यहाँ नहीं कहना चाहिए । तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले जीवों के विषय में भी औधिक जीवों की तरह कहना चाहिए; किन्तु इतना विशेष है कि सामान्य जीवों में से सिद्धों के विषय का कथन यहाँ नहीं करना चाहिए ।

विवेचन—विविध पहलुओं से आरम्भी-अनारम्भी विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रों (७-८-९) में सामान्य जीवों, चतुर्विंशतिदण्डकीय जीवों और सलेश्य जीवों की अपेक्षा से आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ और अनारम्भ का विचार किया गया है ।

आरम्भ—यह जैन पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ है—ऐसा सावद्य कार्य करना, या किसी आश्रव में प्रवृत्ति करना, जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचे या उसके प्राणों का घात हो ।

आत्मारम्भी—जो स्वयं आश्रवद्वार में प्रवृत्त होता है या आत्मा द्वारा स्वयं आरम्भ करता है।

परारम्भी—दूसरे को आश्रव में प्रवृत्त करने वाला या दूसरे से आरम्भ कराने वाला।

तदुभयारम्भी (उभयारंभी)—जो आत्मारम्भ और परारम्भ दोनों करता है।

अनारम्भी—जो आत्मारम्भ, परारम्भ और उभयारम्भ से रहित हो; या उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना आदि प्रवृत्ति करने वाला संयत।

शुभयोग—उपयोगपूर्वक—सावधानतापूर्वक योगों की प्रवृत्ति।

लेश्या—कृष्ण आदि द्रव्यों के सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होने वाले परिणाम।[1]

संयत-असंयत—जो जीव सब प्रकार की बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थि से तथा विषय-कषाय से निवृत्त हो चुके हैं, वे संयत और जो इनसे अनिवृत्त हैं तथा आरम्भ में प्रवृत्त हैं, वे असंयत कहलाते हैं।[2]

भव की अपेक्षा से ज्ञानादिक की प्ररूपणा

१०. [१] इहभविए भंते! नाणे? परभविए नाणे? तदुभयभविए नाणे?

गोयमा! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे।

[१०-१ प्र.] हे भगवन्! क्या ज्ञान इहभविक है? परभविक है? या तदुभयभविक है?

[१०-१ उ.] गौतम! ज्ञान इहभविक भी है, परभविक भी है, और तदुभयभविक भी है।

[२] दंसणं पि एवमेव।

[१०-२] इसी तरह दर्शन भी जान लेना चाहिए।

[३] इहभविए भंते! चरित्ते? परभविए चरित्ते? तदुभयभविए चरित्ते।

गोयमा! इहभविए चरित्ते, नो परभविए चरित्ते, नो तदुभयभविए चरित्ते।

[१०-३ प्र.] हे भगवन्! क्या चारित्र इहभविक है, परभविक है या तदुभयभविक है?

[१०-३ उ.] गौतम! चारित्र इहभविक है, वह परभविक नहीं है और न तदुभयभविक है।

[४] एवं तवे, संजमे।

[१०-४] इसी प्रकार तप और संयम के विषय में भी जान लेना चाहिए।

विवेचन—भव की अपेक्षा ज्ञानादिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम के इहभव, परभव और उभयभव में अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर अंकित हैं। ज्ञान और दर्शन दोनों यहाँ वहाँ सर्वत्र रहते हैं, किन्तु चारित्र, तप और संयम इस जीवन तक ही रहते हैं। ये परलोक में साथ नहीं रहते, क्योंकि चारित्र, तप, संयम आदि की जो जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा ली जाती है, वह इस जीवन के समाप्त होने पर पूर्ण हो जाती है, मोक्ष में चारित्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।[3] देवगति प्राप्त होने पर वहाँ संयम आदि सम्भव नहीं हैं।

---

१. कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्राऽयं लेश्याशब्दः प्रयुज्यते॥

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३१ से ३३ तक

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३३

उभयभविक का समावेश परभविक में ही हो जाता है, तथापि उसे पृथक् कहने का आशय यह है कि ज्ञान और दर्शन परतरभविक अर्थात् अगले भव से भी अगले भव में साथ जा सकते हैं।

असंवुड-संवुड विषयक सिद्धता की चर्चा

११ [१] असंवुडे णं भंते ! अणगारे किं सिज्झति ? बुज्झति ? मुच्चति ? परिनिव्वाति ? सव्वदुक्खाणमंतं करेति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं जाव नो अंतं करेइ ?

गोयमा ! असंवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेति, ह्रस्सकालट्ठितीयाओ दीहकालट्ठितीयाओ पकरेति, मंदाणुभागाओ तिव्वाणुभागाओ पकरेति, अप्पपदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गाओ पकरेति, आउगं च णं कम्मं सिय बंधति, सिय नो बंधति, अस्सातावेदणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो-भुज्जो उवचिणाति, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! असंवुडे अणगारे नो सिज्झति ५[१]।

[११-१ प्र.] भगवन् असंवृत अनगार क्या सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है तथा समस्त दुःखों का अन्त करता है ?

[११-१ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य या ठीक) नहीं है।

(प्र.) भगवन् ! वह किस कारण से सिद्ध नहीं होता, यावत् सब दुःखों का अन्त नहीं करता ?

(उ.) गौतम ! असंवृत अनगार आयुकर्म को छोड़कर शेष शिथिलबन्धन से बद्ध सात कर्मप्रकृतियों को गाढ़बन्धन से बद्ध करता है; अल्पकालीन स्थिति वाली कर्म-प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थिति वाली करता है; मन्द अनुभाग वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है; अल्पप्रदेश वाली प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली करता है और आयुकर्म को कदाचित् बांधता है, एवं कदाचित् नहीं बांधता; असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपार्जन करता है; तथा अनादि अनवदग्र-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिवाले संसाररूपी अरण्य में बार-बार पर्यटन—परिभ्रमण करता है; हे गौतम ! इस कारण से असंवृत अनगार सिद्ध नहीं होता, यावत् समस्त दुःखों का अन्त नहीं करता।

[२] संवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झति ५ ? हंता, सिज्झति जाव[२] अंतं करेति। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! संवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेति, दीहकालट्ठितीयाओ ह्रस्सकालट्ठितीयाओ पकरेति, तिव्वाणुभागाओ मंदाणुभागाओ पकरेति, बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेति, आउयं च णं कम्मं न बंधति, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाति, अणाईयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं वीतीवयति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—संवुडे अणगारे सिज्झति जाव अंतं करेति।

---

१. जहाँ ५ का अंक है—वह 'नो सिज्झति' नो बुज्झति आदि पांचों पदों की योजना करनी चाहिए।

२. 'जाव' पद से भुज्झन्ते से 'सव्वदुक्खाणमंतं करेति' तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

[११-२ प्र.] भगवन् ! क्या संवृत अनगार सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

[११-२ उ.] हाँ, गौतम ! वह सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दुःखों अन्त का करता है।

(प्र.) भगवन् ! वह किस कारण से सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दुःखों का अन्त कर देता है ?

(उ.) गौतम ! संवृत अनगार आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष गाढ़बन्धन से बद्ध सात कर्म-प्रकृतियों को शिथिलबन्धनबद्ध कर देता है; दीर्घकालिक स्थिति वाली कर्मप्रकृतियों को ह्रस्व (थोड़े) काल की स्थिति वाली कर देता है, तीव्ररस (अनुभाव) वाली प्रकृतियों को मन्द रस वाली कर देता है; बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश वाली कर देता है, और आयुष्य कर्म को नहीं बांधता। वह असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता, (अतएव वह) अनादि-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चातुर्गतिकरूप संसार-अरण्य का उल्लंघन कर जाता है। इस कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि संवृत अनगार सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दुःखों का अन्त कर देता है।

विवेचन—असंवृत और संवृत अनगार के सिद्ध होने आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र में क्रमशः असंवृत और संवृत अनगार के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत और सर्वदुःखान्तकर होने तथा न होने के सम्बन्ध में युक्तिसहित विचार प्रस्तुत किया गया है।

असंवृत—जिस साधु ने अनगार होकर भी हिंसादि आश्रवद्वारों को रोका नहीं है।

संवृत—आश्रवद्वारों का निरोध करके संवर की साधना करने वाला मुनि संवृत अनगार है। ये छठे गुणस्थान (प्रमत्तसंयत) से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती तक होते हैं। संवृत अनगार दो प्रकार के होते हैं—चरमशरीरी और अचरमशरीरी। जिन्हें दूसरा शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा, वे एकभवावतारी चरमशरीरी और जिन्हें दूसरा शरीर (सात-आठ भव तक) धारण करना पड़ेगा, वे अचरमशरीरी होते हैं। प्रस्तुत सूत्र चरमशरीरी की अपेक्षा से है। परम्परारूप से अचरमशरीरी की अपेक्षा से भी है।

दोनों में अन्तर—यद्यपि परम्परा से तो शुक्लपाक्षिक भी मोक्ष प्राप्त करेंगे ही, फिर भी संवृत और असंवृत अनगार का जो भेद किया गया है, उसका रहस्य यह है कि अचरमशरीरी संवृत अनगार उसी भव में मोक्ष भले न जाएँ मगर वे ७-८ भवों में अवश्य मोक्ष जाएँगे ही। इस प्रकार उनकी परम्परा की सीमा ७-८ भवों को ही है। अपार्धपुद्गलपरावर्त्तन की जो परम्परा अन्यत्र कही गई है, वह विराधक की अपेक्षा से समझना चाहिए। अविराधक अचरमशरीरी संवृत अनगार अवश्य सात-आठ भवों में मोक्ष पाता है, भले ही उसकी चारित्राराधना जघन्य ही क्यों न हो।

'सिज्झइ' आदि पांच पदों का अर्थ और क्रम—चरम भव—अन्तिम जन्म प्राप्त करके जो मोक्षगमनयोग्य होता है, वही **सिद्ध** (सिद्धिप्राप्त) होता है; चरमशरीरी मानव को भावी नय की अपेक्षा से सिद्ध कह सकते हैं, बुद्ध नहीं। **बुद्ध** तभी कहेंगे जब **केवलज्ञानप्राप्त** होगा। जो बुद्ध हो जाता है, उसके केवल भवोपग्राही अघातिकर्म शेष रहते हैं, भवोपग्राही कर्म को जब वह प्रतिक्षण छोड़ता है, तब **मुक्त** कहलाता है। भवोपग्राही कर्मों को प्रतिक्षण क्षीण करने वाला वह महापुरुष

कर्मपुद्गलों को ज्यों-ज्यों क्षीण करता जाता है, त्यों-त्यों शीतल होता जाता है, इस प्रकार की शीतलता-शांति प्राप्त करना ही **निर्वाणप्राप्त** करना है। वही जीव अपने भव के अन्तसमय में जव समस्त कर्मो का सर्वथा क्षय कर चुकता है, तव अपने **समस्त दुःखों का अन्त** करता है।

असंवृत अनगार : चारों प्रकार के वन्धों का परिवर्धक—कर्मवन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृतिवन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्ध। इनमें से प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध योग से होते हैं, तथा स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध कषाय से होते हैं। असंवृत अनगार के योग अशुभ होते हैं, और कषाय तीव्र। इस कारण वह चारों ही वन्धों में वृद्धि करता है।

अणाइयं के संस्कृत में चार रूपान्तर वृत्तिकार ने करके उसके पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित किये हैं—(१) **अनादिकं** (जिसकी आदि न हो), (२) **अज्ञातिकं** (जिसका कोई स्व-जन न हो), (३) **ऋणातीतं** (ऋण से होने वाले दुःख को भी मात करने वाले दुःख को देने वाला) और (४) **अणातीतं** (अतिशय पाप को प्राप्त)।

अणवदग्गं के संस्कृत में तीन रूपान्तर करके वृत्तिकार ने उसके अनेक अर्थ सूचित किये हैं—(१) **अनवदग्रम्**—(अवदग्र अन्त से रहित=अनन्त), (२) **अनवनताग्रम्**—जिसका अग्र=अन्त, अवनत यानी आसन्न (निकट) न हो; और (३) **अनवगताग्रम्** जिसका अग्र=परिमाण, अनवमत हो—पता न चले।

दीहमद्धं—अद्धं के दो रूप—अध्व और अद्ध; अर्थ हुए 'जिसका अध्व (मार्ग) या अद्धा=काल दीर्घ—लम्वा हो।[1]

असंयत जीव की देवगति विषयक चर्चा

१२. [१] **जीवे णं भंते ! असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया ?**

गोयमा ! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया।

से केणट्ठेणं जाव इतो चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामाऽऽगर-नगर-निगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणाऽऽसम-सन्निवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामअण्हाणगसेय-जल्ल-मल-पंकपरिदाहेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिलेसइत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! असंयत, अविरत, तथा जिसने पापकर्म का हनन एवं त्याग नहीं किया है, वह जीव इस लोक से च्यव (मर) कर क्या परलोक में देव होता है ?

[१२-१ उ.] गौतम ! कोई जीव देव होता है और कोई जीव देव नहीं होता।

[प्र.] भगवन् ! यहाँ से च्यव कर परलोक में कोई जीव देव होता है, और कोई जीव देव नहीं होता; इसका क्या कारण है ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३४-३५

[उ.] गौतम ! जो ये जीव ग्राम, आकर (खान), नगर, निगम (व्यापारिक केन्द्र), राजधानी, खेट (खेड़ा), कर्वट (खराब नगर), मडम्ब (चारों ओर ढाई-ढाई कोस तक वस्ती से रहित वस्ती), द्रोणमुख (बन्दरगाह जलपथ-स्थलपथ से युक्त वस्ती), पट्टण (पत्तन—मण्डी, जहाँ देश-देशान्तर से आया हुआ माल उतरता है), आश्रम (तापस आदि का स्थान), सन्निवेश (घोष आदि लोगों का आवासस्थान) आदि स्थानों में अकाम तृषा (प्यासा) से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत, आतप, तथा डांस-मच्छरों के काटने के दुःख को सहने से अकाम अस्नान, पसीना, जल्ल (धूल लिपट जाना), मैल तथा पंक से होने वाले परिदाह से, थोड़े समय तक या वहुत सम यतक अपने आत्मा (आप) को क्लेशित करते हैं; वे अपने आत्मा (आप) को (पूर्वोक्त प्रकार से) क्लेशित करके मृत्यु के समय पर मर कर वाणव्यन्तर देवों के किसी देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

वाणव्यन्तर देवलोक—स्वरूप

[२] केरिसा णं भंते ! तेंसि वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए इहं असोगवणे इ वा, सत्तवण्णवणे इ वा, चंपगवणे इ वा, चूतवणे इ वा, तिलगवणे इ वा, लउयवणे ति वा, णिग्गोहवणे इ वा, छत्तोववणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसुंभवणे इ वा, सिद्धत्थवणे इ वा, बंधुजीवगवणे इ वा णिच्चं कुसुमित माइत लवइत थवइय गुलुइत गुच्छित जमलित जुवलित विणमित पणमित सुविभत्त पिंडिमंजरिवडेंसगधरे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति, एवामेव तेंसि वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएहिं उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएहिं वहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं य देवीहि य आइण्णा वितिकिण्णा उवत्थडा संथडा फुडा अवगाढगाढा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति। एरिसगा णं गोतमा ! तेंसि वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता। से तेणट्ठेणं गोतमा ! एवं वुच्चति—जीवे णं अस्संजए जाव देवे सिया।

[१२-२ प्र.] भगवन् उन वाणव्यन्तर देवों के देवलोक किस प्रकार के कहे गए हैं ?

[१२-२ उ.] गौतम ! जैसे इस मनुष्यलोक में नित्य कुसुमित (सदा फूला हुआ), मयूरित (मौर—पुष्पविशेष वाला), लवकित (कौंपलों वाला), फूलों के गुच्छों वाला, लतासमूह वाला, पत्तों के गुच्छों वाला, यमल (समान श्रेणी के) वृक्षों वाला, युगलवृक्षों वाला, फल-फूल के भार से नमा हुआ, फल-फूल के भार से झुकने की प्रारम्भिक अवस्था वाला, विभिन्न प्रकार की वालों और मंजरियों रूपी मुकुटों को धारण करने वाला अशोकवन, सप्तवर्ण वन, चम्पकवन, आम्रवन, तिलकवृक्षों का वन, तूम्बे की लताओं का वन, वटवृक्षों का वन, छत्रौघवन, अशनवृक्षों का वन, सन (पटसन) वृक्षों का वन, अलसी के पौधों का वन, कुसुम्बवृक्षों का वन, सफेद सरसों का वन, दुपहरिया (वन्धुजीवक) वृक्षों का वन, इत्यादि वन शोभा से अतीव-अतीव उपशोभित होता है; इसी प्रकार वाणव्यन्तर देवों के देवलोक जघन्य दस हजार वर्ष की तथा उत्कृष्ट एक पल्योपम की स्थिति वाले एवं वहुत-से वाणव्यन्तरदेवों से और उनकी देवियों से आकीर्ण—व्याप्त, व्याकीर्ण—विशेष व्याप्त, एक दूसरे पर आच्छादित, परस्पर मिले हुए, स्फुट प्रकाश वाले, अत्यन्त अवगाढ़ श्री—शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित रहते हैं। हे गौतम ! उन वाणव्यन्तर देवों के स्थान—देवलोक इसी प्रकार

के कहे गए हैं। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि असंयत जीव मर कर यावत् कोई देव होता है और कोई देव नहीं होता।

विवेचन—असंयत जीवों की गति एवं वाणव्यन्तर देवलोक—प्रस्तुत सूत्र में असंयत जीवों को प्राप्त होने वाली देवगति तथा देवलोकों में भी वाणव्यन्तर देवों में जन्म और उसका कारण एवं वाणव्यन्तरदेवों के आवासस्थानों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—असंयत—असाधु या संयमरहित

अविरत—प्राणातिपात आदि पापों से विरतिरूप व्रतरहित अथवा तप आदि के विषय में जो विशेष रत नहीं है। **अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा**—(१) जिसने-भूतकालीन पापों को निन्दा गर्हा आदि के द्वारा नष्ट (निराकृत) नहीं किया है, तथा जिसने भविष्यकालीन पापों का प्रत्याख्यान—त्याग नहीं किया है। (२) अथवा जिसने मरणकाल से पूर्व तप आदि के द्वारा पापकर्म का नाश न किया हो, मरणकाल आ जाने पर भी आश्रवनिरोध करके पापकर्म का प्रत्याख्यान न किया हो, (३) अथवा जिसने सम्यग्दर्शन अंगीकार करके पूर्वपापकर्म नष्ट नहीं किये, और सर्वविरति आदि अंगीकार करके ज्ञानावरणीयादि अशुभकर्मों का निरोध न किया हो।

अकाम—शब्द यहाँ इच्छा के अभाव का द्योतक है। कर्मनिर्जरा की अभिलाषा के विना जो कष्टसहन आदि किया जाय, उससे होने वाली निर्जरा अकामनिर्जरा है। अर्थात् विना स्वेच्छा या विना उद्देश्य के भूख, प्यास आदि कष्ट सहना—अकामनिर्जरा है। मोक्षप्राप्ति की कामना—स्वेच्छा या उद्देश्य से ज्ञानपूर्वक जो निर्जरा की जाती है, वह सकामनिर्जरा कहलाती है।

दोनों के देवलोक में अन्तर—कई ज्ञानी सकाम निर्जरावाले भी देवलोक में जाते हैं और मिथ्यात्वी अकामनिर्जरा वाले भी, फिर भी दोनों के देवलोकगमन में अन्तर यह है कि अकामनिर्जरा वाले वाणव्यन्तरादि देव होते हैं, जबकि सकामनिर्जरा वाले साधक वैमानिक देवों की उत्तम से उत्तम स्थिति प्राप्त करके मोक्ष की भी आराधना कर सकते हैं।

वाणव्यन्तर शब्द का अर्थ—वनविशेष में उत्पन्न होने अर्थात् वसने और वहीं क्रीडा करने वाले देव।[1]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोतमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

॥ पढमे सते पढमो उद्देसो ॥

हे भगवन् ! 'यह इसी प्रकार है', 'यह इसी प्रकार है'; ऐसा कह कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं; वन्दना-नमस्कार करके संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं।

विवेचन—गौतम स्वामी द्वारा प्रदर्शित वन्दन-बहुमान—प्रथम उद्देशक के उपसंहार में श्री गौतमस्वामी के द्वारा प्रश्न पूछने से पहले की तरह उत्तर-श्रवण के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञताप्रकाश के रूप में विनय एवं बहुमान प्रदर्शित किया गया है, जो समस्त साधकों के लिए अनुकरणीय है।

॥ प्रथम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६-३७

बितिओ उद्देसो : दुक्खे

द्वितीय उद्देशक : दुःख

उपक्रम—

१. रायगिहे नगरे समोसरणं। परिसा निग्गता जाव एवं वदासी—

१—राजगृह नगर में (भगवान् का) समवसरण हुआ। परिषद् (उनके दर्शन-वन्दन-श्रवणार्थ) निकली। यावत् (श्री गौतमस्वामी विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़ कर पर्युपासना करते हुए) इस प्रकार बोले—

जीव के स्वकृत-दुःखवेदन सम्बन्धी चर्चा

२. जीवे णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदेति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदेति ?

गोयमा ! उदिण्णं वेदेति, अणुदिण्णं नो वेदेति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चति—अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदति। एवं चउव्वीस दंडएणं जाव[1] वेमाणिए।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव स्वयंकृत दुःख (कर्म) को भोगता है ?

[२-१ उ] गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नहीं भोगता।

[२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं—कि किसी को भोगता है और किसी को नहीं भोगता ?

[२-२ उ.] गौतम ! उदीर्ण (उदय में आए) दुःख-दुःखहेतुक कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण दुःख-कर्म को नहीं भोगता; इसीलिए कहा गया है कि किसी कर्म को भोगता है और किसी कर्म को नहीं भोगता।

३. जीवा णं भंते सयंकडं दुक्खं वेदेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेंति, अत्थेगइयं णो वेदेंति। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! उदिण्णं वेदेंति, नो अणुदिण्णं वेदेंति, से तेणट्ठेणं एवं जाव[2] वेमाणिया।

[३-१ प्र.] भगवन् ! क्या (बहुत-से) जीव स्वयंकृत दुःख (दुःखहेतुक कर्म) भोगते हैं ?

[३-१ उ.] गौतम ! किसी कर्म (दुःख) को भोगते हैं, किसी को नहीं भोगते।

[३-२ प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

---

१. 'जाव' पद से यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डक जानना चाहिए।

२. यहाँ 'जाव' पद से दूसरे सूत्र में उक्त 'तेणट्ठेणं' से लेकर 'वेमाणिया' तक का पाठ समझना।

[३-२ उ.] गौतम ! उदीर्ण (दुःख-कर्म) को भोगते हैं, अनुदीर्ण को नहीं भोगते इस कारण ऐसा कहा गया है कि किसी कर्म को भोगते हैं, किसी को नहीं भोगते। इसी प्रकार यावत् नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस (सभी) दण्डकों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर समझ लेना चाहिए।

आयु-वेदन सम्बन्धी चर्चा

४. जीवे णं भंते ! सयंकडं आउयं वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेति जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएण वि दो दंडगा एगत्त-पोहत्तिया; एगत्तेणं जाव वेमाणिया, पुहत्तेण वि तहेव।

[४. प्र.] भगवन् ! क्या जीव स्वयंकृत आयु को भोगता है ?

[४. उ.] हे गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नहीं भोगता। जैसे दुःख-कर्म के विषय में दो दण्डक कहे गए हैं, उसी प्रकार आयुष्य (-कर्म) के सम्बन्ध में भी एकवचन और बहुवचन वाले दो दण्डक कहने चाहिए। एकवचन से यावत् वैमानिकों तक कहना, इसी प्रकार बहुवचन से भी (वैमानिकों तक) कहना चाहिए।

विवेचन—स्वकृत दुःख एवं आयु के वेदनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—द्वितीय उद्देशक के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सूत्रों में स्वयंकृत दुःख (कर्म) एवं आयुष्य कर्म के वेदन के सम्बन्ध में एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

स्वकर्तृक कर्म-फलभोग सिद्धान्त—श्री गौतमस्वामी ने जो ये प्रश्न उठाए हैं, इनके पीछे पांच भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण गर्भित है। उस युग में ऐसी मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित थीं कि (१) कर्म दूसरा करता है, फल दूसरा भोग सकता है; (२) ईश्वर या किसी शक्ति की कृपा हो तो स्वकृत दुःखजनक अशुभ कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता, (३) परमाधार्मिक नरकपाल आदि 'पर' के निमित्त से नारक आदि जीवों को दुःख मिलता है, (४) अथवा वस्त्रभोजनादि पर-वस्तुओं या अन्य व्यक्तियों से मनुष्य को दुःख या सुख मिलता है, और (५) दूसरे प्राणी से आयु ली जा सकती है और दूसरे को दी जा सकती है।

अगर दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म (मुख्यतः असातावेदनीय और आयु) का फल यदि दूसरा भोगने लगे तो किये हुए कर्म विना फल दिये हुए नष्ट हो जाएँगे और जो कर्म नहीं किये हुए हैं, वे गले पड़ जाएँगे। इससे लोकोत्तर व्यवहार जैसे गड़बड़ में पड़ जाएँगे, वैसे लौकिक व्यवहार भी गड़बड़ में पड़ जाएँगे। जैसे—यज्ञदत्त के भोजन करने, निद्रा लेने, औषधसेवन करने आदि कर्म से यज्ञदत्त की क्षुधा, निद्रा और व्याधि का क्रमशः निवारण हो जाएगा, परन्तु ऐसा होना असम्भव है। परवस्तु या परव्यक्ति तो सुख या दुःख में मात्र निमित्त बन सकता है, किन्तु वह कर्मकर्त्ता के बदले में सुख या दुःख नहीं भोग सकता और न ही सुख या दुःख दे सकता है, प्राणी स्वयं ही स्वकृतकर्म के फलस्वरूप सुख या दुःख भोगता है। आयुष्यकर्म का फल भी एक के बदले दूसरा नहीं भोग सकता। इसलिए स्वकर्तृक कर्मफल का स्वयं वेदनरूप सिद्धान्त अकाट्य है।[1] हाँ, जिस साता-असातावेदनीय आदि या आयुष्यकर्म का फल कदाचित् वर्तमान में नहीं

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८।

दिखाई देता, उसका कारण यह है कि वर्तमान में वे कर्म उदय में नहीं आए हुए (अनुदय-अवस्था में) हैं, जब वे उदयावस्था में आते हैं, तभी फल देते हैं। परन्तु स्वकृतकर्म का फल तो चौवीस ही दण्डक के जीवों को अनुभाग से अथवा प्रदेशोदय से भोगना पड़ता है।

चौबीस दंडक में समानत्व चर्चा [नैरयिक विषय]

५. [१] नेरइया णं भंते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सास-नीसासा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—नेरइया नो सव्वे समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सास-निस्सासा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले परिणामेंति, बहुतराए पोग्गले उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंति, अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति, अभिक्खणं ऊससंति, अभिक्खणं निस्ससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पुग्गले आहारेंति, अप्पतराए पुग्गले परिणामेंति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति, अप्पतराए पोग्गले नीससंति, आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेंति, आहच्च उस्ससंति, आहच्च नीससंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाहारा जाव नो सव्वे समुस्सास-निस्सासा।१।

[५-१.प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं ?

[५. १. उ.] गौतम ! यह अर्थ (वात) समर्थ (शक्य-सम्भव) नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि सभी नारक जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक जीव दो प्रकार के कहे गए हैं; जैसे कि—महाशरीरी (महाकाय) और अल्पशरीरी (छोटे शरीर वाले)। इनमें जो वड़े शरीर वाले हैं, वे वहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बहुत (आहृत) पुद्गलों का परिणमन करते हैं, वहुत पुद्गलों को उच्छ्वास रूप में ग्रहण करते हैं और बहुत पुद्गलों को निःश्वासरूप से छोड़ते हैं तथा वे वार-वार आहार लेते हैं, वार-वार उसे परिणमाते हैं, तथा वारवार उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं। तथा जो छोटे शरीर वाले नारक हैं, वे थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, थोड़े-से (आहृत) पुद्गलों का परिणमन करते हैं, और थोड़े पुद्गलों को उच्छ्वास रूप से ग्रहण करते हैं, तथा थोड़े-से पुद्गलों को निःश्वास-रूप से छोड़ते हैं। वे कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् उसे परिणमाते हैं और कदाचित् उच्छ्वास तथा निःश्वास लेते हैं। इसलिए हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं।

[२] नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥२॥

[५-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समान कर्म वाले हैं ?

[५-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! नारकी जीव दो प्रकार के कहे गए हैं; वह इस प्रकार है—पूर्वोपपन्नक (पहले उत्पन्न हुए) और पश्चादुपपन्नक (पीछे उत्पन्न हुए) । इनमें से जो पूर्वोपपन्नक हैं वे अल्पकर्म वाले हैं और जो उनमें पश्चादुपपन्नक हैं, वे महाकर्म वाले हैं, इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान कर्म वाले नहीं हैं ।

[३] नेरइया णं भंते ! सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं तह चेव ?

गोयमा ! जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवण्णतरागा तहेव से तेणट्ठेणं ० ॥३॥

[५-३ प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समवर्ण वाले हैं ?

[५-३ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! पूर्वोक्त कथनवत् नारक दो प्रकार के हैं—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे विशुद्ध वर्ण वाले हैं, तथा जो पश्चादुपपन्नक हैं, वे अविशुद्ध वर्ण वाले हैं, इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है ।

[४] नेरइया णं भंते ! सव्वे समलेसा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं जाव नो सव्वे समलेसा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेसतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धलेसतरागा । से तेणट्ठेणं ० ॥४॥

[५-४ प्र.] भगवन् ! क्या सब नैरयिक समानलेश्या वाले हैं ?

[५-४ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से कहा जाता है कि सभी नैरयिक समान लेश्या वाले नहीं हैं ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गये हैं, जैसे कि—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे विशुद्ध लेश्या वाले और जो इनमें पश्चादुपपन्नक हैं, वे अविशुद्ध लेश्या वाले हैं, इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समानलेश्या वाले नहीं हैं ।

[५] **नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेदणा ?**

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—सण्णिभूया य असण्णिभूया य । तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असण्णिभूया ते णं अप्पवेयणतरागा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥५॥

[५-५ प्र.] भगवन् ! क्या सब नारक समान वेदना वाले हैं ?

[५-५ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत । इनमें जो संज्ञिभूत हैं, वे महावेदना वाले हैं और जो इनमें असंज्ञिभूत हैं, वे (अपेक्षाकृत) अल्पवेदना वाले हैं । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारक समान वेदना वाले नहीं हैं ।

[६] **नेरइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?**

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी । तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया १, पारिग्गहिया २, मायावत्तिया ३, अपच्चक्खाणकिरिया ४ । तत्थ णं जे ते मिच्छादिट्ठी तेसि णं पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया । एवं सम्मामिच्छादिट्ठीणं पि । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥६॥

[५-६ प्र.] हे भगवन् ! क्या सभी नैरयिक समानक्रिया वाले हैं ?

[५-६ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! नारक तीन प्रकार के कहे गए हैं यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) । इनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके चार क्रियाएँ कही गई हैं, जैसे कि—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानक्रिया । इनमें जो मिथ्यादृष्टि हैं, उनके पांच क्रियाएँ कही गई हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्यया तक । इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि के भी पांचों क्रियाएँ समझनी चाहिए । इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारक समानक्रिया वाले नहीं हैं ।

[७] **नेरइया णं भंते ! सव्वे समाउया ? सव्वे समोववन्नगा ?**

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा १, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा २, अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा ३, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा ४ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥७॥

[५-७ प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समान आयुष्य वाले हैं और समोपपन्नक—एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं ?

[५-७ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! नारक जीव चार प्रकार के कहे गए हैं। वह इस प्रकार—(१) समायुष्क समोपपन्नक (समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए), (२) समायुष्क विषमोपपन्नक (समान आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए), (३) विषमायुष्क समोपपन्नक (विषम आयु वाले, किन्तु एक साथ उत्पन्न हुए), और (४) विषमायुष्क-विषमोपपन्नक (विषम आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए)। इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं।

असुरकुमारादि समानत्व चर्चा

६. [१] असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा ? सव्वे समसरीरा ? जहा नेरइया तहा भाणियव्वा। नवरं कम्म-वण्ण-लेसाओ परित्थल्लेयव्वाओ—पुव्वोववन्नगा महाकम्मतरागा, अविसुद्धवण्णतरागा, अविसुद्धलेसतरागा। पच्छोववन्नगा पसत्था। सेसं तहेव।

[६-१ प्र.] भगवन् ! क्या सब असुरकुमार समान आहार वाले और समान शरीर वाले हैं ? (इत्यादि सब प्रश्न पूर्ववत् करने चाहिए।)

[६-१ उ.] गौतम ! असुरकुमारों के सम्बन्ध में सब वर्णन नैरयिकों के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि—असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिकों से विपरीत कहना चाहिए; अर्थात्—पूर्वोपपन्नक (पूर्वोत्पन्न) असुरकुमार महाकर्म वाले, अविशुद्ध वर्ण वाले और अशुद्ध लेश्या वाले हैं, जबकि पश्चादुपपन्नक (बाद में उत्पन्न होने वाले) प्रशस्त हैं। शेष सब पहले के समान जानना चाहिए।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[६-२] इसी प्रकार (नागकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों (तक) समझना चाहिए।

पृथ्वीकायादि समानत्व चर्चा

७. [१] पुढविक्काइयाणं आहार-कम्म-वण्ण-लेसा जहा नेरइयाणं।

[७-१] पृथ्वीकायिक जीवों का आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

[२] पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समवेदणा ?

हंता, समवेयणा। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असण्णी असण्णिभूतं अणिदाए वेयणं वेदेंति। से तेणट्ठेणं।

[७-२ प्र.] भगवन् ! क्या सब पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले हैं ?

[७-२ उ.] हाँ गौतम ! वे समान वेदना वाले हैं।

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले हैं ?

[उ.] हे गौतम ! समस्त पृथ्वीकायिक जीव असंज्ञी हैं और असंज्ञीभूत जीव वेदना को अनिर्धारित रूप से (अनिदा से) वेदते हैं। इस कारण, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक समान वेदना वाले हैं।

[३] पुढविक्काइया णं भंते ! समकिरिया ?

हंता, समकिरिया । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे माईमिच्छादिट्ठी, ताणं नेयतियाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ जाव मिच्छादंसणवत्तिया ५ । से तेणट्ठेणं समकिरिया ।

[७-३ प्र.] भगवन् ! क्या सभी पृथ्वीकायिक जीव समान क्रिया वाले हैं ?

[७-३ उ.] हाँ, गौतम ! वे सभी समान क्रिया वाले हैं।

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक जीव मायी और मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए उन्हें नियम से पांचों क्रियाएँ लगती हैं। वे पांच क्रियाएँ ये हैं—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समानक्रिया वाले हैं।

[४] समाउया, समोववन्नगा जहा नेरइया तहा भाणियव्वा ।

[७-४] जैसे नारक जीवों में समायुष्क और समोपपन्नक आदि चार भंग कहे गए हैं, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों में भी कहने चाहिए।

८. जहा पुढविक्काइया तहा जाव चउरिंदिया ।

[८-१] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है, उसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

९. [१] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया । नाणत्तं किरियासु—

[९-१] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में कथन भी नैरयिकों के समान समझना चाहिए; केवल क्रियाओं में भिन्नता है।

[२] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ! तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—असंजता य, संजताऽसंजता य । तत्थ णं जे ते संजताऽसंजता तेसि णं तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरम्भिया १ पारिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ । असंजताणं चत्तारि । मिच्छादिट्ठीणं पंच । सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच ।

[९-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव समानक्रिया वाले हैं ?

[९-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दो प्रकार के हैं, जैसे कि—असंयत और संयतासंयत। उनमें जो संयतासंयत हैं, उन्हें तीन क्रियाएँ लगती हैं। वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया। उनमें जो असंयत हैं, उन्हें अप्रत्याख्यानी क्रियासहित चार क्रियाएँ लगती हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

मनुष्य-देव विषयक समानत्वचर्चा—

१०. [१] मणुस्सा जहा नेरइया (सु. ५)। नाणत्तं—जे महासरीरा ते आहच्च आहारेंति। जे अप्पसरीरा ते अभिक्खणं आहारेंति ४। सेसं जहा नेरइयाणं जाव वेयणा।

[१०-१] मनुष्यों का आहारादिसम्बन्धित निरूपण नैरयिकों के समान समझना चाहिए। उनमें अन्तर इतना ही है कि जो महाशरीर वाले हैं, वे बहुतर पुद्गलों का आहार करते हैं, और वे कभी-कभी आहार करते हैं, इसके विपरीत जो अल्पशरीर वाले हैं, वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते है; और बार-बार करते हैं। शेष वेदनापर्यन्त सब वर्णन नारकों के समान समझना चाहिए।

[२] मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजता अस्संजता संजतासंजता य। तत्थ णं जे ते संजता ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सरागसंजता य वीतरागसंजता य। तत्थ णं जे ते वीतरागसंजता ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजता ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पमत्तसंजता य अपमत्तसंजता य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजता तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जति। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजता तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति, तं०—आरम्भिया य १ मायावत्तिया य २। तत्थ णं जे ते संजतासंजता तेसि णं आइल्लाओ तिन्नि किरियाओ कज्जंति। अस्संजताणं चत्तारि किरियाओ कज्जंति—आरं० ४। मिच्छादिट्ठीणं पंच। सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच ५।

[१०-२ प्र.] "भगवन् ! क्या सब मनुष्य समान क्रिया वाले हैं ?"

[१०-२ उ.] "गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं ?.

[उ.] गौतम ! मनुष्य तीन प्रकार के कहे गए हैं; वे इस प्रकार—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—संयत, संयतासंयत और असंयत। उनमें जो संयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—सरागसंयत और वीतरागसंयत। उनमें जो वीतरागसंयत हैं, वे क्रियारहित हैं, तथा जो इनमें सरागसंयत हैं, वे भी

दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। उनमें जो अप्रमत्तसंयत हैं, उन्हें एक मायाप्रत्यया क्रिया लगती है। उनमें जो प्रमत्तसंयत हैं, उन्हें दो क्रियाएँ लगती हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी और मायाप्रत्यया। तथा उनमें जो संयतासंयत हैं, उन्हें आदि की तीन क्रियाएँ लगती हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया। असंयतों को चार क्रियाएँ लगती हैं,—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानी क्रिया। मिथ्यादृष्टियों को पाँचों क्रियाएँ लगती हैं—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानी क्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया। सम्यग्मिथ्यादृष्टियों (मिश्रदृष्टियों) को भी ये पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

११. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा (सु. ६)। नवरं वेयणाए नाणत्तं—मायिमिच्छादिट्ठीउववन्नगा य अप्पवेदणतरा, अमायिसम्मद्दिट्ठीउववन्नगा य महावेयणतरागा भाणियव्वा जोतिस-वेमाणिया।

[११] वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक के आहारादि के सम्बन्ध में सब वर्णन असुरकुमारों के समान समझना चाहिए। विशेषता यह कि इनकी वेदना में भिन्नता है। ज्योतिष्क और वैमानिकों में जो मायी-मिथ्यादृष्टि के रूप में उत्पन्न हुए हैं, वे अल्पवेदना वाले हैं, और जो अमायी सम्यग्दृष्टि के रूप में उत्पन्न हुए हैं, वे महावेदनावाले होते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

चौबीस दंडक में लेश्या की अपेक्षा समाहारादि विचार—

१२. सलेसा णं भंते! नेरइया सव्वे समाहारगा?

ओहियाणं, सलेसाणं, सुक्कलेसाणं, एएसि णं तिण्हं एक्को गमो। कण्हलेस-नीललेसाणं पि एक्को गमो, नवरं वेदणाए—मायिमिच्छादिट्ठीउववन्नगा य, अमायिसम्मद्दिट्ठीउववण्णगा य भाणियव्वा। मणुस्सा किरियासु सराग-वीयराग—पमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा। काउलेसाण वि एसेव गमो, नवरं नेरइए जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा। तेउलेसा पम्हलेसा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा, नवरं मणुस्सा सरागा वीयरागा य न भाणियव्वा। गाहा—

दुक्खाऽऽउए उदिण्णे, आहारे, कम्म-वण्ण-लेसा य।
समवेदण समकिरिया समाउए चेव बोद्धव्वा ॥१॥

[१२ प्र.] भगवन्! क्या लेश्या वाले समस्त नैरयिक समान आहार वाले होते हैं?

[१२ उ.] हे गौतम! औधिक (सामान्य), सलेश्य, एवं शुक्ललेश्या वाले इन तीनों का एक गम-पाठ कहना चाहिए। कृष्णलेश्या और नीललेश्या वालों का एक समान पाठ कहना चाहिए, किन्तु उनकी वेदना में इस प्रकार भेद है—मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक कहने चाहिए। तथा कृष्णलेश्या और नीललेश्या (के सन्दर्भ) में मनुष्यों के सरागसंयत, वीतरागसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत (भेद) नहीं कहना चाहिए। तथा कापोतलेश्या में भी यही पाठ कहना चाहिए। भेद यह है कि कापोतलेश्या वाले नैरयिकों को औधिक दण्डक के समान कहना चाहिए। तेजोलेश्या ओर पद्मलेश्या वालों को भी औधिक दण्डक के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इन मनुष्यों में सराग और वीतराग का भेद नहीं कहना चाहिए; क्योंकि तेजोलेश्या और पद्मलेश्या वाले मनुष्य सराग ही होते हैं।

गाथार्थ—दुःख (कर्म) और आयुष्य उदीर्ण हो तो वेदते हैं। आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य, इन सबकी समानता के सम्बन्ध में पहले कहे अनुसार ही समझना चाहिए।

१३. कति णं भंते ! लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—लेसाणं बीओ उद्देसओ भाणियव्वो जाव इड्ढी।

[१३ प्र.] 'भगवन् ! लेश्याएँ कितनी कही गई हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! लेश्याएँ छह कही गई हैं, वे इस प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद (१७ वाँ पद) का द्वितीय उद्देशक कहना चाहिए। वह ऋद्धि की वक्तव्यता तक कहना चाहिए।

विवेचन—नारक आदि चौवीस दण्डकों के सम्बन्ध में समाहारादि दशद्वार-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—पाँचवें सूत्र से ११वें सूत्र तक नारकों से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों के सम्बन्ध में निम्नोक्त दस द्वार-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अंकित किये गए हैं—(१) सम-आहार (२) सम-शरीर, (३) सम-उच्छ्वास-निःश्वास, (४) समकर्म, (५) समवर्ण, (६) समलेश्या, (७) समवेदना, (८) समक्रिया, (९) समायुष्क, तथा (१०) समोपपन्नक।

छोटा-बड़ा शरीर आपेक्षिक—प्रस्तुत में नैरयिकों का छोटा और बड़ा शरीर अपेक्षा से है। छोटे की अपेक्षा कोई वस्तु बड़ी कहलाती है, और बड़ी की अपेक्षा छोटी कहलाती है। नारकों का छोटे से छोटा शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना है और बड़े से बड़ा ५०० धनुष के बराबर है। ये दोनों प्रकार के शरीर भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से कहे गए हैं। उत्तरवैक्रिय शरीर छोटे से छोटा अंगुल के संख्यातवें भाग तक और बड़ा से बड़ा शरीर एक हजार धनुष का हो सकता है।

प्रथम प्रश्न आहार का, किन्तु उत्तर शरीर का इसलिए कहा गया है कि शरीर का परिमाण बताए विना आहार, श्वासोच्छ्वास आदि की बात सरलतापूर्वक समझ में नहीं आ सकती।

अल्प शरीर वाले से महाशरीर वाले का आहार अधिक : यह कथन प्रायिक—प्रस्तुत कथन अधिकांश (बहुत) को दृष्टि में रखकर कहा गया है। यद्यपि लोक में यह देखा जाता है कि बड़े शरीर वाला अधिक खाता है, और छोटे शरीर वाला कम, जैसे कि हाथी और खरगोश; तथापि कहीं-कहीं यह बात अवश्य देखी जाती है कि बड़े शरीर वाला कम और छोटा शरीर वाला अधिक आहार करता है। यौगलिकों का शरीर अन्य मनुष्यों की अपेक्षा बड़ा होता है, लेकिन उनका आहार कम होता है। दूसरे मनुष्यों का शरीर यौगलिकों की अपेक्षा छोटा होता है, किन्तु उनका आहार अधिक होता है। ऐसा होने पर भी प्रायः यह सत्य ही है कि बड़े शरीर वाले का आहार अधिक होता है, कदाचित् नैरयिकों में भी आहार और शरीर का व्यतिक्रम कहीं पाया जाए तो भी बहुतों की अपेक्षा यह कथन होने से निर्दोष है।

बड़े शरीर वाले की वेदना और श्वासोच्छ्वास-मात्रा अधिक—लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि बड़े को जितनी ताड़ना होती है, उतनी छोटे को नहीं। हाथी के पैर के नीचे और जीव तो प्रायः दब कर मर जाते हैं, परन्तु चींटी प्रायः बच जाती है। इसी प्रकार महाशरीर वाले नारकों

को क्षुधा की वेदना तथा ताड़ना और क्षेत्र आदि से उत्पन्न पीड़ा भी अधिक होती है, इस कारण उन्हें श्वासोच्छ्वास भी अधिक लेना होता है।

नारक : अल्पकर्मी एवं महाकर्मी—जो नारक पहले उत्पन्न हो चुके, उन्होंने नरक का आयुष्य तथा अन्य कर्म वहुत-से भोग लिये हैं, अतएव उनके वहुत-से कर्मों की निर्जरा हो चुकी है, इस कारण वे अल्पकर्मी हैं। जो नारक वाद में उत्पन्न हुए हैं, उन्हें आयु और सात कर्म वहुत भोगने बाकी हैं, इसलिए वे महाकर्मी (वहुत कर्म वाले) हैं। यह सूत्र समान स्थिति वाले नैरयिकों की अपेक्षा से समझना चाहिए। यही वात वर्ण और लेश्या (भावलेश्या) के सम्वन्ध में समझनी चाहिए।

संज्ञिभूत-असंज्ञिभूत—वृत्तिकार ने संज्ञिभूत के चार अर्थ वताए हैं—(१) संज्ञा का अर्थ है—सम्यग्दर्शन; सम्यग्दर्शनी जीव को संज्ञी कहते हैं। जिस जीव को संज्ञीपन प्राप्त हुआ, उसे संज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) कहते हैं। (२) अथवा संज्ञिभूत का अर्थ है—जो पहले असंज्ञी (मिथ्यादृष्टि) था, और अव संज्ञी (सम्यग्दृष्टि) हो गया है, अर्थात्—जो नरक में ही मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दृष्टि हुआ है, वह संज्ञी संज्ञिभूत कहलाता है। असंज्ञीभूत का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। (३) एक आचार्य के मतानुसार संज्ञिभूत का अर्थ संज्ञी पंचेन्द्रिय है। अर्थात्—जो जीव नरक में जाने से पूर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय था, उसे संज्ञिभूत कहा जाता है। नरक में जाने से पूर्व जो असंज्ञी था, उसे यहाँ असंज्ञिभूत कहते हैं। अथवा संज्ञिभूत का अर्थ पर्याप्त और असंज्ञिभूत का अर्थ अपर्याप्त है। उक्त सभी अर्थों की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि संज्ञिभूत को नरक में तीव्र वेदना होती है और असंज्ञिभूत को अल्प। संज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) को नरक में जाने पर पूर्वकृत अशुभ कर्मों का विचार करने से घोर पश्चात्ताप होता है—'अहो! मैं कैसे घोर संकट में आ फंसा! अर्हन्त भगवान् के सर्वसंकट-निवारक एवं परमानन्ददायक धर्म का मैंने आचरण नहीं किया, अत्यन्त दारुण परिणाम-रूप कामभोगों के जाल में फँसा रहा, इसी कारण यह अचिन्तित आपदा आ पड़ी है। इस प्रकार की मानसिक वेदना के कारण वह महावेदना का अनुभव करता है। असंज्ञिभूत—मिथ्यादृष्टि को स्वकृत कर्मफल के भोग का कोई ज्ञान या विचार तथा पश्चात्ताप नहीं होता, और न ही उसे मानसिक पीड़ा होती है। इस कारण असंज्ञितभूत नैरयिक अल्पवेदना का अनुभव करता है। इसी प्रकार संज्ञिभूत यानी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में तीव्र अशुभ परिणाम हो सकते हैं, फलतः वह सातवीं नरक तक जा सकता है। जो जीव आगे की नरकों में जाता है, उसे अधिक वेदना होती है। असंज्ञिभूत (नरक में जाने से पूर्व असंज्ञी) जीव रत्नप्रभा के तीव्रवेदनारहित स्थानों में उत्पन्न होता है, इसलिए उसे अल्पवेदना होती है। इसी प्रकार संज्ञीभूत अर्थात्—पर्याप्त को महावेदना और असंज्ञीभूत अर्थात् अपर्याप्त को अल्पवेदना होती है।

क्रिया—यहाँ कर्मवन्धन के कारण अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांचों कर्मवन्धन के कारण हैं, तथापि आरम्भ और परिग्रह योग के अन्तर्गत होने से आरम्भिकी, पारिग्रहिकी क्रिया भी कर्मवन्धन का कारण वनती है।

आयु और उत्पत्ति की दृष्टि से नारकों के ४ भंग—(१) **समायुष्क समोपपन्नक**—उदाहरणार्थ—जिन जीवों ने १० हजार वर्ष की नरकायु वाँधी और वे एक साथ नरक में उत्पन्न हुए; (२) **समायुष्क-विषमोपपन्नक**—जिन जीवों ने १० हजार वर्ष की नरकायु वाँधी, किन्तु उनमें से कोई

जीव नरक में पहले उत्पन्न हुआ, कोई बाद में। (३) **विषमायुष्क समोपपन्नक**—जिनकी आयु समान नहीं है, किन्तु नरक में एक साथ उत्पन्न हुए हों, (४) **विषमायुष्क विषमोपपन्नक**—एक जीव ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी और दूसरे ने १ सागरोपम की; किन्तु वे दोनों नरक में भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न हुए हों।

असुरकुमारों का आहार मानसिक होता है। आहार ग्रहण करने का मन होते ही इष्ट, कान्त आदि आहार के पुद्गल आहार के रूप में परिणत हो जाते हैं।

असुरकुमारों का आहार और श्वासोच्छ्वास—पूर्वसूत्र में असुरकुमारों का आहार एक अहोरात्र के अन्तर से और श्वासोच्छ्वास सात स्तोक में लेने का बताया गया था, किन्तु इस सूत्र में बार-बार आहार और श्वासोच्छ्वास लेने का कथन है, यह पूर्वापरविरोध नहीं, अपितु सापेक्ष कथन है। जैसे एक असुरकुमार एक दिन के अन्तर से आहार करता है, और दूसरा असुरकुमार देव सातिरेक (साधिक) एक हजार वर्ष में एक बार आहार करता है। अतः सातिरेक एक हजार वर्ष में एक बार आहार करने वाले की अपेक्षा एक दिन के अन्तर से आहार करने वाला बार-बार आहार करता है, ऐसा कहा जाता है। यही बात श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। सातिरेक एक पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेने वाले असुरकुमार की अपेक्षा सात स्तोक में श्वासोच्छ्वास लेने वाला असुरकुमार बार-बार श्वासोच्छ्वास लेता है, ऐसा कहा जाता है।

असुरकुमार के कर्म, वर्ण और लेश्या का कथन : नारकों से विपरीत—इस विपरीतता का कारण यह है कि पूर्वोपपन्नक असुरकुमारों का चित्त अतिकन्दर्प और दर्प से युक्त होने से वे नारकों को बहुत त्रास देते हैं। त्रास सहन करने से नारकों के तो कर्मनिर्जरा होती है, किन्तु असुरकुमारों के नये कर्मों का बन्ध होता है। वे अपनी क्रूरभावना एवं विकारादि के कारण अपनी अशुद्धता बढ़ाते हैं। उनका पुण्य क्षीण होता जाता है, पापकर्म बढ़ता जाता है, इसलिए वे महाकर्मी होते हैं। उनका वर्ण और लेश्या अशुद्ध हो जाती है। अथवा बद्धायुष्क की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न असुरकुमार यदि तिर्यञ्चगति का आयुष्य बाँध चुके हों तो वे महाकर्म, अशुद्ध वर्ण और अशुद्ध लेश्या वाले होते हैं। पश्चादुत्पन्न बद्धायुष्क न हों तो वे इसके विपरीत होते हैं।[1]

पृथ्वीकायिक जीवों का महाशरीर और अल्पशरीर—पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर यद्यपि अंगुल के असंख्यातवें भाग कहा गया है, तथापि अंगुल के असंख्यातवें भाग वाले शरीर में भी तरतमता से असंख्य भेद होते हैं। प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार किसी का शरीर संख्यात भाग हीन है, किसी का असंख्यात भाग हीन है, किसी का शरीर संख्यात भाग अधिक है और किसी का असंख्यात भाग अधिक है। इस चतुःस्थानपतित हानि-वृद्धि की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीव अपेक्षाकृत अल्पशरीरी भी होते हैं और महाशरीरी भी।

पृथ्वीकायिक जीवों की समानवेदना : क्यों और कैसे?—पृथ्वीकायिक जीव असंज्ञी हैं और वे असंज्ञी जीवों को होने वाली वेदना को वेदते हैं। उसकी वेदना अनिदा है अर्थात् निर्धारणरहित—अव्यक्त होती है। असंज्ञी होने से वे मूर्च्छित या उन्मत्त पुरुष के समान बेसुध होकर कष्ट भोगते हैं। उन्हें यह पता ही नहीं रहता कि कौन पीड़ा दे रहा है? कौन मारता-काटता है, और किस कर्म के

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति पत्रांक ४१ से ४३ तक

उदय से यह वेदना हो रही है ? यद्यपि सुमेरु पर्वत में जो जीव हैं, उनका छेदन-भेदन नहीं होता, तथापि पृथ्वीकाय का जब भी छेदन-भेदन किया जाता है तब सामान्यतया वैसी ही वेदना होती है, जैसी अन्यत्र स्थित पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।[1]

पृथ्वीकायिक जीवों में पाँचों क्रियाएँ कैसे ?—यद्यपि पृथ्वीकायिक जीव बिना हटाए एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट भी नहीं सकते, वे सदा अव्यक्तचेतना की दशा में रहते हैं, फिर भी भगवान् कहते हैं कि वे पांचों क्रियाएँ करते हैं। वे श्वासोच्छ्वास और आहार लेते हैं, इन क्रियाओं में आरम्भ होता है। वास्तव में आरम्भ का कारण केवल श्वासादि क्रिया नहीं, अपितु प्रमाद और कषाय से युक्त क्रिया है। यही कारण है कि तेरहवें गुणस्थान वाले भी श्वासादि क्रिया करते हैं, तथापि वे आरम्भी नहीं कहलाते। निष्कर्ष यह है कि चाहे कोई जीव चले-फिरे नहीं, तथापि जब तक प्रमाद और कषाय नहीं छूटते, तब तक वह आरम्भी है और कषाय एवं प्रमाद के नष्ट हो जाने पर चलने-फिरने की क्रिया विद्यमान होते हुए भी वह अनारम्भी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मायी-मिथ्यादृष्टि जीव प्रायः पृथ्वीकाय में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि पृथ्वीकायिक मायाचार करते दिखाई नहीं देते, किन्तु माया के कारण ही वे पृथ्वीकाय में आए हैं। जीव किसी भी योनि में हो, यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो शास्त्र उसे मायी-मिथ्यादृष्टि कहता है। मायी का एक अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय है, और जहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है, वहाँ मिथ्यात्व अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से पृथ्वीकायिक जीवों में आरम्भिकी आदि पांचों क्रियाएँ होती हैं।

मनुष्यों के आहार की विशेषता—मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—महाशरीरी और अल्पशरीरी। महाशरीरी मनुष्य और नारकी दोनों बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, किन्तु दोनों के पुद्गलों में बहुत अन्तर है। महाशरीरी नारकी जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, वे निःसार और स्थूल होते हैं, जबकि मनुष्य—विशेषतः देवकुरु-उत्तरकुरु के भोगभूमिज मनुष्य जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, वे सारभूत और सूक्ष्म होते हैं। भोगभूमिज मनुष्यों का शरीर तीन गाऊ का होता है और उनका आहार अष्टभक्त—अर्थात्—तीन दिन में एक बार होता है, इस अपेक्षा से महाशरीर मनुष्यों को कदाचित् आहार करने वाले (एक दृष्टि से अल्पाहारी) कहा गया है। जैसे एक तोला चाँदी से एक तोला सोने में अधिक पुद्गल होते हैं, वैसे ही देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का आहार दीखने में कम होते हुए भी सारभूत होने से उसमें अल्पशरीरी मनुष्य के आहार की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं। इस दृष्टि से उन्हें बहुत पुद्गलों का आहार करने वाला कहा गया है। अल्पशरीरी मनुष्यों का आहार निःसार एवं थोड़े पुद्गलों का होने से उन्हें बार-बार करना पड़ता है। जैसे कि बालक बार-बार आहार करता है।

कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या—जो संयम का पालन करता है, किन्तु जिसका संज्वलन कषाय क्षीण या उपशान्त नहीं हुआ, वह **सरागसंयत** कहलाता है। जिसके कषाय का सर्वथा क्षय या उपशम हो गया है, वह **वीतरागसंयत** कहलाता है।

---

१. (क) भगवती अ० वृत्ति प० ४४ (ख) **पुढविक्काइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए'**

(ग) 'अनिदा चित्तविकला सम्यग्विवेकविकला वा'—प्रज्ञापना वृत्ति पृ० ५५७।

'अणिदाए त्ति अविर्धारणया वेदनां वेदयन्ति, वेदनामनुभवन्तोऽपि मिथ्यादृष्टित्वात् विमनस्कत्वाद् वा मत्त—मूर्च्छितादिवत् नावगच्छन्ति'—भगवती सूत्र अ० वृत्ति, प. ४४।

सयोग केवली क्रियारहित कैसे—जो महापुरुष कषायों से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे क्रिया—कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया से रहित हैं। यद्यपि सयोगी अवस्था में योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्यापथिक क्रिया उनमें विद्यमान है, तथापि वह क्रिया नहीं के बराबर है, इन क्रियाओं में उसकी गणना नहीं है।

अप्रमत्तसंयत में मायाप्रत्यया क्रिया—इसलिए होती है कि उसमें अभी कषाय अवशिष्ट है। और कषाय के निमित्त से होने वाली क्रिया मायाप्रत्यया कहलाती है।

लेश्या की अपेक्षा चौवीस दण्डकों में समाहारादि-विचार—प्रस्तुत १२वें सूत्र में छह लेश्याओं के छह दण्डक (आलापक) और सलेश्य का एक दण्डक, इस प्रकार ७ दण्डकों से यहाँ विचार किया गया है। अगले सूत्र में लेश्याओं के नाम गिनाकर उससे सम्बन्धित सारा तात्त्विक ज्ञान प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद के द्वितीय उद्देशक से जान लेने का निर्देश किया गया है।

यद्यपि कृष्णलेश्या सामान्यरूप से एक है, तथापि उसके अवान्तर भेद अनेक हैं—कोई कृष्ण-लेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध होती है, कोई अविशुद्ध; एक कृष्णलेश्या से नरकगति मिलती है, एक से भवनपति देवों में उत्पत्ति होती है, अतः कृष्णलेश्या के तरतमता के भेद से अनेक भेद हैं, इसलिए उनका आहारादि समान नहीं होता। यही बात सभी लेश्याओं वाले जीवों के सम्बन्ध में जान लेनी चाहिए।[1]

जीवों का संसार संस्थान काल एवं अल्पबहुत्व—

१४. जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले, तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले, मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, देवसंसारसंचिट्ठणकाले य पण्णत्ते।

[१४-प्र.] भगवन् ! अतीतकाल में आदिष्ट-नारक आदि विशेषण-विशिष्ट जीव का संसार-संस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१४-उ.] गौतम ! संसार-संस्थान-काल चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—नैरयिकसंसार-संस्थानकाल, तिर्यञ्चसंसारसंस्थानकाल, मनुष्य-संसार-संस्थानकाल और देवसंसार-संस्थानकाल।

१५. [१] नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकसंसार-संस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—शून्यकाल, अशून्य-काल और मिश्रकाल।

---

१. (क) उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहिययमाइल्लो। सढसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधए जीवो॥
(ख) भगवती अ० वृत्ति पत्रांक ४४ से ४६ तक।

[२] तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले पुच्छा।

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—असुन्नकाले य मिस्सकाले य।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चसंसारसंस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५-२ उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—अशून्यकाल और मिश्रकाल।

[३] मणुस्साण य, देवाण य जहा नेरइयाणं।

[१५-३] मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थानकाल का कथन नारकों के समान समझना चाहिए।

१६. [१] एयस्स णं भंते ! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स सुन्नकालस्स असुन्नकालस्स मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के संसारसंस्थानकाल के जो तीन भेद हैं—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल, इनमें से कौन किससे कम, बहुत, तुल्य विशेषाधिक है ?

[१६-१ उ.] गौतम ! सबसे कम अशून्यकाल है, उससे मिश्रकाल अनन्तगुणा है और उसकी अपेक्षा भी शून्यकाल अनन्तगुणा है।

[२] तिरिक्खजोणियाणं सव्वथोवे असुन्नकाले मिस्सकाले अणंतगुणे।

[१६-२] तिर्यंचसंसारसंस्थानकाल के दो भेदों में से सबसे कम अशून्यकाल है और उसकी अपेक्षा मिश्रकाल अनन्तगुणा है।

[३] मणुस्स-देवाण य जहा नेरइयाणं।

[१६-३] मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थानकाल की न्यूनाधिकता (अल्पबहुत्व) नारकों के संसारसंस्थानकाल की न्यूनाधिकता के समान ही समझनी चाहिए।

१७. एयस्स णं भंते ! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स जाव देवसंसारसंचिट्ठणं जाव विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले अणंतगुणे।

[१७. प्र.] भगवन् ! नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारों के संसारसंस्थानकालों में कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[१७. उ.] गौतम ! सबसे थोड़ा मनुष्यसंसारसंस्थानकाल है, उससे नैरयिक संसारसंस्थानकाल असंख्यातगुणा है, उससे देव संसारसंस्थानकाल असंख्यातगुणा है और उससे तिर्यञ्चसंसारसंस्थानकाल अनन्तगुणा है।

विवेचन—चारों गतियों के जीवों का संसारसंस्थानकाल : भेद-प्रभेद एवं अल्पबहुत्व—प्रस्तुत पांच सूत्रों (१३ से १७ तक) में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारों प्रकार के जीवों के संसारसंस्थानकाल, उसके भेद-प्रभेद एवं अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

संसारसंस्थानकाल सम्बन्धी प्रश्न का उद्भव क्यों—किसी की मान्यता है कि पशु मर कर पशु ही होता है, और मनुष्य मर कर मनुष्य, वह देव या नारक नहीं होता। जैसे—गेहूँ से गेहूँ ही उत्पन्न होता है, चना नहीं। हाँ, अच्छी-बुरी भूमि के मिलने से गेहूँ अच्छा-बुरा हो सकता है, इसी प्रकार अच्छे-बुरे संस्कारों के मिलने से मनुष्य अच्छा-बुरा भले ही हो जाए; किन्तु रहता है, मनुष्य ही। इस प्रकार की मान्यतानुसार अनादिभवों में भी जीव एक ही प्रकार से रहता है। इस भ्रान्तमत का निराकरण करने हेतु गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उठाया है कि यह जीव अनादिकाल से एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण कर रहा है, तो अतीतकाल में जीव ने कितने प्रकार का संसार बिताया है?

संसारसंस्थानकाल—संसार का अर्थ है—एक भव (जन्म) से दूसरे भव में संसरण—गमनरूप क्रिया। उसकी संस्थान—स्थिर रहने रूप क्रिया तथा उसका काल (अवधि) संस्थानकाल है। अर्थात्—यह जीव अतीतकाल में कहाँ-कहाँ किस-किस गति में कितने काल तक स्थित रहा? यही गौतमस्वामी के प्रश्न का आशय है।

संसारसंस्थान न माना जाए तो—अगर भवान्तर में जीव की गति और योनि नहीं बदलती, तब तो उसके द्वारा किये हुए प्रकृष्ट पुण्य और प्रकृष्ट पाप निरर्थक हो जाएँगे। शुभकर्म करने पर भी पशु, पशु ही रहे और करोड़ों पाप कर्म करने पर भी मनुष्य, मनुष्य ही बना रहे तो उनके पुण्य और पाप कर्म का क्या फल हुआ? ऐसा मानने पर मुक्ति कदापि प्राप्त न हो सकेगी, क्योंकि जो जिस गति या योनि में है, वह वहाँ से आगे कहीं न जा सकेगा; फलतः मुक्ति के लिए किये जाने वाले तप-जप-ध्यान आदि अनुष्ठान निष्फल ही सिद्ध होंगे। इसीलिए भगवान् ने बताया कि जीव चार प्रकार के संसार में संस्थित रहा है, कभी नारक, कभी तिर्यञ्च, कभी देव और कभी मनुष्य योनि में इस जीव ने समय बिताया है।

त्रिविधिसंसारसंस्थानकाल—भगवान् ने संसारसंस्थानकाल तीन प्रकार का बताया है—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल।

अशून्यकाल—आदिष्ट (वर्तमान में नियत अमुक) समय वाले नारकों में से एक भी नारक जब तक मर कर नहीं निकलता और न कोई नया जन्म लेता है, तब तक का काल अशून्यकाल है। अर्थात्—अमुक वर्तमानकाल में सातों नरकों में जितने भी जीव विद्यमान हैं, उनमें से न कोई जीव मरे, न ही नया उत्पन्न हो, यानी उतने के उतने ही जीव जितने समय तक रहें, उस समय को नरक की अपेक्षा अशून्यकाल कहते हैं।

मिश्रकाल—वर्तमानकाल के इन नारकों में से एक, दो, तीन इत्यादि क्रम से निकलते-निकलते जब तक एक भी नारक शेष रहे, अर्थात्—विद्यमान नारकों में से जब एक का निकलना प्रारम्भ हुआ, तब से लेकर जब तक नरक में एक नारक शेष रहा, तब तक के समय को नरक की अपेक्षा मिश्रकाल कहते हैं।

शून्यकाल—वर्तमानकाल के समादिष्ट (नियत) नारकों में से समस्त नारक नरक से निकल जाएँ, एक भी नारक शेष न रहे, और न ही उनके स्थान पर सभी नये नारक पहुँचें तब तक का काल नरक की अपेक्षा शून्यकाल कहलाता है। तिर्यंचयोनि में शून्यकाल नहीं है, क्योंकि तिर्यञ्चयोनि में अकेले वनस्पति काय के ही जीव अनन्त हैं, वे सबके सब उसमें से निकलकर नहीं जाते। शेष तीनों गतियों में तीनों प्रकार के संसारसंस्थानकाल हैं।

तीनों कालों का अल्पबहुत्व—अशून्यकाल अर्थात् विरहकाल की अपेक्षा मिश्रकाल को अनन्तगुणा इसलिए कहा कि अशून्यकाल तो सिर्फ बारह मुहूर्त्त का है, जब कि मिश्रकाल वनस्पतिकाय में गमन की अपेक्षा अनन्तगुना है। नरक के जीव जब तक नरक में रहें, तभी तक मिश्रकाल नहीं, वरन् नरक के जीव नरक से निकलकर वनस्पतिकाय आदि तिर्यञ्च, तथा मनुष्य, आदि गतियों-योनियों में जन्म लेकर फिर नरक में आवें तव तक का काल मिश्रकाल है। और शून्यकाल मिश्रकाल से भी अनन्तगुणा इसलिए कहा गया है कि नरक के जीव नरक से निकल कर वनस्पति में आते हैं, जिसकी स्थिति अनन्तकाल की है।

तिर्यञ्चों की अपेक्षा अशून्यकाल सबसे कम है। संज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट विरहकाल १२ मुहूर्त्त का, तीन विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम तिर्यंचपंचेन्द्रिय का अन्तर्मुहूर्त्त का, पंचस्थावर जीवों में समय-समय में परस्पर एक दूसरे में असंख्यजीव उत्पन्न होते हैं, अतः उनमें विरहकाल नहीं है।[1]

अन्तक्रिया सम्बन्धी—चर्चा—

१८. जीवे णं भंते! अंतकिरियं करेज्जा?

गोयमा! अत्थेगतिए करेज्जा, अत्थेगतिए नो करेज्जा। अंतकिरियापदं नेयव्वं।

[१८. प्र.] हे भगवन्! क्या जीव अन्तक्रिया करता है?

[१८. उ.] गौतम! कोई जीव अन्तक्रिया करता है, कोई जीव नहीं करता। इस सम्बन्ध में प्रज्ञापनासूत्र का अन्तक्रियापद (२०वाँ पद) जान लेना चाहिए।

विवेचन—अन्तक्रिया सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र में अन्तक्रिया के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

अन्तक्रिया—जिस क्रिया के पश्चात् फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पड़े वह, अथवा कर्मों का सर्वथा अन्त करने वाली क्रिया अन्तक्रिया है। आशय यह है कि समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षप्राप्ति की क्रिया ही अन्तक्रिया है। निष्कर्ष यह है कि भव्य जीव ही मनुष्यभव पाकर अन्तक्रिया करता है।

असंयतभव्य द्रव्यदेव आदि सम्बन्धी विचार—

१९. अह भंते! असंजयभवियदव्वदेवाणं १, अविराहियसंजमाणं २, विराहियसंजमाणं ३, अविराहियसंजमासंजमाणं ४, विराहियसंजमासंजमाणं ५, असण्णीणं ६, तावसाणं ७, कंदप्पियाणं ८,

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ४७-४८

चरगपरिव्वायगाणं ९, किब्विसियाणं १०, तेरिच्छियाणं ११, आजीवियाणं १२, आभिओगियाणं १३, सलिंगीणं दंसणवावन्नगाणं १४, एएसि णं देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते?

गोयमा! असंजतभवियदव्वदेवाणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं उवरिमगेविज्जएसु १। अविराहियसंजमाणं जहन्नेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे २। विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं सोधम्मे कप्पे ३। अविराहियसंजमाऽसंजमाणं जहन्नेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे ४। विराहियसंजमासंजमाणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं जोतिसिएसु ५। असण्णीणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु ६। अवसेसा सव्वे जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसगं वोच्छामि-तावसाणं जोतिसिएसु ७। कंदप्पियाणं सोहम्मे कप्पे ८। चरग-परिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे ९। किब्विसियाणं लंतगे कप्पे १०। तेरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे ११। आजीवियाणं अच्चुए कप्पे १२। आभिओगियाणं अच्चुए कप्पे १३। सलिंगीणं दंसणवावन्नगाणं उवरिम-गेवेज्जएसु १४।

[१९. प्र.] भगवन्! (१) असंयत भव्यद्रव्यदेव, (२) अखण्डित संयम वाला, (३) खण्डित संयम वाला, (४) अखण्डित संयमासंयम (देशविरति) वाला, (५) खण्डित संयमासंयम वाला, (६) असंज्ञी, (७) तापस, (८) कान्दर्पिक, (९) चरकपरिव्राजक, (१०) किल्विषिक, (११) तिर्यञ्च (१२) आजीविक, (१३) आभियोगिक, (१४) दर्शन (श्रद्धा) भ्रष्ट वेषधारी, ये सब यदि देवलोक में उत्पन्न हों तो, किसका कहाँ उपपात (उत्पाद) होता है?

[१९. उ.] गौतम! असंयतभव्यद्रव्यदेवों का उत्पाद जघन्यतः भवनवासियों में और उत्कृष्टतः ऊपर के ग्रैवेयकों में कहा गया है। अखण्डित (अविराधित) संयम वालों का जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान में, खण्डित संयम वालों का जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प में, अखण्डित संयमासंयम का जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट अच्युत-कल्प में, खण्डित संयमासंयम वालों का जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट ज्योतिष्कदेवों में, असंज्ञी जीवों का जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाण-व्यन्तरदेवों में और शेष सबका उत्पाद जघन्य भवनवासियों में होता है; उत्कृष्ट उत्पाद आगे बता रहे हैं—तापसों का ज्योतिष्कों में, कान्दर्पिकों का सौधर्मकल्प में, चरकपरिव्राजकों का ब्रह्मलोक कल्प में, किल्विषिकों का लान्तक कल्प में, तिर्यञ्चों का सहस्रारकल्प में, आजीविकों तथा आभियोगिकों का अच्युतकल्प में, और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारियों का ऊपर के ग्रैवेयकों तक में उत्पाद होता है।

विवेचन—असंयतभव्यद्रव्यदेव आदि के देवलोक उत्पाद के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र में विविध प्रकार के १४ आराधक-विराधक साधकों तथा अन्य जीवों की देवलोक-उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर अंकित हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—

असंयत भव्यद्रव्यदेव—(१) जो असंयत—चारित्रपरिणामशून्य हो, किन्तु भविष्य में देव होने योग्य हो, (२) असंयत भव्यद्रव्य देव का अर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी हो सकता है, किन्तु

यह अर्थ यहां संगत नहीं, क्योंकि असंयत भव्यद्रव्य देव का उत्कृष्ट उत्पाद ग्रैवेयक तक कहा है, जब कि अविरत सम्यग्दृष्टि तो दूर रहे, देशविरतश्रावक (संयमासंयमी) भी अच्युत देवलोक से आगे नहीं जाते। (३) इसी प्रकार असंयत भव्यद्रव्य देव का अर्थ असंयत निह्नव भी ठीक नहीं, क्योंकि इनके उत्पाद के विषय में इसी सूत्र में पृथक् निरूपण है। (४) अतः असंयत भव्यद्रव्यदेव का स्पष्ट अर्थ है—जो साधु-समाचारी और साध्वाचार का पालन करता हो, किन्तु जिसमें आन्तरिक (भाव से) साधुता न हो केवल द्रव्यलिंगधारी हो, ऐसा भव्य या अभव्य मिथ्यादृष्टि। यद्यपि ऐसे असंयत भव्यद्रव्यदेव में महामिथ्यादर्शनरूप मोह की प्रबलता होती है, तथापि जब वह चक्रवर्ती आदि अनेक राजा-महाराजाओं द्वारा साधुओं को वन्दन-नमन, पूजा, सत्कार-सम्मान आदि करते देखता है तो सोचता है कि मैं भी साधु बन जाऊँ तो मेरी भी इसी तरह वन्दना, पूजा-प्रतिष्ठा आदि होने लगेगी; फलतः इस प्रकार की प्रतिष्ठामोह की भावना से वह श्रमणव्रत पालन करता है, आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से नहीं। उसकी श्रद्धा प्रव्रज्या तथा क्रियाकलाप पूर्ण है, वह आचरण भी पूर्णतया करता है, परन्तु चारित्र के परिणाम से शून्य होने से असंयत है।

अविराधित संयमी—दीक्षाकाल से लेकर अन्त तक जिस का चारित्र कभी भंग न हुआ हो, वह अखण्डित संयमी है। इसे आराधक संयमी भी कहते हैं।

विराधित संयमी—इसका स्वरूप अविराधित संयमी से विपरीत है। जिसने महाव्रतों का ग्रहण करके उनका भलीभांति पालन नहीं किया है, संयम की विराधना की है, वह विराधित संयमी, खण्डित संयमी या विराधक संयमी है।

अविराधित संयमासंयमी—जो देशविरति ग्रहण करके अन्त तक अखण्डित रूप से उसका पालन करता है उसे आराधक संयमासंयमी कहते हैं।

विराधित संयमासंयमी—जिसने देशविरति ग्रहण करके उसका भली भाँति पालन नहीं किया है, उसे विराधित संयमासंयमी कहते हैं।

असंज्ञी जीव—जिसके मनोलब्धि नहीं है, ऐसा असंज्ञी जीव अकाम-निर्जरा करता है, इस कारण वह देवलोक में जा सकता है।

तापस—वृक्ष से गिरे हुए पत्तों आदि को खाकर उदरनिर्वाह करने वाला बाल-तपस्वी।

कान्दर्पिक—जो साधु हंसोड़—हास्यशील हो। ऐसा साधु चारित्रवेश में रहते हुए भी हास्य-शील होने के कारण अनेक प्रकार की विदूषक-की-सी चेष्टाएँ करता है। अथवा कन्दर्प अर्थात् काम-सम्बन्धी वार्तालाप करने वाला साधु भी कान्दर्पित कहलाता है।

चरकपरिव्राजक—गेरूए या भगवे रंग के वस्त्र पहनकर धाटी (सामूहिक भिक्षा) द्वारा आजीविका करने वाले त्रिदण्डी, कुच्छोटक आदि अथवा कपिलऋषि के शिष्य।

किल्विषिक—जो ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सब साधुओं का अवर्णवाद करता है और पापमय भावना वाला है, वह किल्विषिक साधु है। किल्विषिक साधु व्यवहार से चारित्रवान भी होता है।

तिर्यञ्च—देशविरति श्रावकव्रत का पालन करने वाले घोड़े, गाय आदि। जैसे—नन्दन-मणिहार का जीव मेंढक के रूप में श्रावकव्रती था।

आजीविक—(१) एक खास तरह के पाखण्डी, (२) नग्न रहने वाले गोशालक के शिष्य, (३) लब्धिप्रयोग करके अविवेकी लोगों द्वारा ख्याति प्राप्त करने या महिमा-पूजा के लिए तप और चारित्र का अनुष्ठान करने वाले और (४) अविवेकी लोगों में चमत्कार दिखलाकर अपनी आजीविका उपार्जन करने वाले।

आभियोगिक—विद्या और मंत्र आदि का या चूर्ण आदि के योग का प्रयोग करना और दूसरों को अपने वश में करना अभियोग कहलाता है। जो साधु व्यवहार से तो संयम का पालन करता है, किन्तु मंत्र, तंत्र, यंत्र, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, चूर्ण आदि के प्रयोग द्वारा दूसरे को आकर्षित करता है, वशीभूत करता है, वह आभियोगिक कहलाता है।

दर्शनभ्रष्टसलिंगी—साधु के वेष में होते हुए भी दर्शनभ्रष्ट—निह्नव दर्शनभ्रष्टस्ववेषधारी है। ऐसा साधक आगम के अनुसार क्रिया करता हुआ भी निह्नव होता है, जिन-दर्शन से विरुद्ध प्ररूपणा करता है, जैसे जामालि।[1]

असंज्ञी आयुष्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

२०. कतिविहे णं भंते! असण्णियाउए पण्णत्ते?

गोयमा! चउव्विहे असण्णिआउए पण्णत्ते। तं जहा—नेरइय-असण्णिआउए १, तिरिक्ख-जोणिय-असण्णिआउए २, मणुस्सअसण्णिआउए ३, देवअसण्णिआउए ४।

[२०. प्र.] भगवन्! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा गया है?

[२०. उ.] गौतम! असंज्ञी का आयुष्य चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—नैरयिक-असंज्ञी आयुष्य, तिर्यञ्च-असंज्ञी आयुष्य, मनुष्य-असंज्ञी आयुष्य और देव-असंज्ञी आयुष्य।

२१. असण्णी णं भंते! जीवे किं नेरइयाउयं पकरेति, तिरिक्ख-जोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेइ?

हंता, गोयमा! नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ। नेरइयाउयं पकरेमाणे जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेति। तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ। मणुस्साउए वि एवं चेव। देवाउयं पकरेमाणे जहा नेरइया।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ४९-५०

(ख) जो संजओ वि एयासु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो॥

(ग) णाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स सव्व साहूणं।
माई अवन्नवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

(घ) कोउय-भूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।
इड्ढिरससायगरुओ अहिओगं भावणं कुणइ॥

[२१-प्र.] भगवन् ! असंज्ञी जीव क्या नरक का आयुष्य उपार्जन करता है, तिर्यञ्चयोनिक का आयुष्य उपार्जन करता है, मनुष्य का आयुष्य भी उपार्जन करता है या देव का आयुष्य उपार्जन करता है ?

[२१. उ.] हाँ गौतम ! वह नरक का आयुष्य भी उपार्जन करता है, तिर्यञ्च का आयुष्य भी उपार्जन करता है, मनुष्य का आयुष्य भी उपार्जन करता है और देव का आयुष्य भी उपार्जन करता है।

नारक का आयुष्य उपार्जन करता हुआ असंज्ञीजीव जघन्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग का उपार्जन करता है। तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य उपार्जन करता हुआ असंज्ञी जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग का उपार्जन करता है। मनुष्य का आयुष्य भी इतना ही उपार्जन करता है और देव आयुष्य का उपार्जन भी नरक के आयुष्य के समान करता है।

२२. एयस्स णं भंते ! नेरइयअसण्णिआउयस्स तिरिक्खजोणियअसण्णिआउयस्स मणुस्स-असण्णिआउयस्स देवअसण्णिआउयस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे देवअसण्णिआउए, मणुस्सअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे, तिरियजोणिय-असण्णिआउए असंखेज्जगुणे, नेरइयअसण्णिआउये असंखेज्जगुणे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

॥ बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥

[२२. प्र.] हे भगवन् ! नारक-असंज्ञी-आयुष्य, तिर्यञ्च-असंज्ञी-आयुष्य, मनुष्य-असंज्ञी-आयुष्य और देव-असंज्ञी-आयुष्य; इनमें कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[२२. उ.] गौतम ! देव-असंज्ञी-आयुष्य सबसे कम है, उसकी अपेक्षा मनुष्य-असंज्ञी-आयुष्य असंख्यातगुणा है, उससे तिर्यञ्च असंज्ञी-आयुष्य असंख्यात-गुणा है और उससे भी नारक-असंज्ञी-आयुष्य असंख्यातगुणा है।

'हे भगवन् ! (जैसा आप फरमाते हैं,) वह इसी प्रकार है, वह इसी प्रकार है।' ऐसा कहकर गौतम स्वामी संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—असंज्ञी-आयुष्य : प्रकार, उपार्जन एवं अल्पबहुत्व—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२०-२१-२२) में असंज्ञी जीव के आयुष्य के प्रकार, उपार्जन और अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

असंज्ञी-आयुष्य—वर्तमानभव में जो जीव विशिष्ट संज्ञा से रहित है, वह परलोक के योग्य जो आयुष्य बाँधता है, उसे असंज्ञी-आयुष्य कहते हैं।

असंज्ञी द्वारा आयुष्य का उपार्जन या वेदन ?—श्री गौतम स्वामी ने असंज्ञी जीवों के आयुष्य के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न उठाया है, जिसका आशय यह है कि असंज्ञी जीव मन के अभाव में आयुष्य का उपार्जन कैसे कर सकता है ? अतः नरक, तिर्यञ्च आदि का आयुष्य असंज्ञी द्वारा उपार्जन किया जाता है या सिर्फ भोगा (वेदन किया) जाता है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—

असंज्ञी का आयुष्य असंज्ञी द्वारा ही उपर्जित किया हुआ है। यद्यपि असंज्ञी की मनोलब्धि विकसित न होने से उसे अच्छे-बुरे का भान नहीं होता, मगर उसके आन्तरिक अध्यवसाय को सर्वज्ञ तीर्थंकर तो हस्तामलकवत् जानते ही हैं कि वह नरकायु का उपार्जन कर रहा है या देवायु का? जैसे भिक्षु से सम्बन्धित पात्र का भिक्षुपात्र कहते हैं, वैसे ही असंज्ञी से सम्बन्धित आयु को असंज्ञी-आयुष्य कहते हैं।[1]

तिर्यंच और मनुष्य के आयुष्य को पल्योपम के असंख्यातवाँ भाग युगलियों की अपेक्षा से समझना चाहिए।

॥ प्रथम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ५१

तइओ उद्देसो : कंखपओसे

तृतीय उद्देशक : कांक्षा-प्रदोष

चौबीस दण्डकों में कांक्षामोहनीयकर्मसम्बन्धी षड्द्वार-विचार

१. [१] जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

हंता, कडे ।

[१-१. प्र.] भगवन् ! क्या जीवों का कांक्षामोहनीय कर्म कृतक्रियानिष्पादित (किया हुआ) है ?

[१-१. उ.] हाँ गौतम ! वह कृत है ।

[२] से भंते ! किं देसेणं देसे १ ?, देसेण सव्वे कडे २ ?, सव्वेणं देसे कडे ३ ?, सव्वेणं सव्वे कडे ४ ?

गोयमा ! नो देसेणं देसे कडे १, नो देसेणं सव्वे कडे २, नो सव्वेणं देसे कडे ३, सव्वेणं सव्वे कडे ४ ।

[१-२. प्र.] भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है, देश से सर्वकृत है, सर्व से देशकृत है अथवा सर्व से सर्वकृत है ?

[१-२. उ.] गौतम ! वह देश से देशकृत नहीं है, देश से सर्वकृत नहीं है, सर्व से देशकृत नहीं है, सर्व से सर्वकृत है ।

२. [१] नेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

हंता, कडे जाव सव्वेणं कडे ४ ।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ भाणियव्वो ।

[२-१. प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिकों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

[२-१. उ.] हाँ, गौतम कृत, यावत् 'सर्व से सर्वकृत है' इस प्रकार से यावत् चौवीस ही दण्डकों में वैमानिकपर्यन्त आलापक कहना चाहिए ।

३. [१] जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ?

हंता, करिंसु ।

[३-१. प्र.] भगवन् ! क्या जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म का उपार्जन किया है ?

[३-१. उ.] हाँ गौतम ! किया है ।

[२] तं भंते ! किं देसेणं देसं करिंसु ?

एतेणं अभिलावेणं दंडओ १ जाव वेमाणियाणं ।

[३-२. प्र.] 'भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है ?' इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न वैमानिक दण्डक तक करना चाहिए।

[३-२. उ.] इस प्रकार 'कहते हैं' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में आलापक कहना चाहिए।

[३] एवं करेंति। एत्थ वि दंडओ जाव[1] वेमाणियाणं।

[३-३] इसी प्रकार 'करते हैं' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए।

[४] एवं करेस्संति। एत्थ वि दंडओ जाव[2] वेमाणियाणं।

[३-४] इसी प्रकार 'करेंगे' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए।

[५] एवं चिते–चिणिसु, चिणंति, चिणिस्संति। उवचिते--उवचिणिसु, उवचिणंति, उवचिणिस्संति। उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्संति। वेदिंसु, वेदेंति, वेदिस्संति। निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्संति। गाहा—

कड चित, उवचित, उदीरिया, वेदिया य, निज्जिण्णा।
आदितिए चउभेदा, तियभेदा पच्छिमा तिण्णि ॥१॥

[३-५] इसी प्रकार (कृत के तीनों काल की तरह) चित किया, चय करते हैं, चय करेंगे; उपचित-उपचय किया, उपचय करते हैं, उपचय करेंगे; उदीरणा की, उदीरणा करते हैं, उदीरणा करेंगे; वेदन किया, वेदन करते हैं, वेदन करेंगे; निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते हैं, निर्जीर्ण करेंगे; इन सब पदों का चौवीस ही दण्डकों के सम्बन्ध में पूर्ववत् कथन करना (आलापक करना) चाहिए।

गाथार्थ—कृत, चित, उपचित, उदीर्ण, वेदित और निर्जीर्ण; इतने अभिलाप यहाँ कहने हैं। इनमें से कृत, चित और उपचित में एक-एक के चार-चार भेद हैं; अर्थात्—सामान्य क्रिया, भूतकाल की क्रिया, वर्तमान काल की क्रिया और भविष्यकाल की क्रिया। पिछले तीन पदों में सिर्फ तीन काल की क्रिया कहनी है।

कांक्षामोहनीय-वेदनकारण-विचार

४. जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, वेदेंति।

[४. प्र.] 'भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?'

[४. उ.] हाँ गौतम ! वेदन करते हैं।

५. कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया कंखिया वितिगिंछिया भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

---

१. 'जाव' शब्द से वैमानिकपर्यंत पूर्वोक्त चौवीस दण्डक समझना चाहिए।

[५. प्र.] 'भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं ?'

[५. उ.] गौतम ! उन-उन (अमुक-अमुक) कारणों से शंकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सा-युक्त, भेदसमापन्न एवं कलुषसमापन्न होकर; इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

आराधक-स्वरूप

६. [१] से नूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं ?

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहि पवेदितं।

[६-१. प्र.] 'भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन-भगवन्तों ने निरूपित किया है।'

[६-१. उ.] हाँ, गौतम ! वही सत्य और निःशंक है, जो जिनेन्द्रों द्वारा निरूपित है।

[२] से नूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे जाव भवति।

[६-२. प्र.] 'भगवन् ! (वही सत्य और निःशंक है, जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित है) इस प्रकार मन में धारण (निश्चय) करता हुआ, उसी तरह आचरण करता हुआ, यों रहता हुआ, इसी तरह संवर करता हुआ जीव क्या आज्ञा का आराधक होता है ?'

[६-२. उ.] हाँ, गौतम ! इसी प्रकार मन में निश्चय करता हुआ यावत आज्ञा का आराधक होता है।

विवेचन—चतुर्विशतिदण्डकों में कांक्षामोहनीय का कृत, चित आदि ६ द्वारों से त्रैकालिक विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रों में कांक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से विचार किया गया है। प्रश्नोत्तर का क्रम इस प्रकार है—(१) क्या कांक्षामोहनीय कर्म जीवों का कृत है ? (२) यदि कृत है तो देश से देशकृत, देश से सर्वकृत, सर्व से देशकृत है या सर्व से सर्वकृत है ? (३) यदि सर्व से सर्वकृत है तो नारकी से लेकर वैमानिक तथा चौवीस दण्डकों के जीवों द्वारा कृत है ? कृत है तो सर्व से सर्वकृत है ? इत्यादि, (४) क्या जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म का उपार्जन किया है ? (५) यदि किया है तो वह चौबीस ही दण्डकों में किया है, तथा वह सर्व से सर्वकृत है ? इसी प्रकार करते हैं, करेंगे। (६) इस प्रकार कृत के त्रैकालिक आलापक की तरह चित, उपचित, उदीर्ण, वेदित और निर्जीर्ण पद के कांक्षामोहनीयसम्बन्धी त्रैकालिक आलापक कहने चाहिए।

कांक्षामोहनीय—जो कर्म जीव को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीयकर्म के दो भेद हैं—चारित्र-मोहनीय और दर्शनमोहनीय। यहाँ चारित्र मोहनीय कर्म के विषय में प्रश्न नहीं है। इसीलिए मोहनीय शब्द के साथ 'कांक्षा' शब्द लगाया गया है। कांक्षा-मोहनीय का अर्थ है—दर्शनमोहनीय। कांक्षा का मूल अर्थ है—अन्यदर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा करना। संशयमोहनीय, विचिकित्सामोहनीय, परपाखण्डप्रशंसामोहनीय आदि कांक्षामोहनीय के अन्तर्गत समझ लेने चाहिए।

कांक्षामोहनीय का ग्रहण ? कैसे, किस रूप में ?—कार्य चार प्रकार से होता है-उदाहरणार्थ—एक मनुष्य अपने शरीर के एक देश—हाथ से वस्त्र का एक भाग ग्रहण करता है, यह एकदेश से एकदेश का ग्रहण करना है। इसी प्रकार हाथ से सारे वस्त्र का ग्रहण किया तो यह एकदेश से सर्व का

ग्रहण करना है; यदि समस्त शरीर से वस्त्र के एक भाग को ग्रहण किया तो सर्व से एकदेश का ग्रहण हुआ; सारे शरीर से सारे वस्त्र को ग्रहण किया तो सर्व से सर्व का ग्रहण करना हुआ। प्रस्तुत प्रकरण में देश का अर्थ है—आत्मा का एक देश और एक समय में ग्रहण किये जाने वाले कर्म का एकदेश। अगर आत्मा के एकदेश से कर्म का एकदेश किया तो यह एक-देश से एकदेश की क्रिया की। अगर आत्मा के एकदेश से सर्व कर्म किया, तो यह देश से सर्व की क्रिया हुई। सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एकदेश किया, तो सर्व से देश की क्रिया हुई और सम्पूर्ण आत्मा से समग्र कर्म किया तो सर्व से सर्व की क्रिया हुई। गौतम स्वामी के इस चतुर्भंगीय प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि गौतम! कांक्षामोहनीय कर्म सर्व से सर्वकृत है, अर्थात्—समस्त आत्मप्रदेशों से समस्त कांक्षामोहनीय कर्म किया हुआ है। पूर्वोक्त चौभंगी में से यहाँ चौथा भंग ही ग्रहण किया गया है।

कर्मनिष्पादन की क्रिया त्रिकाल-सम्बन्धित—कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है और क्रिया तीनों कालों से सम्बन्धित होती है, इसलिए त्रिकाल सम्बन्धी क्रिया से कर्म लगते हैं। इसी कारण यहाँ कांक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध में त्रिकालसम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। आयुकर्म के सिवाय जब तक किसी कर्म के बन्ध का कारण नष्ट नहीं हो जाता, तब तक उस कर्म का बन्ध होता रहता है। कांक्षामोहनीयकर्म के विषय में भी यही नियम समझना चाहिए।

'चित' आदि का स्वरूप : प्रस्तुत सन्दर्भ में—पूर्वोपार्जित कर्मों में प्रदेश और अनुभाग की एक बार वृद्धि करना अर्थात्—संक्लेशमय परिणामों से उसे एक बार बढ़ाना चित (चय किया) कहलाता है। जैसे—किसी आदमी ने भोजन किया उसमें उसे सामान्य क्रिया लगी, किन्तु बाद में वह रागभाव से प्रेरित होकर उस भोजन की प्रशंसा करने लगा, यह चय करना हुआ। बार-बार तत्सम्बन्धी चय करना उपचय (उपचित) कहलाता है। किसी-किसी आचार्य के मतानुसार कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करना 'चय' कहलाता है और अबाधाकाल समाप्त होने के पश्चात् गृहीत कर्म-पुद्गलों को वेदन करने के लिए निषेचन (कर्मदलिकों का वर्गीकरण) करना, उदयावलिका में स्थापित करना 'उपचय' कहा जाता है।

'उदीरणा' 'वेदना' और 'निर्जरा' का स्वरूप पहले बताया जा चुका है।

उदीरणा आदि में सिर्फ तीन प्रकार का काल—उदीरणा आदि चिरकाल तक नहीं रहते, अतएव उनमें सामान्यकाल नहीं बताया गया है।

उदयप्राप्त कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन—प्रस्तुत कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन के प्रश्न को पुनः दोहराने का कारण वेदन के हेतुविशेष (विशिष्ट कारणों) को बतलाना है।[1]

शंका आदि पदों की व्याख्या—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने अपने अनन्त-ज्ञानदर्शन में जिन तत्त्वों को जान कर निरूपण किया, उन तत्त्वों पर या उनमें से किसी एक पर शंका करना—'कौन जाने यह यथार्थ है या नहीं?' इस प्रकार का सन्देह करना **शंका** है। एकदेश से या सर्वदेश से अन्यदर्शन को ग्रहण करने की इच्छा करना **कांक्षा** है। तप, जप, ब्रह्मचर्य आदि पालन के फल के विषय में संशय करना **विचिकित्सा** है। बुद्धि में द्वैधीभाव (बुद्धिभेद) उत्पन्न होना **भेदसमापन्नता** है, अथवा

---

१. "पुव्वभणियं पि पच्छा जं भण्णइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहो य अणुन्ना हेउविसेसोवलंभोत्ति॥"

अनध्यवसाय (अनिश्चितता) को भी **भेदसमापन्नता** कहते हैं, या पहले शंका या कांक्षा उत्पन्न होने से बुद्धि में भ्रान्ति (विभ्रम) पैदा हो जाना भी भेदसमापन्नता है। जो वस्तु जिनेन्द्र भगवान् ने जैसी प्रतिपादित की है, उसे उसी रूप में निश्चय न करके विपरीत बुद्धि रखना या विपरीत रूप से समझना **कलुष-समापन्नता** है।

कांक्षामोहनीय कर्म को हटाने का प्रबल कारण—कांक्षामोहनीय कर्म के कृत, चय आदि तथा वेदन के कारणों की स्पष्टता होने के पश्चात् इसी सन्दर्भ में अगले सूत्र में श्री गौतमस्वामी उस कर्म को हटाने का कारण पूछते हैं। छद्मस्थतावश जब कभी किसी तत्त्व या जिनप्ररूपित तथ्य के विषय में शंका आदि उपस्थित हो, तब इसी सूत्र—**'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'** को हृदयंगम कर ले तो व्यक्ति कांक्षामोहनीय कर्म से बच सकता है और जिनाज्ञाराधक हो सकता है।

जिन—'जिन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, वह एक पदवी है, गुणवाचक शब्द है। जिन्होंने प्रकृष्ट साधना के द्वारा अनादिकालीन रागद्वेष, अज्ञान, कषाय आदि समस्त आत्मिक विकारों या मिथ्यावचन के कारणों पर विजय प्राप्त करली हो, वे महापुरुष **'जिन'** कहलाते हैं, भले ही वे किसी भी देश, वेष, जाति, नाम आदि से सम्बन्धित हों। ऐसे वीतराग सर्वज्ञपुरुषों के वचनों में किसी को सन्देह करने का अवकाश नहीं है।[1]

अस्तित्व-नास्तित्व-परिणमन चर्चा

७. [१] से नूणं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति?

हंता, गोयमा! जाव परिणमति।

[७-१ प्र.] भगवन्! क्या अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, तथा नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है?

[७-१ उ.] हाँ, गौतम! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है।

[२] जं तं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तं किं पयोगसा वीससा?

गोयमा! पयोगसा वि तं, वीससा वि तं।

[७-२ प्र.] 'भगवन्! वह जो अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, सो क्या वह प्रयोग (जीव के व्यापार) से परिणत होता है अथवा स्वभाव से (विश्रसा)?'

[७-२ उ.] गौतम! वह प्रयोग से भी परिणत होता है और स्वभाव से भी परिणत होता है।

[३] जहा ते भंते! अत्थित्तं-अत्थित्ते परिणमइ तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ५२ से ५४ तक

हंता, गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति, जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति।

[७-३ प्र.] 'भगवन् ! जैसे आपके मत से अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है ? और जैसे आपके मत से नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है ?'

[७-३ उ.] गौतम ! जैसे मेरे मत से अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है और जिस प्रकार मेरे मत से नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है; उसी प्रकार अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है।

[४] से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ?

जहा परिणमइ दो आलावगा तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा भाणितव्वा जाव तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं।

[७-४ प्र.] 'भगवन् ! क्या अस्तित्व, अस्तित्व में गमनीय है ?'

[७-४ उ.] हे गौतम ! जैसे—'परिणत होता है', इस पद के आलापक कहे हैं; उसी प्रकार यहाँ 'गमनीय' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए; यावत् 'मेरे मत से अस्तित्व, अस्तित्व में गमनीय है।'

[५] जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं तहा ते इहं गमणिज्जं ? जहा ते इहं गमणिज्जं तहा ते एत्थं गमणिज्जं ?

हंता, गोयमा ! जहा मे एत्थं गमणिज्जं जाव तहा मे एत्थं गमणिज्जं।

[७-५ प्र.] 'भगवन् ! जैसे आपके मत में यहाँ (स्वात्मा में) गमनीय है, उसी प्रकार इह (परात्मा में भी) गमनीय है, जैसे आपके मत में इह (परात्मा में) गमनीय है, उसी प्रकार यहाँ (स्वात्मा में) भी गमनीय है ?'

[७-५ उ.] हाँ, गौतम ! जैसे मेरे मत में यहाँ (स्वात्मा में) गमनीय है, यावत् (परात्मा में भी गमनीय है, और जैसे परात्मा में गमनीय है) उसी प्रकार यहाँ (स्वात्मा में) गमनीय है।

विवेचन— अस्तित्व-नास्तित्व की परिणति और गमनीयता आदि का विचार—प्रस्तुत ७वें सूत्र में विविध पहलुओं-अस्तित्व-नास्तित्व की परिणति एवं गमनीयता आदि के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

अस्तित्व की अस्तित्व में और नास्तित्व की नास्तित्व में परिणति : व्याख्या—अस्तित्व का अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूप में विद्यमान है, उसका उसी रूप में रहना। 'अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है,' इस सूत्र के दो आशय वृत्तिकार ने बताए हैं—(१) **प्रथम आशय**—द्रव्य एक पर्याय से दूसरे पर्याय के रूप में परिणत होता है, तथापि पर्यायरूप द्रव्य को सद्रूप मानना। जैसे—अंगुली की ऋजुतापर्याय वक्रतापर्यायरूप में परिणत हो जाती है, तथापि ऋजुता आदि पर्यायों से अंगुलिरूप द्रव्य का अस्तित्व अभिन्न है; पृथक् नहीं। तात्पर्य यह है कि अंगुली आदि का अंगुली आदि के रूप में जो सत्त्व (अस्तित्व) है, वह उसी रूप में—अंगुली आदि का अंगुली आदि रूप में—सत्त्वरूप में—वक्रतादि पर्यायरूप में परिणमन होता है, अंगुली में अंगुलित्व कायम रहता है; केवल

उसके वक्र, ऋजु आदि रूपान्तर होते हैं। निष्कर्ष यह है—किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी भी प्रकार से हो, वही सत्ता दूसरे प्रकार से—पूर्वापेक्षा भिन्न प्रकार से हो जाती है। जैसे—मिट्टी रूप पदार्थ की सत्ता सर्वप्रथम एक पिण्डरूप में होती है, वही सत्ता घटरूप में हो जाती है। (२) **द्वितीय आशय**—जो अस्तित्व अर्थात्—सत् (विद्यमान-सत्तावाला) पदार्थ है, वह सत्रूप (अस्तित्वरूप) में परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि सत् पदार्थ सदैव सद्रूप ही रहता है विनष्ट नहीं होता—कदापि असत् (शून्यरूप) में परिणत नहीं होता। जिसे विनाश कहा जाता है, वह मात्र रूपान्तर—पर्याय परिवर्तन है, 'असत् होना, या समूल नाश होना नहीं। जैसे—एक दीपक प्रकाशमान है, किन्तु तेल जल जाने या हवा का झौंका लगने से वह बुझ जाता है। आप कहेंगे कि दीपक का नाश हो गया, किन्तु वास्तव में वह प्रकाश अपने मूलरूप में नष्ट नहीं हुआ, केवल पर्याय-परिवर्तन हुआ है। प्रकाश-रूप पुद्गल अब अपनी पर्याय पलट कर अन्धकार के रूप में परिणत हो गया है। प्रकाशावस्था और अन्धकारावस्था, इन दोनों अवस्थाओं में दीपकरूप द्रव्य वही है। इसी का नाम है—सत् का सद्रूप में ही रहना; क्योंकि सत् धर्मीरूप है और सत्त्व धर्मरूप है, इन दोनों में अभेद है, तभी सत् पदार्थ सत् रूप में परिणत होता है।

वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की विद्यमानता—केवल अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न करने से सभी वस्तुएँ एक रूप हो जातीं, इसलिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी किया गया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व अवश्य है। इस सत्य को प्रकट करने के लिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी आवश्यक था। कोई कह सकता है कि एक ही पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व, ये दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म कैसे रह सकते हैं? परन्तु जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म विभिन्न अपेक्षा से विद्यमान हैं, बल्कि अपेक्षाभेद के कारण इन दोनों में विरोध नहीं रहकर, साहचर्य सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों एक पदार्थ में माने जाएँ तो विरोध आता है, किन्तु पृथक्-पृथक् अपेक्षाओं से दोनों को एक पदार्थ में मानना विरुद्ध नहीं है। जैसे—वस्त्र में अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है किन्तु पररूप की अपेक्षा से नास्तित्व है। ऐसा न मानने पर प्रतिनियत विभिन्न पदार्थों की व्यवस्था एवं स्वानुभवसिद्ध पृथक्-पृथक् व्यवहार नहीं हो सकेगा। अतः वस्तु केवल सत्तामय नहीं किन्तु सत्ता और असत्तामय है। यही मानना उचित है।

नास्तित्व की नास्तित्व-रूप में परिणति : व्याख्या—इस सूत्र की एक व्याख्या यह है कि जिस वस्तु में जिसकी जिस रूप में नास्ति है, उसकी उसी रूप में नास्ति रहती है। जैसे—अंगुली का अंगूठा आदि के रूप में न होना, अंगुली का (अंगुली की अपेक्षा से) अंगूठा आदि रूप में नास्तित्व है। वह अंगुष्ठादिरूप में नास्तित्व अंगुली के लिए अंगूठा आदि के नास्तित्व में परिणत होता है। सीधे शब्दों में यों कहा जा सकता है—जो अंगुली अंगुष्ठादिरूप नहीं है, वह अंगुष्ठादि नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंगूठे की अंगूठे के रूप में नास्ति है। जो है, वही है, अन्यरूप नहीं है। नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है, इसके उदाहरण भी वे ही समझने चाहिए क्योंकि स्वरूप से अस्तित्व ही परस्वरूप से नास्तित्व कहलाता है।

इस सूत्र की दूसरी व्याख्या इस प्रकार भी है—नास्तित्व का अर्थ—अत्यन्त अभावरूप है। अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व के उदाहरण—गधे के सींग या आकाशपुष्प आदि हैं। अतः जो अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व है, वह (गर्दभ शृंगादि) अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व में ही रहता है, क्योंकि जो वस्तु सर्वथा असत् होती है, उसका कदापि अस्तित्व (सत्‌रूपता) हो नहीं सकता। कहा भी है—'असत् सद्‌रूप नहीं होता और सत् असत्‌रूप नहीं होता।'

तीसरी व्याख्या इस प्रकार भी है—धर्मी के साथ धर्म का अभेद होता है, इसलिए अस्तित्व यानी सत् (जो सत् होता है, वह) सत्त्वरूप धर्म में होता है। जैसे--पट पटत्व में ही है। तथा नास्तित्व यानि असत् (जो असत् है, वह) असत्त्वरूप धर्म में ही होता है। जैसे अपट अपटत्व में ही है।

पदार्थों के परिणमन के प्रकार—**अस्तित्व का अस्तित्वरूप में परिणमन** दो प्रकार से होता है—प्रयोग से (जीव के व्यापार से) और स्वभाव से (विश्रसा)। **प्रयोग से** यथा—कुम्भार की क्रिया से मिट्टी के पिंड का घटरूप में परिणमन। **स्वभाव से** यथा—सफेद बादल काले बादलों के रूप में किसी की क्रिया के बिना, स्वभावतः परिणत होते हैं। **नास्तित्व का नास्तित्वरूप में परिणमन** भी दो प्रकार से होता है—प्रयोग से और स्वभाव से। प्रयोग से यथा—घटादि की अपेक्षा से मिट्टी का पिण्ड नास्तित्व रूप है। स्वभाव से—यथा—पृच्छाकाल में सफेद बालों में कृष्णत्व का नास्तित्व।

गमनीयरूप प्रश्न का आशय—गमनीय का अर्थ है—प्ररूपणा करने योग्य। गमनीयरूप प्रश्न का आशय यह है कि पहले जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल समझने के लिए है या प्ररूपणा करने योग्य भी है?

'एत्थं' और 'इहं' प्रश्नसम्बन्धी सूत्र का तात्पर्य—'एत्थं' और 'इहं' सम्बन्धी प्रश्नात्मकसूत्र की तीन व्याख्याएँ वृत्तिकार ने की हैं—(१) 'एत्थं' का अर्थ यहाँ अर्थात्—स्वशिष्य और 'इहं' का अर्थ—गृहस्थ या परपाषण्डी आदि। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वस्तु की प्ररूपणा आप अपने और पराये का भेद न रखकर स्व-परजनों के लिए समभाव से करते हैं?, (२) अथवा 'एत्थं' का अर्थ है—स्वात्मा और 'इहं' का अर्थ है—परात्मा। इसका आशय यह है कि आपको अपने (स्वात्मा) में जैसे सुखप्रियता आदि धर्म गमनीय हैं, वैसे ही क्या परात्मा में भी गमनीय—अभीष्ट हैं?, (३) अथवा 'एत्थं' और 'इहं' दोनों समानार्थक शब्द हैं। दोनों का अर्थ है—प्रत्यक्षगम्य, प्रत्यक्षाधिकरणता। इसका आशय यह है—जैसे आपको अपनी सेवा में रहे हुए ये श्रमणादि प्रत्यक्षगम्य हैं, वैसे ही क्या गृहस्थ आदि भी प्रत्यक्षगम्य हैं?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने दिया, उसका आशय यह है कि चाहे स्वशिष्य हो या गृहस्थादि, प्ररूपणा सबके लिए समान होती है—होनी चाहिए।[1]

कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारणों की परम्परा—

८. जीवा णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति?

हंता, बंधंति।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्रांक ५५-५६

(ख) भगवतीसूत्र (टीका-अनुवाद पं. बेचरदासजी) खण्ड १, पृ. ११८ से १२० तक

[८ प्र.] भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते हैं ?

[८. उ.] हाँ, गौतम ! बांधते हैं।

९. [१] कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

गोयमा ! पमादपच्चया जोगनिमित्तं च ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बांधते हैं ?

[९-१ उ.] गौतम ! प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से (जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते हैं)।

[२] से णं भंते ! पमादे किंपवहे ?

गोयमा ! जोगप्पवहे !

[९-२ प्र.] 'भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-२ उ.] गौतम ! प्रमाद, योग से उत्पन्न होता है।

[३] से णं भंते ! जोगे किंपवहे ?

गोयमा ! वीरियप्पवहे ।

[९-३ प्र.] 'भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-३ उ.] गौतम ! योग, वीर्य से उत्पन्न होता है।

[४] से णं भंते वीरिए किंपवहे ?

गोयमा ! सरीरप्पवहे ।

[९-४ प्र.] 'भगवन् ! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-४ उ.] गौतम ! वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

[५] से णं भंते ! सरीरे किंपवहे ?

गोयमा ! जीवप्पवहे । एवं सति अत्थि उट्ठाणे ति वा, कम्मे ति वा, बले ति वा, वीरिए ति वा, पुरिसक्कार-परक्कमे ति वा ।

[९-५ प्र.] 'भगवन् ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-५ उ.] गौतम ! शरीर जीव से उत्पन्न होता है। और ऐसा होने में जीव का उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम होता है।

विवेचन—कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारणों की परम्परा—प्रस्तुत दो सूत्रों में कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध और उसके कारणों की परम्परा के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

बन्ध के कारण पूछने का आशय—यदि बिना निमित्त के ही कर्मबन्ध होने लगे तो सिद्धजीवों को भी कर्मबन्ध होने लगेगा, परन्तु होता नहीं है। इसलिए कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है।

कर्मबन्ध के कारण—यद्यपि कर्मबन्ध के ५ मुख्य कारण बताए गए हैं, तथापि यहाँ प्रमाद और योग दो कारण बताने का आशय यह है कि मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का अन्तर्भाव प्रमाद में हो जाता है। यद्यपि सिद्धान्तानुसार छठे से आगे के गुणस्थानों में प्रमाद नहीं होता, फिर भी जहाँ (दसवें गुणस्थान) तक कषाय है, वहाँ तक सूक्ष्म प्रमाद माना जाता है, स्थूल प्रमाद नहीं। इसलिए वहाँ तक प्रायः मोहनीयकर्म का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में कषाय अत्यल्प (सूक्ष्म) होने से मोहकर्म का बन्ध नहीं होता है। यों प्रमाद के शास्त्रोक्त आठ भेदों में इन तीनों के अतिरिक्त और भी कई विकार प्रमाद के अन्तर्गत हैं।[1]

शरीर का कर्ता कौन ?—प्रस्तुत में शरीर का कर्ता जीव को बताया गया है, किन्तु जीव का अर्थ यहाँ नामकर्मयुक्त जीव समझना चाहिए। इससे सिद्ध, ईश्वर या नियति आदि के कर्तृत्व का निराकरण हो जाता है।

उत्थान आदि का स्वरूप—ऊर्ध्व होना, खड़ा होना या उठना उत्थान है। जीव की चेष्टा-विशेष को कर्म कहते हैं। शारीरिक प्राण बल कहलाता है। जीव के उत्साह को वीर्य कहते हैं। पुरुष को स्वाभिमानपूर्वक इष्टफलसाधक क्रिया पुरुषकार है और शत्रु को पराजित करना पराक्रम है।

शरीर से वीर्य की उत्पत्ति : एक समाधान—वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से वीर्य उत्पन्न होता है, और सिद्ध भगवान् इस कर्म का क्षय कर चुके हैं। किन्तु प्रस्तुत में बताया गया है कि वीर्य की उत्पत्ति शरीर से होती है, ऐसी स्थिति में सिद्ध या अलेश्यी भगवान् वीर्यरहित सिद्ध होते हैं, क्योंकि सिद्धों के शरीर नहीं होता। इस शंका का समाधान यह है कि वीर्य दो प्रकार के होते हैं—सकरणवीर्य और अकरणवीर्य। सिद्धों में या अलेश्यी भगवान् में अकरणवीर्य है, जो आत्मा का परिणामविशेष है, उसका शरीरोत्पन्न वीर्य (सकरणवीर्य) में समावेश नहीं है। अतः यहाँ सकरणवीर्य से तात्पर्य है।

कांक्षामोहनीय को उदीरणा, गर्हा आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१०. [१] से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?

हंता, गोयमा ! अप्पणा चेव तं चेव उच्चारेयव्वं ३।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव अपने आपसे ही उस (कांक्षामोहनीय कर्म) को उदीरणा करता है, अपने आप से ही उसकी गर्हा करता है और अपने आप से ही उसका संवर करता है ?

[१०-१ उ.] हाँ, गौतम ! जीव अपने आप से ही उसकी उदीरणा, गर्हा और संवर करता है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ५६-५७

(ख) पमाओ य मुणिंदेहिं भणिओ अट्ठभेयओ।
अण्णाणं संसओ चेव मिच्छानाणं तहेव य॥
रागदोसो मइब्भंसो, धम्मंमि य अणायरो।
जोगाणं दुप्पणिहाणं अट्ठहा वज्जियव्वओ॥—भगवती अ. वृत्ति पत्रांक ५७ में उद्धृत।

(ग) 'मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगाः बन्धहेतवः'—तत्त्वार्थ. अ. ८ सूत्र १

[२] जं तं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहेइ, अप्पणा चेव संवरेइ तं उदिण्णं उदीरेइ १ अणुदिण्णं उदीरेइ २ अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ३ उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ४ ?

गोयमा ! नो उदिण्णं उदीरेइ १, नो अणुदिण्णं उदीरेइ २, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ३, णो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ४ ।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! वह जो अपने आप से ही उसकी उदीरणा करता है, गर्हा करता है और संवर करता है, तो क्या उदीर्ण (उदय में आए हुए) की उदीरणा करता है ?; अनुदीर्ण (उदय में नहीं आए हुए) की उदीरणा करता है ?; या अनुदीर्ण उदीरणाभविक (उदय में नहीं आये हुए, किन्तु उदीरणा के योग्य) कर्म की उदीरणा करता है ? अथवा उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है ?

[१०-२ उ.] गौतम ! उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण की भी उदीरणा नहीं करता, तथा उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की भी उदीरणा नहीं करता, किन्तु अनुदीर्ण-उदीरणा-भविक (योग्य) कर्म की उदीरणा करता है ।

[३] जं तं भंते ! अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ?

गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ । एवं सति अत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ।

[१०-३ प्र.] भगवन् ! यदि जीव अनुदीर्ण-उदीरणाभविक की उदीरणा करता है, तो क्या उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है, अथवा अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है ?

[१०-३ उ.] गौतम ! वह अनुदीर्ण-उदीरणा-भविक कर्म की उदीरणा उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से करता है, (किन्तु) अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा नहीं करता । अतएव उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है और पुरुषकार पराक्रम है ।

११. [१] से नूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?

हंता, गोयमा ! एत्थ वि तं चेव भाणियव्वं, नवरं अणुदिण्णं उवसामेइ, सेसा पडिसेहेयव्वा तिण्णि ।

[११-१ प्र.] भगवन् ! क्या वह अपने आप से ही (कांक्षा-मोहनीय कर्म का) उपशम करता है, अपने आप से ही गर्हा करता है और अपने आप से ही संवर करता है ?

[११-१ उ.] हाँ, गौतम ! यहाँ भी उसी प्रकार 'पूर्ववत्' कहना चाहिए। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण (उदय में नहीं आए हुए) का उपशम करता है, शेष तीनों विकल्पों का निषेध करना चाहिए।

[२] जं तं भंते ! अणुदिण्णं उवसामेइ तं किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण वा।

[११-२ प्र.] भगवन् ! जीव यदि अनुदीर्ण कर्म का उपशम करता है, तो क्या उत्थान से यावत् पुरुषकार-पराक्रम से करता है या अनुत्थान से यावत् अपुरुषकार-पराक्रम से करता है ?'

[११-२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना—यावत् पुरुषकार-पराक्रम से उपशम करता है।

१२. से नूणं भंते ! अप्पणा चेव वेदेइ अप्पणा चेव गरहइ ?

एत्थ वि स च्चेव परिवाडी। नवरं उदिण्णं वेएइ, नो अणुदिण्णं वेएइ। एवं जाव पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा।

[१२-प्र.] भगवन् क्या जीव अपने आप से ही वेदन करता है और गर्हा करता है ?

[१२-उ.] गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त परिपाटी पूर्ववत् समझनी चाहिए। विशेषता यह है कि उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नहीं वेदता। इसी प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम से वेदता है, अनुत्थानादि से नहीं वेदता है।

१३. से नूणं भंते ! अप्पणा चेव निज्जरेति अप्पणा चेव गरहइ ?

एत्थ वि स च्चेव परिवाडी। नवरं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेइ, एवं जाव परक्कमेइ वा।

[१३-प्र.] 'भगवन् ! क्या जीव अपने आप से ही निर्जरा करता है और गर्हा करता है ?'

[१३-उ.] गौतम ! यहाँ भी समस्त परिपाटी 'पूर्ववत्' समझनी चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की निर्जरा करता है। इसी प्रकार यावत् पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा और गर्हा करता है। इसलिए उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम हैं।

विवेचन—कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा, संवर, उपशम, वेदन, निर्जरा आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत चार सूत्रों में कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा आदि के सम्बन्ध में तीन मुख्य प्रश्नोत्तर हैं—(१) उदीरणादि अपने आप से करता है, (२) उदीर्ण, अनुदीर्ण, अनुदीर्ण-उदीरणाभविक और उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म में से अनुदीर्ण-उदीरणाभविक की अर्थात्—जो उदय में नहीं आया है किन्तु उदीरणा के योग्य है उसकी उदीरणा करता है, (३) उत्थानादि पाँचों से कर्मोदीरणा करता है, अनुत्थानादि से नहीं। इसी के सन्दर्भ में उपशम, संवर, वेदन, गर्हा एवं निर्जरा के विषय में पूर्ववत् तीन-तीन मुख्य प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

उदीरणा : कुछ शंका-समाधान—(१) जीव काल आदि अन्य की सहायता से उदीरणा आदि करता है, फिर भी जीव को ही यहाँ कर्ता के रूप में क्यों बताया गया है ? इसका समाधान यह है कि जैसे घड़ा बनाने में कुम्हार के अतिरिक्त गधा, दण्ड, चक्र, चीवर, काल आदि सहायक होते हुए भी कुम्हार को ही प्रधान एवं स्वतंत्र कारण होने के नाते घड़े का कर्ता माना जाता है,

वैसे ही कर्म की उदीरणा आदि का प्रधान एवं स्वतंत्र कर्ता जीव को ही समझना चाहिए। (२) उदीरणा के साथ गर्हा और संवरणा (संवर) को रखने का कारण यह है कि ये दोनों उदीरणा के साधन हैं। (३) कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव, नियति, गुरु आदि भी कारण हैं, फिर भी जीव के उत्थान आदि पुरुपार्थ की प्रधानता होने से उदीरणा आदि में आत्मा के पुरुपार्थ को कारण बताया गया है।

गर्हा आदि का स्वरूप—अतीतकाल में जो पापकर्म किया, उनके कारणों को ग्रहण (कर्मबन्ध के कारणों का विचार) करके आत्मनिन्दा करना **गर्हा** है। इससे पापकर्म के प्रति विरक्ति-भाव जागृत होता है। गर्हा प्रायश्चित्त की पूर्वभूमिका है, और उदीरणा में सहायक है। वर्तमान में किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को जानकर या उसके कारण को समझकर उस कर्म को रोकना या उसका त्याग-प्रत्याख्यान कर देना **संवर** है। उदीर्ण (उदय में आए हुए) कर्म का क्षय होता है और जो उदय में नहीं आए हैं, उनके विपाक और प्रदेश का अनुभव न होना—कर्म की ऐसी अवस्था को **उपशम** कहते हैं। शास्त्रानुसार उपशम अनुदीर्ण कर्मों का—विशेषत: मोहनीय कर्म का ही होता है, अन्य कर्मों का नहीं।

वेदना और गर्हा—वेदन का अर्थ है—उदय में आए हुए कर्म-फल को भोगना। दूसरे की वेदना दूसरे को नहीं होती, न ही दूसरा दूसरे की वेदना को भोग सकता है। पुत्र की वेदना से माता दु:खी होती है, परन्तु पुत्र को पुत्र की वेदना होती है, माता को अपनी वेदना—मोहममत्व सम्बन्ध के कारण पीड़ा—होती है। और यह भी सत्य है, अपनी वेदना को स्वयं व्यक्ति से, समभाव से या गर्हा से भोगकर मिटा सकता है, दूसरा नहीं। वेदना और गर्हा दोनों पदों को साथ रखने का कारण यह है कि सकाम वेदना और सकाम निर्जरा विना गर्हा के नहीं होती। अत: सकाम वेदना और सकाम निर्जरा का कारण गर्हा है, वैसे संवर भी है।

कर्मसम्बन्धी चतुर्भंगी—मूल में जो चार भंग कहे हैं, उनमें से तीसरे भंग में उदीरणा, दूसरे भंग में उपशम, पहले भंग में वेदन और चौथे भंग में निर्जरा होती है। शेष सब बातें सब में समान हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि उदय में न आए हुए, किन्तु उदीरणा के योग्य कर्मों की उदीरणा होती है, अनुदीर्ण कर्मों का उपशम होता है, उदीर्ण कर्म का वेदन होता है, और उदयानन्तर पश्चात्कृत (उदय के बाद हटे हुए) कर्म की निर्जरा होती है।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ५८-५९

(ख) "अणूमेत्तो वि, ण कस्सइ बंधो, परवत्थुपच्चयो भणिओ।"

(ग) "मोहस्सेवोपसमो खओवसमो चउण्ह घाईणं।
उदयक्खयपरिणामा अठण्ह वि होंति कम्माणं॥"

(घ) "तइएण उदीरेंति, उवसामेंति य पुणो वि वीएणं।
वेइंति निज्जरंति य पढमचउत्थेहिं सव्वेऽवि॥"

चौवीस दण्डकों तथा श्रमणों के कांक्षामोहनीयवेदन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

१४. [१] नेरइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया जाव थणितकुमारा।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

[१४-१ उ.] हाँ, गौतम ? वेदन करते हैं। सामान्य (औघिक) जीवों के सम्बन्ध में जैसे आलापक कहे थे, वैसे ही नैरयिकों के सम्बन्ध में यावत् स्तनितकुमारों (दसवें भवनपति देवों) तक समझ लेने चाहिए।

[२] पुढविक्काइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, वेदेंति।

[१४-२ प्र.] भगवन् ? क्या पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

[१४-२ उ.] हाँ, गौतम ! वे वेदन करते हैं।

[३] कहं णं भंते ! पुढविक्काइया कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो एवं तक्का इ वा सण्णा इ वा पण्णा इ वा मणे इ वा वई ति वा 'अम्हे णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेमो' वेदेंति पुण ते।

[१४-३ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव किस प्रकार कांक्षामोहनीयकर्म का वेदन करते हैं ?

[१४-३ उ.] गौतम ! उन जीवों को ऐसा तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन नहीं होता कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं'; किन्तु वे उसका वेदन अवश्य करते हैं।

[४] से णूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेदियं।

सेसं तं चेव जाव पुरिसक्कार-परक्कमेणं ति वा।

[१४-४ प्र.] भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन-भगवन्तों द्वारा प्ररूपित है ?

[१४-४ उ.] हाँ, गौतम ! यह सब पहले के समान जानना चाहिए—अर्थात्—जिनेन्द्रों द्वारा जो प्ररूपित है, वही सत्य और निःशंक (असंदिग्ध) है, यावत्—पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा होती है।

[५] एवं जाव चउरिंदिया।

[१४-५] इसी प्रकार चतुरिन्द्रियजीवों तक जानना चाहिए।

[६] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जाव वेमाणिया जहा ओहिया जीवा।

[१४-६] जैसे सामान्य जीवों के विषय में कहा है, वैसे ही पंचेन्द्रिय–तिर्यञ्चयोनिक जीवों से लेकर यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

१५. [१] अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, अत्थि।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! क्या श्रमणनिर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

[१५-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे भी वेदन करते हैं ।

[२] कहं णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिगंतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं मतंतरेहिं भंगंतरेहिं नयंतरेहिं नियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया वितिकिछिता भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना, एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! श्रमणनिर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन किस प्रकार करते हैं ?

[१५-२ उ.] गौतम ! उन-उन कारणों से ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तरों के द्वारा शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर श्रमणनिर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ।

[३] से नूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ?

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं नीसंकं जाव पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ० ।

।। तइओ उद्देसओ सम्मत्तो १-३ ।।

[१५-३ प्र.] भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन भगवन्तों ने प्ररूपित किया है ?

[१५-३ उ.] हाँ, गौतम ! वही सत्य है, निःशंक है, जो जिन भगवन्तों द्वारा प्ररूपित है, यावत् पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा होती है; (तक सारे आलापक समझ लेने चाहिए ।)

गौतम—हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यही सत्य है !

विवेचन—चौवीस दण्डकों तथा श्रमणनिर्ग्रन्थों में कांक्षामोहनीय कर्मवेदन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर— प्रस्तुत दो सूत्र में से प्रथम सूत्र में चौवीस दण्डक के जीवों के ६ अवान्तर प्रश्नोत्तरों द्वारा तथा श्रमणनिर्ग्रन्थों के कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए हैं ।

पृथ्वीकाय कर्मवेदन कैसे करते हैं ?—जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त नहीं, जो भले-बुरे को पहिचान नहीं कर पाते वे पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे करते हैं ? इस आशय से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछा गया है ।

तर्क आदि का स्वरूप—'यह इस प्रकार होगा', इस प्रकार के विचार-विमर्श या ऊहापोह को तर्क कहते हैं । **संज्ञा** का अर्थ है—अर्थावग्रहरूप ज्ञान । **प्रज्ञा** का अर्थ है—नई-नई स्फुरणा वाला विशिष्ट ज्ञान या बुद्धि । स्मरणादिरूप मतिज्ञान के भेद को **मन** कहते हैं । अपने अभिप्राय को शब्दों द्वारा व्यक्त करना **वचन** कहलाता है ।

शेष दण्डकों में कांक्षामोहनीय कर्मवेदन—पृथ्वीकाय की तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक ऐसा ही वर्णन जानना चाहिए। तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय से वैमानिक तक समुच्चयजीव के वर्णन की तरह समझना चाहिए।

श्रमण-निर्ग्रन्थ को भी कांक्षामोहनीयकर्म-वेदन—श्रमणनिर्ग्रन्थों की बुद्धि आगमों के परिशीलन से शुद्ध हो जाती है, फिर उन्हें कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे हो सकता है ? इस आशय से गौतम स्वामी का प्रश्न है।

ज्ञानान्तर—एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान। यथा पांच ज्ञान क्यों कहे गये ? अवधि और मनःपर्याय ये दो ज्ञान पृथक् क्यों ? दोनों रूपी पदार्थों को जानते हैं, दोनों विकल एवं अतीन्द्रिय हैं, क्षायोपशमिक हैं। फिर भेद का क्या कारण है ? इस प्रकार का संदेह होना। यद्यपि विषय, क्षेत्र, स्वामी आदि अनेक अपेक्षाओं से दोनों ज्ञानों में अन्तर है, उसे न समझ कर शंका करने से और शंका-निवारण न होने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आदि आती है।

दर्शनान्तर—सामान्य वोध, दर्शन है। यह इन्द्रिय और मन से होता है। फिर चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, इस प्रकार से दो भेद न करके या तो इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन, यों दो भेद करने थे, या इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य, यों दो भेद करने थे, अथवा श्रोत्रदर्शन, रसनादर्शन, मनोदर्शन आदि ६ भेद करने चाहिए थे। किन्तु चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, ये दो भेद करने के दो मुख्य कारण हैं—(१) चक्षुदर्शन विशेष रूप से कथन करने के लिए और अचक्षुदर्शन सामान्य रूप से कथन के लिए है। (२) चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है, शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। मन अप्राप्यकारी होते हुए भी सभी इन्द्रियों के साथ रहता है। इस प्रकार का समाधान न होने से शंकादि दोषों से ग्रस्त हो जाता है।

अथवा 'दर्शन' का अर्थ सम्यक्त्व है। उसके विषय में शंका पैदा होना। जैसे—औपशमिक और क्षायोपशमिक दोनों सम्यक्त्वों का लक्षण लगभग एक-सा है, फिर दोनों को पृथक्-पृथक वताने का क्या कारण है ? ऐसी शंका का समाधान न होने पर कांक्षामोहनीयकर्म का वेदन करते हैं। इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशानुभव की अपेक्षा उदय होता है, जबकि औपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशानुभव ही नहीं होता। इस कारण दोनों को पृथक-पृथक कहा गया है।

चारित्रान्तर—चारित्र विषयक शंका होना। जैसे—सामायिक चारित्र सर्वसावद्यविरति रूप है और महाव्रतरूप होने से छेदोपस्थापनिक चारित्र भी अवद्यविरति रूप है, फिर दोनों पृथक्-पृथक् क्यों कहे गए हैं ? इस प्रकार की चारित्रविषयक शंका भी कांक्षामोहनीय कर्मवेदन का कारण वनती है। समाधान यह है कि चारित्र के ये दो प्रकार न किये जाएं तो केवल सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाले साधु के मन में जरा-सी भूल करते ही ग्लानि पैदा होती कि मैं चारित्रभ्रष्ट हो गया! क्योंकि उसकी दृष्टि से केवल सामायिक ही चारित्ररूप है। इसलिए प्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण करने के वाद दूसरी वार महाव्रतारोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण करने पर सामायिक सम्वन्धी थोड़ी भूल हो जाए तो भी उसके महाव्रत खण्डित नहीं होते। इसीलिए दोनों चारित्रों के ग्रहण करने का विधान प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के क्रमशः ऋजुजड़ और वक्रजड़ साधुओं के लिए अनिवार्य वताया गया है।

लिंगान्तर—लिंग=वेष के विषय में शंका उत्पन्न होना कि वीच के २२ तीर्थंकरों के साधुओं के लिए तो वस्त्र के रंग और परिमाण का कोई नियम नहीं है, फिर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए श्वेत एवं प्रमाणोपेत वस्त्र रखने का नियम क्यों? इस प्रकार की वेश (लिंग) सम्बन्धी शंका से कांक्षामोहकर्म वेदन होता है।

प्रवचनान्तर—प्रवचनविषयक शंका, जैसे—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों ने पांच महाव्रतों का और वीच के २२ तीर्थंकरों ने चार महाव्रतों का प्रतिपादन किया, तीर्थंकरों में यह प्रवचन (वचन) भेद क्यों? इस प्रकार की शंका होना भी कांक्षामोहकर्मवेदन का कारण है।

प्रावचनिकान्तर—प्रावचनिक का अर्थ है—प्रवचनों का ज्ञाता या अध्येता; वहुश्रुत साधक। दो प्रावचनिकों के आचरण में भेद देखकर शंका उत्पन्न होना भी कांक्षामोहवेदन का कारण है।

कल्पान्तर—जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि कल्पों के मुनियों का आचार-भेद देखकर शंका करना कि यदि जिनकल्प कर्मक्षय का कारण हो तो स्थविरकल्प का उपदेश क्यों? यह भी कांक्षामोहवेदन का कारण है।

मार्गान्तर—मार्ग का अर्थ है—परम्परागत समाचारी पद्धति। भिन्न समाचारी देखकर शंका करना कि यह ठीक है या वह? ऐसी शंका भी कांक्षा मोह वेदन का कारण है।

मतान्तर—भिन्न-भिन्न आचार्यों के विभिन्न मतों को देखकर शंका करना।

भंगान्तर—द्रव्यादि संयोग से होने वाले भंगों को देखकर शंका उत्पन्न होना।

नयान्तर—एक ही वस्तु में विभिन्न नयों की अपेक्षा से दो विरुद्ध धर्मों का कथन देखकर शंका होना।

नियमान्तर—साधुजीवन में सर्वसावद्य का प्रत्याख्यान होता ही है, फिर विभिन्न नियम क्यों; इस प्रकार शंकाग्रस्त होना।

प्रमाणान्तर—आगमप्रमाण के विषय में शंका होना। जैसे—सूर्य पृथ्वी में से निकलता दीखता है परन्तु आगम में कहा है कि पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर संचार करता है, आदि।[1]

॥ प्रथम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक ६० से ६२ तक

चउत्थो उद्देसओ : पगई

चतुर्थ उद्देशक : (कर्म-) प्रकृति

१. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोतमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । कम्मपगडीए पढमो उद्देसो नेतव्वो जाव अणुभागो सम्मत्तो ।

गाहा— कति पगडी ?१ कह बंधइ ?२ कतिहि व ठाणेहि बंधती पगडी ? ३ ।
कति वेदेति व पगडी ?४ अणुभागो कतिविहो कस्स ? ५ ।। १ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! कर्म-प्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही गई हैं । यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र के) 'कर्मप्रकृति' नामक तेईसवें पद का प्रथम उद्देशक (यावत्) अनुभाग तक सम्पूर्ण जान लेना चाहिए ।

गाथार्थ—कितनी कर्मप्रकृतियाँ हैं ? जीव किस प्रकार कर्म बांधता है ? कितने स्थानों से कर्मप्रकृतियों को बांधता है ? कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है ? किस प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग (रस) है ?

विवेचन—कर्मप्रकृतियों से सम्बन्धित निर्देश—प्रस्तुत सूत्र में प्रज्ञापनासूत्र का संदर्भ देकर कर्मप्रकृति सम्बन्धी समस्त तत्त्वज्ञान का निर्देश कर दिया है ।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध—निम्नोक्त शंकाओं के परिप्रेक्ष्य में कर्मसम्बन्धी प्रश्न श्री गौतम स्वामी ने उठाए हैं—(१) कर्म आत्मा को किस प्रकार लगते हैं ? क्योंकि जड़ कर्मों को कुछ ज्ञान नहीं होता, वे स्वयं आत्मा को लग नहीं सकते, (२) कर्म रूपी हैं, आत्मा अरूपी । अरूपी के साथ रूपी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

यद्यपि प्रत्येक बंधने वाले कर्म की आदि है, किन्तु प्रवाहरूप में कर्मबन्ध अनादिकालीन है । अतः यह कहा जा सकता है कि अनादिकाल से कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं । कर्म भले जड़ हैं किन्तु जीव के रागादि विभावों के कारण उनका आत्मा के साथ बंध होता है । उन कर्मों के संयोग से आत्मा अनादिकाल से ही, स्वभाव से अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्त्तिक हो रहा है । वास्तव में, संसारी आत्मा रूपी है उसी को कर्म लगते हैं । इसलिए आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अरूपी और रूपी का सम्बन्ध नहीं है. वरन् रूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध है । इस दृष्टि से संसारी आत्मा कर्मों का कर्ता है, उसके किये विना कर्म नहीं लगते । यद्यपि कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नहीं है और न अनन्तकाल तक आत्मा के साथ रह सकता है । ८ मूल कर्मप्रकृतियों का बंध प्रवाहतः अनादिकाल से होता आ रहा है । राग-द्वेष दो स्थानों से कर्म-बन्ध होने के साथ-साथ वेदन आदि भी होता है; अनुभागबन्ध भी । यह सब विवरण प्रज्ञापनासूत्र से जान लेना चाहिए ।[1]

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ६३

उदीर्ण-उपशान्तमोह जीव के सम्बन्ध में उपस्थान-उपक्रमणादि प्ररूपणा—

२. [१] जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं उवट्ठाएज्जा ?

हंता, उवट्ठाएज्जा।

[२-१ प्र.] भगवन् ! (पूर्व-) कृत मोहनीय कर्म जब उदीर्ण (उदय में आया) हो, तब जीव उपस्थान-परलोक की क्रिया के लिए उद्यम करता है ?

[२-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह उपस्थान करता है।

[२] से भंते ! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोतमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

[२-२ प्र.] भगवन् ! क्या जीव वीर्यता—सवीर्य होकर उपस्थान करता है या अवीर्यता से ?

[२-२ उ.] गौतम ! जीव वीर्यता से उपस्थान करता है, अवीर्यता से नहीं करता।

[३] जदि वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? बाल-पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो बाल-पंडित-वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

[२-३ प्र.] भगवन् ! यदि जीव वीर्यता से उपस्थान करता है, तो क्या बालवीर्य से करता है, अथवा पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से करता है ?

[२-३ उ.] गौतम ! वह बालवीर्य से उपस्थान करता है, किन्तु पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से उपस्थान नहीं करता।

३. [१] जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा ?

हंता, अवक्कमेज्जा।

[३-१ प्र.] भगवन् ! (पूर्व-) कृत (उपार्जित) मोहनीय कर्म जब उदय में आया हो, तब क्या जीव अपक्रमण (पतन) करता है; अर्थात्—उत्तम गुणस्थान से हीन गुणस्थान में जाता है ?

[३-१ उ.] हाँ, गौतम ! अपक्रमण करता है।

[२] से भंते ! जाव बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ३ ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बाल-पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा।

[३-२ प्र.] भगवन् ! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है, अथवा पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से ?

[३-२ उ.] गौतम ! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है, पण्डितवीर्य से नहीं करता; कदाचित् बालपण्डितवीर्य से अपक्रमण करता है।

४. जहा उदिण्णेणं दो आलावगा तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणियव्वा। नवरं उवट्ठाएज्जा पंडितवीरियत्ताए, अवक्कमेज्जा बाल-पंडितवीरियत्ताए।

[४] जैसे उदीर्ण (उदय में आए हुए) पद के साथ दो आलापक कहे गए हैं, वैसे ही 'उपशान्त' पद के साथ दो आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ जीव पण्डितवीर्य से उपस्थान करता है और अपक्रमण करता है—बालपण्डितवीर्य से।

५. [१] से भंते ! किं आताए अवक्कमइ ? अणाताए अवक्कमइ ?

गोयमा ! आताए अवक्कमइ, णो अणाताए अवक्कमइ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव आत्मा (स्व) से अपक्रमण करता है अथवा अनात्मा (पर) से करता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! आत्मा से अपक्रमण करता है, अनात्मा से नहीं करता।

[२] मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोतमा ! पुव्विं से एतं एवं रोयति इदाणिं से एयं एवं नो रोयइ, एवं खलु एतं एवं।

[५-२ प्र.] भगवन् ! मोहनीय कर्म को वेदता हुआ यह (जीव) इस प्रकार क्यों होता है अर्थात् क्यों अपक्रमण करता है ?

[५-२ उ.] गौतम ! पहले उसे इस प्रकार (जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्त्व) रुचता है और अब उसे इस प्रकार नहीं रुचता; इस कारण यह अपक्रमण करता है।

विवेचन—उदीर्ण-उपशान्त मोहनीय जीव के सम्बन्ध में उपस्थान-अपक्रमणादि प्ररूपणा— प्रस्तुत चार सूत्रों में विशेषरूप से मोहनीय कर्म के उदय तथा उपशम के समय जीव की परलोक साधन के लिए की जाने वाली (उपस्थान) क्रिया तथा अपक्रमण क्रिया के सम्बन्ध में संकलित प्रश्नोत्तर हैं।

मोहनीय का प्रासंगिक अर्थ—यहाँ मोहनीय कर्म का अर्थ साधारण मोहनीय नहीं, अपितु 'मिथ्यात्वमोहनीय कर्म' विवक्षित है। श्री गौतमस्वामी का यह प्रश्न पूछने का आशय यह है कि कई अज्ञानी भी परलोक के लिए बहुत उग्र एवं कठोर क्रिया करते हैं अतः क्या वे मिथ्यात्व का उदय होने पर भी परलोक साधन के लिए क्रिया करते हैं या मिथ्यात्व के अनुदय से ? भगवान् का उत्तर स्पष्ट है कि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने पर भी जीव परलोक सम्बन्धी क्रिया करते हैं।

वीरियत्ताए—वीर्य (पराक्रम) का योग होने से प्राणी भी वीर्य कहलाता है। वीर्यता का आशय है वीर्ययुक्त होकर या वीर्यवान् होने से। और उसी वीर्यता के द्वारा वह परलोक साधन की क्रिया करता है। इससे स्पष्ट है कि उस क्रिया का कर्त्ता जीव ही है, कर्म नहीं। अगर जीव को क्रिया का कर्त्ता न माना जाए तो उसका फल किसे मिलेगा ?

त्रिविध वीर्य—बालवीर्य, पण्डितवीर्य और बालपण्डितवीर्य। जिस जीव को अर्थ का सम्यक् बोध न हो और सद्बोध के फलस्वरूप विरति न हो, यानी जो मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानी हो, वह बाल है, उसका वीर्य **बालवीर्य** है। जो जीव सर्वपापों का त्यागी हो; जिसमें विरति हो, जो क्रियानिष्ठ हो, वह पण्डित है, उसका वीर्य **पण्डितवीर्य** है। जिन त्याज्य कार्यों को मोहकर्म के उदय से त्याग नहीं सका, किन्तु त्यागने योग्य समझता है—स्वीकार करता है, वह बालपण्डित है। जैसे—

उसका हिंसा को त्याज्य मानना पण्डितपन है, किन्तु आचरण से उसे न छोड़ना वालपन है जो आंशिक रूप से पाप से हट जाता है वह भी वालपण्डित है। उसका वीर्य वालपण्डितवीर्य कहलाता है।

उपस्थान क्रिया और अपक्रमण क्रिया—मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होने पर जीव के द्वारा उपस्थान क्रिया वालवीर्य द्वारा ही होती है। उपस्थान की विपक्षी क्रिया—अपक्रमण है। अपक्रमण क्रिया का अर्थ है—उच्चगुणस्थान से नीचे गुणस्थान को प्राप्त करना। अपक्रमण क्रिया भी वालवीर्य द्वारा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जव जीव के मिथ्यात्व का उदय हो, तव वह सम्यक्त्व से, संयम (सर्वविरति) से, या देशविरति (संयम) से वापस मिथ्यादृष्टि वन जाता है। पण्डितवीर्यत्व से वह अपक्रमण नहीं करता, (वापस लौटता नहीं), कदाचित् चारित्रमोहनीय का उदय हो तो सर्वविरति (संयम) से पतित होकर वालपण्डितवीर्य द्वारा देशविरति श्रावक हो जाता है। वाचनान्तर के अनुसार प्रस्तुत में 'न तो पण्डितवीर्य द्वारा अपक्रमण होता है, और न ही वालपण्डितवीर्य द्वारा'; क्योंकि जहाँ मिथ्यात्व का उदय हो, वहाँ केवल वालवीर्य द्वारा ही अपक्रमण होता है। निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व मोहकर्मवश जीव अपने ही पुरुषार्थ से गिरता है।

मोहनीय की उदीर्ण अवस्था से उपशान्त अवस्था विलकुल विपरीत है। इसके होने पर जीव पण्डितवीर्य द्वारा उपस्थान करता है। वाचनान्तर के अनुसार वृद्ध आचार्य कहते हैं—'मोह का उपशम होने पर जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होता. साधु या श्रावक होता है।' उपशान्तमोहवाला जीव जव अपक्रमण करता है, तव वालपण्डितवीर्यता में आता है, वालवीर्यता में नहीं, क्योंकि मोहनीय कर्म उपशान्त होता है, तव जीव वालपण्डितवीर्यता द्वारा संयत अवस्था से पीछे हटकर देशसंयत हो जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि नहीं होता। यह अपक्रमण भी स्वयं (आत्मा) द्वारा होता है, दूसरे के द्वारा नहीं।

मोहनीय कर्म वेदते हुए भी अपक्रमण क्यों?—इस प्रश्न के उत्तर का आशय यह है कि अपक्रमण होने से पूर्व यह जीव जीवादि नौ तत्त्वों पर श्रद्धा रखता था, धर्म का मूल—अहिंसा मानता था, 'जिनेन्द्र प्रभु ने जैसा कहा है, वही सत्य है' इस प्रकार धर्म के प्रति पहले उसे रुचि थी, लेकिन अव मिथ्यात्वमोहनीय के वेदनवश श्रद्धा विपरीत हो जाने से अर्हन्त प्ररूपित धर्म तथा पहले रुचिकर लगने वाली वातें अव रुचिकर नहीं लगती। तव सम्यग्दृष्टि था, अव मिथ्यादृष्टि है। सारांश यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का वन्ध, धर्म आदि पर अरुचि-अश्रद्धा रखने से होता है।[1]

कृतकर्म भोगे बिना मोक्ष नहीं—

६. से नूणं भंते! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणूसस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो?

हंता, गोतमा! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणुस्सस्स वा, देवस्स वा जे कडे पाव कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति नेरइयस्स वा जाव मोक्खो?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ६३, ६४

एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पदेसकम्मे य, अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं तं पदेसकम्मं तं नियमा वेदेति, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेएइ। णायमेतं अरहता, सुतमेतं अरहता, विण्णायमेतं अरहता—"इमं कम्मं अयं जीवे अब्भोवगमियाए वेदणाए वेइस्सइ, इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेदणाए वेइस्सइ। अहाकम्मं अधानिकरणं जहा जहा तं भगवता दिट्ठं तहा तहा तं विप्परिणमिस्सतीति। से तेणट्ठेणं गोतमा ! नेरइयस्स वा ४ जाव मोक्खो।

[६ प्र.] भगवन् ! नारक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य या देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हें भोगे (वेदे) विना क्या मोक्ष (छुटकारा) नहीं होता ?

[६ उ.] हाँ गौतम ! नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हें भोगे विना मोक्ष नहीं होता।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि नारक यावत् देव को कृतकर्म भोगे विना मोक्ष नहीं होता ?

[उ] गौतम ! मैंने कर्म के दो भेद बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रदेशकर्म और अनुभागकर्म। इनमें जो प्रदेशकर्म है, वह अवश्य (नियम से) भोगना पड़ता है, और इनमें जो अनुभागकर्म है, वह कुछ वेदा (भोगा) जाता है, कुछ नहीं वेदा जाता। यह बात अर्हन्त द्वारा ज्ञात है, स्मृत (अनुचिन्तित या प्रतिपादित) है, और विज्ञात है, कि यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिक वेदना से वेदेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिक वेदना से वेदेगा। बाँधे हुए कर्मों के अनुसार, निकरणों के अनुसार जैसा-जैसा भगवान् ने देखा है, वैसा-वैसा वह विपरिणाम पाएगा। इसलिए गौतम ! इस कारण से मैं ऐसा कहता हूँ कि—यावत् किये हुए कर्मों को भोगे विना नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव का मोक्ष—छुटकारा नहीं है।

विवेचन—कृतकर्म भोगे विना छुटकारा नहीं—प्रस्तुत सूत्र में कृतकर्मफल को अवश्य भोगना पड़ता है, इसी सिद्धान्त का विशद निरूपण किया गया है।

प्रदेशकर्म—जीव के प्रदेशों में ओतप्रोत हुए—दूध-पानी की तरह एकमेक हुए कर्मपुद्गल। प्रदेशकर्म निश्चय ही भोगे जाते हैं। विपाक अर्थात् अनुभव न होने पर भी प्रदेशकर्म का भोग अवश्य होता है।

अनुभागकर्म—उन प्रदेशकर्मों का अनुभव में आने वाला रस। अनुभागकर्म कोई वेदा जाता है, और कोई नहीं वेदा जाता। उदाहरणार्थ—जब आत्मा मिथ्यात्व का क्षयोपशम करता है, तब प्रदेश से तो वेदता है, किन्तु अनुभाग से नहीं वेदता। यही बात अन्य कर्मों के विषय में समझनी चाहिए।

चारों गति के जीव कृतकर्म को अवश्य भोगते हैं, परन्तु किसी कर्म को विपाक से भोगते हैं और किसी को प्रदेश से भोगते हैं।

आभ्युपगमिकी वेदना का अर्थ—स्वेच्छापूर्वक, ज्ञानपूर्वक कर्मफल भोगना है। दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य पालन करना, भूमिशयन करना, केशलोच करना, बाईस परिषह सहना, तथा विविध प्रकार का तप करना इत्यादि वेदना जो ज्ञानपूर्वक स्वीकार की जाती है, वह भी आभ्युपगमिकी वेदना कहलाती है।

औपक्रमिकी वेदना का अर्थ है—जो कर्म अपना अबाधाकाल पूर्ण होने पर स्वयं ही उदय में आए हैं, अथवा उदीरणा द्वारा उदय में लाए गए हैं; उन कर्मों का फल अज्ञानपूर्वक या अनिच्छा से भोगना।

यथाकर्म, यथानिकरण का अर्थ—यथाकर्म यानी जो कर्म जिस रूप में बांधा है, उसी रूप से, और यथानिकरण यानी विपरिणाम के कारणभूत देश, काल आदि करणों की मर्यादा का उल्लंघन न करके।

पापकर्म का आशय—प्रस्तुत में पापकर्म का आशय है—सभी प्रकार के कर्म। यों तो पापकर्म का अर्थ अशुभकर्म होता है, इस दृष्टि से जो मुक्ति में व्याघात रूप हैं, वे समस्त कर्ममात्र ही अशुभ हैं, दुष्ट हैं, पाप हैं। क्योंकि कर्ममात्र को भोगे विना छुटकारा नहीं है।[1]

पुद्गल, स्कन्ध और जीव के सम्बन्ध में त्रिकाल शाश्वत प्ररूपणा—

७. एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं 'भुवि' इति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं 'भुवि' इति वत्तव्वं सिया।

[७. प्र.] भगवन् ! क्या यह पुद्गल—परमाणु अतीत, अनन्त (परिमाणरहित), शाश्वत (सदा रहने वाला) काल में था—ऐसा कहा जा सकता है ?

[७. उ.] हाँ, गौतम ! यह पुद्गल अतीत, अनन्त, शाश्वतकाल में था, ऐसा कहा जा सकता है।

८. एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पन्नं सासयं समयं 'भवति' इति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेतव्वं।

[८. प्र.] भगवन् ! क्या यह पुद्गल वर्त्तमान शाश्वत—सदा रहने वाले काल में है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[८. उ.] हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है। (पहले उत्तर के समान ही उच्चारण करना चाहिए।)

९. एस णं भंते ! पोग्गले अणागतमणंतं सासतं समयं 'भविस्सति' इति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेतव्वं।

[९. प्र.] हे भगवन् ! क्या यह पुद्गल अनन्त और शाश्वत भविष्यकाल में रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९. उ.] हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है। (उसी पहले उत्तर के समान उच्चारण करना चाहिए)।

१०. एवं खंधेण वि तिण्णि आलावगा।

[१०] इसी प्रकार के 'स्कन्ध' के साथ भी तीन (त्रिकाल सम्बन्धी) आलापक कहने चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ६५.

११. एवं जीवेण वि तिण्णि आलावगा भाणितव्वा ।

[११] इसी प्रकार 'जीव' के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिए ।

विवेचन—पुद्गल, स्कन्ध और जीव के विषय में त्रिकाल शाश्वत आदि प्ररूपणा—प्रस्तुत पाँच सूत्रों में पुद्गल अर्थात् परमाणु, स्कन्ध और जीव के भूत, वर्त्तमान और भविष्य में सदैव होने की प्ररूपणा की गई है ।

वर्तमानकाल को शाश्वत कहने का कारण—वर्त्तमान प्रतिक्षण भूतकाल में परिणत हो रहा है और भविष्य प्रतिक्षण वर्तमान बनता जा रहा है, फिर भी सामान्य रूप से, एक समय रूप में, वर्तमानकाल सदैव विद्यमान रहता है । इस दृष्टि से उसे शाश्वत कहा है ।

पुद्गल का प्रासंगिक अर्थ—यहाँ पुद्गल का अर्थ 'परमाणु' किया गया है । यों तो पुद्गल ४ प्रकार के होते हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । किन्तु यहाँ केवल परमाणु ही विवक्षित है क्योंकि स्कन्ध के विषय में आगे अलग से प्रश्न किया गया है ।

छद्मस्थ मनुष्य की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१२. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासतं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमाताहिं सिज्झिसु बुज्झिसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ?

गोतमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव अंतं करेंसु ?

गोतमा ! जे केइ अंतकरा वा, अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु ।

[१२. प्र.] भगवन् ! क्या वीते हुए अनन्त शाश्वत काल में छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम से, केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल (अष्ट) प्रवचनमाता (के पालन) से सिद्ध हुआ है, बुद्ध हुआ है, यावत् समस्त दुःखों का अन्त करने वाला हुआ है ?

[१२. उ.] हे गीतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य ···यावत् समस्त दुःखों का अन्तकर नहीं हुआ ?

[उ.] गौतम ! जो भी कोई मनुष्य कर्मों का अन्त करने वाले, चरमशरीरी हुए हैं, अथवा समस्त दुःखों का जिन्होंने अन्त किया है, जो अन्त करते हैं या करेंगे, वे सब उत्पन्नज्ञानदर्शनधारी (केवलज्ञानी-केवलदर्शनी), अर्हन्त, जिन, और केवली होकर तत्पश्चात् सिद्ध हुए हैं, बुद्ध हुए हैं, मुक्त हुए हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं, और उन्होंने समस्त दुःखों का अन्त किया है, वे ही करते हैं और करेंगे; इसी कारण से हे गीतम ! ऐसा कहा है कि यावत् समस्त दुःखों का अन्त किया ।

१३. पडुप्पन्ने वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झति' भाणितव्वं।

[१३] वर्त्तमान काल में भी इसी प्रकार जानना। विशेष यह है कि 'सिद्ध होते हैं', ऐसा कहना चाहिए।

१४. अणागते वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं।

[१४] तथा भविष्यकाल में भी इसी प्रकार जानना। विशेष यह है कि 'सिद्ध होंगे', ऐसा कहना चाहिए।

१५. जहा छउमत्थो तहा आधोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि। तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा।

[१५] जैसा छद्मस्थ के विषय में कहा है, वैसा ही आधोवधिक और परमाधोवधिक के के विषय में जानना चाहिए और उसके तीन-तीन आलापक कहने चाहिए।

केवली की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१६. केवली णं भंते! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करेंसु?

हंता, सिज्झिसु जाव अंतं करेंसु। एते तिण्णि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवरं सिज्झिसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

[१६ प्र.] भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने यावत् सर्व-दुःखों का अन्त किया है?

[१६ उ.] हाँ गौतम! वह सिद्ध हुआ, यावत् उसने समस्त दुःखों का अन्त किया। यहाँ भी छद्मस्थ के समान ये तीन आलापक कहने चाहिए। विशेष यह है कि सिद्ध हुआ, सिद्ध होता है और सिद्ध होगा, इस प्रकार (त्रिकाल-सम्बन्धी) तीन आलापक कहने चाहिए।

१७. से नूणं भंते! तीतमणंतं सासयं समयं, पडुप्पन्नं वा सासयं समयं, अणागतमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा, करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करेस्संति वा?

हंता, गोयमा! तीतमणंतं सासतं समयं जाव अंतं करेस्संति वा।

[१७. प्र.] भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में, वर्त्तमान शाश्वत काल में और अनन्त शाश्वत भविष्यकाल में जिन अन्तकरों ने अथवा चरमशरीरी पुरुषों ने समस्त दुःखों का अन्त किया है, करते हैं या करेंगे; क्या वे सब उत्पन्नज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली होकर तत्पश्चात् सिद्ध, बुद्ध आदि होते हैं, यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे?

[१७. उ.] हाँ, गौतम! बीते हुए अनन्त शाश्वतकाल में··· यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे।

१८. से नूणं भंते! उप्पन्ननाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया?
हंता गोयमा! उप्पन्ननाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया।
सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ चउत्थो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

[१८. प्र.] भगवन् ! वह उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली 'अलमस्तु' अर्थात्-पूर्ण है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[१८ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न ज्ञानदर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली पूर्ण (अलमस्तु) है, ऐसा कहा जा सकता है।

(गौ.) 'हे भगवन् ! यह ऐसा ही है, भगवन् ! ऐसा ही है।'

विवेचन—छद्मस्थ, केवली आदि की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सात सूत्रों (१२ से १८) तक में छद्मस्थ द्विविध अवधिज्ञानी और केवली, चरम शरीरी आदि के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाणप्राप्त, सर्वदुःखान्तकर होने के विषय में त्रिकाल-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

छद्मस्थ—छद्म का अर्थ है-ढका हुआ। जिसका ज्ञान किसी आवरण से आच्छादित हो रहा है—दब रहा है, वह छद्मस्थ कहलाता है। यद्यपि अवधिज्ञानी का ज्ञान भी आवरण से ढका होता है, तथापि आगे इसके लिए पृथक् सूत्र होने से यहाँ छद्मस्थ शब्द से अवधिज्ञानी को छोड़कर सामान्य ज्ञानी ग्रहण करना चाहिए।

निष्कर्ष—मनुष्य चाहे कितना ही उच्च संयमी हो, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान पर पहुँचा हुआ हो, किन्तु जब तक केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त न हो, तब तक वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हो सकता, न हुआ है, न होगा। अवधिज्ञानी, जो लोकाकाश के सिवाय अलोक के एक प्रदेश को भी जान लेता हो, वह उसी भव में मोक्ष जाता है, किन्तु जाता है, केवली होकर ही।

आधोऽवधि एवं परमावधिज्ञान—परिमित क्षेत्र-काल-सम्बन्धी अवधिज्ञान आधोऽवधि कहलाता है, उससे बहुतर क्षेत्र को जानने वाला परम-उत्कृष्ट अवधिज्ञान, जो समस्त रूपी द्रव्यों को जान लेता हो, परमावधिज्ञान कहलाता है।[1]

॥ प्रथम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ६७.

पंचमो उद्देसओ : पुढवी

पंचम उद्देशक : पृथ्वी

चौबीस दण्डकों की आवास संख्या का निरूपण—

१. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—रयणप्पभा जाव तमतमा ।

[१. प्र.] भगवन् ! (अधोलोक में) कितनी पृथ्वियाँ (नरकभूमियाँ) कही गई हैं ?

[१. उ.] गौतम ! सात पृथ्वियाँ कही गई हैं । वे इस प्रकार हैं—रत्नप्रभा से लेकर यावत् तमस्तम:प्रभा तक ।

२. इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कति निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोतमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । गाहा—

तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दसेव या सयसहस्सा ।
तिण्णेगं :पंचूणं पंचेव अणुत्तरा निरया ।।१।।

[२. प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख नारकावास–नैरयिकों के रहने के स्थान कहे गए हैं ?

[२. उ.] गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नारकावास कहे गए हैं । नारकावासों की संख्या वताने वाली गाथा इस प्रकार है—

गाथार्थ—प्रथम पृथ्वी (नरकभूमि) में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पांचवीं में तीन लाख, छठी में ५ कम एक लाख और सातवीं में केवल पांच नारकावास हैं ।

३. केवतिया णं भंते ! असुरकुमारावाससतसहस्सा पण्णत्ता ? एवं—

चोयट्ठी असुराणं, चउरासीती य होंति नागाणं ।
बावत्तरी सुवण्णाण, वाउकुमाराण छण्णउती ।।२।।
दीव-दिसा-उदहीणं विज्जुकुमारिंद-थणिय-मग्गीणं ।
छण्हं पि जुयलगाणं छावत्तरिमो सतसहस्सा ।।३।।

[३. प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने लाख आवास कहे गये हैं ?

[३. उ.] गौतम ! इस प्रकार हैं—असुरकुमारों के चौंसठ लाख आवास कहे हैं । इसी प्रकार नागकुमारों के चौरासी लाख, सुपर्णकुमारों के ७२ लाख, वायुकुमारों के ९६ लाख, तथा द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार और अग्निकुमार, इन छह युगलकों (दक्षिण-वर्ती और उत्तरवर्ती दोनों के ७६-७६ लाख आवास कहे गये हैं ।

४. केवतिया णं भंते ! पुढविक्काइयावाससतसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा पुढविक्काइयावाससयसहस्सा पण्णत्ता जाव असंखिज्जा जोदिसिय-विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता।

[४. प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने लाख आवास कहे गए हैं ?

[४. उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों के असंख्यात लाख आवास कहे गए हैं। इसी प्रकार (पृथ्वीकाय से लेकर) यावत् ज्योतिष्क देवों तक के असंख्यात लाख विमानावास कहे गए हैं।

५. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे कति विमाणावाससतसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससतसहस्सा पण्णत्ता। एवं—

बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सतसहस्सा।
पण्णा चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥४॥
आणय-पाणयकप्पे चत्तारि सताऽऽरण-ऽच्चुए तिण्णि।
सत्त विमाणसताइं चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥५॥
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए।
सतमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥६॥

[५. प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प में कितने विमानावास कहे गए हैं ?

[५. उ.] गौतम ! वहाँ बत्तीस लाख विमानावास कहे गए हैं। इस प्रकार क्रमशः बत्तीस लाख, अट्ठाईस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चार लाख, पचास हजार तथा चालीस हजार, विमानावास जानना चाहिए। सहस्रार कल्प में छह हजार विमानावास है। आणत और प्राणत कल्प में चार सौ, आरण और अच्युत में तीन सौ, इस तरह चारों में मिलकर सात सौ विमान हैं। अधस्तन (नीचले) ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ ग्यारह, मध्यम (बीच के) ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ सात और ऊपर के ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ विमानावास हैं। अनुत्तर विमानावास पांच ही हैं।

विवेचन—चौवीस दण्डकों की आवास संख्या का निरूपण—प्रस्तुत पांच सूत्रों में नरक पृथ्वियों से लेकर पंच अनुत्तर विमानवासी देवों तक के आवासों की संख्या के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया है।

६. पुढवि ट्ठिति १ ओगाहण २ सरीर ३ संघयणमेव ४. संठाणे ५।
लेसा ६ दिट्ठी ७ णाणे ८ जोगुवओगे ९-१० य दस ठाणा ॥१४॥

अर्थाधिकार—

[सू. ६.] पृथ्वी (नरक भूमि) आदि जीवावासों में १. स्थिति, २. अवगाहना, ३. शरीर, ४. संहनन, ५. संस्थान, ६. लेश्या, ७. दृष्टि, ८. ज्ञान, ९. योग और १० उपयोग इन दस स्थानों (बोलों) पर विचार करना है।

नारकों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक प्रथम स्थितिस्थानद्वार—

७. इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरतियाणं केवतिया ठितिठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। तं जहा—जहन्निया ठिती, समयाहिया जहन्निया ठिई, दुसमयाहिया जहन्निया ठिती जाव असंखेज्जसमयाहिया जहन्निया ठिती, तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती।

[७. प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक-एक नारकवास में रहने वाले नारक जीवों के कितने स्थिति-स्थान कहे गए हैं ? अर्थात् एक-एक नारकावास के नारकों की कितनी उम्र है ?

[७. उ.] गौतम ! उनके असंख्य स्थान कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, वह एक समय अधिक, दो समय अधिक—इस प्रकार यावत् जघन्य स्थिति असंख्यात समय अधिक है, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति भी। (ये सब मिलकर असंख्यात स्थिति-स्थान होते हैं)।

८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहन्नियाए ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा कोहोवउत्ता १, अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य २, अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य ३, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य ५, अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ते य ६, अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ७। अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता य २, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायाउवउत्ता य ४। एवं कोह-माण-लोभेण वि चउ ४। एवं कोह-माया-लोभेण वि चउ ४, एवं १२। पच्छा माणेण मायाए लोभेण य कोहो भइयव्वो, ते कोहं अमुंचता ८। एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा।

[८. प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में कम से कम (जघन्य) स्थिति में वर्तमान नारक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?

[८. उ.] गौतम ! वे सभी क्रोधोपयुक्त होते हैं ? अथवा बहुत से नारक क्रोधोपयुक्त और एक नारक मानोपयुक्त होता है २, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त होते हैं ३, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होते हैं, ४, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मायोपयुक्त होते हैं ५, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है ६, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से लोभोपयुक्त होते हैं ७। अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है १, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और बहुत-से मायोपयुक्त होते हैं २, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, बहुत-से मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है ३, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, बहुत मानोपयुक्त और बहुत मायोपयुक्त होते हैं ४, इसी तरह क्रोध, मान और लोभ, (यों त्रिक्संयोग) के चार भंग क्रोध, माया और लोभ, (यों त्रिक्संयोग) के भी चार भंग कहने चाहिए। फिर मान, माया और लोभ के साथ क्रोध को जोड़ने से चतुष्क-संयोगी आठ भंग

कहने चाहिए। इसी तरह क्रोध को नहीं छोड़ते हुए (चतुष्कसंयोगी ८ भंग होते हैं) कुल २७ भंग समझ लेने चाहिए।

९. इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि समयाधियाए जहन्नट्ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता लोभोवउत्ता?

गोयमा! कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य ४। कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ८। अथवा कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य १०, अथवा कोहोवउत्ते य माणोवयुत्ता य १२, एवं असीति भंगा नेयव्वा एवं जाव संखिज्जसमयाधिया ठिई। असंखेज्जसमयाहियाए ठिईए तप्पाउग्गुक्कोसियाए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा।

[९. प्र.] इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में एक समय अधिक जघन्य स्थिति में वर्तमान नारक क्या क्रोधपयुक्त होते हैं, मानोपयुक्त होते हैं, मायोपयुक्त होते हैं अथवा लोभोपयुक्त होते हैं?

[९. उ.] गौतम! उनमें से कोई-कोई क्रोधोपयुक्त, कोई मानोपयुक्त, कोई मायोपयुक्त और कोई लोभोपयुक्त होता है। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होता है, या कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त होते हैं। [अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मानोपयुक्त या बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत से मानोपयुक्त होते हैं।] इत्यादि प्रकार से अस्सी भंग समझने चाहिए। इसी प्रकार यावत् दो समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर संख्येय समयाधिक जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों के लिए समझना चाहिए। असंख्येय समयाधिक स्थिति वालों में तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकों में सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

विवेचन—नारकों के क्रोधोपयुक्तादिनिरूपणपूर्वक प्रथम स्थितिस्थानद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रों में संग्रहणी गाथा के अनुसार रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकावासों के निवासी नारकों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति स्थानों की अपेक्षा से क्रोधोपयुक्तादि विविध विकल्प (भंग) प्रस्तुत किये गए हैं।

जघन्यादि स्थिति—प्रत्येक नारकावास में रहने वाले नारकों की स्थिति के स्थान भिन्न-भिन्न होने के कारण हैं—किसी की जघन्य स्थिति है, किसी की मध्यम और किसी की उत्कृष्ट। इस प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम प्रतर में नारकों की आयु कम से कम (जघन्य) १० हजार वर्ष की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) ९० हजार वर्ष की है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की आयु को मध्यम आयु कहते हैं। मध्यम आयु जघन्य और उत्कृष्ट के समान एक प्रकार की नहीं है। जघन्य आयु से एक समय अधिक की; दो, तीन, चार समय अधिक की यावत् संख्येय और असंख्येय समय अधिक की आयु भी मध्यम कहलाती है। यों मध्यम आयु (स्थिति) के अनेक विकल्प हैं। इसलिए कोई नारक दस हजार वर्ष की स्थिति (जघन्य) वाला, कोई एक समय अधिक १० हजार वर्ष की स्थिति वाला यों क्रमशः असंख्यात समय अधिक (मध्यम) स्थिति वाला और कोई उत्कृष्ट स्थिति वाला होने से नारकों के स्थितिस्थान असंख्य हैं।

समय—काल का वह सूक्ष्मतम अंश, जो निरंश है, जिसका दूसरा अंश संभव नहीं है, वह जैनसिद्धान्तानुसार '**समय**' कहलाता है।

अस्सी भंग—एक समयाधिक जघन्यस्थिति वाले नारकों के क्रोधोपयुक्त आदि ८० भंग इस प्रकार हैं— असंयोगी ८ भंग (चार भंग एक-एक कषाय वालों के, चार भंग बहुत कषाय वालों के), द्विक संयोगी २४ भंग, त्रिकसंयोगी ३२ भंग, चतुष्कसंयोगी १६ भंग, यों कुल ८० भंग होते हैं।

नारकों के कहाँ, कितने भंग ?—प्रत्येक नरक में जघन्य स्थिति वाले नारक सदा पाये जाते हैं, उनमें क्रोधोपयुक्त नैरयिक बहुत ही होते हैं। अतः उनमें मूलपाठोक्त २७ भंग क्रोधबहुवचनान्त वाले होते हैं। एक समय अधिक से लेकर संख्यात समय अधिक जघन्यस्थिति (मध्यम) वाले नारकों में पूर्वोक्त ८० भंग होते हैं। इनमें क्रोधादि-उपयुक्त नारकों की संख्या एक और अनेक होती है। इस स्थिति वाले नारक कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते। असंख्यात समय अधिक की स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकों में पूर्वोक्त २७ भंग पाये जाते हैं। इस स्थिति वाले नारक सदा काल पाये जाते हैं और वे बहुत होते हैं।[1]

द्वितीय–अवगाहनाद्वार—

१०. इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवतिया ओगाहणाठाणा पण्णत्ता ।

गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणाठाणा पण्णत्ता । तं जहा—जहन्निया ओगाहणा, पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, दुप्पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा जाव असंखिज्जपदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ।

[१०. प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी (प्रथम नरक भूमि) के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में रहने वाले नारकों के अवगाहना स्थान कितने कहे गए हैं ?

[१०. उ.] गौतम ! उनके अवगाहना स्थान असंख्यात कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं— जघन्य अवगाहना (अंगुल के असंख्यातवें भाग), (मध्यम अवगाहना) एक प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, द्विप्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, यावत् असंख्यात प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना (जिस नारकावास के योग्य जो उत्कृष्ट अवगाहना हो)।

११. इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

असीति भंगा भाणियव्वा जाव संखिज्जपदेसाधिया जहन्निया ओगाहणा । असंखेज्जपदेसाहियाए जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं नेरइयाणं दोसु वि सत्तावीसं भंगा ।

(११. प्र.) भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में जघन्य अवगाहना वाले नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?

[११. उ.] 'गौतम ! जघन्य अवगाहना वालों में अस्सी भंग कहने चाहिए, यावत् संख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना वालों के भी अस्सी भंग कहने चाहिए। असंख्यात-प्रदेश अधिक जघन्य

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ६९-७०.

अवगाहना वाले और उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना वाले, इन दोनों प्रकार के नारकों में सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

विवेचन—नैरयिकों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक द्वितीय अवगाहनास्थान द्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों में नारकों के अवगाहनास्थान तथा क्रोधादियुक्तता का विचार किया गया है।

अवगाहनास्थान—जिसमें जीव ठहरता है, अवगाहन करके रहता है, वह अवगाहना है। अर्थात्—जिस जीव का जितना लम्बा-चौड़ा शरीर होता है, वह उसकी अवगाहना है। जिस क्षेत्र में जो जीव जितने आकाश प्रदेशों को रोक कर रहता है, उतने आधारभूत परिमाण क्षेत्र को भी अवगाहना कहते हैं। उस अवगाहना के जो स्थान—प्रदेशों की वृद्धि से विभाग हों, वे अवगाहनास्थान होते हैं।

उत्कृष्ट अवगाहना—प्रथम नरक की उत्कृष्ट अवगाहना ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल होती है, इससे आगे के नरकों में अवगाहना दुगुनी-दुगुनी होती है। अर्थात् शर्करा प्रभा में १५ धनुष, २ हाथ, १२ अंगुल की; वालुकाप्रभा में ३१ धनुष, १ हाथ की; पंकप्रभा में ६२ धनुष, २ हाथ की, धूमप्रभा में १२५ धनुष की; तमःप्रभा में २५० धनुष की; तमस्तमःप्रभा में ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना होती है।

जघन्यस्थिति तथा जघन्य अवगाहना के भंगों में अन्तर क्यों?—जघन्यस्थितिवाले नारक जब तक जघन्य अवगाहना वाले रहते हैं, तब तक उनकी अवगाहना के ८० भंग ही होते हैं; क्योंकि जघन्य अवगाहना उत्पत्ति के समय ही होती है। जघन्यस्थिति वाले जिन नैरयिकों के २७ भंग कहे हैं, वे जघन्य अवगाहना को उल्लंघन कर चुके हैं, उनकी अवगाहना जघन्य नहीं होती। इसलिए उनमें २७ ही भंग होते हैं।

जघन्य अवगाहना से लेकर संख्यातप्रदेश की अधिक अवगाहना वाले जीव नरक में सदा नहीं मिलते, इसलिए उनमें ८० भंग कहे गए हैं, किन्तु जघन्य अवगाहना से असंख्यातप्रदेश अधिक की अवगाहना वाले जीव, नरक में अधिक ही पाये जाते हैं; इसलिए उनमें २७ भंग होते हैं।[1]

तृतीय-शरीरद्वार—

१२. इमीसे णं भंते! रयण० जाव एगमेगंसि निरयावासंसि नेरतियाणं कति सरीरया पण्णत्ता?

गोयमा! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता। तं जहा—वेउव्विए तेयए कम्मए।

[१२ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में वसने वाले नारक जीवों के शरीर कितने हैं?

[१२ उ.] गौतम! उनके तीन शरीर कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७१

१३. [१] इमीसे णं भंते ! जाव वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ? सत्तावीसं भंगा ।

[२] एतेणं गमेणं तिण्णि सरीरा भाणियव्वा ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से प्रत्येक नारकावास में बसने वाले वैक्रियशरीरी नारक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, (मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?)

[१३-१ उ.] गौतम ! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए ।

[१३-२] और इस प्रकार शेष दोनों शरीरों (तैजस और कार्मण) सहित तीनों के सम्बन्ध में यही बात (आलापक) कहनी चाहिए ।

विवेचन—नारकों के क्रोधोपयुक्तादिनिरूपणपूर्वक तृतीय शरीरद्वार—प्रस्तुत द्विसूत्री में नारकीय जीवों के तीन शरीर और उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंगों का निरूपण है ।

शरीर—शरीर नामकर्म के उदय से होने वाली वह रचना जिसमें आत्मा व्याप्त होकर रहती है, अथवा जिसका क्षण-क्षण नाश होता रहता है, उसे शरीर कहते हैं ।

वैक्रियशरीर—जिस शरीर के प्रभाव से एक से अनेक शरीर, छोटा शरीर, बड़ा शरीर या मनचाहा रूप धारण किया जा सकता है, उसे वैक्रियशरीर कहते हैं । इसके दो भेद हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । नारकों के भवधारणीय वैक्रिय शरीर होता है ।

तैजसशरीर—आहार को पचाकर खलभाग और रसभाग में विभक्त करने और रस को शरीर के अंगों में यथास्थान पहुँचाने वाला शरीर तैजस कहलाता है ।

कार्मणशरीर—रागद्वेषादि भावों से शुभाशुभ कर्मवर्गणा के पुद्गलों को संचित करने वाला कार्मण शरीर है ।[1]

चौथा—संहननद्वार—

१४. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए जाव नेरइयाणं सरीरगा किं संघयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, नेवऽट्ठी, नेव छिरा, नेव ण्हारूणि । जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुभा अमणुण्णा अमणामा ते तेसिं सरीरसंघातत्ताए परिणमंति ।

[१४ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से प्रत्येक नारकावास में बसने वाले नैरयिकों के शरीरों का कौन-सा संहनन है ?

[१४ उ.] गौतम ! उनका शरीर संहननरहित है, अर्थात् उनमें छह संहननों में से कोई भी संहनन नहीं होता । उनके शरीर में हड्डी, शिरा (नस) और स्नायु नहीं होती । जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोहर हैं, वे पुद्गल नारकों के शरीर-संघातरूप में परिणत होते हैं ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७२

१५. इमीसे णं भंते ! जाव छण्हं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा।

[१५ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास में रहने वाले और छह संहननों में से जिनके एक भी संहनन नहीं है, वे नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?

[१५. उ.] गौतम ! इनके सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

पाँचवाँ—संस्थानद्वार—

१६. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभा जाव सरीरया किं संठिता पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता। तत्थ णं उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता।

[१६ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास में रहने वाले नैरयिकों के शरीर किस संस्थान वाले हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! उन नारकों का शरीर दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। उनमें जो भवधारणीय शरीर वाले हैं, वे हुण्डक संस्थान वाले होते हैं, और जो शरीर उत्तरवैक्रियरूप हैं, वे भी हुण्डकसंस्थान वाले कहे गए हैं।

१७. इमीसे णं जाव हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा।

[१७ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में यावत् हुण्डकसंस्थान में वर्त्तमान नारक क्या क्रोधोपयुक्त इत्यादि हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! इनके भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।

विवेचन—नारकों का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक चतुर्थ एवं पंचम संहनन-संस्थानद्वार— प्रस्तुत चार सूत्रों (१४ से १७ तक) में नारकों के संहनन एवं संस्थान के सम्बन्ध में प्ररूपण करते हुए उक्त संहननहीन एवं संस्थानयुक्त नारकों के क्रोधोपयुक्तादि भंगों की चर्चा की है।

उत्तरवैक्रिय शरीर—एक नारकी जीव दूसरे जीव को कष्ट देने के लिए जो शरीर बनाता है, वह उत्तरवैक्रिय कहलाता है। उत्तरवैक्रिय शरीर सुन्दर न बनाकर नारक हुण्डकसंस्थान वाला क्यों बनाते हैं ? इसका समाधान यह है कि उनमें शक्ति की मन्दता है तथा देश-काल आदि की प्रतिकूलता है, इस कारण वे शरीर का आकार सुन्दर बनाना चाहते हुए भी नहीं बना पाते, वह बेढंगा ही बनता है। उनका शरीर संहननरहित होता है, इसलिए उन्हें छेदने पर शरीर के पुद्गल अलग हो जाते हैं और पुनः मिल जाते हैं।[1]

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ७२

अस्थियों के विशिष्ट प्रकार के ढांचे को संहनन कहते हैं। अस्थियाँ केवल औदारिक शरीर में ही होती हैं और नारकों को औदारिक शरीर होता नहीं है। इस कारण वे संहननरहित कहे गए हैं।

छठा—लेश्याद्वार—

१८. इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! एक्का काउलेस्सा पण्णत्ता।

[१८ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नैरयिकों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं?

[१८ उ.] गौतम! उनमें केवल एक कापोतलेश्या कही गई है।

१९. इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए जाव काउलेस्साए वट्टमाणा० ?

सत्तावीसं भंगा।

[१९ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले कापोतलेश्या वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त हैं, यावत् लोभोपयुक्त हैं?

[१९ उ.] गौतम! इनके भी सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

विवेचन—नारकों का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक छठा लेश्याद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों में नारकों में लेश्या का निरूपण तथा उक्त लेश्या वाले नारकों के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग बताये गये हैं।

सातवाँ—दृष्टिद्वार—

२०. इमीसे णं जाव किं सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी?

तिण्णि वि।

[२० प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नारक जीव क्या सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) हैं?

[२० उ.] हे गौतम! वे तीनों प्रकार के (कोई सम्यग्दृष्टि, कोई मिथ्यादृष्टि और कोई मिश्रदृष्टि) होते हैं।

२१. [१] इमीसे णं जाव सम्मद्दंसणे वट्टमाणा नेरइया० ?

सत्तावीसं भंगा।

[२] एवं मिच्छद्दंसणे वि।

[३] सम्मामिच्छद्दंसणे असीति भंगा।

[२१-१ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले सम्यग्दृष्टि नारक क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त हैं?

[२१-१ उ.] गौतम ! इनके क्रोधोपयुक्त आदि सत्ताईस भंग कहने चाहिए ।

[२१-२] इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए ।

[२१-३] सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अस्सी भंग (पूर्ववत्) कहने चाहिए ।

आठवाँ—ज्ञानद्वार—

२२. इमीसे णं भंते ! जाव किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । तिण्णि नाणाणि नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[२२ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारक जीव क्या ज्ञानी हैं, या अज्ञानी हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! उनमें ज्ञानी भी हैं, और अज्ञानी भी हैं । जो ज्ञानी हैं, उनमें नियमपूर्वक तीन ज्ञान होते हैं, और जो अज्ञानी हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते हैं ।

२३. [१] इमीसे णं भंते ! जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणा० ?

सत्तावीसं भंगा ।

[२] एवं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भाणियव्वाइं ।

[२३-१ प्र.] भगवन ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहनें वाले आभिनिवोधिक ज्ञानी (मतिज्ञानी) नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त होते हैं ?

[२३-१ उ.] गौतम ! उन आभिनिवोधिक ज्ञानवाले नारकों के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए ।

[२३-२] इसी प्रकार तीनों ज्ञान वाले तथा तीनों अज्ञान वाले नारकों में क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारकों का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक सातवाँ—आठवाँ दृष्टि-ज्ञानद्वार—प्रस्तुत चार सूत्रों में नारकों में तीनों दृष्टियों तथा तीन ज्ञान एवं तीन अज्ञान की प्ररूपणा करके उनमें क्रोधोपयुक्तादि भंगों का प्रतिपादन किया गया है ।

दृष्टि—जिनकी दृष्टि (दर्शन) में समभाव है, सम्यक्त्व है, वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं । वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझना सम्यग्दर्शन है, और विपरीतस्वरूप समझना मिथ्यादर्शन है । विपरीत बुद्धि दृष्टि वाला प्राणी मिथ्यादृष्टि होता है । जो न पूरी तरह मिथ्यादृष्टि वाला है और न सम्यग्दृष्टि वाला है, वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि—मिश्रदृष्टि कहलाता है ।

तीनों दृष्टियों वाले नारकों में क्रोधोपयुक्तादि भंग—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में पूर्ववत् २७ भंग होते हैं, किन्तु मिश्रदृष्टि में ८० भंग होते हैं, क्योंकि मिश्रदृष्टि जीव अल्प हैं, उनका सद्भाव काल की अपेक्षा से भी अल्प है । अर्थात्—वे कभी नरक में पाये जाते हैं, कभी नहीं भी पाये जाते । इसी कारण मिश्रदृष्टि नारक में क्रोधादि के ८० भंग पाये जाते हैं ।

तीन ज्ञान और तीन अज्ञान वाले नारक कौन और कैसे?—जो जीव नरक में सम्यक्त्व-सहित उत्पन्न होते हैं, उन्हें जन्मकाल के प्रथम समय से लेकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, इसलिए उनमें नियम (निश्चितरूप) से तीन ज्ञान होते हैं। जो मिथ्यादृष्टि जीव नरक में उत्पन्न होते हैं, वे यहाँ से संज्ञी या असंज्ञी जीवों में से गए हुए होते हैं। उनमें से जो जीव यहाँ से संज्ञी जीवों में से जाकर नरक में उत्पन्न होते हैं, उन्हें जन्मकाल से ही विभंग (विपरीत अवधि) ज्ञान होता है। इसलिए उनमें नियमतः तीन अज्ञान होते हैं। जो जीव यहाँ से असंज्ञी जीवों में से जाकर नरक में उत्पन्न होते हैं, उन्हें जन्मकाल में दो अज्ञान (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) होते हैं, और एक अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर पर्याप्त अवस्था प्राप्त होने पर विभंगज्ञान उत्पन्न होता है, तव उन्हें तीन अज्ञान हो जाते हैं। इसीलिए उनमें तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से कहे गये हैं। अर्थात्—किसी समय उनमें दो अज्ञान होते हैं, किसी समय तीन अज्ञान। जव दो अज्ञान होते हैं, तव उनमें क्रोधोपयुक्त आदि ८० भंग होते हैं, क्योंकि ये जीव थोड़े-से होते हैं।

ज्ञान और अज्ञान—ज्ञान का अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान समझना चाहिए और अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं, अपितु मिथ्याज्ञान, जो कि मिथ्यादर्शनपूर्वक होता है, समझना चाहिए। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन सम्यग्ज्ञान हैं और मत्यज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान हैं।[1]

नौवाँ—योगद्वार—

२४. इमीसे णं जाव किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी?

तिण्णि वि।

[२४ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारक जीव क्या मनोयोगी हैं, वचन-योगी हैं अथवा काययोगी हैं?

[२४ उ.] गौतम! वे प्रत्येक तीनों प्रकार के हैं; अर्थात्—सभी नारक जीव मन, वचन और काया, इन तीनों योगों वाले हैं।

२५. [१] इमीसे णं जाव मणजोए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता० !

सत्तावीसं भंगा।

[२] एवं वइजोए। एवं कायजोए।

[२५-१ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले और यावत् मनोयोग में रहने वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त हैं?

[२५-१ उ.] गौतम! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।

[२५-२] इसी प्रकार वचनयोगी और काययोगी के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७२-७३
(ख) देखें—नन्दीसूत्र में पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान का वर्णन।

दसवाँ—उपयोगद्वार—

२६. इमीसे णं जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि ।

[२६ प्र.) भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक जीव क्या साकारोपयोग से युक्त हैं अथवा अनाकारोपयोग से युक्त हैं ?'

[२६ उ.] गौतम ! वे साकारोपयोगयुक्त भी हैं और अनाकारोपयोगयुक्त भी हैं ।

२७. [१] इमीसे णं जाव सागारोवओगे वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा ।

[२] एवं अणागारोवउत्ते वि सत्तावीसं भंगा ।

[२७-१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के साकारोपयोगयुक्त नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त हैं; यावत् लोभोपयुक्त हैं ?

[२७-१ उ.] गौतम ! इनमें क्रोधोपयुक्त इत्यादि २७ भंग कहने चाहिए ।

[२७-१] इसी प्रकार अनाकारोपयोगयुक्त में भी क्रोधोपयुक्त इत्यादि सत्ताईस भंग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारकों का क्रोधोपयुक्त इत्यादि निरूपणपूर्वक नौवाँ एवं दसवाँ योग-उपयोगद्वार— प्रस्तुत चार सूत्रों (२४ से २७ तक) में नारकों में तीन योग और दो उपयोग बताकर उक्त दोनों प्रकार के नारकों में क्रोधोपयुक्त आदि पूर्वोक्त २७ भंगों का निरूपण किया गया है ।

योग का अर्थ—यहाँ हठयोग आदि नहीं है, किन्तु उसका खास अर्थ है—प्रयुंजन या प्रयोग । योग का तात्पर्य है—आत्मा की शक्ति को फैलाना । वह मन, वचन और काया के माध्यम से फैलाई जाती है । इसलिए इन तीनों की प्रवृत्ति, प्रसारण या प्रयोग को योग कहा जाता है । यद्यपि केवल कार्मणकाययोग में ८० भंग पाये जाते हैं, किन्तु यहाँ सामान्य काययोग की विवक्षा से २७ भंग ही समझने चाहिए ।

उपयोग का अर्थ—जानना या देखना है । वस्तु के सामान्य (स्वरूप) को जानना अनाकार-उपयोग है और विशेष धर्म को जानना साकारोपयोग है । दूसरे शब्दों में, दर्शन को अनाकारोपयोग और ज्ञान को साकारोपयोग कहा जा सकता है ।[1]

ग्यारहवाँ—लेश्याद्वार—

२८. एवं सत्त वि पुढवीओ नेतव्वाओ । णाणत्तं लेसासु । गाहा—

काऊ य दोसु, ततियाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए ।
पंचमियाए मीसा, कण्हा, तत्तो परमकण्हा ॥७॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७३

(ख) 'आकारो—विशेषांशग्रहणशक्तिस्तेन सहेति साकारः, तद्विकलोऽनाकारः सामान्यग्राहीत्यर्थः ।'

—भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७३

[२८] रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में दस द्वारों का वर्णन किया है, उसी प्रकार से सातों पृथ्वियों (नरकभूमियों) के विषय में जान लेना चाहिए। किन्तु लेश्याओं में विशेषता है। वह इस प्रकार है—

गाथार्थ—पहली और दूसरी नरकपृथ्वी में कापोतलेश्या है, तीसरी नरकपृथ्वी में मिश्र अर्थात्—कापोत और नील, ये दो लेश्याएँ हैं, चौथी में नील लेश्या है, पाँचवीं में मिश्र अर्थात्—नील और कृष्ण, ये दो लेश्याएं हैं, छठी में कृष्ण लेश्या और सातवीं में परम कृष्ण लेश्या होती है।

विवेचन—लेश्या के सिवाय सातों नरकपृथ्वियों में शेष नौ द्वारों में समानता—प्रस्तुत सूत्र में सातों नरकपृथ्वियों में लेश्या के अतिरिक्त शेष नौ द्वारों का तथा उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि भंगों का वर्णन रत्नप्रभापृथ्वी के वर्णन के समान है।

भवनपतियों की क्रोधोपयुक्तादि वक्तव्यतापूर्वक स्थिति आदि दस द्वार—

२९. चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं केवतिया ठिइठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। तं जहा—जहन्निया ठिई जहा नेरतिया तहा, नवरं पडिलोमा भंगा भाणियव्वा—सव्वे वि ताव होज्ज लोभोवयुत्ता, अहवा लोभोवयुत्ता य मायोवउत्ते य, अहवा लोभोवयुत्ता य मायोवयुत्ता य। एतेणं गमेणं नेतव्वं जाव थणियकुमारा, नवरं णाणत्तं जाणितव्वं।

[२९ प्र.] भगवन् ! चौसठ लाख असुरकुमारावासों में के एक-एक असुरकुमारावास में रहने वाले असुरकुमारों के कितने स्थिति-स्थान कहे गए हैं ?

[२९ उ.] गौतम ! उनके स्थिति-स्थान असंख्यात कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि सब वर्णन नैरयिकों के समान जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनमें जहाँ सत्ताईस भंग आते हैं, वहां प्रतिलोम (विपरीत) समझना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है; अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं, इत्यादि रूप (गम) से जानना चाहिए। इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक समझना चाहिए। विशेषता यह है कि संहनन, संस्थान, लेश्या आदि में भिन्नता जाननी चाहिए।

एकेन्द्रियों की क्रोधोपयुक्तादि प्ररूपणापूर्वक स्थिति आदि द्वार—

३०. असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविक्काइयाणं केवतिया ठितिठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। तं जहा—जहन्निया ठिई जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती।

[३० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के असंख्यात लाख आवासों में से एक-एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिकों के कितने स्थिति-स्थान कहे गये हैं ?

[३०.उ.] गौतम ! उनके असंख्येय स्थिति-स्थान कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं— उनकी जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि यावत् उनके योग्य उत्कृष्ट स्थिति।

३१. असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविक्काइयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविक्काइयावासंसि जहन्नठितीए वट्टमाणा पुढविक्काइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! कोहोवउत्ता वि माणोवउत्ता वि मायोवउत्ता वि लोभोवउत्ता वि। एवं पुढविक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए असीति भंगा।

[३१.प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के असंख्यात लाख आवासों में से एक-एक आवास में बसने वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं या लोभोपयुक्त हैं ?

[३१.उ.] गौतम ! वे क्रोधोपयुक्त भी हैं, मानोपयुक्त भी हैं, मायोपयुक्त भी हैं, और लोभोपयुक्त भी हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के सब स्थानों में अभंगक है (पृथ्वीकायिकों की संख्या बहुत होने से उनमें एक, बहुत आदि विकल्प नहीं होते। वे सभी स्थानों में बहुत हैं।) विशेष यह है कि तेजोलेश्या में अस्सी भंग कहने चाहिए।

३२. [१] एवं आउक्काइया वि।

[२] तेउक्काइय-वाउक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं।

[३] वणप्फतिकाइया जहा पुढविक्काइया।

[३२-१] इसी प्रकार अप्काय के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

[३२-२] तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानों में अभंगक है।

[३२-३] वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में पृथ्वीकायिकों के समान समझना चाहिए।

विकलेन्द्रियों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक स्थिति आदि दसद्वार—

३३. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरतियाणं असीइ भंगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव। नवरं अब्भहिया सम्मत्ते, आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे य, एएहिं असीइ भंगा; जेहिं ठाणेहिं नेरतियाणं सत्तावीसं भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं।

[३३] जिन स्थानों में नैरयिक जीवों के अस्सी भंग कहे गये हैं, उन स्थानों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी अस्सी भंग होते हैं। विशेषता यह है कि सम्यक्त्व (सम्यग्दृष्टि) आभिनिबोधिक ज्ञान, और श्रुतज्ञान—इन तीन स्थानों में भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों के अस्सी भंग होते हैं, इतनी बात नारक जीवों से अधिक है। तथा जिन स्थानों में नारक जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, उन सभी स्थानों में यहाँ अभंगक है, अर्थात्—कोई विकल्प नहीं होते।

तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों के क्रोधोपयुक्तादि कथनपूर्वक दसद्वारनिरूपण—

३४. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायव्वं। जत्थ असीति तत्थ असीतिं चेव।

[३४] जैसा नैरयिकों के विषय में कहा, वैसा ही पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के विषय में कहना चाहिए। विशेषता यह है कि जिन-जिन स्थानों में नारक-जीवों के सत्ताईस भंग कहे गये हैं, उन-उन स्थानों में यहाँ अभंगक कहना चाहिए, और जिन स्थानों में नारकों के अस्सी भंग कहे हैं, उन स्थानों में पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों के भी अस्सी भंग कहने चाहिए।

मनुष्यों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक दसद्वार—

३५. मणुस्सा वि। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीति भंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साण वि असीति भंगा भाणियव्वा। जेसु ठाणेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं, नवरं मणुस्साणं अब्भहियं—जहन्नियाए ठिईए आहारए य असीति भंगा।

[३५] नारक जीवों में जिन-जिन स्थानों में अस्सी भंग कहे गए हैं, उन-उन स्थानों में मनुष्यों के भी अस्सी भंग कहने चाहिए। नारक जीवों में जिन-जिन स्थानों में सत्ताईस भंग कहे गए हैं उनमें मनुष्यों में अभंगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यों के जघन्य स्थिति में और आहारक शरीर में अस्सी भंग होते हैं, और यही नैरयिकों की अपेक्षा मनुष्यों में अधिक है।

वाणव्यन्तरों के क्रोधोपयुक्तपूर्वक दसद्वार—

३६. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा भवणवासी (सु. २९) नवरं णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स; जाव[1] अणुत्तरा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

[३६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का कथन भवनपति देवों के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि जो जिसका नानात्व—भिन्नत्व है, वह जान लेना चाहिए, यावत् अनुत्तरविमान तक कहना चाहिए।

'भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है'; ऐसा कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—भवनपति से लेकर वैमानिक देवों तक के क्रोधोपयुक्त आदि भंग निरूपणपूर्वक स्थिति—अवगाहनादि दसद्वारप्ररूपण— प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. २९ से ३६ तक) द्वारा शास्त्रकार ने स्थिति अवगाहना आदि दस द्वारों का प्ररूपण करते हुए उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि भंगों का प्रतिपादन किया है।

भवनपति देवों की प्रकृति नारकों की प्रकृति से भिन्न—नरक के जीवों में क्रोध अधिक होता है, वहाँ भवनपति आदि देवों में लोभ की अधिकता होती है। इसीलिए नारकों में जहां २७ भंग—क्रोध, मान, माया, लोभ इस क्रम से कहे गए थे, वहाँ देवों में इससे विपरीत क्रम से कहना चाहिए, यथा—लोभ, माया, मान, और क्रोध। देवों की प्रकृति में लोभ की अधिकता होने से समस्त भंगों में

१. 'जाव' पद से 'सोहम्म-ईसाण' से लेकर 'अणुत्तरा' (अनुत्तरदेवलोक के देव) तक के नामों की योजना कर लेनी चाहिए।

'लोभ' शब्द को बहुवचनान्त ही रखना चाहिए। यथा—**असंयोगी एक भंग**—१ सभी लोभी, **द्विकसंयोगी ६ भंग**—१ लोभी बहुत, मायी एक; २ लोभी बहुत, मायी बहुत; ३ लोभी बहुत, मानी एक; ४ लोभी बहुत, मानी बहुत; ५ लोभी बहुत, क्रोधी एक और ६ लोभी बहुत, क्रोधी बहुत।

त्रिकसंयोगी १२ भंग—१. लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक; २. लोभी बहुत, मायी एक मानी बहुत; ३. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक; ४. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी बहुत; ५. लोभी बहुत, मायी एक, क्रोधी एक, ६. लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक; ७. लोभी बहुत, मायी एक, क्रोधी एक, ८. लोभी बहुत, मायी बहुत, क्रोधी बहुत; ९. लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, १० लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी बहुत; ११. लोभी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी एक और १२. लोभी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी बहुत।

चतुःसंयोगी ८ भंग—१. लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, क्रोधी एक; २. लोभी बहुत; मायी एक, मानी एक, क्रोधी बहुत; ३. लोभी बहुत, मायी एक, मानी बहुत, क्रोधी एक, ४. लोभी बहुत, मायी एक, मानी बहुत, क्रोधी बहुत; ५. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक; ६. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी बहुत, ७. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक और ८. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी बहुत।

अन्य द्वारों में अन्तर—असुरकुमारादि संहननरहित हैं, किन्तु उनके शरीरसंघातरूप से जो पुद्गल परिणमते हैं, वे इष्ट और सुन्दर होते हैं। उनके भवधारणीय शरीर का संस्थान समचतुरस्र होता है; उत्तरवैक्रिय शरीर किसी एक संस्थान में परिणत होता है। तथा असुरकुमारादि में कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती हैं।

पृथ्वीकायादि के दश द्वार और क्रोधादियुक्त के भंग—इनके स्थितिस्थान आदि दशों ही द्वारों में अभंगक समझना चाहिए। केवल पृथ्वीकायसम्बन्धी लेश्याद्वार में तेजोलेश्या की अपेक्षा ८० भंग होते हैं। एक या अनेक देव देवलोक से च्यवकर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होते हैं तब तेजोलेश्या होती है। उनके एकत्वादि के कारण ८० भंग होते हैं। पृथ्वीकायिक में ३ शरीर—(औदारिक, तैजस्, कार्मण), शरीरसंघातरूप में मनोज्ञ-अमनोज्ञ दोनों प्रकार के पुद्गल परिणमते हैं। इनमें भवधारणीय एवं उत्तरवैक्रियशरीर भेद नहीं होते। क्रमशः चार लेश्याएँ होती हैं। ये हुण्डक संस्थानी, एकान्त मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी (मति-श्रुताज्ञान), केवल काययोगी होते हैं। इसी तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दश ही द्वार समझने चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय में देव उत्पन्न नहीं होते, इसलिए तेजोलेश्या और तत्सम्बन्धी ८० भंग नहीं होते। वायुकाय के ४ शरीर (आहारक को छोड़कर) होते हैं।

विकलेन्द्रिय जीवों से नारकों में अन्तर—चूंकि विकलेन्द्रिय जीव अल्प होते हैं, इसलिए उनमें एक-एक जीव भी कदाचित् क्रोधादि—उपयुक्त हो सकता है, विकलेन्द्रियों में मिश्रदृष्टि नहीं होती, आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान (अपर्याप्त दशा में) होने से इनमें भी ८० भंग होते हैं। नारकों में जिन-जिन स्थानों में २७ भंग बतलाए गए हैं, उन-उन स्थानों में विकलेन्द्रिय में अभंगक (भंगों का अभाव) कहना चाहिए। इनमें तेजोलेश्या नहीं होती। ये (विकलेन्द्रिय) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि तथा ज्ञानी और अज्ञानी, तथा काययोगी और वचनयोगी होते हैं।

तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों और नारकों में अन्तर—नारकों में जहाँ २७ भंग कहे गए हैं, वहाँ इनमें अभंगक कहना चाहिए; क्योंकि क्रोधादि—उपयुक्त पंचेन्द्रियतिर्यंच एक साथ वहुत पाए जाते हैं, नारकों में जहाँ ८० भंग कहे गए हैं, वहाँ इनमें भी ८० भंग होते हैं। इनमें आहारक को छोड़कर चार शरीर, वज्रऋषभनाराचादि छह संहनन तथा ६ संस्थान एवं कृष्णादि छहों लेश्याएँ होती हैं।

मनुष्यों और नारकों के कथन में अन्तर—जिन द्वारों में नारकों के ८० भंग कहे हैं, उनमें मनुष्यों के भी ८० भंग होते हैं। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर संख्यात समय अधिक तक की जघन्य स्थिति में, जघन्य तथा एक प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना से लेकर संख्यातप्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना में, और मिश्रदृष्टि में भी नारकों के समान ८० भंग ही होते हैं। जहाँ नारकों के २७ भंग कहे हैं, वहाँ मनुष्यों में अभंगक हैं, क्योंकि मनुष्य सभी कपायों से उपयुक्त वहुत पाए जाते हैं। मनुष्यों में शरीर पांच, संहनन छह, संस्थान छह, लेश्याएँ छह, दृष्टि तीन, ज्ञान पांच, अज्ञान तीन आदि होते हैं। आहारक शरीर वाले मनुष्य अत्यल्प होने से ८० भंग होते हैं। केवलज्ञान में कषाय नहीं होता।

चारों देवों सम्बन्धी कथन में अन्तर—भवनपति देवों की तरह शेष तीन देवों का वर्णन समझना। ज्योतिष्क और वैमानिकों में कुछ अन्तर है। ज्योतिष्कों में केवल एक तेजोलेश्या होती है, जबकि वैमानिकों में तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन शुभलेश्याएँ पाई जाती हैं। वैमानिकों में नियमतः तीन ज्ञान, तीन अज्ञान पाए जाते हैं। असंज्ञी जीव ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न नहीं होते, इसलिए उनमें अपर्याप्त अवस्था में भी विभंगज्ञान होता है।[1]

॥ प्रथम शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७३ से ७७ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'जावंते'

छठा उद्देशक : 'यावन्त'

सूर्य के उदयास्त क्षेत्र स्पर्शादि सम्बन्धी प्ररूपणा—

१. जावतियातो णं भंते ! ओवासंतरातो उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, अत्थमंते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव ओवासंतराओ चक्खुफासं हव्वमागच्छति ?

हंता, गोयमा ! जावतियाओ णं ओवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति अत्थमंते वि सूरिए जाव हव्वमागच्छति ।

[१ प्र.] भगवन्! जितने जितने अवकाशान्तर से अर्थात्—जितनी दूरी से उदय होता हुआ सूर्य आँखों से शीघ्र देखा जाता है, उतनी ही दूरी से क्या अस्त होता हुआ सूर्य भी दिखाई देता है ?

[१ उ.] हाँ, गौतम ! जितनी दूर से उदय होता हुआ सूर्य आँखों से दीखता है, उतनी ही दूर से अस्त होता सूर्य भी आँखों से दिखाई देता है ।

२. जावतियं णं भंते ! खेत्तं उदयंते सूरिए आतवेणं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोएति तवेति पभासेति अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खेत्तं आतवेणं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोएति तवेति पभासेति ?

हंता, गोयमा ! जावतियं णं खेत्तं जाव पभासेति ।

[२ प्र.] भगवन् ! उदय होता हुआ सूर्य अपने ताप द्वारा जितने क्षेत्र को सब प्रकार से, चारों ओर से सभी दिशाओं-विदिशाओं को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और अत्यन्त तपाता है, क्या उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी अपने ताप द्वारा सभी दिशाओं-विदिशाओं को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है ?

[२ उ.] हां, गौतम ! उदय होता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है, उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है ।

३. [१] तं भंते ! किं पुट्ठं ओभासेति अपुट्ठं ओभासेति ?

जाव[1] छद्दिसिं ओभासेति ।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से निम्नोक्त पाठ समझें—

"गोयमा ! पुट्ठं ओभासेइ नो अपुट्ठं ।

तं भंते ! ओगाढं ओभासेइ ? अणोगाढं ओभासेइ ? गोयमा ! ओगाढं ओभासेइ, नो अणोगाढं । एवं अणंतरोगाढं ओभासेइ, नो परंपरोगाढं । तं भंते ! किं अणुं ओभासइ ? बायरं ओभासेइ ? गोयमा ! अणुं पि ओभासेइ, बायरं पि ओभासेइ । तं भंते ! उड्ढं ओभासइ, तिरियं ओभासइ, अहे ओभासइ ? गोयमा ! उड्ढं पि, तिरियं पि, अहे वि ओभासइ । तं भंते ! आइं ओभासइ मज्झे ओभासइ अंते ओभासइ ? गोयमा ! आइं पि मज्झे वि अंते वि ओभासइ । तं भंते ! सविसए ओभासइ अविसए ओभासइ ? गोयमा ! सविसए ओभासइ, नो अविसए । तं भंते ! आणुपुव्विं ओभासइ ? अणाणुपुव्विं ओभासइ ? गोयमा ! आणुपुव्विं ओभासइ, नो अणाणुपुव्विं । तं भंते ! कइदिसिं ओभासइ ? गोयमा ! नियमा छद्दिसिं ति" ।

[३-१. प्र.] भगवन् ! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, क्या वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट—स्पर्श किया हुआ होता है, या अस्पृष्ट होता है ?

[३-१. उ.] गौतम ! वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट होता है और यावत् उस क्षेत्र को छहों दिशाओं में प्रकाशित करता है।

[२] एवं उज्जोवेदि ? तवेति ? पभासेति ?

जाव नियमा छद्दिसिं।

[३-२] इसी प्रकार उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है, यावत् नियमपूर्वक छहों में दिशाओं अत्यन्त तपाता है।

४. [१] से नूणं भंते ! सव्वंति सव्वावंति फुसमाणकालसमयंसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं फुसमाणे पुट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! सव्वंति जाव वत्तव्वं सिया।

[४-१. प्र.] भगवन् ! स्पर्श करने के काल-समय में सूर्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले (सर्वाय) जितने क्षेत्र को सर्व दिशाओं में सूर्य स्पर्श कर रहा होता है, क्या वह क्षेत्र 'स्पृष्ट' कहा जा सकता है ?

[४-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह 'सर्व' यावत् स्पर्श करता हुआ स्पृष्ट; ऐसा कहा जा सकता है।

[२] तं भंते ! किं पुट्ठं फुसति अपुट्ठं फुसइ ?

जाव नियमा छद्दिसिं।

[४-२ प्र.] 'भगवन् ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, या अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

[४-२ उ.] गौतम ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, यावत् नियमपूर्वक छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

विवेचन—सूर्य के उदयास्तक्षेत्रस्पर्शादिसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में सूर्य के द्वारा किये जाते हुए क्षेत्रस्पर्श तथा ताप द्वारा उक्त को प्रकाशित, प्रतापित एवं स्पृष्ट करने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

सूर्य कितनी दूर से दिखता है और क्यों ?—सूर्य के १८४ मण्डल कहे गये हैं। कर्कसंक्रान्ति में सूर्य सर्वाभ्यन्तर (सब के मध्य वाले) मण्डल में प्रवेश करता है। उस समय वह भरतक्षेत्रवासियों को साधिक ४७२६३ योजन दूर से दीखता है। इतनी दूर से दिखाई देने का कारण यह है कि चक्षु अप्राप्यकारी इन्द्रिय है, यह अपने विषय (रूप) को छुए बिना ही दूर से देख सकती है। अन्य सब इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। यहाँ **चक्खुफासं** (चक्षु:स्पर्श) शब्द दिया गया है, उसका अर्थ—आँखों का

स्पर्श होना नहीं, अपितु आँखों से दिखाई देना है। स्पर्श होने पर तो आँख अपने में रहे हुए काजल को भी नहीं देख पाती।

ओभासेइ आदि पदों के अर्थ—ओभासेइ=थोड़ा प्रकाशित होता है। उदयास्त समय का लालिमायुक्त प्रकाश अवभास कहलाता है। उज्जोएइ=उद्योतित होता है, जिससे स्थूल वस्तुएँ दिखाई देती हैं। तवेइ=तपता है—शीत को दूर करता है, उस ताप में छोटे-बड़े सभी पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं। पभासेइ=अत्यन्त तपता है; जिस ताप में छोटी से छोटी वस्तु भी दिखाई देती है।

सूर्य द्वारा क्षेत्र का अवभासादि—सूर्य जिस क्षेत्र को अवभासित आदि करता है, वह उस क्षेत्र का स्पर्श—अवगाहन करके अवभासित आदि करता है। अनन्तरावगाढ़ को अवभासितादि करता है, परम्परावगाढ़ को नहीं। वह अणु, बादर, ऊपर, नीचे, तिरछा, आदि, मध्य और अन्त सब क्षेत्र को स्वविषय में, क्रमपूर्वक, छहों दिशाओं में अवभासितादि करता है। इसीलिए इसे स्पृष्ट-क्षेत्रस्पर्शी कहा जाता है।[1]

लोकान्त-अलोकान्तादिस्पर्श-प्ररूपणा—

५. [१] लोअंते भंते ! अलोअंतं फुसति ? अलोअंते वि लोअंतं फुसति ?

हंता, गोयमा ! लोगंते अलोगंतं फुसति, अलोगंते वि लोगंतं फुसति।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या लोक का अन्त (किनारा) अलोक के अन्त को स्पर्श करता है? क्या अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है?

[५-१ उ.] हाँ, गौतम ! लोक का अन्त अलोक के अन्त को स्पर्श करता है, और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है।

[२] तं भंते ! किं पुट्ठं फुसति ?

जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

[५-२ प्र.] भगवन् ! वह जो (लोक का अन्त अलोकान्त को और अलोकान्त लोकान्त को) स्पर्श करता है, क्या वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है?

[५-२ उ.] गौतम ! यावत् नियमपूर्वक छहों दिशाओं में स्पृष्ट होता है।

६. [१] दीवंते भंते ! सागरंतं फुसति ? सागरंते वि दीवंतं फुसति ?

हंता, जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

[६-१ प्र.] भगवन् क्या द्वीप का अन्त (किनारा) समुद्र के अन्त को स्पर्श करता है? और समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है?

[६-१ उ.] हाँ गौतम ! ····यावत्—नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

[२] एवं एतेणं अभिलावेणं उदयंते पोदंतं, छिद्दंते दूसंतं, छायंते आतवंतं ?

जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७८.

[६-२ प्र.] भगवन् ! क्या इसी प्रकार इसी अभिलाप से (इन्हीं शब्दों में) पानी का किनारा, पोत (नौका-जहाज) के किनारे को और पोत का किनारा पानी के किनारे को स्पर्श करता है ? क्या छेद का किनारा वस्त्र के किनारे को और वस्त्र का किनारा छेद के किनारे को स्पर्श करता है ? और क्या छाया का अन्त आतप (धूप) के अन्त को और आतप का अन्त छाया के अन्त को स्पर्श करता है ?

[६-२ उ.] हाँ, गौतम ! यावत् नियमपूर्वक छहों दिशाओं को स्पर्श करता है।

विवेचन—लोकान्त-अलोकान्तादिस्पर्श-प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों में लोकान्त और अलोकान्त, द्वीपान्त और सागरान्त, जलान्त और पोतान्त छेदान्त और वस्त्रान्त तथा छायान्त और आतपान्त के (छहों दिशाओं से स्पृष्ट) स्पर्श का निरूपण किया गया है। लोकान्त अलोकान्त से और अलोकान्त लोकान्त से छहों दिशाओं में स्पृष्ट है। उसी प्रकार सागरान्त द्वीपान्त को परस्पर स्पर्श करता है।[1]

लोक-अलोक—जहाँ धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकाय को पूर्णज्ञानियों ने विद्यमान देखा, उसे 'लोक' संज्ञा दी, और जहाँ केवल आकाश देखा उस भाग को अलोक संज्ञा दी।

चौबीस दण्डकों में अठारह-पापस्थान-क्रिया-स्पर्श प्ररूपणा—

७. [१] अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणातिवातेणं किरिया कज्जति ?

हंता, अत्थि ।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है ?

[७-१ उ.] हाँ, गौतम ! की जाती है।

[२] सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति ? अपुट्ठा कज्जति ?

जाव निव्वाघातेणं छद्दिसिं, वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं ।

[७-२ प्र.] भगवन् ! की जाने वाली वह प्राणातिपातक्रिया क्या स्पृष्ट है, या अस्पृष्ट है ?

[७-२ उ.] गौतम !....यावत् व्याघात न हो तो छहों दिशाओं को और व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पांच दिशाओं को स्पर्श करती है।

[३] सा भंते ! किं कडा कज्जति ? अकडा कज्जति ?

गोयमा ! कडा कज्जति, नो अकडा कज्जति ।

[७-३ प्र.] भगवन् ! की जाने वाली क्या वह (प्राणातिपात) क्रिया 'कृत' है अथवा अकृत ?

[७-३ उ.] गौतम ! वह क्रिया कृत है, अकृत नहीं।

[४] सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जति ? परकडा कज्जति ? तदुभयकडा कज्जति ?

गोयमा ! अत्तकडा कज्जति, णो परकडा कज्जति, णो तदुभयकडा कज्जति ।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७८-७९

[७-४ प्र.] भगवन् ! की जाने वाली वह क्रिया क्या आत्मकृत है, परकृत है, अथवा उभयकृत है ?

[७-४ उ.] गौतम ! वह क्रिया आत्मकृत है, किन्तु परकृत या उभयकृत नहीं।

[५] सा भंते ! किं आणुपुव्विकडा कज्जति ? अणाणुपुव्विकडा कज्जति ?

गोयमा ! आणुपुव्विकडा कज्जति, नो अणाणुपुव्विकडा, कज्जति। जा य कडा, जा य कज्जति, जा य कज्जिस्सति सव्वा सा आणुपुव्विकडा, नो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया।

[७-५ प्र.] भगवन् ! जो क्रिया की जाती है, वह क्या आनुपूर्वी—अनुक्रमपूर्वक की जाती है, या विना अनुक्रम से (पूर्व-पश्चात् के विना) की जाती है ?

[७-५ उ.] गौतम ! वह अनुक्रमपूर्वक की जाती है, किन्तु विना अनुक्रम से नहीं की जाती। जो क्रिया की गई है, या जो क्रिया की जा रही है, अथवा जो क्रिया की जाएगी, वह सब अनुक्रम-पूर्वक कृत है। किन्तु विना अनुक्रमपूर्वक कृत नहीं है, ऐसा कहना चाहिए।

८. [१] अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणातिवायकिरिया कज्जति ?

हंता, अत्थि।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिकों द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है ?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम ! की जाती है।

[२] सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति ? अपुट्ठा कज्जति ?

जाव नियमा छद्दिसिं कज्जति।

[८-२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह स्पृष्ट की जाती है या अस्पृष्ट की जाती है ?

[८-२ उ.] गौतम ! वह यावत् नियम से छहों दिशाओं में की जाती है।

[३] सा भंते ! किं कडा कज्जति ? अकडा कज्जति ?

तं चेव जाव[1] नो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया।

[८-३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह क्या कृत है अथवा अकृत है ?

[८-३ उ.] गौतम ! वह पहले की तरह जानना चाहिए, यावत्—वह अनुक्रमपूर्वक कृत है, अननुपूर्वक कृत नहीं; ऐसा कहना चाहिए।

९. जहा नेरइया (सु. ८) तहा एगिंदियवज्जा भाणितव्वा जाव[2] वेमाणिया।

[९] नैरयिकों के समान एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिकों तक सब दण्डकों में कहना चाहिए।

१०. एगिंदिया जहा जीवा (सु. ७) तहा भाणियव्वा।

---

१. 'जाव' पद से सू. ७-५ में अंकित 'आणुपुव्विकडा कज्जति' से लेकर '... त्ति वत्तव्वं सिया' तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

२. 'जाव' पद से द्वीन्द्रियादि से लेकर वैमानिकपर्यन्त का पाठ समझना चाहिए।

[१०] एकेन्द्रियों के विषय में औधिक (सामान्य) जीवों की भांति कहना चाहिए।

११. जहा पाणाइवाते (सु. ७-१०) तहा मुसावादे तहा अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले एवं एते अट्ठारस, चउवीसं दंडगा भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोतमे समणं भगवं जाव विहरति।

[११] प्राणातिपात (क्रिया) के समान मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक इन अठारह ही पापस्थानों के विषय में चौबीस दण्डक कहने चाहिए।

"हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है" यों कहकर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना—नमस्कार करके यावत् विचरते हैं।

विवेचन—चौबीस दण्डकों में अष्टादशपापस्थान क्रिया-स्पर्शप्ररूपणा—प्रस्तुत पांच सूत्रों में सामान्य जीवों, नैरयिकों तथा शेष सभी दण्डकों में प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक की क्रिया के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से प्रश्नोत्तरों का निरूपण है।

प्राणातिपातादि क्रिया के सम्बन्ध में निष्कर्ष—(१) जीव प्राणातिपातादि की क्रिया स्वयं करते हैं, वे विना किये नहीं होतीं। (२) ये क्रियाएँ मन, वचन या काया से स्पृष्ट होती हैं। (३) ये क्रियाएँ करने से लगती हैं, बिना किये नहीं लगतीं। फिर भले ही वह क्रिया मिथ्यात्वादि किसी कारण से की जाएँ, (४) क्रियाएँ स्वयं करने से लगती हैं, दूसरे के (ईश्वर, काल आदि के) करने से नहीं लगतीं, (५) ये क्रियाएँ अनुक्रमपूर्वक कृत होती हैं।

कुछ शब्दों की व्याख्या—मोहनीयकर्म के उदय से चित्त में जो उद्वेग होता है, उसे **अरति** और विषयानुराग को **रति** कहते हैं। लड़ाई-झगड़ा करना **कलह** है, असद्भूत दोषों को प्रकट रूप से जाहिर करना **'अभ्याख्यान'** और गुप्तरूप से जाहिर करना या पीठ पीछे दोष प्रकट करना **पैशुन्य** है। दूसरे की निन्दा करना **पर-परिवाद** है, मायापूर्वक झूठ बोलना **मायामृषावाद** है, श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्यादर्शन है, वही शल्यरूप होने से **मिथ्यादर्शनशल्य** है।[1]

रोह अनगार का वर्णन—

१२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी रोहे नामं अणगारे पगतिभद्दए पगतिमउए पगतिविणीते पगति उवसंते पगति पतणुकोह-माण-माय-लोभे मिदुमद्दवसंपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगते संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तए णं से रोहे नामं अणगारे जातसड्ढे जाव[2] पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[१२] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) रोह नामक अनगार थे। वे प्रकृति से भद्र, प्रकृति से मृदु (कोमल), प्रकृति से विनीत, प्रकृति से

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८०

२. 'जाव' पद से प्रथम उद्देशक के उपोद्घात में वर्णित श्री गौतमवर्णन में प्रयुक्त **'जायसंसाए जायकोउहले'** इत्यादि समस्त विशेषणरूप पद यहां समझ लेने चाहिए।

उपशान्त, अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाले, अत्यन्त निरहंकारता-सम्पन्न, गुरु समाश्रित (गुरु-भक्ति में लीन), किसी को संताप न पहुँचाने वाले, विनयमूर्ति थे। वे रोह अनगार ऊर्ध्वजानु (घुटने ऊपर करके) और नीचे की ओर सिर झुकाए हुए, ध्यान रूपी कोष्ठक (कोठे) में प्रविष्ट, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप विचरते थे। तत्पश्चात् वह रोह अनगार जातश्रद्ध होकर यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—रोह अनगार और भगवान् से प्रश्न पूछने की तैयारी—प्रकृति से भद्र एवं विनीत रोह अनगार उत्कुटासन से बैठे ध्यान कोष्ठक में लीन होकर तत्त्वविचार कर रहे थे, तभी उनके मन में कुछ प्रश्न उद्भूत हुए, उन्हें पूछने के लिए वे विनयपूर्वक भगवान् के समक्ष उपस्थित हुए; यही वर्णन प्रस्तुत सूत्र में प्रस्तुत किया गया है।

रोह अनगार के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर—

१३. पुव्विं भंते ! लोए ? पच्छा अलोए ? पुव्विं अलोए ? पच्छा लोए ?

रोहा ! लोए य अलोए य पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वि ते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! ।

[१३ प्र.] भगवन् ! पहले लोक है, और पीछे अलोक है ? अथवा पहले अलोक और पीछे लोक है ?

[१३ उ.] रोह ! लोक और अलोक, पहले भी हैं और पीछे भी हैं। ये दोनों ही शाश्वत-भाव हैं। हे रोह ! इन दोनों में 'यह पहला और यह पिछला', ऐसा क्रम नहीं है।

१४. पुव्विं भंते ! जीवा ? पच्छा अजीवा ? पुव्विं अजीवा ? पच्छा जीवा ?

जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य अजीवा य।

[१४ प्र.] भगवन् ! पहले जीव और पीछे अजीव है, या पहले अजीव और पीछे जीव है ?

[१४ उ.] रोह ! जैसा लोक और अलोक के विषय में कहा है, वैसा ही जीवों और अजीवों के विषय में समझना चाहिए।

१५. एवं भवसिद्धिया[1] य अभवसिद्धिया य, सिद्धी असिद्धी, सिद्धा असिद्धा।

[१५] इसी प्रकार भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक, सिद्धि और असिद्धि तथा सिद्ध और संसारी के विषय में भी जानना चाहिए।

१६. पुव्विं भंते ! अंडए ? पच्छा कुक्कुडी ? पुव्विं कुक्कुडी ? पच्छा अंडए ?

रोहा ! से णं अंडए कतो ?

भगवं ! तं कुक्कुडीतो।

---

१. भवसिद्धिया—भविष्यतीति भवा, भवसिद्धिः निर्वृत्तिर्येषां ते, भव्या इत्यर्थः।
भविष्य में जिनकी सिद्धि-मुक्ति होगी, वे भव्य भवसिद्धिक होते हैं।

सा णं कुक्कुडी कतो ?

भंते ! अंडगातो ।

एवामेव रोहा ! से य अंडए सा य कुक्कुडी, पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वेते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१६ प्र.] भगवन् ! पहले अण्डा और फिर मुर्गी है ? या पहले मुर्गी और फिर अण्डा है ?

[१६ उ.] (भगवान्—) हे रोह ! वह अण्डा कहाँ से आया ?

(रोह—) भगवन् ! वह मुर्गी से आया।

(भगवान्—) वह मुर्गी कहाँ से आई ?

(रोह—) भगवन् ! वह अण्डे से हुई।

(भगवान्—) इसी प्रकार हे रोह ! मुर्गी और अण्डा पहले भी है, और पीछे भी है। ये दोनों शाश्वतभाव हैं। हे रोह ! इन दोनों में पहले-पीछे का क्रम नहीं है।

१७. पुव्विं भंते ! लोअंते ? पच्छा अलोयंते ? पुव्वं अलोअंते ? पच्छा लोअंते ?

रोहा ! लोअंते य अलोअंते य जाव[1] अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१७ प्र.] भगवन् ! पहले लोकान्त और फिर अलोकान्त है ? अथवा पहले अलोकान्त और फिर लोकान्त है ?

[१७ उ.] रोह ! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनों में यावत् कोई क्रम नहीं है।

१८. पुव्विं भंते ! लोअंते ? पच्छा सत्तमे ओवासंतरे ? पुच्छा।

रोहा ! लोअंते य सत्तमे य ओवासंतरे पुव्विं पेते जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१८ प्र.] भगवन् ! पहले लोकान्त है और फिर सातवाँ अवकाशान्तर है ? अथवा पहले सातवाँ अवकाशान्तर है और पीछे लोकान्त है ?

[१८ उ.] हे रोह ! लोकान्त और सप्तम अवकाशान्तर, ये दोनों पहले भी हैं और पीछे भी हैं। इस प्रकार यावत्—हे रोह! इन दोनों में पहले-पीछे का क्रम नहीं है।

१९. एवं लोअंते य सत्तमे य तणुवाते। एवं घणवाते, घणोदही, सत्तमा पुढवी।

[१९] इसी प्रकार लोकान्त और सप्तम तनुवात, इसी प्रकार घनवात, घनोदधि और सातवीं पृथ्वी के लिए समझना चाहिए।

२०. एवं लोअंते एक्केक्केणं संजोएतव्वे इमेहिं ठाणेहिं, तं जहा—

ओवास वात घण उदही पुढवी दीवा य सागरा वासा।
नेरइयादी अत्थिय समया कम्माइं लेस्साओ ॥१॥

---

१. 'जाव' पद से सू. १६ में अंकित 'पुव्विं पेते' से लेकर 'अणाणुपुव्वी एसा रोहा' तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

दिट्ठी दंसण णाणा सण्ण सरीरा य जोग उवओगे ।

दव्व पदेसा पज्जव अद्धा, किं पुव्वि लोयंते ? ॥२॥

पुव्वि भंते ! लोयंते पच्छा सव्वद्धा ? ० ।

[२०] इस प्रकार निम्नलिखित स्थानों में से प्रत्येक के साथ लोकान्त को जोड़ना चाहिए; यथा—(गाथार्थ—) अवकाशान्तर, वात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष (क्षेत्र), नारक आदि जीव (चौबीस दण्डक के प्राणी), अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य, प्रदेश, पर्याय और काल (अद्धा); क्या ये पहले हैं और लोकान्त पीछे है ? अथवा हे भगवन् ! क्या लोकान्त पहले और सर्वाद्धा (सर्व काल) पीछे है ?

२१. जहा लोयंतेणं संजोइया सव्वे ठाणा एते, एवं अलोयंतेण वि संजोएतव्वा सव्वे ।

[२१] जैसे लोकान्त के साथ (पूर्वोक्त) सभी स्थानों का संयोग किया, उसी प्रकार अलोकान्त के साथ इन सभी स्थानों को जोड़ना चाहिए ।

२२. पुव्वि भंते ! सत्तमे ओवासंतरे ? पच्छा सत्तमे तणुवाते ?

एवं सत्तमं ओवासंतरं सव्वेहिं समं संजोएतव्वं जाव[1] सव्वद्धाए ।

[२२ प्र.] भगवन् ! पहले सप्तम अवकाशान्तर है और पीछे सप्तम तनुवात है ?

[२२ उ.] हे रोह ! इसी प्रकार सप्तम अवकाशान्तर को पूर्वोक्त सब स्थानों के साथ जोड़ना चाहिए । इसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक समझना चाहिए ।

२३. पुव्वि भंते ! सत्तमे तणुवाते ? पच्छा सत्तमे घणवाते ?

एयं पि तहेव नेतव्वं जाव सव्वद्धा ।

[२३ प्र.] भगवन् ! पहले सप्तम तनुवात है और पीछे सप्तम घनवात है ?

[२३ उ.] रोह ! यह भी उसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक जानना चाहिए ।

२४. एवं उवरिल्लं एक्केक्कं संजोयंतेणं जो जो हेट्ठिल्लो तं तं छड्डेंतेणं नेयव्वं जाव अतीत-अणागतद्धा पच्छा सव्वद्धा जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति ! जाव[2] विहरति ।

[२४] इस प्रकार ऊपर के एक-एक (स्थान) का संयोग करते हुए और नीचे का जो-जो स्थान हो, उसे छोड़ते हुए पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत् अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा (सर्वकाल) तक, यावत् हे रोह ! इसमें कोई पूर्वापर का क्रम नहीं होता ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर रोह अनगार तप संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ सू. २० में अंकित गाथाद्वयगत पदों की योजना कर लेनी चाहिए ।

२ 'जाव' पद 'भगवं महावीरं तिक्खुत्तो ···पज्जुवासमाणे' पाठ का सूचक है ।

विवेचन—रोह अनगार के प्रश्न : भगवान् महावीर के उत्तर—प्रस्तुत बारह सूत्रों (१३ से-२४ तक) में लोक-अलोक, जीव-अजीव, भवसिद्धिक-अभवसिद्धक, सिद्धि-असिद्धि, सिद्ध-संसारी, लोकान्त-अलोकान्त, अवकाशान्तर, तनुवात, घनवात, घनोदधि, सप्त पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष, नारकी, आदि चौबीस दण्डक के जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य प्रदेश और पर्याय तथा काल, इनमें परस्पर पूर्वापर क्रम के संबंध में रोहक अनगार द्वारा पूछे गए प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त उत्तर अंकित हैं।

इन प्रश्नों के उत्थान के कारण—कई मतवादी लोक को बना हुआ, विशेषतः ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं, इसी तरह कई लोक आदि को शून्य मानते हैं। जीव-अजीव दोनों को ईश्वरकृत मानते हैं, कई मतवादी जीवों को पंचमहाभूतों (जड़) से उत्पन्न मानते हैं, कई लोग संसार से सिद्ध मानते हैं, इसलिए कहते हैं—पहले संसार हुआ, उसके बाद सिद्धि या सिद्ध हुए। इसी प्रकार कई वर्तमान या भूतकाल को पहले और भविष्य को बाद में हुआ मानते हैं, इस प्रकार तीनों कालों को आदि मानते हैं। विभिन्न दार्शनिक चारों गति के जीवों की उत्पत्ति के संबंध में आगे-पीछे की कल्पना करते हैं। इन सब दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में रोह-अनगार के मन में लोक-अलोक, जीव-अजीव आदि विभिन्न पदार्थों के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और भगवान् से उसके समाधानार्थ उन्होंने विभिन्न प्रश्न प्रस्तुत किये।

भगवान् ने कहा—इन सब में पहले पीछे के क्रम का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ये सब शाश्वत और अनादिकालीन हैं। इन्हें किसी ने बनाया नहीं है। कर्म आदि का कर्त्ता आत्मा है किन्तु प्रवाह रूप से वे भी अनादि-सान्त हैं। तीनों ही काल द्रव्यदृष्टि से अनादि शाश्वत है, इनमें भी आगे पीछे का क्रम नहीं होता।[1]

अष्टविधलोकस्थिति का सदृष्टान्त-निरूपण—

२५. [१] भंते त्ति भगवं गोतमे समणं जाव एवं वदासि—कतिविहा णं भंते ! लोयट्ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता। तं जहा--आगासपतिट्ठिते वाते १, वातपतिट्ठिते उदही २, उदहिपतिट्ठिता पुढवी ३, पुढविपतिट्ठिता तस-थावरा पाणा ४, अजीवा जीवपतिट्ठिता ५, जीवा कम्मपतिट्ठिता ६, अजीवा जीवसंगहिता ७, जीवा कम्मसंगहिता ८।

[२५-१ प्र.] 'हे भगवन्' ! ऐसा कह कर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् ...... इस प्रकार कहा—भगवन् ! लोक की स्थिति कितने प्रकार की कही गई है ?

[२५-१ उ.] 'गौतम ! लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—आकाश के आधार पर वायु (तनुवात) टिका हुआ है; वायु के आधार पर उदधि है; उदधि के आधार पर पृथ्वी है, त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी के आधार पर हैं; अजीव जीवों के आधार पर टिके हैं; (सकर्मक जीव) कर्म के आधार पर हैं; अजीवों को जीवों ने संग्रह कर रखा है, जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रखा है।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८१, ८२

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति अट्ठविहा जाव जीवा कम्मसंगहिता ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेति, वत्थिमाडोवित्ता उप्पिं सितं बंधति, बंधित्ता मज्झे णं गंठिं बंधति, मज्झे गंठिं बंधित्ता उवरिल्लं गंठिं मुयति, मुइत्ता उवरिल्लं देसं वामेति, उवरिल्लं देसं वामेत्ता उवरिल्लं आउयायस्स पूरेति,पूरित्ता उप्पिं सितं बंधति, बंधित्ता मज्झिल्लं गंठिं मुयति। से नूणं गोतमा ! से आउयाए तस्स वाउयायस्स उप्पिं उवरितले चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति।

से तेणट्ठेणं जाव जीवा कम्मसंगहिता।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! इस प्रकार कहने का क्या कारण है कि लोक की स्थिति आठ प्रकार की है और यावत् जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रखा है ?

[२५-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु से (हवा भर कर) फुलावे; फिर उस मशक का मुख बांध दे, तत्पश्चात् मशक के बीच के भाग में गांठ बांधें; फिर मशक का मुँह खोल दे और उसके भीतर की हवा निकाल दे; तदनन्तर उस मशक के ऊपर के (खाली) भाग में पानी भरे; फिर मशक का मुख बंद कर दे, तत्पश्चात् उस मशक की बीच की गांठ खोल दे, तो हे गौतम ! वह भरा हुआ पानी क्या उस हवा के ऊपर ही ऊपर के भाग में रहेगा ?

(गौतम—) हाँ, भगवान् ! रहेगा।

(भगवान्—) 'हे गौतम ! इसीलिए मैं कहता हूं कि यावत्—कर्मों को जीवों ने संग्रह कर रखा है।

[३] से जहा वा केई पुरिसे वत्थिमाडोवेति, आडोवित्ता कडीए बंधति, बंधित्ता अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंसि ओगाहेज्जा। से नूणं गोतमा ! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिमतले चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति।

एवं वा अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता जाव जीवा कम्मसंगहिता।

[२५-३ उ.] अथवा हे गौतम ! कोई पुरुष चमड़े की उस मशक को हवा से फुला कर अपनी कमर पर बांध लें, फिर वह पुरुष अथाह, दुस्तर और पुरुष-परिमाण से (जिसमें पुरुष मस्तक तक डूब जाए, उससे) भी अधिक पानी में प्रवेश करे; तो हे गौतम ! वह पुरुष पानी की ऊपरी सतह पर ही रहेगा ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! रहेगा।

(भगवान्—) हे गौतम ! इसी प्रकार लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है, यावत्—कर्मों ने जीवों को संगृहीत कर रखा है।

विवेचन - अष्टविध लोकस्थिति का सदृष्टान्त निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में लोकस्थिति के सम्बन्ध में श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का भगवान् द्वारा दो दृष्टान्तों द्वारा दिया गया समाधान अंकित है।

लोकस्थिति का प्रश्न और उसका यथाथ समाधान—कई मतावलम्वी पृथ्वी को शेषनाग पर, शेषनाग कच्छप पर अथवा शेषनाग के फन पर टिकी हुई मानते हैं। कोई पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं, कई दार्शनिक पृथ्वी को सत्य पर आधारित मानते हैं; इन सव मान्यताओं से लोकस्थिति का प्रश्न हल नहीं होता; इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उठाया है। भगवान् ने प्रत्यक्ष सिद्ध समाधान दिया है कि सर्वप्रथम आकाश स्वप्रतिष्ठित है। उस पर तनुवात (पतली हवा) फिर घनवात (मोटी हवा), उस पर घनोदधि (जमा हुआ मोटा पानी) और उस पर यह पृथ्वी टिकी हुई है। पृथ्वी के टिकने की तथा पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीवों के रहने की वात प्रायिक एवं आपेक्षिक है। इस पृथ्वी के अतिरिक्त और भी मेरुपर्वत, आकाश, द्वीप, सागर, देवलोक, नरकादि क्षेत्र हैं, जहाँ जीव रहते हैं।

कर्मों के आधार पर जीव—निश्चयनय की दृष्टि से जीव अपने ही आधार पर टिके हुए हैं, किन्तु व्यवहारदृष्टि से सकर्मक जीवों की अपेक्षा से यह कथन किया गया है। जीव कर्मों से यानी नारकादि भावों से प्रतिष्ठित अवस्थित हैं।[1]

जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध—

२६. [१] अत्थि णं भंते ! जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नमोगाढा अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ?

हंता, अत्थि।

[२६-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल परस्पर सम्वद्ध हैं ?, परस्पर एक दूसरे से स्पृष्ट हैं ?, परस्पर गाढ़ सम्वद्ध (मिले हुए) हैं, परस्पर स्निग्धता (चिकनाई) से प्रतिवद्ध (जुड़े हुए) हैं, (अथवा) परस्पर घट्टित (गाढ़) हो कर रहे हुए हैं ?

[२६-१ उ.] हाँ, गौतम ! ये परस्पर इसी प्रकार रहे हुए हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव चिट्ठंति ?

गोयमा ! से जहानामए हरदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठति, अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सदासवं सतछिड्डं ओगाहेज्जा। से नूणं गोतमा ! सा णावा तेहिं आसवद्दारेहिं आपूरमाणी आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! अत्थि णं जीवा य जाव चिट्ठंति।

[२६-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि—यावत् जीव और पुद्गल इस प्रकार रहे हुए हैं ?

[२६-२ उ.] गौतम ! जैसे—कोई एक तालाव हो, वह जल से पूर्ण हो, पानी से लबालव भरा हुआ हो, पानी से छलक रहा हो और पानी से वढ़ रहा हो, वह पानी से भरे हुए घड़े के समान है। उस तालाव में कोई पुरुष एक ऐसी वड़ी नौका, जिसमें सौ छोटे छिद्र हों (अथवा सदा छेद

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८१-८२

वाली) और सौ बड़े छिद्र हों; डाल दे तो हे गौतम ! वह नौका, उन-उन छिद्रों द्वारा पानी से भरती हुई, अत्यन्त भरती हुई, जल से परिपूर्ण, पानी से लबालब भरी हुई, पानी से छलकती हुई, बढ़ती हुई क्या भरे हुए घड़े के समान हो जाएगी ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! हो जाएगी।

(भगवन्—) इसलिए हे गौतम ! मैं कहता हूँ—यावत् जीव और पुद्गल परस्पर घट्टित हो कर रहे हुए हैं।

विवेचन—जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध—प्रस्तुत सूत्र में जीव और पुद्गलों के परस्पर गाढ़ सम्बन्ध को दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध तालाब और नौका के समान—जैसे कोई व्यक्ति जल से परिपूर्ण तालाब में छिद्रों वाली नौका डाले तो उन छिद्रों से पानी भरते-भरते नौका जल में डूब जाती है और तालाब के तलभाग में जा कर बैठ जाती है। फिर जिस तरह नौका और तालाब का पानी एकमेक हो कर रहते हैं, वैसे ही जीव और (कर्म) पुद्गल परस्पर सम्बद्ध एवं एकमेक होकर रहते हैं।[1] इसी प्रकार संसार रूपी तालाब के पुद्गलरूपी जल में जीव रूपी सछिद्र नौका डूब जाने पर पुद्गल और जीव एकमेक हो जाते हैं।

सूक्ष्मस्नेहकायपात सम्बन्धी प्ररूपणा—

२७. [१] अत्थि णं भंते ! सदा समितं सुहुमे सिणेहकाये पवडति ?

हंता, अत्थि।

[२७-१ प्र.] भगवन् ! क्या सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार का सूक्ष्म जल), सदा परिमित (सपरिमाण) पड़ता है ?

[२७-१ उ.] हां, गौतम ! पड़ता है।

[२] से भंते ! किं उड्ढे पवडति, अहे पवडति तिरिए पवडति ?

गोतमा ! उड्ढे वि पवडति, अहे वि पवडति, तिरिए वि पवडति।

[२७-२ प्र.] भगवन् ! वह सूक्ष्म स्नेहकाय ऊपर पड़ता है, नीचे पड़ता है या तिरछा पड़ता है ?

[२७-२ उ.] गौतम ! वह उपर (ऊर्ध्वलोक में वर्तुल वैताढ्यादि में) भी पड़ता है, नीचे (अधोलोकग्रामों में) भी पड़ती है और तिरछा (तिर्यग्लोक में) भी पड़ता है।

[३] जहा से बादरे आउकाए अन्नमन्नसमाउत्ते चिरं पि दीहकालं चिट्ठति तहा णं से वि ?

नो इणट्ठे समट्ठे, से णं खिप्पामेव विद्धंसमागच्छति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति !०।

॥ छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८२

[२७-३ प्र.] भगवन् ! क्या वह सूक्ष्म स्नेहकाय स्थूल अप्काय की भाँति परस्पर समायुक्त होकर बहुत दीर्घकाल तक रहता है ?

[२७-३ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है; क्योंकि वह (सूक्ष्म स्नेहकाय) शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह उसी प्रकार है, यों कहकर गौतमस्वामी तप-संयम द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं ।

विवेचन—सूक्ष्मस्नेहकायपात के सम्बन्ध में प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (२७-१/२/३) में सूक्ष्म-स्नेह (अप्) काय के गिरने के सम्बन्ध में तीन प्रश्नोत्तर अंकित हैं ।

'सया समियं' का दूसरा अर्थ—इन पदों का एक अर्थ तो ऊपर दिया गया है । दूसरा अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—सदा अर्थात्—सभी ऋतुओं में, समित—अर्थात्—रात्रि तथा दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में । काल की विशेषता से वह स्नेहकाय कभी थोड़ा और कभी अपेक्षाकृत अधिक होता है ।[1]

।। प्रथम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ।।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८३

सत्तमो उद्देसओ : नेरइए

सप्तम उद्देशक : नैरयिक

नारकादि चौबीस दण्डकों के उत्पाद, उद्वर्तन और आहारसम्बन्धी प्ररूपणा—

१. [१] नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणंदेसं उववज्जति १, देसेणंसव्वं उववज्जति २, सव्वेणंदेसं उववज्जति ३, सव्वेणंसव्वं उववज्जति ४ ?

गोयमा ! नो देसेणंदेसं उववज्जति, नो देसेणंसव्वं उववज्जति, नो सव्वेणंदेसं उववज्जति, सव्वेणंसव्वं उववज्जति ।

[२] जहा नेरइए एवं जाव वेमाणिए । १ ।

[१-१ प्र.] 'भगवन् ! नारकों में उत्पन्न होता हुआ नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है या एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, या सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता अथवा सब भागों से सब भागों को आश्रय करके उत्पन्न होता है ?

[१-१ उ.] गौतम ! नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न नहीं होता; एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता, और सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता; किन्तु सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ।

[१-२] नारकों के समान वैमानिकों तक इसी प्रकार समझना चाहिए ।१।

२. [१] नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणंदेसं आहारेति १, देसेणंसव्वं आहारेति २, सव्वेणंदेसं आहारेति ३, सव्वेणंसव्वं आहारेति ४ ?

गोयमा ! नो देसेणंदेसं आहारेति, नो देसेणंसव्वं आहारेति, सव्वेण वा देसं आहारेति, सव्वेण वा सव्वं आहारेति ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । २ ।

[२-१ प्र.] नारकों में उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार करता है, सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागों से सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है ?

[२-१ उ.] गौतम ! वह एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार नहीं करता, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार नहीं करता, किन्तु सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागों से सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है ।

[२-२] नारकों के समान ही वैमानिकों तक इसी प्रकार जानना ।

३. नेरइए णं भंते ! नेरइएहितो उव्वट्टमाणे किं देसेणंदेसं उव्वट्टति ?

जहा उववज्जमाणे (सु. १) तहेव उव्वट्टमाणे वि दंडगो भाणितव्वो । ३ ।

[३ प्र.] भगवन् ! नारकों में से उद्वर्तमान — निकलता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता (उद्वर्तन करता) है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न करना चाहिए।

[३ उ.] गौतम ! जैसे उत्पन्न होते हुए नैरयिक आदि के विषय में कहा था, वैसे ही उद्वर्तमान नैरयिक आदि के (चौवीस ही दण्डकों के) विषय में दण्डक कहना चाहिए।

४. [१] नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो उव्वट्टमाणे किं देसेणंदेसं आहारेति ?

तहेव जाव (सु. २ [१]), सव्वेण वा देसं आहारेति, सव्वेण वा सव्वं आहारेति।

[२] एवं जाव वेमाणिए। ४।

[४-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[४-१ उ.] गौतम ! यह भी पूर्वसूत्र (२-१) के समान जानना चाहिए; यावत् सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागों से सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है।

[४-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक जानना चाहिए।

५. [१] नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणंदेसं उववन्ने ?

एसो वि तहेव जाव सव्वेणंसव्वं उववन्ने।

[२] जहा उववज्जमाणे उव्वट्टमाणे य चत्तारि दंडगा तहा उववन्नेणं उव्वट्टेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। सव्वेणंसव्वं उववन्ने; सव्वेण वा देसं आहारेति, सव्वेण वा सव्वं आहारेति, एएणं अभिलावेणं उववन्ने वि, उव्वट्टे वि नेयव्वं। ८।

[५-१ प्र.] भगवन् ! नारकों में उत्पन्न हुआ नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न हुआ है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[५-१ उ.] गौतम ! यह दण्डक भी उसी प्रकार जानना, यावत्—सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है।

[५-२] जैसे उत्पद्यमान और उद्वर्तमान के विषय में चार दण्डक कहे, वैसे ही उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय में भी चार दण्डक कहने चाहिए। (यथा—'सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न', तथा सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके आहार, या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार; इन शब्दों द्वारा उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

६. नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणंअद्धं उववज्जति १ ? अद्धेणंसव्वं उववज्जति २ ? सव्वेणंअद्धं उववज्जइ ३ ? सव्वेणंसव्वं उववज्जति ४ ?

जहा पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा भाणितव्वा। नवरं जहिं देसेणंदेसं उववज्जति तहिं अद्धेणंअद्धं उववज्जावेयव्वं, एयं णाणत्तं। एते सव्वे वि सोलस दंडगा भाणियव्वा।

[६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों में उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? या अर्द्धभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? अथवा सर्वभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ?

[६ उ.] गौतम ! जैसे पहले वालों के साथ आठ दण्डक कहे हैं, वैसे ही 'अर्द्ध' के साथ भी आठ दण्डक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि—जहाँ 'एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है,' ऐसा पाठ आए, वहाँ 'अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है', ऐसा पाठ बोलना चाहिए। बस यही भिन्नता है।

ये सब मिल कर कुल सोलह दण्डक होते हैं।

विवेचन—नारक आदि चौवीस दण्डकों के उत्पाद, उद्वर्तन और आहार के विषय में प्रश्नोत्तर— नारक आदि जीवों की उत्पत्ति, उद्वर्तन एवं आहार के संबंध में एकदेश-सर्वदेश, अथवा अर्धदेश-सर्वदेश विषयक प्रश्नोत्तर प्रस्तुत ६ सूत्रों में अंकित हैं।

प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों के १६ दण्डक—देश और सर्व के द्वारा उत्पाद आदि के ८ दण्डक (विकल्प या भंग) इस प्रकार बनते हैं—(१) उत्पन्न होता हुआ, (२) उत्पन्न होता हुआ आहार लेता है, (३) उद्वर्तनान (निकलता हुआ), (४) उद्वर्तमान आहार लेता है, (५) उत्पन्न हुआ, (६) उत्पन्न हुआ आहार लेता है, (७) उद्वृत्त (निकलता हुआ) और (८) उद्वृत्त हुआ आहार लेता है।

इसी प्रकार अर्द्ध और सर्व के द्वारा जीव के उत्पादादि के विषय में विचार करने पर भी पूर्वोक्तवत् आठ दण्डक (विकल्प) होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १६ दण्डक होते हैं।

देश और सर्व का तात्पर्य—जीव जब नरक आदि में उत्पन्न होता है, तब क्या वह यहाँ (पूर्वभव) के एकदेश से नारक के एकदेश—अवयवरूप में उत्पन्न होता है ? अर्थात्—उत्पन्न होने वाले जीव का एक भाग ही नारक के एक भाग के रूप में उत्पन्न होता है ? या पूरा जीव पूरे नारक के रूप में उत्पन्न होता है ? यह उत्पत्ति संबंधी प्रश्न का आशय है। इसी प्रकार अन्य विकल्पों का आशय भी समझ लेना चाहिए।

नैरयिक की नैरयिकों में उत्पत्ति कैसे ?—यद्यपि नारक मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होता, मनुष्य और तिर्यञ्च मरकर ही नरक में उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु यह प्रश्न 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्तानुसार है, जो जीव मनुष्य या तिर्यंच गति का आयुष्य समाप्त कर चुका है जिसके नरकायु का उदय हो चुका है, उस नरक में उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा से यह कथन है।

आहार विषयक समाधान का आशय— जीव जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय—जन्म के प्रथम समय— में अपने सर्व आत्मप्रदेशों के द्वारा सर्व आहार को ग्रहण करता है।

उत्पत्ति समय के पश्चात् सर्व आत्मप्रदेशों से किन्हीं आहार्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, किन्हीं को नहीं; अतः कहा गया है कि सर्वभागों से एक भाग का आहार करता है।

देश और अर्द्ध में अन्तर— जैसे मूंग में सैकड़ों देश (अंश या अवयव) हैं, उसका छोटे से छोटा टुकड़ा भी देश ही कहलाएगा, लेकिन अर्द्धभाग तभी कहलाता है, जब उसके बीचों-बीच से दो हिस्से किये जाते हैं। यही देश और अर्द्ध में अन्तर है।[1]

---

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक ८३, ८४

जीवों की विग्रहगति-अविग्रहगतिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

७. [१] जीव णं भंते ! किं विग्गहगतिसमावन्नए ? अविग्गहगतिसमावन्नए ?

गोयमा ! सिय विग्गहगतिसमावन्नए, सिय अविग्गहगतिसमावन्नगे।

[२] एवं जाव[1] वेमाणिए।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव विग्रहगतिसमापन्न—विग्रहगति को प्राप्त होता है, अथवा विग्रहगतिसमापन्न—विग्रहगति को प्राप्त नहीं होता ?

[७-१ उ.] गौतम ! कभी (वह) विग्रहगति को प्राप्त होता है, और कभी विग्रहगति को प्राप्त नहीं होता।

[७-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्यन्त जानना चाहिए।

८. [१] जीवा णं भंते ! किं विग्गहगतिसमावन्नगा ? अविग्गहगतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! विग्गहगतिसमावन्नगा वि, अविग्गहगतिसमावन्नगा वि।

[२] नेरइया णं भंते ! किं विग्गहगतिसमावन्नगा ? अविग्गहगतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा अविग्गहतिसमावन्नगा १, अहवा अविग्गहतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्नगे य २, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्नगा य ३, एवं जीव-एगिंदियवज्जो तियभंगो।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या वहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त होते हैं अथवा विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते ?

[८-१ उ.] गौतम ! वहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त होते हैं और वहुत से जीव विग्रह-गति को प्राप्त नहीं भी होते।

[८-२ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक विग्रहगति को प्राप्त होते हैं या विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते ?

[८-२ उ.] गौतम ! (१) (कभी) वे सभी विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते, अथवा (२) (कभी) बहुत से विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते और कोई-कोई विग्रहगति को प्राप्त नहीं होता, अथवा (३) (कभी) वहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त नहीं होते और बहुत से (जीव) विग्रहगति को प्राप्त होते हैं। यों जीव सामान्य और एकेन्द्रिय को छोड़कर सर्वत्र इसी प्रकार तीन-तीन भंग कहने चाहिए।

विवेचन—जीवों की विग्रहगति-अविग्रहगति-सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत दो सूत्रों द्वारा एक जीव, वहुत जीव, एवं नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों की अपेक्षा से विग्रहगति और अविग्रहगति की प्राप्ति से संवंधित प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं।

१. 'जाव' शब्द यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों का सूचक है।

विग्रहगति-अविग्रहगति की व्याख्या—सामान्यतया विग्रह का अर्थ होता है—वक्र या मुड़ना, मोड़ खाना। जीव जब एक गति का आयुष्य समाप्त होने पर शरीर छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण करने हेतु दूसरी गति में जाते समय मार्ग (बाट) में गमन करता (बहता) है, तब उसकी गति दो प्रकार की हो सकती है—विग्रहगति और अविग्रहगति। कोई-कोई जीव जब एक, दो या तीन बार टेढ़ा-मेढ़ा मुड़कर उत्पत्तिस्थान पर पहुँचता है, तब उसकी वह गति विग्रहगति कहलाती है और जब कोई जीव मार्ग में बिना मुड़े (मोड़ खाए) सीधा अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है तब उसकी उस गति को अविग्रहगति कहते हैं। यहाँ अविग्रहगति का अर्थ ऋजु—सरल गति नहीं लिया गया है, किन्तु 'विग्रहगति का अभाव' अर्थ ही यहाँ संगत माना गया है। इस दृष्टि से 'अविग्रह-गतिसमापन्न' का अर्थ होता है--विग्रहगति को अप्राप्त (नहीं पाया हुआ), चाहे जैसी स्थिति वाला—गतिवाला या गतिरहित जीव। अर्थात्—जो जीव किसी भी गति में स्थित (ठहरा हुआ) है, उस अवस्था को प्राप्त जीव अविग्रहगतिसमापन्न है, और दूसरी गति में जाते समय जो जीव मार्ग में गति करता है, उस अवस्था को प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न है। इस व्याख्या के अनुसार अविग्रह-गतिसमापन्न में ऋजुगति वाले तथा भवस्थित सभी जीवों का समावेश हो जाता है; तथा नारकों में जो अविग्रहगतिसमापन्न वालों की बहुलता बताई है, वह कथन भी संगत हो जाता है, मगर अविग्रहगति का अर्थ केवल ऋजुगति करने से यह कथन नहीं होता।

बहुत जीवों की अपेक्षा से—जीव अनन्त हैं। इसलिए प्रतिसमय बहुत से जीव विग्रहगति समापन्न भी होते हैं, और विग्रहगति के अभाव वाले भी होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में अविग्रह-गति समापन्न कहा गया है। इस दृष्टि से एकेन्द्रिय जीव बहुत होने से उनमें सदैव बहुत से विग्रहगति वाले भी पाए जाते हैं और बहुत से विग्रहगति के अभाव वाले भी।[1]

देव का च्यवनानन्तर आयुष्य प्रतिसंवेदन-निर्णय—

९. देवे णं भंते ! महिड्ढिए महज्जुतीए महब्बले महायसे महेसक्खे[2] महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचि वि कालं हिरिवत्तियं दुगुंछावत्तियं परिस्सहवत्तियं आहारं नो आहारेति; अहे णं आहारेति, आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, पहीणे य आउए भवइ, जत्थ उववज्जति तमाउयं पडिसंवेदेति, तं जहा—तिरिक्खजोणियाउयं वा मणुस्साउयं वा ?

हंता, गोयमा ! देवे णं महिड्ढीए जाव मणुस्साउगं वा।

[९ प्र.] भगवन् ! महान् ऋद्धि वाला, महान् द्युति वाला, महान् बल वाला, महायशस्वी, महाप्रभावशाली, (महासामर्थ्य सम्पन्न) मरणकाल में च्यवने वाला, महेश नामक देव (अथवा महा-प्रभुत्वसम्पन्न या महासौख्यवान् देव) लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नहीं करता, फिर आहार करता है और ग्रहण किया हुआ आहार परिणत भी होता है। अन्त में उस देव की वहाँ की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है। इसलिए वह देव जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ की आयु भोगता है; तो हे भगवन् ! उसकी वह आयु तिर्यञ्च की समझी जाए या मनुष्य की आयु समझी जाए ?

---

१. (क) 'विग्रहो वक्रं तत्प्रधाना गतिर्विग्रहगतिः।……अविग्रहगतिसमापन्नस्तु ऋजुगतिक :, स्थितो वा।
(ख) भगवतीसूत्र अ. टीका, पत्रांक ८५-८६.
२. महासोक्खे (पाठान्तर).

[९ उ.] हां, गौतम ! उस महा ऋद्धि वाले देव का यावत् च्यवन (मृत्यु) के पश्चात तिर्यञ्च का आयुष्य अथवा मनुष्य का आयुष्य समझना चाहिए।

विवेचन—देव का च्यवनानन्तर—आयुष्यप्रतिसंवेदन-निर्णय—प्रस्तुत सूत्र में देवगति से च्युत होने के बाद तिर्यञ्च या मनुष्य गति के आयुष्य भोग के संबंध में उठाये गए प्रश्न का समाधान है। चूंकि देव मर कर देवगति या नरकगति में नहीं जाता, इसलिए तिर्यञ्च या मनुष्य जिस गति में भी जाता है, वहाँ की आयु भोगता है।

गर्भगतजीव-सम्बन्धी विचार—

१०. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमति ? अणिंदिए वक्कमइ ?

गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमति, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमति, से तेणट्ठेणं०।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या इन्द्रियसहित उत्पन्न होता है अथवा इन्द्रियरहित उत्पन्न होता ?

[१०-१ उ.] गौतम ! इन्द्रियसहित भी उत्पन्न होता है, इन्द्रियरहित भी, उत्पन्न होता है।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?

[१०-२ उ.] गौतम ! द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा वह विना इन्द्रियों का उत्पन्न होता है और भावेन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों सहित उत्पन्न होता है, इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है।

११. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ ? असरीरी वक्कमइ ?

गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमति, सिय असरीरी वक्कमति।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमति, तेया-कम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमति; से तेणट्ठेणं गोयमा !

[११-१ प्र.] भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या शरीर-सहित उत्पन्न होता है, अथवा शरीररहित उत्पन्न होता है ?

[११-१ उ.] गौतम ! शरीरसहित भी उत्पन्न होता है, शरीररहित भी उत्पन्न होता है।

[११-२ प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं ?

[११-२ उ.] गौतम ! औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों की अपेक्षा शरीररहित उत्पन्न होता है तथा तैजस, कार्मण शरीरों की अपेक्षा शरीरसहित उत्पन्न होता है। इस कारण गौतम ! ऐसा कहा है।

१२. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे तप्पढमताए किमाहारमाहारेति ?

गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमताए आहारमाहारेति।

[१२ प्र.] भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होते ही जीव सर्वप्रथम क्या आहार करता है ?

[१२ उ.] गौतम ! परस्पर एक दूसरे में मिला हुआ माता का आर्तव (रज) और पिता का शुक्र (वीर्य), जो कि कलुष और किल्विष है, जीव गर्भ में उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम उसका आहार करता है।

१३. जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किमाहारमाहारेति ?

गोयमा ! जं से माता नाणाविहाओ रसविगतीओ आहारमाहारेति तदेक्कदेसेणं ओयमाहारेति।

[१३ प्र.] भगवन् ! गर्भ में गया (रहा) हुआ जीव क्या आहार करता है ?

[१३ उ.] गौतम ! उसकी माता जो नाना प्रकार की (दुग्धादि) रसविकृतियों का आहार करती है; उसके एक भाग के साथ गर्भगत जीव माता के आर्तव का आहार करता है।

१४. जीवस्स णं भंते ! गब्भगतस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जमाहारेति तं चिणाइ तं सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए, से तेणट्ठेणं० ।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! क्या गर्भ में रहे हुए जीव के मल होता है, मूत्र होता है, कफ होता है, नाक का मैल होता है, वमन होता है, पित्त होता है ?

[१४-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है—गर्भगत जीव के ये सब (मल-मूत्रादि) नहीं होते हैं।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?

[१४-२ उ.] हे गौतम ! गर्भ में जाने पर जीव जो आहार करता है, जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्रेन्द्रिय (कान) के रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में तथा हड्डी, मज्जा, केश, दाढ़ी-मूंछ, रोम और नखों के रूप में परिणत करता है। इसलिए हे गौतम ! गर्भ में गए हुए जीव के मल-मूत्रादि नहीं होते ।

१५. जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगते समाणे सव्वतो आहारेति, सव्वतो परिणामेति, सव्वतो उस्ससति, सव्वतो निस्ससति, अभिक्खणं आहारेति, अभिक्खणं परिणामेति, अभिक्खणं उस्ससति, अभिक्खणं निस्ससति, आहच्च आहारेति, आहच्च परिणामेति, आहच्च उस्ससति, आहच्च नीससति । मातुजीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी मातुजीवपडिबद्धा पुत्तजीवं फुडा तम्हा आहारेइ, तम्हा परिणामेति, अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाति, तम्हा उवचिणाति; से तेणट्ठेणं० जाव नो पभू मुहेणं कावलिकं आहारं आहारित्तए ।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! क्या गर्भ में रहा हुआ जीव मुख से कवलाहार (ग्रासरूप में आहार) करने में समर्थ है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है—ऐसा होना सम्भव नहीं है।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं ?

[१५-२ उ.] गौतम ! गर्भगत जीव सब ओर से (सारे शरीर से) आहार करता है, सारे शरीर से परिणमाता है, सर्वात्मना (सब ओर से) उच्छ्वास लेता है, सर्वात्मना निःश्वास लेता है,

वार-वार आहार करता है, वार-वार (उसे) परिणमाता है, वार-वार उच्छ्वास लेता है, वार-वार निःश्वास लेता है, कदाचित् आहार करता है, कदाचित् परिणमाता है, कदाचित् उच्छ्वास लेता है, कदाचित् निःश्वास लेता है, तथा पुत्र (-पुत्री) के जीव को रस पहुँचाने में कारणभूत और माता के रस लेने में कारणभूत जो मातृजीवरसहरणी नाम की नाड़ी है वह माता के जीव के साथ सम्बद्ध है और पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ स्पृष्ट—जुड़ी हुई है। उस नाड़ी द्वारा वह (गर्भगत जीव) आहार लेता है और आहार को परिणमाता है। तथा एक और नाड़ी है, जो पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ सम्बद्ध है और माता के जीव के साथ स्पृष्ट—जुड़ी हुई होती है, उससे (गर्भगत) पुत्र (या पुत्री) का जीव आहार का चय करता है और उपचय करता है। इस कारण से हे गौतम ! गर्भगत जीव मुख द्वारा कवलरूप आहार को लेने में समर्थ नहीं है।

१६. कति णं भंते ! मातिअंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ मातियंगा पण्णत्ता। तं जहा— मंसे सोणिते मत्थुलुंगे।

[१६ प्र.] भगवन् ! (जीव के शरीर में) माता के अंग कितने कहे गए हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! माता के तीन अंग कहे गए हैं; वे इस प्रकार हैं—(१) मांस, (२) शोणित (रक्त) और (३) मस्तक का भेजा (दिमाग)।

१७. कति णं भंते ! पितियंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पेतियंगा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठि अट्ठिमिंजा केस-मंसु-रोम-नहे।

[१७ प्र.] भगवन् ! पिता के कितने अंग कहे गए हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! पिता के तीन अंग कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) हड्डी, (२) मज्जा और (३) केश, दाढ़ी-मूंछ, रोम तथा नख।

१८. अम्मापेतिए णं भंते ! सरीरए केवइयं कालं संचिट्ठति ?

गोयमा ! जावतियं से कालं भवधारणिज्जे सरीरए अव्वावन्ने भवति एवतियं कालं संचिट्ठति, अहे णं समए समए वोक्कसिज्जमाणे २ चरमकालसमयंसि वोच्छिन्ने भवइ।

[१८ प्र.] भगवन् ! माता और पिता के अंग सन्तान के शरीर में कितने काल तक रहते हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! संतान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है, उतने समय तक वे अंग रहते हैं; और जब भवधारणीय शरीर समय-समय पर हीन (क्षीण) होता हुआ अन्तिम समय में नष्ट हो जाता है; तब माता-पिता के वे अंग भी नष्ट हो जाते हैं।

१९. [१] जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! गर्भ में रहा हुआ जीव क्या नारकों में उत्पन्न होता है ?

[१९-१ उ.] गौतम ! कोई उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से णं सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पदेसे निच्छुभति, २ वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णित्ता चाउरंगिणिं सेणं विउव्वइ, चाउरंगिणिं सेणं विउव्वेत्ता चाउरंगिणीए सेणाए

पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ, से णं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए, अत्थपिवासिते रज्जपिवासिते भोगपिवासिए कामपिवासिते, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एतंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरतिएसु उववज्जइ; से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

[१९-२ प्र.] भगवन्! इसका क्या कारण है?

[१९-२ उ.] गौतम! गर्भ में रहा हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय और समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त (परिपूर्ण) जीव, वीर्यलब्धि द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा शत्रुसेना का आगमन सुनकर, अवधारण (विचार) करके अपने आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर निकालता है, बाहर निकाल कर वैक्रियसमुद्घात से समवहत होकर चतुरंगिणी सेना की विक्रिया करता है। चतुरंगिणी सेना की विक्रया करके उस सेना से शत्रुसेना के साथ युद्ध करता है। वह अर्थ (धन) का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थाकांक्षी, राज्याकांक्षी, भोगाकांक्षी, कामाकांक्षी, (अर्थादि का लोलुप), तथा अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा, भोग-पिपासु एवं कामपिपासु, उन्हीं चित्त वाला, उन्हीं में मन वाला, उन्हीं में आत्मपरिणाम वाला, उन्हीं में अध्यवसित, उन्हीं में प्रयत्नशील, उन्हीं में सावधानता-युक्त, उन्हीं के लिए क्रिया करने वाला, और उन्हीं भावनाओं से भावित (उन्हीं संस्कारों में ओतप्रोत), यदि उसी (समय के) अन्तर में (दौरान) मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक में उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम! यावत्—कोई जीव नरक में उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता।

२०. जीवे णं भंते! गब्भगते समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा!

गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

से केणट्ठेण?

गोयमा! से णं सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म ततो भवति संवेगजातसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गकंखिए मोक्खकंखिए, धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिते तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोएसु उववज्जति; से तेणट्ठेणं गोयमा!०।

[२०-१ प्र.] भगवन्! गर्भस्थ जीव क्या देवलोक में जाता है?

[२०-१ उ.] हे गौतम! कोई जीव जाता है, और कोई नहीं जाता।

[२०-२ प्र.] भगवन्! इसका क्या कारण है?

[२०-२ उ.] गौतम! गर्भ में रहा हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव, तथारूप श्रमण या माहन के पास एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन सुन कर, अवधारण करके शीघ्र ही संवेग से धर्मश्रद्धालु बनकर, धर्म में तीव्र अनुराग से रक्त होकर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्माकांक्षी, पुण्याकांक्षी, स्वर्ग का आकांक्षी, मोक्षाकांक्षी तथा

धर्मपिपासु, पुण्यपिपासु, स्वर्गपिपासु एवं मोक्षपिपासु, उसी में चित्त वाला, उसी में मन वाला, उसी में आत्मपरिणाम वाला, उसी में अध्यवसित, उसी में तीव्र प्रयत्नशील, उसी में सावधानतायुक्त, उसी के लिए अर्पित होकर क्रिया करने वाला, उसी की भावनाओं से भावित (उसी के संस्कारों से संस्कारित) जीव ऐसे ही अन्तर (समय) में मृत्यु को प्राप्त हो तो देवलोक में उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! कोई जीव देवलोक में उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता।

२१. जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लए वा अंबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा, मातुए सुवमाणीए सुवति, जागरमाणीए जागरति, सुहियाए सुहिते भवइ, दुहिताए दुहिए भवति ?

हंता, गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जाव दुहियाए भवति।

[२१ प्र.] भगवन् ! गर्भ में रहा हुआ जीव क्या चित—लेटा हुआ (उत्तानक) होता है, या करवट वाला होता है, अथवा आम के समान कुबड़ा होता है, या खड़ा होता है, बैठा होता है या पड़ा हुआ (सोता हुआ) होता है; तथा माता जब सो रही हो तो सोया होता है, माता जब जागती हो तो जागता है, माता के सुखी होने पर सुखी होता है, एवं माता के दुःखी होने पर दुःखी होता है ?

[२१ उ.] हाँ, गौतम ! गर्भ में रहा हुआ जीव..........यावत्—जब माता दुःखित हो तो दुःखी होता है।

२२. अहे णं पसवणकालसमयंसि सीसेण वा पाएहिं वा आगच्छति सममागच्छइ तिरियमागच्छइ विणिहायमावज्जति। वण्णवज्झाणि य से कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं निहत्ताइं कडाइं पट्ठविताइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं उदिण्णाइं, नो उवसंताइं भवंति; तओ भवइ दुरूवे दुव्वण्णे दुग्गंधे दूरसे दुप्फासे अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अणिट्ठस्सरे अकंतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणादेज्जवयणे पच्चायाए याऽवि भवति। वण्णवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं० पसत्थं नेतव्वं जाव आदेज्जवयणे पच्चायाए याऽवि भवति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥

[२२] इसके पश्चात् प्रसवकाल में अगर वह गर्भगत जीव मस्तक द्वारा या पैरों द्वारा (गर्भ से) बाहर आए तब तो ठीक तरह आता है, यदि वह टेढ़ा (आड़ा) हो कर आए तो मर जाता है। गर्भ से निकलने के पश्चात् उस जीव के कर्म यदि अशुभरूप में बंधे हों, स्पृष्ट हों, निधत्त हों, कृत हों, प्रस्थापित हों, अभिनिविष्ट हों' अभिसमन्वागत हों, उदीर्ण हों, और उपशान्त न हों, तो वह जीव कुरूप, कुवर्ण (खराब वर्ण वाला) दुर्गन्ध वाला, कुरस वाला, कुस्पर्श वाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम (जिसका स्मरण भी बुरा लगे), हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ एवं अमनाम स्वर वाला; तथा अनादेय वचन वाला होता है, और यदि उस जीव के कर्म अशुभरूप में न बँधे हुए हों तो, उसके उपर्युक्त सब बातें प्रशस्त होती हैं,.........यावत्—वह आदेयवचन वाला होता है।'

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है।' यों कह कर श्री गौतमस्वामी तप-संयम में विचरण करने लगे।

विवेचन—गर्भगत जीव सम्बन्धी विचार—प्रस्तुत १३ सूत्रों (सू. १० से २२ तक) में विविध पहलुओं से गर्भगत जीव से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर अंकित किये गए हैं :—

द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय—इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पौद्गलिक रचना-विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियों की आकृति को निवृत्ति कहते हैं, और उनके सहायक को उपकरण कहते हैं। भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं-लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ शक्ति है, जिसके द्वारा आत्मा शब्दादि का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। उपयोग का अर्थ है—ग्रहण करने का व्यापार। जीव जब गर्भ में आता है, तब उसमें शक्तिरूप भावेन्द्रियाँ यथायोग्य साथ ही होती हैं।

गर्भगत जीव के आहारादि—गर्भमें पहुँचने के प्रथम समय में माता के ऋतु-सम्बन्धी रज और पिता के वीर्य के सम्मिश्रण को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् माता द्वारा ग्रहण किये हुए रसविकारों का एक भाग ओज के साथ ग्रहण करता है। गर्भस्थ जीव के मल-मूत्रादि नहीं होते, क्योंकि वह जो भी आहार ग्रहण करता है उसे श्रोत्रेन्द्रियादि रूप में परिणमाता है। वह कवलाहार नहीं करता, सर्वात्म-रूप से आहार ग्रहण करता है। रसहरणी नाडी (नाभिका नाल) द्वारा गर्भगत जीव माता के जीव का रस ग्रहण करता है। यह नाड़ी माता के जीव के साथ प्रतिबद्ध और सन्तान के जीव के साथ स्पृष्ट होती है। दूसरी पुत्रजीवरसहरणी द्वारा गर्भस्थ जीव आहार का चय-उपचय करता है। इससे गर्भस्थ जीव परिपुष्टि प्राप्त करता है। यह नाड़ी सन्तान के जीव के साथ प्रतिबद्ध और माता के जीव के साथ स्पृष्ट होती हैं।

गर्भगत जीव के अंगादि—जिन अंगों में माता के आर्तव का भाग अधिक होता है। वे कोमल अंग—मांस, रक्त और मस्तक का भेजा (अवथा मस्तुलुंग=चर्वी या फेफड़ा) माता के होते हैं, तथा जिन अंगों में पिता के वीर्य का भाग अधिक होता है, वे तीन कठोर अंग—केश, रोम तथा नखादि पिता के होते हैं। शेष सब अंग माता और पिता दोनों के पुद्गलों से बने हुए होते हैं। सन्तान के भवधारणीय शरीर का अन्त होने तक माता-पिता के ये अंग उस शरीर में रहते हैं।

गर्भगत जीव के नरक या देवलोक में जाने का कारण—धन, राज्य और कामभोग की तीव्र-लिप्सा और शत्रुसेना को मारने की तीव्र आकांक्षा के वश मृत्यु हो जाय तो गर्भस्थ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव नरक में जाता है और धर्म, पुण्य, स्वर्ग एवं मोक्ष के तीव्र शुभ अध्यवसाय में मृत्यु होने पर वह देव-लोक में जाता है।

गर्भस्थ जीव स्थिति—गर्भस्थ जीव ऊपर की ओर मुख किये चित सोता, करवट से सोता है, या आम्रफल की तरह टेढ़ा हो कर रहता है। उसकी खड़े या बैठे रहने या सोने आदि की क्रिया माता की क्रिया पर आधारित है।

बालक का भविष्य : पूर्वजन्मकृत कर्म पर निर्भर—पूर्वभव में शुभ कर्म उपार्जित किया हुआ जीव यहाँ शुभवर्णादि वाला होता है, किन्तु पूर्वजन्म में अशुभ कर्म उपार्जित किया हुआ जीव यहाँ अशुभवर्ण कुरस आदि वाला होता है।[1]

॥ प्रथम शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८६ से ९० तक

अट्ठमो उद्देसओ : बाले

अष्टम उद्देशक : बाल

एकान्त बाल, पण्डित आदि के आयुष्यबन्ध का विचार—

१. एगंतबाले णं भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेति ? तिरिक्खाउयं पकरेति ? मणुस्साउयं पकरेति ? देवाउयं पकरेति ? नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जति ? तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ ? मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ ? देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरियाउयं पि पकरेइ, मणुयाउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ; णेरइयाउयं पि किच्चा नेरइएसु उववज्जति, तिरियाउयं पि किच्चा तिरिएसु उववज्जति, मणुस्साउयं पि किच्चा मणुस्सेसु उववज्जति देवाउयं पि किच्चा देवेसु उववज्जति ।

राजगृह नगर में समवसरण हुआ और यावत्—श्री गौतम स्वामी इस प्रकार बोले—

[१ प्र.] भगवन् ! क्या एकान्त-बाल (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य, नारक की आयु बांधता है तिर्यञ्च की आयु बांधता है, मनुष्य की आयु बांधता है अथवा देव की आयु बांधता है ? तथा क्या वह नरक की आयु बांधकर नैरयिकों में उत्पन्न होता है ; तिर्यञ्च की आयु बांधकर तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है; मनुष्य की आयु बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है अथवा देव की आयु बांध कर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

[१ उ.] गौतम ! एकान्त बाल मनुष्य नारक की भी आयु बांधता है, तिर्यञ्च की भी आयु बांधता है, मनुष्य की भी आयु बांधता है और देव की भी आयु बांधता है; तथा नरकायु बांध कर नैरयिकों में उत्पन्न होता है, तिर्यञ्चायु बांधकर तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है, मनुष्यायु बांध कर मनुष्यों में उत्पन्न होता है और देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ।

२. एगंतपंडिए णं भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेइ ? जाव देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउयं सिय पकरेति, सिय नो पकरेति । जइ पकरेइ नो नेरइयाउयं पकरेइ, नो तिरियाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेति । नो नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ, णो तिरि०, णो मणुस्सा०, देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ।

से केणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतपंडितस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गतीओ पन्नायंति, तं जहा—अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव । से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ।

[२ प्र.] भगवन् ! एकान्तपण्डित मनुष्य क्या नरकायु बाँधता है ? या यावत् देवायु बांधता है ? और यावत् देवायु बांध कर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

[२ उ.] हे गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य, कदाचित् आयु बांधता है और कदाचित् आयु नहीं बांधता। यदि आयु बांधता है तो देवायु बांधता है, किन्तु नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु नहीं बांधता। वह नरकायु नहीं बांधने से नारकों में उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार तिर्यञ्चायु न बांधने से तिर्यञ्चों में उत्पन्न नहीं होता और मनुष्यायु न बांधने से मनुष्यों में भी उत्पन्न नहीं होता; किन्तु देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि""यावत्—देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य की केवल दो गतियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—अन्तक्रिया और कल्पोपपत्तिका (सौधर्मादि कल्पों में उत्पन्न होना)। इस कारण हे गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य देवायु बांध कर देवों में उत्पन्न होता है।

३. बालपंडिते णं भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोतमा ! नो नेरइयाउयं पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति।

से केणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! बालपंडिए णं मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोचा निसम्म देसं उवरमति, देसं नो उवरमइ, देसं पच्चक्खाति, देसं णो पच्चक्खाति; से णं तेणं देसोवरम-देसपच्चक्खाणेणं नो नेरयाउयं पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति। से तेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या बालपण्डित मनुष्य नरकायु बांधता है, यावत्—देवायु बांधता है ? और यावत्—देवायु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है ?

[३ उ.] गौतम ! वह नरकायु नहीं बांधता और यावत् (तिर्यञ्चायु तथा मनुष्यायु नहीं बांधता), देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—बालपण्डित मनुष्य यावत् देवायु बांध कर देवों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! बालपण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य तथा धार्मिक सुवचन सुनकर, अवधारण करके एकदेश से विरत होता है, और एकदेश से विरत नहीं होता। एकदेश से प्रत्याख्यान करता है और एकदेश से प्रत्याख्यान नहीं करता। इसलिए हे गौतम ! देश-विरति और देश-प्रत्याख्यान के कारण वह नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का बन्ध नहीं करता और यावत्—देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

विवेचन—बाल, पण्डित आदि के आयुबन्ध का विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रों में क्रमशः एकान्तबाल, एकान्तपण्डित और बाल-पण्डित मनुष्य के आयुष्यबन्ध का विचार किया गया है।

बाल आदि के लक्षण—मिथ्यादृष्टि और अविरत को एकान्तबाल कहते हैं। वस्ततत्त्व के

यथार्थ स्वरूप को जानकर जो तदनुसार आचरण करता है, वह 'पण्डित' कहलाता है, और जो वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु आंशिक (एकदेश) आचरण करता है, वह बाल-पण्डित कहलाता है। एकान्तबाल मिथ्यादृष्टि एवं अविरत होता है, एकान्त-पण्डित महाव्रती साधु होता है और बालपण्डित देशविरत श्रमणोपासक होता है।

एकान्तबाल मनुष्य के चारों गतियों का आयुष्य बन्ध क्यों?—एकान्त बालत्व समान होते हुए भी एक ही गति का आयुष्यबन्ध न होकर चारों गतियों का आयुबन्ध होता है, इसका कारण एकान्त-बालजीवों का प्रकृतिवैविध्य है। कई एकान्तबालजीव महारम्भी, महापरिग्रही, असत्यमार्गोपदेशक तथा पापाचारी होते हैं, वे नरकायु या तिर्यञ्चायु का बन्ध करते हैं। कई एकान्तबालजीव अल्प-कषायी, अकामनिर्जरा, बालतप आदि से युक्त होते हैं। वे मनुष्यायु या देवायु का बन्ध करते हैं।

एकान्तपण्डित की दो गतियाँ—जिनके सम्यक्त्वसप्तक (अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों) का क्षय हो गया है, तथा जो तद्भवमोक्षगामी हैं, वे आयुष्यबन्ध नहीं करते। यदि इन सातप्रकृतियों के क्षय से पूर्व उनके आयुष्यबन्ध हो गया हो तो सिर्फ एक वैमानिक देवायु का बन्ध करते हैं। इसी कारण एकान्त पण्डित मनुष्य की क्रमशः दो ही गतियाँ कही गई हैं—अन्तक्रिया (मोक्षगति) अथवा कल्पोपपत्तिका (वैमानिक देवगति)।[1]

मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा—

४. पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा १ दहंसि वा २ उदगंसि वा ३ दवियंसि वा ४ वलयंसि वा ५ नूमंसि वा ६ गहणंसि वा ७ गहणविदुग्गंसि वा ८ पव्वतंसि वा ९ पव्वतविदुग्गंसि वा १० वणंसि वा ११ वणविदुग्गंसि वा १२ मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता 'एते मिए' त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए कूड-पासं उद्दाइ; ततो णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा १२ जाव कूड-पासं उद्दाइ तावं च णं से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए'?

गोयमा! जे भविए उद्दवणयाए, णो बंधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पादोसियाए तीहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि, णो मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं जाव पंचकिरिए।

[४ प्र.] भगवन्! मृगों से आजीविका चलाने वाला, मृगों का शिकारी, मृगों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष मृगवध के लिए निकला हुआ कच्छ (नदी के पानी से घिरे हुए झाड़ियों वाले स्थान) में, द्रह में, जलाशय में, घास आदि के समूह में, वलय (गोलाकार नदी आदि के पानी से टेढ़े-मेढ़े स्थान) में, अन्धकारयुक्त प्रदेश में, गहन (वृक्ष, लता आदि झुंड से सघन वन) में, पर्वत के

---

१. भगवती सूत्र, अ. वृत्ति पत्रांक ९०-९१

एक भागवर्त्ती वन में, पर्वत पर पर्वतीय दुर्गम प्रदेश में, वन में, वहुत-से वृक्षों से दुर्गम वन में, 'ये मृग हैं', ऐसा सोच कर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे (गड्ढा वना कर जाल फैलाए) तो हे भगवन् ! वह पुरुप कितनी क्रियाओं वाला कहा गया है ? अर्थात्—उसे कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[४ उ.] हे गौतम ! वह पुरुप कच्छ में, यावत्—जाल फैलाए तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच किया वाला होता है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि 'वह पुरुप कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! जव तक वह पुरुप जाल को धारण करता है, और मृगों को वांधता नहीं है तथा मृगों को मारता नहीं है, तव तक वह पुरुप कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेपिकी, इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट (तीन क्रियाओं वाला) होता। जव तक वह जाल को धारण किये हुए है और मृगों को वांधता है किन्तु मारता नहीं; तव तक वह पुरुप कायिकी आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, और पारितापनिकी, इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जव वह पुरुप जाल को धारण किये हुए है, मृगों को वांधता है और मारता है, तव वह—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पाँचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। इस कारण हे गौतम ! वह पुरुप कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांचों क्रियाओं वाला कहा जाता है ।

५. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय अगणिकायं निसिरइ तावं च णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

से केणट्ठेणं ?

गोतमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं; उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि, नो दहणयाए चउहिं; जे भविए उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि दहणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ।

[५ प्र.] भगवन् ! कच्छ में यावत्—वनविदुर्ग (अनेक वृक्षों के कारण दुर्गम वन) में कोई पुरुप घास के तिनके इकट्ठे करके उनमें अग्नि डाले तो वह पुरुप कितनी क्रिया वाला होता है ?

[५ उ.] गौतम ! वह पुरुप कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! जव तक वह पुरुप तिनके इकट्ठे करता है, तव तक वह तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । जव वह तिनके इकट्ठे कर लेता है, और उनमें अग्नि डालता है, किन्तु जलाता नहीं है, तक तक वह चार क्रियाओं वाला होता है । जव वह तिनके इकट्ठे करता है, उनमें आग डालता है और जलाता है, तव वह पुरुप कायिकी आदि पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । इसलिए हे

गौतम ! वह (पूर्वोक्त) पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला एवं कदाचित् पांचों क्रियाओं वाला कहा जाता है।

६. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता 'एए मिये' त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं निसिरइ, ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए तिहिं; जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि, नो मारणयाए चउहिं; जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

[६ प्र.] भगवन् ! मृगों से आजीविका चलाने वाला, मृगों का शिकार करने के लिए कृत-संकल्प, मृगों के शिकार में तन्मय, मृगवध के लिए कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में जाकर 'ये मृग हैं' ऐसा सोचकर किसी एक मृग को मारने के लिए बाण फेंकता है, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है (अर्थात् उसे कितनी क्रिया लगती हैं?)

[६ उ.] हे गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाँच क्रिया वाला होता है।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! जब तक वह पुरुष बाण फेंकता है, परन्तु मृग को वेधता नहीं है, तथा मृग को मारता नहीं है, तब वह पुरुष तीन क्रिया वाला है। जब वह बाण फेंकता है और मृग को वेधता है, पर मृग को मारता नहीं है, तब तक वह चार क्रिया वाला है, और जब वह बाण फेंकता है, मृग को वेधता है और मारता है; तब वह पुरुष पाँच क्रिया वाला कहलाता है। हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि 'कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाँच क्रिया वाला होता है।'

७. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स वहाए आयतकण्णायतं उसुं आयामेत्ता चिट्ठिज्जा, अन्ने य से पुरिसे मग्गतो आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा, से णं भंते ! पुरिसे किं मियवेरेणं पुट्ठे ? पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?

गोतमा ! जे मियं मारेति से मियवेरेणं पुट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?

से नूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे संधिते, निव्वतिज्जमाणे निव्वत्तिए, निसिरिज्जमाणे निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, भगवं ! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! जे मियं मारेति से मियवेरेणं पुट्ठे जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे। अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्हं मासाणं मरति काइयाए जाव पारितावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

[७ प्र.] भगवन् ! कोई पुरुष, कच्छ में यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक ताने (लम्बे किये) हुए वाण को प्रयत्नपूर्वक खींच कर खड़ा हो और दूसरा कोई पुरुष पीछे से आकर उस खड़े हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से तलवार द्वारा काट डाले। वह वाण पहले के खिचाव से उछल कर उस मृग को वींध डाले, तो हे भगवन् ! वह पुरुष मृग के वैर से स्पृष्ट है या (उक्त) पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

[७ उ.] गौतम ! जो पुरुष मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष, पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है।

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि यावत् वह पुरुष, पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

[उ.] हे गौतम ! यह तो निश्चित है न कि 'जो किया जा रहा है, वह किया हुआ' कहलाता है; 'जो मारा जा रहा है, वह मारा हुआ' 'जो जलाया जा रहा है, वह जलाया हुआ' कहलाता है और 'जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ, कहलाता है ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! जो किया जा रहा है, वह किया हुआ कहलाता है, और यावत्—....जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ कहलाता है।

(भगवान्—) 'इसलिए इसी कारण हे गौतम ! जो मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट और जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है। यदि मरने वाला छह मास के अन्दर मरे, तो मारने वाला कायिकी आदि यावत् पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है और यदि मरने वाला छह मास के पश्चात् मरे तो मारने वाला पुरुष, कायिकी यावत् पारितापनिकी इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है।

८. पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा, सयपाणिणा वा से असिगा सीसं छिंदेज्जा, ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेइ सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणि० जाव पाणातिवायकिरियाए पंचहि किरियाहिं पुट्ठे, आसन्नवहएण य अणवकंखणवत्तिएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

[८ प्र.] भगवन् ! कोई पुरुष किसी पुरुष को वरछी (या भाले) से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

[८ उ.] गौतम ! जव वह पुरुष उसे वरछी द्वारा मारता है, अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तव वह पुरुषकायिकी, आधिकरणिकी यावत् प्राणातिपातकी इन पाँचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है और वह आसन्नवधक एवं दूसरे के प्राणों की परवाह न करने वाला पुरुष, पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है।

विवेचन—मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओं के सम्वन्ध में विचार—प्रस्तुत पाँच सूत्रों (४ से ८ तक) में मृगघातक, पुरुषघातक आदि को लगने वाली क्रियाओं के सम्वन्ध में प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए हैं। प्रश्नों का क्रम इस प्रकार है—

(१) मृगवध के लिए जाल फैलाने, मृगों को बांधने तथा मारने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।
(२) तिनके इकट्ठे करके आग डालने एवं जलाने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।
(३) मृगों को मारने हेतु वाण फेंकने, बींधने और मारने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।
(४) वाण को खींचकर खड़े हुए पुरुष का मस्तक कोई अन्य पुरुष पीछे से आकर खड्ग से काट डाले, इसी समय वह वाण उछल कर यदि मृग को बींध डाले तो मृग मारने वाला मृगवैर से स्पृष्ट और पुरुष को मारने वाला पुरुषवैर से स्पृष्ट होता है, उनको लगने वाली क्रियाएँ।
(५) वरछी या तलवार द्वारा किसी पुरुष का मस्तक काटने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।

षट्मास की अवधि क्यों?—जिस पुरुष के प्रहार से मृगादि प्राणी छह मास के भीतर मर जाए तो उनके मरण में वह प्रहार निमित्त माना जाता है। इसलिए मारने वाले को पाँचों क्रियाएँ लगती हैं, किन्तु वह मृगादि प्राणी छह महीने के वाद मरता है तो उसके मरण में वह प्रहार निमित्त नहीं माना जाता, इसलिए उसे प्राणातिपातिकी के अतिरिक्त शेष चार क्रियाएँ ही लगती हैं। यह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से है, अन्यथा उस प्रहार के निमित्त से जब कभी भी मरण हो, उसे पाँचों क्रियाएँ लगती हैं[1]

आसन्नवधक—वरछी या खड्ग से मस्तक काटने वाला पुरुष आसन्नवधक होने के कारण तीव्र वैर से स्पृष्ट होता है। उस वैर के कारण वह उसी पुरुष द्वारा अथवा दूसरे के द्वारा उसी जन्म में या जन्मान्तर में मारा जाता है।

पंचक्रियाएँ—(१) **कायिकी**—काया द्वारा होने वाला सावद्य व्यापार (२) **आधिकरणिकी**-हिंसा के साधन—शस्त्रादि जुटाना, (३) **प्राद्वेषिकी**—तीव्र द्वेष भाव से लगने वाली क्रिया, (४) **पारितापनिकी**—किसी जीव को पीड़ा पहुँचाना, और (५) **प्राणातिपातिकी**—जिस जीव को मारने का संकल्प किया था, उसे मार डालना।

अनेक बातों में समान दो योद्धाओं में जय-पराजय का कारण—

९. दो भंते! पुरिसा सरिसया सरित्तया सरिव्वया सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेणं सद्धि संगामं संगामेंति, तत्थ णं एगे पुरिसे पराइणइ एगे पुरिसे पराइज्जइ, से कहमेयं भंते! एवं?

गोतमा! सवीरिए परायिणति, अवीरिए पराइज्जति। से केणट्ठेणं जाव पराइज्जति? गोयमा! जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं नो वद्धाइं नो पुट्ठाइं जाव नो अभिसमन्नागताइं, नो उदिण्णाइं, उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे परायिणति; जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं वद्धाइं जाव उदिण्णाइं, कम्माइं नो उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे परायिज्जति। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ सवीरिए पराजिणइ, अवीरिए पराइज्जति!

[९ प्र.] भगवन्! एक सरीखे, एक सरीखी चमड़ी वाले, समानवयस्क, समान द्रव्य और उपकरण (शस्त्रादि साधन) वाले कोई दो पुरुष परस्पर एक दूसरे के साथ संग्राम करें, तो उनमें से एक पुरुष जीतता है और एक पुरुष हारता है; भगवन्! ऐसा क्यों होता है?

---
१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति ९३,९४

[९ उ.] हे गौतम ! जो पुरुष सवीर्य (वीर्यवान्=शक्तिशाली) होता है, वह जीतता है और जो वीर्यहीन होता है, वह हारता है।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है यावत्-वीर्यहीन हारता है ?

[उ.] गौतम ! जिसने वीर्य-विघातक कर्म नहीं बांधे हैं, नहीं स्पर्श किये हैं यावत् प्राप्त नहीं किये हैं, और उसके वे कर्म उदय में नहीं आए हैं, परन्तु उपशान्त हैं, वह पुरुष जीतता है। जिसने वीर्य विघातक कर्म बांधे हैं, स्पर्श किये हैं, यावत् उसके वे कर्म उदय में आए हैं, परन्तु उपशान्त नहीं हैं, वह पुरुष पराजित होता है। अतएव हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि सवीर्य पुरुष विजयी होता है और वीर्यहीन पुरुष पराजित होता है।

विवेचन—दो पुरुषों की अनेक बातों में सदृशता होते हुए भी जय-पराजय का कारण—प्रस्तुत सूत्र में दो पुरुषों की शरीर, वय, चमड़ी तथा शस्त्रादि साधनों में सदृशता होते हुए भी एक की जय और दूसरे की पराजय होने का कारण बताया गया है।

वीर्यवान् और निर्वीर्य—वस्तुतः वीर्य से यहाँ तात्पर्य है,—आत्मिक शक्ति, मनोबल, उत्साह, साहस और प्रचण्ड पराक्रम इत्यादि। जिसमें इस प्रकार का प्रचण्ड वीर्य हो, जो वीर्य विघातक-कर्मरहित हो, वह शरीर से दुर्बल होते हुए भी युद्ध में जीत जाता है, इसके विपरीत भीमकाय एवं परिपुष्ट शरीर वाला होते हुए भी जो निर्वीर्य हो, वीर्यविघातककर्मयुक्त हो, वह हार जाता है।[1]

जीव एवं चौवीस दण्डकों में सवीर्यत्व-अवीर्यत्व की प्ररूपणा—

१०. जीवा णं भंते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ? गोयमा ! सवीरिया वि, अवीरिया वि। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता; तं जहा—संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अवीरिया। तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नता; तं जहा–सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धि-वीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि अवीरिया वि। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जीवा दुविहा पण्णत्ता; तं जहा—सवीरिया वि, अवीरिया वि।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव सवीर्य हैं अथवा अवीर्य हैं ?

[१०-१ उ.] गौतम ! जीव सवीर्य भी हैं अवीर्य भी है।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ?

[१०-२ उ.] गौतम ! जीव दो प्रकार के हैं—संसारसमापन्नक (संसारी) और असंसारसमापन्नक (सिद्ध)। इनमें जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध जीव हैं, वे अवीर्य (करण वीर्य से रहित) हैं। इनमें जो जीव संसार-समापन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। इनमें जो शैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं। जो अशैलेशीप्रतिपन्न हैं वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य की

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ९४

अपेक्षा सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो अशैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी।

११. [१] नेरइया णं भंते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ?

गोयमा ! नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि अवीरिया वि।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जेसि णं नेरइयाणंअत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएण वि सवीरिया, करणवीरिएण वि सवीरिया, जेसि णं नेरइयाणं नत्थि उट्ठाणे जाव परक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। से तेणट्ठेणं०।

[११-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारक जीव सवीर्य हैं या अवीर्य ?

[११-१ प्र.] गौतम ! नारक जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[उ.['गौतम ! जिन नैरयिकों में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकारपराक्रम है, वे नारक लब्धिवीर्य और करणवीर्य, दोनों से सवीर्य हैं, और जो नारक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम से रहित हैं, वे लब्धिवीर्य से सवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य से अवीर्य हैं। इसलिए हे गौतम ! इस कारण से पूर्वोक्त कथन किया गया है।

[२] जहा नेरइया एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया।

[११-२] जिस प्रकार नैरयिकों के विषय में कथन किया गया है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक तक के जीवों के लिए समझना चहिए।

[३] मणुस्सा जहा ओहिया जीवा। नवरं सिद्धवज्जा भाणियव्वा।

[११-३] मनुष्यों के विषय में सामान्य जीवों के समान समझना चाहिए, विशेषता यह है कि सिद्धों को छोड़ देना चाहिए।

[४] वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा नेरइया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पढमसए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[११-४] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में नैरयिकों के समान कथन समझना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है; यों कह कर श्री गौतमस्वामी संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।[1]

विवेचन—जीवों के सवीर्यत्व-अवीर्यत्व सम्बन्धी प्ररूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों में सामान्य जीवों तथा नैरयिक आदि से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों के जीवों के सवीर्य-अवीर्य सम्बन्धी निरूपण किया गया है।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ९५.

अनन्तवीर्य सिद्ध : अवीर्य कैसे ?—सिद्धों में सकरणवीर्य के अभाव की अपेक्षा से उन्हें अवीर्य कहा गया है; क्योंकि सिद्ध कृतकृत्य हैं, उन्हें किसी प्रकार का पुरुषार्थ करना शेष नहीं है। अकरण-वीर्य की अपेक्षा से सिद्ध सवीर्य (अनन्तवीर्य) हैं ही।

शैलेशी शब्द की व्याख्याएँ—(१) शीलेश का अर्थ है—सर्वसंवररूपचारित्र में समर्थ (प्रभु)। उसकी यह अवस्था (२) अथवा शैलेश-मेरुपर्वत, उसकी तरह निष्कम्प-स्थिर अवस्था (३) अथवा सैल (शैल)+इसी (ऋषि)=शैल की तरह चारित्र में अविचल ऋषि की अवस्था; (४) सेऽलेसी=सालेश्यी=लेश्यारहित स्थिति।[1]

॥ प्रथमशतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. विशेपावश्यक भाष्य गाथा ३६६३-६४ पृ. ७२८

नवमो उद्देसओ : गरुए

नवम उद्देशक : गुरुक

जीवों के गुरुत्व–लघुत्वादि की प्ररूपणा—

१. कहं णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवातेणं मुसावादेणं अदिण्णा० मेहुण० परिग्ग० कोह० माण० माया० लोभ० पेज्ज० दोस० कलह० अब्भक्खाण० पेसुन्न० रति-अरति० परपरिवाय० मायामोस० मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ।

[१ प्र.] भगवन् ! जीव, किस प्रकार शीघ्र गुरुत्व (भारीपन) को प्राप्त होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेय (राग) से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से, रति—अरति से, परपरिवाद [परनिन्दा] से, मायामृषा से और मिथ्यादर्शनशल्य से; इस प्रकार हे गौतम ! (इन अठारह ही पापस्थानों का सेवन करने से) जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं ।

२. कहं णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमगच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ।

[२ प्र.] भगवन् ! जीव किस प्रकार शीघ्र लघुत्व (लघुता=हल्केपन) को प्राप्त करते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! प्राणातिपात से विरत होने से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरत होने से जीव शीघ्र लघुत्व को प्राप्त होते हैं ।

३. एवं आकुलीकरेंति,[1] एवं परित्तीकरेंति । एवं दीहीकरेंति, एवं ह्रस्सीकरेंति । एवं अणुपरियट्टंति, एवं वीतीवयंति । पसत्था चत्तारि । अप्पसत्था चत्तारि ।

[३] इस प्रकार जीव प्राणातिपात आदि पापों का सेवन करने से संसार को (कर्मों से) बढ़ाते (प्रचुर करते) हैं, दीर्घकालीन करते हैं, और बार-बार भव-भ्रमण करते हैं, तथा प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त होने से जीव संसार को परिमित (परित्त) करते (घटाते) हैं, अल्पकालीन (छोटा) करते हैं, और संसार को लांघ जाते हैं । उनमें से चार (लघुत्व, संसार का परित्तीकरण, ह्रस्वीकरण एवं व्यतिक्रमण) प्रशस्त हैं, और चार (गुरुत्व, संसार का वृद्धीकरण (प्रचुरीकरण), दीर्घीकरण, एवं (पुनः पुनः भव-भ्रमण) अप्रशस्त हैं ।

---

१. आकुलीकरेंति = प्रचुरीकुर्वन्ति कर्मभिः । परित्तीकरेंति = स्तोकंकुर्वन्ति कर्मभिरेव । दीहीकरेंति = दीर्घं प्रचुरकालं कुर्वन्तीत्यर्थः । हस्सीकरेंति = अल्पकालं कुर्वन्ति । अणुपरियट्टंति = पौनःपुन्येन भ्रमन्ति । विइवयंति = व्यतिव्रजन्ति—व्यतिक्रामन्ति ।

विवेचन—जीवों का गुरुत्व-लघुत्व—प्रस्तुत त्रिसूत्री में जीवों के गुरुत्व-लघुत्व के कारण अष्टादशपापसेवन तथा अष्टादशपाप-विरमण को बताकर साथ ही लघुत्व आदि चार की प्रशस्तता एवं गुरुत्व आदि चार की अप्रशस्तता भी प्रतिपादित की गई है।

चार प्रशस्त और चार अप्रशस्त क्यों?—इन आठों में से लघुत्व, परीतत्व ह्रस्वत्व और व्यतिव्रजन, ये चार दण्डक प्रशस्त हैं; क्योंकि ये मोक्षांग हैं; तथा गुरुत्व, आकुलत्व, दीर्घत्व और अनुपरिवर्तन, ये चार दण्डक अप्रशस्त हैं, क्योंकि ये अमोक्षांग (संसारांग) हैं।[1]

पदार्थों के गुरुत्व-लघुत्व आदि की प्ररूपणा—

४. सत्तमे णं भंते! ओवासंतरे किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए?

गोयमा! नो गरुए, नो लहुए, नो गरुयलहुए, अगरुयलहुए।

[४ प्र] भगवन्! क्या सातवाँ अवकाशान्तर गुरु है, अथवा वह लघु है, या गुरुलघु है, अथवा अगुरुलघु है?

[४ उ.] गौतम! वह गुरु नहीं है, लघु नहीं है, गुरु-लघु नहीं है, किन्तु अगुरुलघु है।

५. [१] सत्तमे णं भंते! तणुवाते किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए?

गोयमा! नो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए, नो अगरुयलहुए।

[५-१ प्र.] भगवन्! सप्तम तनुवात क्या गुरु है, लघु है या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है?

[५-१ उ.] गौतम! वह गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरु-लघु है; अगुरुलघु नहीं है।

[२] एवं सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही, सत्तमा पुढवी।

[५-२] इस प्रकार सप्तम घनवात, सप्तम घनोदधि और सप्तम पृथ्वी के विषय में भी जानना चाहिए।

[३] ओवासंतराइं सव्वाइं जहा सत्तमे ओवासंतरे (सु. ४)।

[५-३] जैसा सातवें अवकाशान्तर के विषय में कहा है, वैसा ही सभी अवकाशान्तरों के विषय में समझना चाहिए।

[४] [सेसा] जहा तणुवाए। एवं—ओवास वाय घणउदहि पुढवी दीवा य सागरा वासा।

[५-४] तनुवात के विषय में जैसा कहा है, वैसा ही सभी घनवात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र और क्षेत्रों के विषय में भी जानना चाहिए।

६. [१] नेरइया णं भंते! किं गरुया जाव अगरुयलहुया?

गोयमा! नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि।

[६-१ प्र.] भगवन्! नारक जीव गुरु हैं, लघु हैं, गुरु-लघु हैं या अगुरुलघु हैं?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति. पत्रांक ९६

[६-१ उ.] गौतम ! नारक जीव गुरु नहीं हैं, लघु नहीं, किन्तु गुरुलघु हैं और अगुरुलघु भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा । वेउव्विय-तेयाइं पडुच्च नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया, नो अगुरुयलहुया जीवं च कम्मणं च पडुच्च नो गरुया, नो लहुया, नो गरुयलहुया, अगरुयलहुया। सेतेणट्ठेणं०।

[६-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं हैं, लघु नहीं है, अगुरुलघु भी नहीं हैं; किन्तु गुरु-लघु हैं। किन्तु जीव और कार्मणशरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं हैं, लघु भी नहीं हैं, गुरु-लघु भी नहीं हैं, किन्तु अगुरुलघु हैं। इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

[३] एवं जाव वेमाणिया। नवरं णाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं।

[६-३] इसी प्रकार वैमानिकों (अन्तिम दण्डक) तक जानना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि शरीरों में भिन्नता कहना चाहिए।

७. धम्मत्थिकाये जाव जीवत्थिकाये चउत्थपदेणं।

[७] धर्मास्तिकाय से लेकर यावत् (अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और) जीवास्तिकाय तक चौथे पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

८. पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए ?

गोयमा ! णो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए वि, अगरुयलहुए वि।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! गरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए, नो अगरुयलहुए। अगरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गरुए, नो लहुए, नो गरुयलहुए, अगरुयलहुए।

[८ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है, लघु है, गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ?

[८ उ.] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय न गुरु है, न लघु है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[उ.] गौतम ! गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है, अगुरुलघु नहीं है। अगुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं, लघु नहीं है, न गुरु-लघु है, किन्तु अगुरुलघु है।

९. समया कम्माणि य चउत्थपदेणं।

[९] समयों और कर्मों (कार्मण शरीर) को चौथे पद से जानना चाहिए अर्थात्—समय और कार्मण शरीर अगुरुलघु हैं।

१०. [१] कण्हलेसा णं भंते ! किं गरुया, जाव अगरुयलहुया ?

गोयमा ! नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या क्या गुरु है, लघु है ? या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है?

[१०-१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! दव्वलेसं पडुच्च ततियपदेणं, भावलेसं पडुच्च चउत्थपदेणं।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

[१०-२ उ.] गौतम ! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा तृतीय पद से (अर्थात्—गुरुलघु) जानना चाहिए, और भावलेश्या की अपेक्षा चौथे पद से (अर्थात् अगुरुलघु) जानना चाहिए।

[३] एवं जाव सुक्कलेसा।

[१०-३] इसी प्रकार शुक्ललेश्या तक जानना चाहिए।

११. दिट्ठी-दंसण-नाण-अण्णाण-सण्णाओ चउत्थपदेणं णेतव्वाओ।

[११] दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा को भी चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

१२. हेट्ठिल्ला चत्तारि सरीरा नेयव्वा ततियएणं पदेणं। कम्मयं चउत्थएणं पदेणं।

[१२] आदि के चारों शरीरों—औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर—को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए, तथा कार्मण शरीर को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

१३. मणजोगो वइजोगो चउत्थएणं पदेणं। कायजोगो ततिएणं पदेणं।

[१३] मनोयोग और वचनयोग को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) और काययोग को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए।

१४. सागारोवओगो अणागारोवओगो चउत्थएणं पदेणं।

[१४] साकारोपयोग और अनाकारोपयोग को चतुर्थ पद से जानना चाहिए।

१५. सव्वदव्वा सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ (सु. ८)।

[१५] सर्वद्रव्य, सर्वप्रदेश और सर्वपर्याय पुद्गलास्तिकाय के समान समझना चाहिए।

१६. तीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा चउत्थेणं पदेणं।

[१६] अतीतकाल, अनागत (भविष्य) काल और सर्वकाल चौथे पद से अर्थात् अगुरुलघु जानना चाहिए।

विवेचन—पदार्थों की गुरुता-लघुता आदि का चतुर्भंग की अपेक्षा से विचार—प्रस्तुत तेरह सूत्रों (सू. ४ से १६ तक) में अवकाशान्तर, घनवात, तनुवात आदि विविध पदार्थों तथा चौबीस दण्डक के जीवों, धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकाय, लेश्या आदि की दृष्टि से गुरुता, लघुता, गुरुलघुता और अगुरुलघुता का विचार प्रस्तुत किया गया है।

गुरु-लघु आदि की व्याख्या—गुरु का अर्थ है—भारी। भारी वह वस्तु होती है, जो पानी पर रखने से डूब जाती है; जैसे—पत्थर आदि। लघु का अर्थ है—हल्की। हल्की वह वस्तु है, जो पानी

पर रखने से नहीं डूबती वल्कि ऊर्ध्वगामी हो; जैसे—लकड़ी आदि। तिरछी जाने वाली वस्तु गुरु-लघु है। जैसे—वायु। सभी अरूपी द्रव्य अगुरुलघु हैं; जैसे—आकाश आदि। तथा कार्मणपुद्गल आदि कोई-कोई रूपी पुद्गल चतुःस्पर्शी (चौफरसी) पुद्गल भी अगुरुलघु होते हैं। अष्टस्पर्शी (अठफरसी) पुद्गल गुरु-लघु होते हैं। यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय की अपेक्षा से कोई भी द्रव्य एकान्तगुरु या एकान्तलघु नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा से वादरस्कन्धों में भारीपन या हल्कापन होता है, अन्य किसी स्कन्ध में नहीं।

निष्कर्ष : निश्चयनय से अमूर्त और सूक्ष्म चतुःस्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु हैं। इनके सिवाय शेष पदार्थ गुरुलघु हैं। प्रथम और द्वितीय भंग शून्य हैं। ये किसी भी पदार्थ में नहीं पाये जाते। हाँ, व्यवहारनय से चारों भंग पाये जाते हैं।

अवकाशान्तर—चौदह राजू परिमाण पुरुषाकार लोक में नीचे की ओर ७ पृथ्वियाँ (नरक) हैं। प्रथम पृथ्वी के नीचे घनोदधि, उसके नीचे घनवात, उनके नीचे तनुवात है, और तनुवात के नीचे आकाश है। इसी क्रम से सातों नरकपृथ्वियों के नीचे ७ आकाश हैं, इन्हें ही अवकाशान्तर कहते हैं। ये अवकाशान्तर आकाशरूप होने से अगुरुलघु हैं।[1]

श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर—

१७. से नूणं भंते ! लाघवियं अप्पिच्छा अमुच्छा अगेही अपडिवद्धता समणाणं णिग्गंथाणं पसत्थं ?

हंता, गोयमा ! लाघवियं जाव पसत्थं।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्या लाघव, अल्प इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति (अगृद्धि) और अप्रतिवद्धता, ये श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं ?

[१७ उ.] हाँ गौतम ! लाघव यावत् अप्रतिवद्धता प्रशस्त हैं।

१८. से नूणं भंते ! अकोहत्तं अमाणत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं ?

हंता, गोयमा ! अकोहत्तं जाव पसत्थं।

[१८ प्र.] भगवन् ! क्रोधरहितता, मानरहितता, मायारहितता और अलोभत्व, क्या ये श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं ?

[१८ उ.] हाँ गौतम ! क्रोधरहितता यावत् अलोभत्व, ये सब श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त हैं।

१९. से नूणं भंते ! कंखा-पदोसे खीणे समणे निग्गंथे अंतकरे भवति, अंतिमसरीरिए वा, वहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता अह पच्छा संवुडे कालं करेति तओ पच्छा सिज्झति ३ जाव अंतं करेइ ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ९६, ९७

(ख) णिच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा ण विज्जए दव्वं।
ववहारओ उ जुज्जइ, वायरखंधेसु ण अण्णेसु ॥ १ ॥
अगुरुलहू चउप्फासा, अरूविदव्वा य होंति णायव्वा।
सेसाओ अट्ठफासा, गुरुलहुया णिच्छयणयस्स ॥ २ ॥

हंता गोयमा ! कंखा-पदोसे खीणे जाव अंतं करेति ।

[१९ प्र.] भगवन् ! क्या कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमणनिर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम (चरम) शरीरी होता है ? अथवा पूर्वावस्था में बहुत मोह वाला होकर विहरण करे और फिर संवृत (संवरयुक्त) होकर मृत्यु प्राप्त करे, तो क्या तत्पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

[१९ उ.] हाँ, गौतम ! कांक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ।

विवेचन—श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१७ से १९ तक) में से दो सूत्रों में लाघव आदि श्रमणगुणों को श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त बताया है, शेष तृतीय सूत्र में कांक्षाप्रदोषक्षीणता एवं संवृतता से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सर्वदुःखों का अन्तकर होने का निर्देश किया गया है ।

लाघव आदि पदों के अर्थ—**लाघव**—शास्त्रमर्यादा से भी अल्प उपधि रखना । **अल्पेच्छा**—आहारादि में अल्प अभिलाषा रखना । **अमूर्च्छा**—अपने पास रही हुई उपधि में भी ममत्व (संरक्षणानुबन्ध) न रखना । **अगृद्धि**—आसक्ति का अभाव । अर्थात्—भोजनादि के परिभोगकाल में अनासक्ति रखना । **अप्रतिबद्धता**—स्वजनादि या द्रव्य-क्षेत्रादि में स्नेह या राग के बन्धन को काट डालना । **कांक्षाप्रदोष**—अन्यदर्शनों का आग्रह-आसक्ति, अथवा राग और प्रद्वेष । इसका दूसरा नाम कांक्षाप्रद्वेष भी है । जिसका आशय है—जिस बात को पकड़ रखा है, उससे विरुद्ध या भिन्न बात पर द्वेष होना ।[1]

आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध में अन्यमतीय एवं भगवदीय प्ररूपणा—

२०. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति एवं भासेंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—"एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पगरेति, तं जहा—इहभवियाउयं च, परभवियाउगं च । जं समयं इहभवियाउगं पकरेति तं समयं परभवियाउगं पकरेति, जं समयं परभवियाउगं पकरेति तं समयं इहभवियाउगं पकरेइ; इहभवियाउगस्स पकरणयाए परभवियाउगं पकरेइ, परभवियाउगस्स पगरणताए इहभवियाउयं पकरेति । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति, तं०—इहभवियाउयं च, परभवियाउयं च ।" से कहमेतं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव परभवियाउयं च । जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउगं पकरेति, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा; जं समयं इहभवियाउयं पकरेति णो तं समयं परभवियाउयं पकरेति, जं समयं परभवियाउयं पकरेइ णो तं समयं इहभवियाउयं पकरेइ; इहभवियाउयस्स पकरणताए णो परभवियाउयं पकरेति, परभवियाउयस्स पकरणताए णो इहभवियाउयं पकरेति । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पकरेति, तं०—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरति ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति. पत्रांक ९७

[२० प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार विशेषरूप से कहते हैं, इस प्रकार बताते हैं, और इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता (बाँधता) है। वह इस प्रकार—इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयुष्य करता है और जिस समय परभव का आयुष्य करता है, उस समय इहभव का आयुष्य करता है। इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य करता है और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है—इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। भगवन् ! क्या यह इसी प्रकार है ?

[२० उ.] गौतम ! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य (करता है); उन्होंने जो ऐसा कहा है, वह मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि—एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है और वह या तो इस भव का आयुष्य करता है अथवा परभव का आयुष्य करता है। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयुष्य नहीं करता और जिस समय परभव का आयुष्य करता है, उस समय इस भव का आयुष्य नहीं करता। तथा इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य नहीं करता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है—इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है;' ऐसा कहकर भगवान् गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध में अन्यमतीय एवं भगवदीय प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में अन्यमतमान्य आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा प्रस्तुत करके भगवान् के द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक प्ररूपणा प्रदर्शित की गई है।

आयुष्य करने का अर्थ—यहाँ आयुष्य बाँधना है।

दो आयुष्यबन्ध क्यों नहीं ?—यद्यपि आयुष्यबन्ध के समय जीव इस भव के आयुष्य को वेदता है, और परभव के आयुष्य को बांधता है, किन्तु उत्पन्न होते ही या इसी भव में एक साथ दो आयुष्यों का बंध नहीं करता; अन्यथा, इस भव में किये जाने वाले दान-धर्म आदि सब व्यर्थ हो जाएँगे।[1]

पार्श्वापत्यीय कालास्यवेषिपुत्र का स्थविरों द्वारा समाधान और हृदयपरिवर्तन—

२१. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते एवं वयासी—थेरा सामाइयं ण जाणंति, थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं ण याणंति।

---

१. भगवती सूत्र, अ. वृत्ति पत्रांक ९८, ९९

[२१-१] उस काल (भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के लगभग २५० वर्ष पश्चात्) और उस समय (भगवान् महावीर के शासनकाल) में पार्श्वापत्यीय (पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्यानुशिष्य) कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार जहाँ (भगवान् महावीर के) स्थविर (श्रुतवृद्ध शिष्य) भगवान् विराजमान थे, वहाँ गए। उनके पास आकर स्थविर भगवन्तों से उन्होंने इस प्रकार कहा—"हे स्थविरो! आप सामायिक को नहीं जानते, सामायिक के अर्थ को नहीं जानते; आप प्रत्याख्यान को नहीं जानते और प्रत्याख्यान के अर्थ को नहीं जानते; आप संयम को नहीं जानते और संयम के अर्थ को नहीं जानते; आप संवर को नहीं जानते, संवर के अर्थ को नहीं जानते; हे स्थविरो! आप विवेक को नहीं जानते और विवेक के अर्थ को नहीं जानते हैं, तथा आप व्युत्सर्ग को नहीं जानते और न व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हैं।"

[२] तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जाणामो णं अज्जो! सामाइयं, जाणामो णं अज्जो! सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणामो णं अज्जो! विउस्सग्गस्स अट्ठं।

[२१-२] तब उन स्थविर भगवन्तों ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे आर्य! हम सामायिक को जानते हैं, सामायिक के अर्थ को भी जानते हैं, यावत् हम व्युत्सर्ग को जानते हैं और व्युत्सर्ग के अर्थ को भी जानते हैं।

[३] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे ते थेरे भगवंते एवं वयासी—जति णं अज्जो! तुब्भे जाणह सामाइयं, जाणह सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं किं भे अज्जो! सामाइए? किं भे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे? जाव किं भे विउस्सगस्स अट्ठे?

[२१-३ प्र.] उसके पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहा—हे आर्यो! यदि आप सामायिक को (जानते हैं) और सामायिक के अर्थ को जानते हैं, यावत्-व्युत्सर्ग को एवं व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हैं, तो बतलाइये कि (आपके मतानुसार) सामायिक क्या है और सामायिक का अर्थ क्या है? यावत्........व्युत्सर्ग क्या है और व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है?

[४] तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—आया णे अज्जो! सामाइए, आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे।

[२१-४ उ.] तब उन स्थविर भगवन्तों ने इस प्रकार कहा कि—हे आर्य! हमारी आत्मा सामायिक है, हमारी आत्मा सामायिक का अर्थ है; यावत् हमारी आत्मा व्युत्सर्ग है, हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है।

[५] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी—जति भे अज्जो! आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे एवं जाव आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोह-माण-माया-लोभे किमट्ठं अज्जो! गरहह?

कालास०! संजमट्ठयाए।

[२१-५ प्र.] इस पर कालास्यवेषिपुत्र, अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा—'हे आर्यो! यदि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, और इसी प्रकार यावत्

आत्मा ही व्युत्सर्ग है तथा आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो आप क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके क्रोधादि की गर्हा—निन्दा क्यों करते हैं ?'

[२१-५ उ.] हे कालास्यवेपिपुत्र ! हम संयम के लिए क्रोध आदि की गर्हा करते हैं।

[६] से भंते ! किं गरहा संजमे ? अगरहा संजमे ?

कालास० ! गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे, गरहा वि य णं सव्वं दोसं पविणेति, सव्वं वालियं परिण्णाए एवं खु णे आया संजमे उवहिते भवति, एवं खु णे आया संजमे उवचिते भवति, एवं खु णे आया संजमे उवट्ठिते भवति।

[२१-६ प्र.] तो 'हे भगवन् ! क्या गर्हा (करना) संयम है या अगर्हा (करना) संयम है ?'

[२१-६ उ.] हे कालास्यवेषिपुत्र ! गर्हा (पापों की निन्दा) संयम है, अगर्हा संयम नहीं है। गर्हा सब दोषों को दूर करती है—आत्मा समस्त मिथ्यात्व को जान कर गर्हा द्वारा दोपनिवारण करता है। इस प्रकार हमारी आत्मा संयम में पुष्ट होती है, और इसी प्रकार हमारी आत्मा संयम में उपस्थित होती है।

२२. [१] एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संवुद्धे थेरे भगवंते वंदति णमंसति, २ एवं वयासी—एतेसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अवोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुताणं अमुताणं अविण्णायाणं अव्वोगडाणं अव्वोच्छिन्नाणं अणिज्जूढाणं अणुवधारिताणं एतमट्ठे णो सद्दहिते, णो पत्तिए, णो रोइए। इदाणिं भंते ! एतेसिं पदाणं जाणताए सवणताए वोहीए अभिगमेणं दिट्ठाणं सुताणं मुयाणं विण्णातांणं वोगडाणं वोच्छिन्नाणं णिज्जूढाणं उवधारिताणं एतमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि। एवमेतं से जहेयं तुब्भे वदह।

[२२-१] (स्थविर भगवन्तों का उत्तर सुनकर) वह कालास्यवेपिपुत्र अनगार वोध को प्राप्त हुए और उन्होंने स्थविर भगवन्तों को वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'हे भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) पदों को न जानने से, पहले सुने हुए न होने से, वोध न होने से अभिगम (ज्ञान) न होने से, दृष्ट न होने से, विचारित (सोचे हुए) न होने से, सुने हुए न होने से, विशेषरूप से न जानने से, कहे हुए न होने से, अनिर्णीत होने से, उद्धृत न होने से, और ये पद अवधारण किये हुए न होने से इस अर्थ में श्रद्धा नहीं की थी, प्रतीति नहीं की थी, रुचि नहीं की थी; किन्तु भगवन् ! अब इन (पदों) को जान लेने से, सुन लेने से, वोध होने से, अभिगम होने से, दृष्ट होने से, चिन्तित (चिन्तन किये हुए) होने से, श्रुत (सुने हुए) होने से, विशेप जान लेने से, (आपके द्वारा) कथित होने से, निर्णीत होने से, उद्धृत होने से और इन पदों का अवधारण करने से इस अर्थ (कथन) पर मैं श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ; रुचि करता हूँ, हे भगवन् ! आप जो यह कहते हैं, वह यथार्थ है, वह इसी प्रकार है।'

[२] तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सद्दहाहि अज्जो ! पत्तियाहि अज्जो ! रोएहि अज्जो ! से जहेतं अम्हे वदामो।

[२२-२] तब उन स्थविर भगवन्तों ने कालास्यवेपिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—'हे आर्य ! हम जैसा कहते हैं उस पर वैसी ही श्रद्धा करो, आर्य ! उस पर प्रतीति करो, आर्य ! उसमें रुचि रखो।'

२३. [१] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, २ एवं वदासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।

[२३-१] तत्पश्चात् कालास्यवेपिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों को वन्दना की, नमस्कार किया, और तब वह इस प्रकार बोले—'हे भगवन् ! पहले मैंने (भ० पार्श्वनाथ का) चातुर्यामधर्म स्वीकार किया है, अब मैं आपके पास प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'

(स्थविर—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसे करो । परन्तु (इस शुभकार्य में) विलम्ब (प्रतिबन्ध) न करो ।'

[२] तए णं से कालसवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

[२३-२] तदनन्तर कालास्यवेपिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवन्तों को वन्दना की, नमस्कार किया, और फिर चातुर्याम धर्म के स्थान पर प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रत वाला धर्म स्वीकार किया और विचरण करने लगे ।

२४. तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणइ, २ जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणयं अदंतधुवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोओ बंभचेरवासो परघरपवेसो लद्धावलद्धी, उच्चावया गामकंटगा बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेइ, २ चरमेहिं उस्सास-नीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे ।

[२४] इसके पश्चात् कालास्यवेपिपुत्र अनगार ने बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय (साधुत्व) का पालन किया और जिस प्रयोजन से नग्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, अदन्तधावन, छत्रवर्जन, पैरों में जूते न पहनना, भूमिशयन, फलक (पट्टे) पर शय्या, काष्ठ पर शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ गृहस्थों के घरों में प्रवेश, लाभ और अलाभ (सहना) (अभीष्ट भिक्षा प्राप्त होने पर हर्षित न होना और भिक्षा न मिलने पर खिन्न न होना), अनुकूल और प्रतिकूल, इन्द्रियसमूह के लिए कण्टकसम चुभने वाले कठोर शब्दादि इत्यादि २२ परीषहों को सहन करना, इन सब (साधनाओं) का स्वीकार किया, उस अभीष्ट प्रयोजन की सम्यक्रूप से आराधना की । और वह अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए और समस्त दुःखों से रहित हुए ।

विवेचन—पार्श्वापत्यीय कालास्यवेपिपुत्र का स्थविरों द्वारा समाधान और हृदय-परिवर्तन—प्रस्तुत चार सूत्रों में पार्श्वनाथ भगवान् के शिष्यानुशिष्य कालास्यवेपिपुत्र अनगार द्वारा भगवान् महावीर के श्रुतस्थविर शिष्यों से सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग एवं इनके अर्थों के सम्बन्ध में की गई शंकाओं का समाधान एवं अन्त में कृतज्ञता-प्रकाशपूर्वक विनयसहित सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत धर्म के स्वीकार का वर्णन है ।

'कट्ठसेज्जा' के तीन अर्थ—काष्ठशय्या, कष्टशय्या, अथवा अमनोज्ञवसति ।

स्थविरों के उत्तर का विश्लेषण—स्थविरों का उत्तर निश्चयनय की दृष्टि से है। गुण और गुणी में तादात्म्य—अभेदसम्बन्ध होता है । इस दृष्टि से आत्मा (गुणी) और सामायिक (गुण) अभिन्न हैं । आत्मा को सामायिक आदि और सामायिक आदि का अर्थ कहना इस (निश्चय) दृष्टि से युक्तियुक्त है । व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा और सामायिक आदि पृथक्-पृथक् होने से सामायिक आदि का अर्थ इस प्रकार होगा—

सामायिक—शत्रु-मित्र पर समभाव । **प्रत्याख्यान**—नवकारसी, पोरसी आदि का नियम करना । **संयम**—पृथ्वीकायादि जीवों की यतना—रक्षा करना । **संवर**-पाँच इन्द्रियों तथा मन को वश में रखना । **विवेक**—विशिष्ट बोध—ज्ञान । **व्युत्सर्ग**—शारीरिक हलन-चलन बन्द करके उस पर से ममत्व हटाना ।

इनका प्रयोजन—सामायिक का अर्थ—नये कर्मों का वन्ध न करना, प्राचीन कर्मों की निर्जरा करना । **प्रत्याख्यान का प्रयोजन**—आस्रवद्वारों को रोकना । **संयम का प्रयोजन**—आस्रवरहित होना । **संवर का प्रयोजन**—इन्द्रियों और मन की प्रवृत्ति को रोक कर आस्रवरहित होना । **विवेक का प्रयोजन**—हेय का त्याग, ज्ञेय का ज्ञान और उपादेय का ग्रहण करना । **व्युत्सर्ग का प्रयोजन**—सभी प्रकार के संग से रहित हो जाना ।

गर्हा संयम कैसे ?—संयम में हेतुरूप होने तथा कर्मबन्ध में कारणरूप न होने से गर्हा संयम है ।[1]

चारों में अप्रत्याख्यानक्रिया : समानरूप से

२५. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—से नूणं भंते ! सेट्ठिस्स य तणुयस्स य किविणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?

हंता, गोयमा ! सेट्ठिस्स य जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ।

से केणट्ठेणं भंते ! ० ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सेट्ठिस्स य तणु० जाव कज्जइ ।

[२५ प्र.] 'भगवन् !' ऐसा कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया । तत्पश्चात् (वन्दन-नमस्कार करके) वे इस प्रकार बोले—भगवन् ! क्या श्रेष्ठी (स्वर्णपट्टविभूषित पगड़ी से युक्त पौरजननायक—नगर सेठ, श्रीमन्त) और दरिद्र को, रंक को और क्षत्रिय (राजा) को अप्रत्याख्यान क्रिया (प्रत्याख्यानक्रिया का अभाव अथवा अप्रत्याख्यानजन्य कर्मबन्ध) समान होती है ?

[२५ उ.] हाँ, गौतम ! श्रेष्ठी यावत् क्षत्रिय राजा (इन सब) के द्वारा अप्रत्याख्यान क्रिया (प्रत्याख्यान क्रिया का अभाव) समान की जाती है; (अर्थात्—अप्रत्याख्यानजन्य कर्मबन्ध भी समान होता है ।)

---

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति पत्रांक १००

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! (इन चारों की) अविरति को लेकर, ऐसा कहा जाता है कि श्रेष्ठी और दरिद्र, कृपण (रंक) और राजा (क्षत्रिय) इन सबकी अप्रत्याख्यानक्रिया (प्रत्याख्यानक्रिया से विरति या तज्जन्यकर्मबन्धता) समान होती है।

विवेचन—चारों में अप्रत्याख्यानक्रिया समानरूप से—प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि चाहे कोई बड़ा नगरसेठ हो, या दरिद्र, रंक हो या राजा, इन चारों में बाह्य असमानता होते हुए भी अविरति के कारण चारों को अप्रत्याख्यानक्रिया समानरूप से लगती है। अर्थात्—सबको प्रत्याख्यानक्रिया के अभावरूप अप्रत्याख्यान (अविरति) क्रिया के कारण समान कर्मबन्ध होता है। वहाँ राजा-रंक आदि का कोई लिहाज नहीं होता।[1]

आधाकर्म एवं प्रासुक-एषणीयादि आहारसेवन का फल

२६. आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधति ? किं पकरेति ? किं चिणाति ? किं उवचिणाति ?

गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव अणुपरियट्टइ।

से केणट्ठेणं जाव अणुपरियट्टइ ?

गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अतिक्कमति, आयाए धम्मं अतिक्कममाणे पुढविक्कायं णावकंखति जाव तसकायं णावकंखति, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकंखति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ जाव[2] अणुपरियट्टति।

[२६ प्र.] भगवन् ! आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ क्या बाँधता है ? क्या करता है ? किसका चय (वृद्धि) करता है, और किसका उपचय करता है ?

[२६ उ.] गौतम ! आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोड़कर शिथिलबन्धन से बंधी हुई सात कर्मप्रकृतियों को दृढ़बन्धन से बँधी हुई बना लेता है, यावत्-संसार में बार—बार पर्यटन करता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि, यावत्—वह संसार में बार-बार पर्यटन करता है ?

[उ.] गौतम ! आधाकर्मी आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ अपने आत्म-धर्म का अतिक्रमण करता है। अपने आत्मधर्म का अतिक्रमण करता हुआ (साधक) पृथ्वीकाय के

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०१

२. 'जाव' पद से—'सिढिलबंधणबद्धाओ धणिय बंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठितियाओ दीहकालठितियाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, अस्सायावेदणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं,'....यहाँ तक का पाठ समझना।

के जीवों की अपेक्षा (परवाह) नहीं करता, और यावद्—त्रसकाय के जीवों की चिन्ता (परवाह) नहीं करता और जिन जीवों के शरीरों का वह भोग करता है, उन जीवों की भी चिन्ता नहीं करता। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि आधाकर्मदोषयुक्त आहार भोगता हुआ (श्रमण) आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों की शिथिलवद्ध प्रकृतियों को गाढ़वन्धन वद्ध कर लेता है, यावत्—संसार में वार-वार परिभ्रमण करता है।

२७. फासुएसणिज्जं णं भंते ! भुंजमाणे किं बंधइ जाव उवचिणाइ ?

गोयमा ! फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जहा संवुडे णं (स० १ उ० १ सु. ११ [२]), नवरं आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। सेसं तहेव जाव वीतीवयति।

से केणट्ठेणं जाव वीतीवयति ?

गोयमा ! फासुएसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आताए धम्मं णाइक्कमति, आताए धम्मं अणतिक्कममाणे पुढविक्कायं अवकंखति जाव तसकायं अवकंखति, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारेति ते वि जीवे अवकंखति, से तेणट्ठेणं जाव वीतीवयति।

[२७ प्र.] हे भगवन् ! प्रासुक और एषणीय आहारादि का उपभोग करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ क्या बाँधता है ? यावत् किसका उपचय करता है ?

[२७ उ.] गौतम ! प्रासुक और एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ, आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों की दृढ़वन्धन से वद्ध प्रकृतियों को शिथिल करता है। उसे संवृत अनगार के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि आयुकर्म को कदाचित् बाँधता है और कदाचित् नहीं बांधता। शेष उसी प्रकार समझना चाहिए; यावत् संसार को पार कर जाता है।

[प्र.] 'भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—यावत्—संसार को पार कर जाता है ?'

[उ] गौतम ! प्रासुक एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ, अपने आत्मधर्म का उल्लंघन नहीं करता। अपने आत्मधर्म का उल्लंघन न करता हुआ वह श्रमणनिर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय के जीवों का जीवन चाहता है, यावत्—त्रसकाय के जीवों का जीवन चाहता है और जिन जीवों का शरीर उसके उपभोग में आता है, उनका भी वह जीवन चाहता है। इस कारण से हे गौतम ! वह यावत्—संसार को पार कर जाता है।

विवेचन—आधाकर्मी एवं एषणीय आहारादि-सेवन का फल—प्रस्तुत दो सूत्रों में क्रमशः आधाकर्मदोषयुक्त एवं प्रासुक एषणीय आहारादि के उपभोग का फल वताया गया है।

प्रासुकादिशब्दों के अर्थ—प्रासुक—अचित्त, निर्जीव। **एषणीय**—आहार आदि से सम्बन्धित दोषों से रहित। **आधाकर्म**—साधु के निमित्त सचित्त वस्तु को अचित्त की जाए अर्थात्—सजीव वस्तु को निर्जीव वनाया जाए, अचित्त वस्तु को पकाया जाए, घर मकान आदि वंधवाए जाएँ, वस्त्रादि वनवाए जाएँ, इसे आधाकर्म कहते हैं।

'बंधइ' आदि पदों के भावार्थ—बंधइ—यह पद प्रकृतिवन्ध की अपेक्षा से, या स्पृष्टवन्ध की अपेक्षा से है, **पकरइ** पद स्थितिवन्ध अथवा वद्ध अवस्था की अपेक्षा से है, **'चिणइ'** पद अनुभागवन्ध

की अपेक्षा से अथवा निधत्त अवस्था की अपेक्षा से है। 'उवचिणइ' पद प्रदेशबन्ध की अपेक्षा अथवा निकाचित अवस्था की अपेक्षा से है।[1]

स्थिर-अस्थिरादि-निरूपण—

२८. से नूणं भंते ! अथिरे पलोट्टति, नो थिरे पलोट्टति; अथिरे भज्जति, नो थिरे भज्जति; सासए, बालए, बालियत्तं असासयं; सासते पंडिते, पंडितत्तं असासतं ?

हंता, गोयमा ! अथिरे पलोट्टति जाव पंडितत्तं असासतं।

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति जाव विहरति।

॥ नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[२८. प्र.] भगवन् ! क्या अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नहीं बदलता है ? क्या अस्थिर पदार्थ भंग होता है और स्थिर पदार्थ भंग नहीं होता ? क्या बाल शाश्वत है तथा बालत्व अशाश्वत है ? क्या पण्डित शाश्वत है और पण्डितत्व अशाश्वत है ?

[२८. उ.] हाँ, गौतम ! अस्थिर पदार्थ बदलता है यावत् पण्डितत्व अशाश्वत है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! ; यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—स्थिर-अस्थिरादि-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में अस्थिर एवं स्थिर पदार्थों के परिवर्तन होने, न होने, भंग होने, न होने तथा बाल और पण्डित के शाश्वतत्व एवं बालत्व तथा पण्डितत्व के अशाश्वतत्व की चर्चा की गई है।

'अथिरे पलोट्टइ' आदि के दो अर्थ—व्यवहारपक्ष में पलट जाने वाला अस्थिर होता है; जैसे मिट्टी का ढेला आदि अस्थिर द्रव्य अस्थिर हैं। अध्यात्मपक्ष में कर्म अस्थिर हैं, वे प्रतिसमय जीवप्रदेशों से चलित—पृथक् होते हैं। कर्म अस्थिर होने से बन्ध, उदय और निर्जीर्ण आदि परिणामों द्वारा वे बदलते रहते हैं। व्यवहारपक्ष में पत्थर की शिला स्थिर है, वह बदलती नहीं, अध्यात्मपक्ष में आत्मा स्थिर है। व्यवहारपक्ष में तृणादि नश्वर स्वभाव के हैं, इसलिए भग्न हो जाते हैं, अध्यात्मपक्ष में कर्म अस्थिर होने से भग्न हो जाते हैं। जीव का प्रकरण होने से व्यवहारपक्ष में अबोध बच्चे को बाल कहते हैं, अध्यात्मपक्ष में असंयत अविरत को बाल कहते हैं। यह जीव द्रव्य रूप होने से शाश्वत है और बालत्व, पण्डितत्व आदि जीव की पर्याय होने से अशाश्वत हैं।[2]

॥ प्रथम शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०१-१०२

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०२

दसमो उद्देसओ : चलणाओ

दशम उद्देशक : चलना

चलमान चलित आदि से सम्बन्धित अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्त निरूपण—

१. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव एवं परूवेंति—"एवं खलु चलमाणे अचलिते जाव निज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहन्नंन्ति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयतो न साहन्नंति ?

दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं नत्थि सिणेहकाए तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहन्नंति। तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति ?

तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति। ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवति, एगयओ वि दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवति; तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति, एवं जाव चत्तारि, पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, एगयओ साहन्नित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति, दुक्खे वि य णं से सासते सया समितं चिज्जति य अवचिज्जति य। पुव्वि भासा भासा, भासिज्जमाणी भासा अभासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं भासिया भासा भासा; सा किं भासओ भासा ? अभासओ भासा ?

अभासओ णं सा भासा, नो खलु सा भासओ भासा।

पुव्वि किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवीतिक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा; जा सा पुव्वि किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवीइक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा, सा किं करणतो दुक्खा अकरणतो दुक्खा ?

अकरणओ णं सा दुक्खा, णो खलु सा करणतो दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया।

अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया"। से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि—एवं खलु चलमाणे चलिते जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति ? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ परमाणु पोग्गलेभवति।

तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति ?

तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयम्रो साहण्णंति; ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयम्रो परमाणुपोग्गले, एगयम्रो दुपदेसिए खंधे भवति, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति। एवं जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला एगयम्रो साहन्नंति, साहन्नित्ता खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य णं से असासते सया समियं उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य।

पुव्वि भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं भासिता भासा अभासा; जा सा पुव्वि भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं भासिता भासा अभासा, सा किं भासतो भासा अभासम्रो भासा ?

भासम्रो णं सा भासा, नो खलु सा अभासम्रो भासा। पुव्वि किरिया अदुक्खा जहा भासा तहा भाणितव्वा किरिया वि जाव करणतो णं सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणम्रो दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया। किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया।

[१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि—'जो चल रहा है, वह अचलित है—चला नहीं कहलाता और यावत्—जो निर्जीर्ण हो रहा है, वह निर्जीर्ण नहीं कहलाता।'

'दो परमाणुपुद्गल एक साथ नहीं चिपकते।' दो परमाणुपुद्गल एक साथ क्यों नहीं चिपकते ? इसका कारण यह है कि दो परमाणुपुद्गलों में चिपकनापन (स्निग्धता) नहीं होती इसलिए दो परमाणुपुद्गल एक साथ नहीं चिपकते।'

'तीन परमाणुपुद्गल एक दूसरे से चिपक जाते हैं।' तीन परमाणुपुद्गल परस्पर क्यों चिपक जाते हैं ? इसका कारण यह है कि तीन परमाणुपुद्गलों में स्निग्धता (चिकनाहट) होती है; इसलिए तीन परमाणु-पुद्गल आपस में चिपक जाते हैं। यदि तीन परमाणु-पुद्गलों का भेदन (भाग) किया जाए तो दो भाग भी हो सकते हैं, एवं तीन भाग भी हो सकते हैं। अगर तीन परमाणु-पुद्गलों के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ डेढ़ परमाणु होता है और दूसरी तरफ भी डेढ़ परमाणु होता है। यदि तीन परमाणुपुद्गलों के तीन भाग किये जाएँ तो एक-एक करके तीन परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु-पुद्गलों के विषय में समझना चाहिए।'

'पाँच परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं और वे दुःखरूप (कर्मरूप) में परिणत होते हैं। वह दुःख (कर्म) भी शाश्वत है, और सदा सम्यक् प्रकार से उपचय को प्राप्त होता है और अपचय को प्राप्त होता है।'

'बोलने से पहले की जो भाषा (भाषा के पुद्गल) है, वह भाषा है। बोलते समय की भाषा अभाषा है और बोलने का समय व्यतीत हो जाने के बाद की भाषा, भाषा है।'

[प्र.] यह जो बोलने से पहले की भाषा, भाषा है और बोलते समय की भाषा, अभाषा है तथा बोलने के समय के बाद की भाषा, भाषा है; सो क्या बोलते हुए पुरुष की भाषा है या न बोलते हुए पुरुष की भाषा है ?'

[उ.] 'न बोलते हुए पुरुष की वह भाषा है, बोलते हुए पुरुष की वह भाषा नहीं है।'

'करने से जो पूर्व की जो क्रिया है, वह दुःखरूप है, वर्तमान में जो क्रिया की जाती है, वह दुःखरूप नहीं है और करने के समय के वाद की कृतक्रिया भी दुःखरूप है।'

[प्र.] वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दुःख का कारण है; की जाती हुई क्रिया दुःख का कारण नहीं है और करने के समय के वाद की क्रिया दुःख का कारण है; तो क्या वह करने से दुःख का कारण है या न करने से दुःख का कारण है ?

[उ.] न करने से वह दुःख का कारण है, करने से दुःख का कारण नहीं है; ऐसा कहना चाहिए।

अकृत्य दुःख है, अस्पृश्य दुःख है, और अक्रियमाण कृत दुःख है। उसे न करके प्राण, भूत, जीव और सत्त्व वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

[प्र.] श्री गौतमस्वामी पूछते हैं—'भगवन् ! क्या अन्यतीर्थिकों का इस प्रकार का यह मत सत्य है ?'

[उ.] गौतम ! यह अन्यतीर्थिक जो कहते हैं—यावत् वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए, उन्होंने यह सब जो कहा है, वह मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि जो चल रहा है, वह 'चला' कहलाता है और यावत् जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण कहलाता है।

दो परमाणु पुद्गल आपस में चिपक जाते हैं। इसका क्या कारण है ? दो परमाणु पुद्गलों में चिकनापन है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं। इन दो परमाणु पुद्गलों के दो भाग हो सकते हैं। दो परमाणु पुद्गलों के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ एक परमाणु और एक तरफ एक परमाणु होता है।

तीन परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं। तीन परमाणुपुद्गल परस्पर क्यों चिपक जाते हैं। तीन परमाणुपुद्गल इस कारण चिपक जाते हैं, कि उन परमाणुपुद्गलों में चिकनापन है। इस कारण तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं। उन तीन परमाणुपुद्गलों के दो भाग भी हो सकते हैं और तीन भाग भी हो सकते हैं। दो भाग करने पर एक तरफ परमाणु, और एक तरफ दो प्रदेश वाला एक द्व्यणुक स्कन्ध होता है। तीन भाग करने पर एक-एक करके तीन परमाणु हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत्—चार परमाणु पुद्गल में भी समझना चाहिए। परन्तु तीन परमाणु के डेढ-डेढ (भाग) नहीं हो सकते।

पाँच परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं और परस्पर चिपककर एक स्कन्धरूप वन जाते हैं। वह स्कन्ध अशाश्वत है और सदा उपचय तथा अपचय पाता है। अर्थात्-वह वढ़ता घटता भी है।

वोलने से पहले की भाषा अभाषा है; वोलते समय की भाषा भाषा है और वोलने के बाद की भाषा भी अभाषा है।

[प्र.] वह जो पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा भाषा है, और वोलने के वाद की भाषा अभाषा है; सो क्या वोलने वाले पुरुष की भाषा है, या नहीं बोलते हुए पुरुष की भाषा है ?

[उ.] वह बोलने वाले पुरुष की भाषा है, नहीं बोलते हुए पुरुष की भाषा नहीं है।

(करने से) पहले की क्रिया दुःख का कारण नहीं है, उसे भाषा के समान ही समझना चाहिए।

यावत्—वह क्रिया करने से दुःख का कारण है, न करने से दुःख का कारण नहीं है, ऐसा कहना चाहिए।

कृत्य दुःख है, स्पृश्य दुःख है, क्रियमाण कृत दुःख है। उसे कर-करके प्राण, भूत, जीव और वेदना भोगते हैं; ऐसा कहना चाहिए।

विवेचन—'चलमान चलित' आदि-सम्बन्धी अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्त-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में अन्यतीर्थिकों की कतिपय विपरीत मान्यताओं का भगवान् महावीर द्वारा निराकरण करके स्वसिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

अन्यतीर्थिकों के मिथ्या मन्तव्यों का निराकरण—(१) चलमान कर्म प्रथम क्षण में चलित नहीं होगा तो द्वितीय आदि समयों में भी अचलित ही रहेगा, फिर तो किसी भी समय वह कर्म चलित होगा ही नहीं। अतः चलमान चलित नहीं होता, यह कथन अयुक्त है। (२) दो परमाणु सूक्ष्म और स्निग्धतारहित होने से नहीं चिपकते, यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि एक परमाणु में भी स्निग्धता होती है, अन्यतीर्थिकों ने जब डेढ़-डेढ़ परमाणुओं के चिपक जाने की बात स्वीकार की है, तब उनके मत से आधे परमाणु में भी चिकनाहट होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में दो परमाणु भी चिपकते हैं, यही मानना युक्ति-युक्त है। (३) 'डेढ़-डेढ़ परमाणु चिपकते हैं,' [यह अन्यतीर्थिक-कथन भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि परमाणु के दो भाग हो ही नहीं सकते, दो भाग हो जाएँ तो वह परमाणु नहीं कहलाएगा। (४) 'चिपके हुए पाँच पुद्गल कर्मरूप (दुःखत्वरूप) होते हैं' यह कथन भी असंगत है, क्योंकि कर्म अनन्तपरमाणुरूप होने से अनन्तस्कन्धरूप है और पाँच परमाणु तो मात्र स्कन्धरूप ही हैं, तथा कर्म, जीव को आवृत करने के स्वभाव वाले हैं, अगर ये पाँच परमाणुरूप ही हों तो असंख्यात-प्रदेशवाले जीव को कैसे आवृत कर सकेंगे ? तथा (५) कर्म (दुःख) को शाश्वत मानना भी ठीक नहीं क्योंकि कर्म को यदि शाश्वत माना जाएगा तो कर्म का क्षयोपशम, क्षय आदि न होने से ज्ञानादि की हानि और वृद्धि नहीं हो सकेगी, परन्तु ज्ञानादि की हानि-वृद्धि लोक में प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः कर्म (दुःख) शाश्वत नहीं है। तथा आगे उन्होंने जो कहा है कि (६) कर्म (दुःख) चय को प्राप्त होता है, नष्ट होता है, यह कथन भी कर्म को शाश्वत मानने पर कैसे घटित होगा ? (७) भाषा की कारण-भूत होने से बोलने से पूर्व की भाषा, भाषा है, कह कथन भी अयुक्त तथा औपचारिक है। बोलते समय की भाषा को अभाषा कहने का अर्थ हुआ—वर्तमानकाल व्यवहार का अंग नहीं है, यह कथन भी मिथ्या है। क्योंकि विद्यमानरूप वर्तमानकाल ही व्यवहार का अंग है। भूतकाल नष्ट हो जाने के कारण अविद्यमानरूप है, और भविष्य असद्रूप होने से अविद्यमानरूप है, अतः ये दोनों काल व्यवहार के अंग नहीं हैं। (८) बोलने से पूर्व की भाषा को भाषा मानकर भी उसे न बोलते हुए पुरुष की भाषा मानना तो और भी युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि अभाषक की भाषा को ही भाषा माना जाएगा तो सिद्ध भगवान् को या जड़ को भाषा की प्राप्ति होगी, जो भाषक हैं, उन्हें नहीं। (९) की जाती हुई क्रिया को दुःखरूप न बताकर पूर्व की या क्रिया के बाद की क्रिया बताना भी अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि करने के समय ही क्रिया सुखरूप या दुःखरूप लगती है, करने से पहले या करने के बाद (नहीं करने से) क्रिया सुखरूप या दुःखरूप नहीं लगती।

इस प्रकार अन्यतीर्थिकों के मत का निराकरण करके भगवान् द्वारा प्ररूपित स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[1]

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०२ से १०४ तक

ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियासम्बन्धी चर्चा

२. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा—इरियावहियं च संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ०, परउत्थियवत्तव्वं[1] नेयव्वं ।

ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं जाव[2] इरियावहियं वा संपराइयं वा ।

[२ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं—यावत् प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है । वह इस प्रकार—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी । जिस समय (जीव) एर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय साम्परायिकी क्रिया करता है और जिस समय साम्परायिकी क्रिया करता है, उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया करता है । ऐर्यापथिकी क्रिया करने से साम्परायिकी क्रिया करता है और साम्परायिकी क्रिया करने से ऐर्यापथिकी क्रिया करता है; इस प्रकार एक जीव, एक समय में दो क्रियाएँ करता है—एक ऐर्यापथिकी और दूसरी साम्परायिकी । हे भगवन् ! क्या यह इसी प्रकार है ?

[२ उ.] गौतम ! जो अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं, यावत्—उन्होंने ऐसा जो कहा है, सो मिथ्या कहा है । हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ कि एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है । यहाँ परतीर्थिकों का तथा स्वसिद्धान्त का वक्तव्य कहना चाहिए । यावत् ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी क्रिया करता है ।

विवेचन—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियासम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत (सू० २) सूत्र में ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी, दोनों क्रियाएँ एक समय में होती हैं, या नहीं; इसकी चर्चा अन्य-तीर्थिकों का पूर्वपक्ष देकर प्रस्तुत की गई है ।

ऐर्यापथिकी—जिस क्रिया में केवल योग का निमित्त हो, ऐसी कषायरहित-वीतरागपुरुष की क्रिया ।

साम्परायिकी—जिस क्रिया में योग का निमित्त होते हुए भी कषाय की प्रधानता हो ऐसी सकषाय जीव की क्रिया । यही क्रिया संसार-परिभ्रमण का कारण है । पच्चीस क्रियाओं में से चौबीस क्रियाएँ साम्परायिकी हैं, सिर्फ एक ऐर्यापथिकी है ।

---

१. परउत्थियवत्तव्वं—अन्यतीर्थिकवक्तव्य का पाठ इस प्रकार है—

"जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ; इरियावहियापकरणताए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ; एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा—इरियावहियं च संपराइयं च ।"—भगवती अ. वृत्ति.

२. स्वसमयवक्तव्यता के सन्दर्भ में 'जाव' पदसूचक पाठ—

"से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! "जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव संपराइयं च, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु; अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ, तं जहा" —भगवती. अ. वृत्ति.

एक जीव द्वारा एक समय में ये दो क्रियाएँ सम्भव नहीं—जीव जब कषाययुक्त होता है, तो कषायरहित नहीं होता और जब कषायरहित होता है, तो सकषाय नहीं हो सकता। दसवें गुणस्थान तक सकषायदशा है। आगे के गुणस्थानों में अकषाय-अवस्था है। ऐर्यापथिकी अकषाय-अवस्था की क्रिया है, साम्परायिकी कषाय-अवस्था की। अतएव एक ही जीव एक ही समय में इन दोनों क्रियाओं को नहीं कर सकता।[1]

नरकादि गतियों में जीवों का उत्पाद-विरहकाल—

३. निरयगती णं भंते ! केवतियं कालं विरहिता उववातेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता। एवं वक्कंतीपदं भाणितव्वं निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ पढमं सतं समत्तं ॥

[३ प्र.] भगवन् ! नरकगति, कितने समय तक उपपात से विरहित रहती है ?

[३ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक नरकगति उपपात से रहित रहती है। इसी प्रकार यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र का सारा) 'व्युत्क्रान्तिपद' कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है,' इस प्रकार कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—नरकादि गतियों तथा चौवीसदण्डकों में उत्पाद-विरहकाल—प्रस्तुत सूत्र में प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद का अतिदेश करके नरकादि गतियों में जीवों की उत्पत्ति (उपपात=उत्पाद) के विरहकाल की प्ररूपणा की गई है।

नरकादि में उत्पादविरहकाल—प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार विभिन्न गतियों में जीवों के उत्पाद का विरहकाल संक्षेप में इस प्रकार है—पहली नरक में २४ मुहूर्त्त का, दूसरी में ७ अहोरात्र का, तीसरी में १५ अहोरात्र का, चौथी में १ मास का, पांचवी में दो मास का, छठी में चार मास का, सातवीं में छह मास का विरहकाल होता है। इसी प्रकार तिर्यंचपंचेन्द्रिय, मनुष्य एवं देवगति में जघन्य एक समय का, उत्कृष्ट १२ मुहूर्त्त का उत्पादविरहकाल है। पंचस्थावरों में कभी विरह नहीं होता, विकलेन्द्रिय में और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच में अन्तर्मुहूर्त्त का तथा संज्ञी-तिर्यञ्च एवं संज्ञी मनुष्य में १२ मुहूर्त्त का विरह होता है। सिद्ध अवस्था में उत्कृष्ट ६ मास का विरह होता है। इसी प्रकार उद्वर्तना के विरहकाल के विषय में भी जानना चाहिए।[2]

॥ प्रथम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम शतक सम्पूर्ण

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०६

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०७-१०८

बिइयं सयं

द्वितीय शतक

परिचय

※ भगवतीसूत्र का यह द्वितीय शतक है। इसके भी दश उद्देशक हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) श्वासोच्छ्वास (और स्कन्दक अनगार), (२) समुद्घात, (३) पृथ्वी, (४) इन्द्रियाँ, (५) निर्ग्रन्थ (अथवा अन्यतीर्थिक), (६) भाषा, (७) देव, (८) (चमरेन्द्र-) सभा (या चमरचंचा राजधानी), (९) द्वीप (अथवा समयक्षेत्र), और (१०) अस्तिकाय।

※ प्रथम उद्देशक में एकेन्द्रियों आदि के श्वासोच्छ्वास से सम्बन्धित निरूपण मृतादी अनगार के सम्बन्ध में भवभ्रमण-सिद्धिगमन सम्बन्धी प्ररूपण एवं स्कन्दक अनगार का विस्तृत वर्णन है।

※ द्वितीय उद्देशक में सप्त समुद्घात के सम्बन्ध में निरूपण है।

※ तृतीय उद्देशक में सात नरकपृथ्वियों के नाम, संस्थान आदि समस्त जीवों की उत्पत्ति-संभावना-सम्बन्धी वर्णन है।

※ चतुर्थ उद्देशक में इन्द्रियों के नाम, विषय, विकार, संस्थान, बाहल्य, विस्तार, परिमाण, विषय-ग्रहण क्षमता आदि का वर्णन है।

※ पंचम उद्देशक में देवलोक में उत्पन्न भूतपूर्व निर्ग्रन्थ किन्तु वर्तमान में देव की परिचारणा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, जीवों की गर्भस्थिति सम्बन्धी विचार, तुंगिका नगरी के श्रावकों द्वारा तप आदि के फलसम्बन्धी शंका-समाधान, श्रमण-माहन की पर्युपासना का फल, राजगृहस्थित उष्णजल कुण्ड आदि का निरूपण है।

※ छठे उद्देशक में भाषा के भेद, कारण, उत्पत्ति, संस्थान, भाषापुद्गलों की गतिसीमा, भाषा रूप में गृहीत पुद्गल, उन पुद्गलों के वर्णादि, षड्दिशागत भाषा-ग्रहण, भाषा का अन्तर (व्यवधान), भाषा के माध्यम-काय—वचनयोग तथा अल्पबहुत्व आदि भाषासम्बन्धी वर्णन है।

※ सातवें उद्देशक में देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, प्रतिष्ठान, बाहल्य, उच्चत्व, संस्थान इत्यादि देवसम्बन्धी वर्णन है।

※ आठवें उद्देशक में चमरेन्द्र (असुरेन्द्र) की सभा, राजधानी, आदि का वर्णन है।

※ नौवें उद्देशक में अढाई द्वीप, दो समुद्र के रूप में प्रसिद्ध समयक्षेत्र सम्बन्धी प्ररूपण है।

※ दशवें उद्देशक में पंचास्तिकाय, उनके नाम, उनमें वर्णगन्धादि, उनकी शाश्वतता-अशाश्वतता, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव : गुणरूप प्रकारों आदि का सांगोपांग निरूपण है।[1]

---

१. (क) भगवतीसूत्र मूलपाठ संग्रहणीगाथा १०९, भा. १, पृ. ७३ (ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०९

बिइयं सयं : द्वितीय शतक

द्वितीय शतक के दस उद्देशकों का नामनिरूपण—

१. आणमति १ समुग्घाया २ पुढवी ३ इंदिय ४ णियंठ ५ भासा य ६ ।
देव ७ सभ ८ दीव ९ अत्थिय १० बीयम्मि सदे दसुद्देसा ।। १ ।।

[१] द्वितीय शतक के दस उद्देशकों का नाम-निरूपण—(गाथार्थ)—द्वितीय शतक में दस उद्देशक हैं। उनमें क्रमशः इस प्रकार विषय हैं—(१) श्वासोच्छ्वास (और स्कन्दक अनगार), (२) समुद्घात, (३) पृथ्वी, (४) इन्द्रियाँ, (५) निर्ग्रन्थ, (६) भाषा, (७) देव, (८) (चमरेन्द्र) सभा, (९) द्वीप (समयक्षेत्र का स्वरूप) (१०) अस्तिकाय (का विवेचन)।

पढमो उद्देसो : आणमति (ऊसास)

प्रथम उद्देशक : श्वासोच्छ्वास

एकेन्द्रियादि जीवों में श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा—

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। सामी समोसढे। परिसा निग्गता। धम्मो कहितो। पडिगता परिसा।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[२] उस काल उस समय में राजगृह नामक नगर था। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए)। (एकदा) भगवान् महावीर स्वामी (वहाँ) पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए परिषद् निकली। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनकर परिषद् वापिस लौट गई।

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) श्री इन्द्रभूति गौतम अनगार यावत्—भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

३. जे इमे भंते! बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिन्दिया जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा नीसासं वा जाणामो पासामो। जे इमे पुढविक्काइया जाव वणस्सतिकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा णं याणामो ण पासामो, एए वि य णं भंते! जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा?

हंता, गोयमा! एए वि य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा।

[३ प्र.] भगवन्! ये जो द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं, उनके आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास को और आभ्यन्तर एवं बाह्य निःश्वास को हम जानते और देखते हैं, किन्तु जो ये पृथ्वीकाय से यावत् वनस्पतिकाय तक एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके आभ्यन्तर एवं बाह्य

उच्छ्वास को तथा आभ्यन्तर एवं वाह्य निःश्वास को हम न जानते हैं, और न देखते हैं। तो हे भगवन् ! क्या ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव आभ्यन्तर और वाह्य उच्छ्वास लेते हैं तथा आभ्यन्तर और वाह्य निःश्वास छोड़ते हैं ?

[३ उ.] हाँ, गौतम ! ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव भी आभ्यन्तर और वाह्य उच्छ्वास लेते हैं और आभ्यन्तर एवं वाह्य निःश्वास छोड़ते हैं।

४. [१] किं णं भंते ! एते जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा ?

गोयमा ! दव्वतो णं अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खेत्तओ णं असंखेज्जपएसोगाढाइं, कालओ अन्नयरट्ठितीयाइं, भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा।

[४-१ प्र.] भगवन् ! ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव, किस प्रकार के द्रव्यों को वाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं, तथा निःश्वास के रूप में छोड़ते हैं ?

[४-१ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा अनन्तप्रदेश वाले द्रव्यों को, क्षेत्र की अपेक्षा असंख्य-प्रदेशों में रहे हुए द्रव्यों को, काल की अपेक्षा किसी भी प्रकार की स्थिति वाले (एक समय की, दो समय की स्थिति वाले इत्यादि) द्रव्यों को, तथा भाव की अपेक्षा वर्ण वाले, गन्ध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले द्रव्यों को वाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं, तथा निःश्वास के रूप में छोड़ते हैं।

[२] जाइं भावओ वण्णमंताइं आण० पाण० ऊस० नीस० ताइं किं एगवण्णाइं आणमंति वा पाणमंति ऊस० नीस० ?

आहारगमो नेयव्वो जाव ति-चउ-पंचदिसिं।

[४-२ प्र.] भगवन् ! वे पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव भाव की अपेक्षा वर्ण वाले जिन द्रव्यों को वाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हैं, क्या वे द्रव्य एक वर्ण वाले हैं ?

[४-२ उ.] हे गौतम ! जैसा कि प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाईसवें आहारपद में कथन किया है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए। यावत् वे तीन, चार, पाँच दिशाओं की ओर से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

५. किं णं भंते ! नेरइया आ० पा० उ० नी० ?

तं चेव जाव नियमा आ० पा० उ० नी०। जीवा एगिंदिया वाघाय-निव्वाघाय भाणियव्वा।

सेसा नियमा छद्दिसिं।

[५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलों को वाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! इस विषय में पूर्वकथनानुसार ही जानना चाहिए और यावत्—वे नियम से (निश्चितरूप से) छहों दिशा से पुद्गलों को वाह्य एवं आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हैं।

जीवसामान्य और एकेन्द्रियों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहना चाहिए कि यदि व्याघात न हो तो वे सब दिशाओं से वाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के लिए पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। यदि व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशा से, कदाचित् चार दिशा से, और कदाचित् पांच दिशा से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। शेष सब जीव नियम से छह दिशा से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

विवेचन—एकेन्द्रियादि जीवों में श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. २ से ५ तक) में एकेन्द्रिय जीवों, नारकों आदि के श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध में शंका-समाधान प्रस्तुत किया गया है।

आणमंति पाणमंतिउ स्ससंति नीससंति—वृत्तिकार ने आण-प्राण और ऊस-नीस इन दोनों-दोनों को एकार्थक माना है। किन्तु आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनावृत्ति में अन्य आचार्य का मत देकर इनमें अन्तर वताया है—**आनमंति और प्राणमन्ति** ये दोनों अन्तःस्फुरित होने वाली उच्छ्वास-निःश्वासक्रिया के अर्थ में, तथा **उच्छ्वसन्ति और निःश्वसन्ति** ये दोनों वाह्यस्फुरित उच्छ्वास-निःश्वासक्रिया के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए—(प्रज्ञापना-म०-वृत्ति, पत्रांक २२०)।

एकेन्द्रिय जीवों के श्वासोच्छ्वाससम्बन्धी शंका क्यों?—यद्यपि आगमादि प्रमाणों से पृथ्वीकायादि एकेन्द्रियों में चैतन्य सिद्ध है और जो जीव है, वह श्वासोच्छ्वास लेता ही है, यह प्रकृतिसिद्ध नियम है, तथापि यहाँ एकेन्द्रिय जीवों के श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी शंका का कारण यह है कि मेंढक आदि कतिपय जीवित जीवों का शरीर कई वार वहुत काल तक श्वासोच्छ्वास-रहित दिखाई देता है, इसलिए स्वभावतः इस प्रकार की शंका होती है कि पृथ्वीकाय आदि के जीव भी क्या इसी प्रकार के हैं या मनुष्यादि की तरह श्वासोच्छ्वास वाले हैं? क्योंकि पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों का श्वासोच्छ्वास मनुष्य आदि की तरह दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी का समाधान भगवान् ने किया है। वास्तव में, वहुत लम्वे समय में श्वासोच्छ्वास लेने वालों को भी किसी समय में तो श्वासोच्छ्वास लेना ही पड़ता है।

श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गल—प्रज्ञापनासूत्र में वताया गया है कि वे पुद्गल दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले, यावत् पाँच वर्ण वाले होते हैं। वे एक गुण काले यावत् अनन्तगुण काले होते हैं।

व्याघात-अव्याघात—एकेन्द्रिय जीव लोक के अन्त भाग में भी होते हैं, वहाँ उन्हें अलोक द्वारा व्याघात होता है। इसलिए वे तीन, चार या पाँच दिशाओं से ही श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल ग्रहण करते हैं, किन्तु व्याघातरहित जीव (नैरयिक आदि) त्रसनाड़ी के अन्दर ही होते हैं, अतः उन्हें व्याघात न होने से वे छहों दिशाओं से श्वासोच्छ्वास-पुद्गल ग्रहण कर सकते हैं।[1]

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास, पुनरुत्पत्ति, मरण एवं शरीरादि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

६. वाउयाए ण भंते! वाउयाए चेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा?

हंता, गोयमा! वाउयाए णं वाउयाए जाव नीससंति वा।

[६ प्र.] हे भगवन्! क्या वायुकाय, वायुकायों को ही वाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास और निःश्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०९

[६ उ.] हाँ, गौतम ! वायुकाय, वायुकायों को ही बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास और निःश्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है।

७. [१] वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाति ?

हंता, गोयमा ! जाव पच्चायाति।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय, वायुकाय में ही अनेक लाख वार मर कर पुनः पुनः (वायुकाय में ही) उत्पन्न होता है ?

[७-१ उ.] हाँ, गौतम ! वायुकाय, वायुकाय में ही अनेक लाख वार मर कर पुनः पुनः वहीं उत्पन्न होता है।

[२] से भंते किं पुट्ठे उद्दाति ? अपुट्ठे उद्दाति ?

गोयमा ! पुट्ठे उद्दाइ, नो अपुट्ठे उद्दाइ।

[७-२ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय स्वकायशस्त्र से या परकायशस्त्र से स्पृष्ट हो (छू) कर मरण पाता है, अथवा अस्पृष्ट (विना टकराए हुए) ही मरण पाता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! वायुकाय, (स्वकाय के अथवा परकाय के शस्त्र से) स्पृष्ट होकर मरण पाता है, किन्तु स्पृष्ट हुए बिना मरण नहीं पाता।

[३] से भंते ! किं ससरीरी निक्खमइ, असरीरी निक्खमइ ?

गोयमा ! सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ?

गोयमा ! वाउकायस्स णं चत्तारि सरीरया पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए। ओरालिय-वेउव्वियाइं विप्पजहाय तेय-कम्मएहिं निक्खमति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी सिय असरीरी निक्खमइ।

[७-३ प्र.] भगवन् ! वायुकाय मर कर (जव दूसरी पर्याय में जाता है, तव) सशरीरी (शरीरसहित) होकर जाता है, या शरीररहित (अशरीरी) होकर जाता है ?

[७-३ उ.] गौतम ! वह कथञ्चित् शरीरसहित होकर जाता (निकलता) है, कथंचित् शरीररहित हो कर जाता है।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि वायुकाय का जीव जव निकलता (दूसरी पर्याय में जाता) है, तव वह कथञ्चित् शरीरसहित निकलता (परलोक में जाता) है, कथञ्चित् शरीररहित होकर निकलता (जाता) है ?

[उ.] गौतम ! वायुकाय के चार शरीर कहे गए हैं; वे इस प्रकार—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) तैजस और (४) कार्मण। इनमें से वह औदारिक और वैक्रिय शरीर को छोड़कर दूसरे भव में जाता है, इस अपेक्षा से वह शरीररहित जाता है और तैजस तथा कार्मण शरीर को साथ लेकर जाता है, इस अपेक्षा से वह शरीरसहित (सशरीरी) जाता है। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि वायुकाय मर कर दूसरे भव में कथञ्चित् (किसी अपेक्षा से) सशरीरी जाता है और कथञ्चित् अशरीरी जाता है।

विवेचन—वायुकाय के श्वासोच्छ्वास, पुनरुत्पत्ति, मरण, एवं शरीरादि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर— प्रस्तुत दो सूत्रों में वायुकाय के श्वासोच्छ्वास आदि से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान अंकित है।

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास-सम्बन्धी शंका-समाधान—सामान्यतया श्वासोच्छ्वास वायुरूप होता है, अतः वायुकाय के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, तेज एवं वनस्पति तो वायुरूप में श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं, किन्तु वायुकाय तो स्वयं वायुरूप है तो उसे श्वासोच्छ्वास के रूप में क्या दूसरे वायु की आवश्यकता रहती है ?, यही इस शंका के प्रस्तुत करने का कारण है।

दूसरी शंका—'यदि वायुकाय दूसरी वायु को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता है, तब तो दूसरी वायु को तीसरी वायु की, तीसरी को चौथी की आवश्यकता रहेगी। इस तरह अनवस्थादोष आजाएगा।' इस शंका का समाधान यह है कि वायुकाय जीव है, उसे दूसरी वायु के रूप में श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता रहती है, लेकिन ग्रहण की जाने वाली वह दूसरी वायु सजीव नहीं, निर्जीव (जड़) होती है, उसे किसी दूसरे सजीव वायुकाय की श्वासोच्छ्वास के रूप में आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए अनवस्थादोष नहीं आ सकता। इसके अतिरिक्त यह जो वायुरूप उच्छ्वास-निःश्वास हैं, वे वायुकाय के औदारिक और वैक्रियशरीररूप नहीं हैं, क्योंकि आन-प्राण तथा उच्छ्वास-निःश्वास के योग्य पुद्गल औदारिक शरीर और वैक्रिय शरीर के पुद्गलों की अपेक्षा अनन्तगुण-प्रदेशवाले होने से सूक्ष्म हैं, अतएव वे (उच्छ्वास-निःश्वास) चैतन्यवायुकाय के शरीररूप नहीं हैं। निष्कर्ष यह कि वह उच्छ्वास-निःश्वासरूप वायु जड़ है, उसे उच्छ्वास-निःश्वास की जरूरत नहीं होती।

वायुकाय आदि की कायस्थिति—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय, इन चार की कायस्थिति असंख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी तक है तथा वनस्पतिकाय की[1] कायस्थिति अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीपर्यन्त है।

वायुकाय का मरण स्पृष्ट होकर ही—वायुकाय स्वकायशस्त्र से अथवा परकायशस्त्र से स्पृष्ट हो (टकरा) कर ही मरण पाता है, अस्पृष्ट होकर नहीं। यह सूत्र सोपक्रमी आयु वाले जीवों की अपेक्षा से है।[2]

मृतादीनिर्ग्रन्थों के भवभ्रमण एवं भवान्तकरण के कारण—

८. [१] मडाई णं भंते ! नियंठे नो निरुद्धभवे, नो निरुद्धभवपवंचे, नो पहीणसंसारे, णो पहीणसंसारवेदणिज्जे, णो वोच्छिण्णसंसारे, णो वोच्छिण्णसंसारवेदणिज्जे, नो निट्ठियट्ठे नो निट्ठियकरणिज्जे पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छति ?

हंता, गोयमा ! मडाई णं नियंठे जाव पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छइ।

[८-१ प्र.] भगवन् ! जिसने संसार का निरोध नहीं किया, संसार के प्रपंचों का निरोध नहीं किया, जिसका संसार क्षीण नहीं हुआ, जिसका संसार-वेदनीय कर्म क्षीण नहीं हुआ, जिसका

१. 'असंखोसप्पिणी-ओस्सप्पिणी उ एगिंदियाण चउण्हं।
ता चेव उ अणंता, वणस्सइए उ बोधव्वा ॥' —संग्रहणी गाथा

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ११०

संसार व्युच्छिन्न नहीं हुआ, जिसका संसार-वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नहीं हुआ, जो निष्ठितार्थ (सिद्धप्रयोजन=कृतार्थ) नहीं हुआ, जिसका कार्य (करणीय) समाप्त नहीं हुआ; ऐसा मृतादी (अचित्त, निर्दोष आहार करने वाला) अनगार पुनः मनुष्यभव आदि भावों को प्राप्त होता है ?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाला मृतादीनिर्ग्रन्थ फिर मनुष्यभव आदि भावों को प्राप्त होता है।

[२] से णं भंते ! किं ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया, भूते त्ति वत्तव्वं सिया, जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया, विण्णू ति वत्तव्वं सिया, वेदा ति वत्तव्वं सिया—पाणे भूए जीवे सत्ते विण्णू वेदा ति वत्तव्वं सिया।

से केणट्ठेणं भंते ! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया जाव वेदा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! जम्हा आणमइ वा पाणमइ वा उस्ससइ वा नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए ति वत्तव्वं सिया। जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवइ तम्हा जीवे ति वत्तव्वं सिया जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा तित्त-कडुय-कसायंबिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा विण्णू ति वत्तव्वं सिया। जम्हा वेदेइ य सुह-दुक्खं तम्हा वेदा ति वत्तव्वं सिया। से तेणट्ठेणं जाव पाणे त्ति वत्तव्वं सिया जाव वेदा ति वत्तव्वं सिया।

[८-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के जीव को किस शब्द से कहना चाहिए ?

[८-२ उ.] गौतम ! उसे कदाचित् 'प्राण' कहना चाहिए, कदाचित् 'भूत' कहना चाहिए, कदाचित् 'जीव' कहना चाहिए, कदाचित् 'सत्व' कहना चाहिए, कदाचित् 'विज्ञ' कहना चाहिए, वदाचित् 'वेद' कहना चाहिए, और कदाचित् 'प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, विज्ञ और वेद' कहना चाहिए।

[प्र.] हे भगवन् ! उसे 'प्राण' कहना चाहिए, यावत्—'वेद' कहना चाहिए, इसका क्या कारण है ?

[उ.] गौतम ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ का जीव, वाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास तथा निःश्वास लेता और छोड़ता है, इसलिए उसे 'प्राण' कहना चाहिए। वह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्यकाल में रहेगा (तथा वह होने के स्वभाववाला है) इसलिए उसे 'भूत' कहना चाहिए। तथा वह जीव होने से जीता है, जीवत्व एवं आयुष्यकर्म का अनुभव करता है, इसलिए उसे 'जीव' कहना चाहिए। वह शुभ और अशुभ कर्मों से सम्बद्ध है, इसलिए उसे 'सत्त्व' कहना चाहिए। वह तिक्त, (तीखा) कटु, कषाय (कसैला), खट्टा और मीठा, इन रसों का वेत्ता (ज्ञाता) है, इसलिए उसे 'विज्ञ' कहना चाहिए, तथा वह सुख-दुःख का वेदन (अनुभव) करता है, इसलिए उसे 'वेद' कहना चाहिए। इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के जीव को 'प्राण' यावत्—'वेद' कहा जा सकता है।

९. [१] मडाई णं भंते ! नियंठे निरुद्धभवे निरुद्धभवपवंचे जाव निट्ठियट्ठकरणिज्जे णो पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छति ?

हंता, गोयमा ! मडाई णं नियंठे जाव नो पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छति।

[२] से णं भंते ! किं ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! सिद्धे त्ति वत्तव्वं सिया, बुद्धे त्ति वत्तव्वं सिया, मुत्ते त्ति वत्तव्वं० पारगए त्ति व०, परंपरगए त्ति व०, सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंतकडे सव्वदुक्खप्पहीणे त्ति वत्तव्वं सिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[९-१ प्र.] भगवन् ! जिसने संसार का निरोध किया है, जिसने संसार के प्रपंच का निरोध किया है, यावत् जिसने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसा मृतादी (प्रासुकभोजी) अनगार क्या फिर मनुष्यभव आदि भवों को प्राप्त नहीं होता ?

[९-१ उ.] हाँ गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाला निर्ग्रन्थ अनगार फिर मनुष्यभव आदि भवों को प्राप्त नहीं होता।

[९-२ प्र.] हे भगवन् ! पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ के जीव को किस शब्द से कहना चाहिए ?

[९-२ उ.] हे गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ को 'सिद्ध' कहा जा सकता है, 'बुद्ध' कहा जा सकता है, 'मुक्त' कहा जा सकता है, 'पारगत' (संसार के पार पहुँचा हुआ) कहा जा सकता है, 'परम्परागत' (अनुक्रम से संसार के पार पहुँचा हुआ) कहा जा सकता है। उसे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत, अन्तकृत् एवं सर्वदुःखप्रहीण कहा जा सकता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कहकर भगवान् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करते हैं और फिर संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करके विचरण करते हैं।

विवेचन—मृतादी निर्ग्रन्थ के भवभ्रमण एवं भवान्तकरण के कारण—प्रस्तुत दो सूत्रों (८ और ९) में प्रासुकभोजी (मृतादी) अनगार के मनुष्यादि भवों में भ्रमण का तथा भवभ्रमण के अन्त का; यों दो प्रकार के निर्ग्रन्थों का चित्र प्रस्तुत किया है। साथ ही भवभ्रमण करने वाले और भवभ्रमण का अन्त करने वाले दोनों प्रकार के मृतादी अनगारों के लिए पृथक्-पृथक् विविध विशेषणों का प्रयोग भी किया गया है।

मृतादी—'मडाई' शब्द की संस्कृत छाया 'मृतादी' होती है; जिसका अर्थ है—मृत = निर्जीव प्रासुक, अदी = भोजन करने वाला। अर्थात्—प्रासुक और एषणीय पदार्थ को खाने वाला निर्ग्रन्थ अनगार 'मडाई' कहलाता है। अमरकोश के अनुसार 'मृत' शब्द **'याचित'**[1] अर्थ में है। अतः मृतादी का अर्थ हुआ याचितभोजी।

'णिरुद्धभवे' आदि पदों के अर्थ—**णिरुद्धभवे** = जिसने आगामी जन्म को रोक दिया है, जो चरमशरीरी है। **णिरुद्धभवपवंचे** = जिसने संसार के विस्तार को रोक दिया है। **पहीणसंसारे** =

---

१. 'द्वे याचितायाचितयोः यथासंख्यं मृतामृते'—अमरकोश, द्वितीयकाण्ड, वैश्यवर्ग, श्लो-३

जिसका चतुर्गतिभ्रमणरूप संसार क्षीण को चुका है। **पहीणसंसारवेयणिज्जे**—जिसका संसारवेदनीय कर्म क्षीण हो चुका है। **वोच्छिण्णसंसारे**=जिसका चतुर्गतिकसंसार व्यवच्छिन्न हो चुका है। **इत्थत्थं**=इस अर्थ को अर्थात्—अनेक वार तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकगतिगमनरूप वात को। **'इत्थत्तं'** पाठान्तर भी है, जिसका अर्थ है—मनुष्यादित्व आदि।

'इत्थत्तं' का तात्पर्य—आचार्यों ने वताया है कि जिसके कषाय उपशान्त हो चुके हैं, ऐसा जीव भी अनन्त प्रतिपात को प्राप्त होता है। इसलिए कषाय की मात्रा थोड़ी-सी भी शेष रहे, वहाँ तक मोक्षाभिलाषी प्राणी को विश्वस्त नहीं हो जाना चाहिए।[1]

पिंगल निर्ग्रन्थ के पांच प्रश्नों से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक—

१०. तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[१०] उस काल और उस समय में (एकदा) श्रमण भगवान् महावीरस्वामी राजगृह नगर के गुणशील चैत्य (उद्यान) से निकले और वाहर जनपदों में विहार करने लगे।

११. तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंगला नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे णं कयंगलाए नगरीए वहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे छत्तपलासए नामं चेइए होत्था। वण्णओ। तए णं समणे भगवं महावीरे उप्पण्णनाण-दंसणधरे जाव[2] समोसरणं। परिसा निगच्छति।

[११] उस काल उस समय में कृतंगला नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। उस कृतंगला नगरी के वाहर उत्तर-पूर्वदिशा भाग (ईशान कोण) में छत्रपलाशक नाम का चैत्य था। उसका वर्णन भी (औपपातिक सूत्र के अनुसार) जान लेना चाहिए। वहाँ किसी समय उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। यावत्—भगवान् का समवसरण (धर्मसभा) हुआ (लगा)। परिषद् (जनता) धर्मोपदेश सुनने के लिए निकली।

१२. तीसे णं कयंगलाए नगरीए अदूरसामंते सावत्थी नामं नयरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायगे परिवसइ, रिउव्वेद-जजुव्वेद-सामवेद-अथव्वणवेद इतिहासपंचमाणं निघंटुछट्ठाणं चउण्हं वेदाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं सारए वारए पारए सडंगवी सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खा-कप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोतिसामयणे अन्नेसु य बहूसु बंभण्णएसु पारिव्वायएसु य नयेसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था।

[१२] उस कृतंगला नगरी के निकट श्रावस्ती नगरी थी। उसका वर्णन (औपपातिक सूत्र से) जान लेना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी में गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक नाम का परिव्राजक (तापस) रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चार

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १११

२. 'जाव' शब्द 'अरहा जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं छत्तेणं' इत्यादि समवसरणपर्यन्त पाठ का सूचक है।

वेदों, पांचवें इतिहास (पुराण), छठे निघण्टु नामक कोश का तथा सांगोपांग (अंगों-उपांगों सहित) रहस्यसहित वेदों का सारक (स्मारक=स्मरण कराने वाला—भूले हुए पाठ को याद कराने वाला, पाठक), वारक (अशुद्ध पाठ बोलने से रोकने वाला), धारक (पढ़े हुए वेदादि को नहीं भूलने वाला—धारण करने वाला), पारक (वेदादि शास्त्रों का पारगामी), वेद के छह अंगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र) का वेत्ता था। वह षष्ठितंत्र (सांख्यशास्त्र) में विशारद था, वह गणितशास्त्र, शिक्षाकल्प (आचार) शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, निरुक्त (व्युत्पत्ति) शास्त्र और ज्योतिषशास्त्र, इन सब शास्त्रों में, तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण और परिव्राजक-सम्बन्धी नीति और दर्शनशास्त्रों में भी अत्यन्त निष्णात था।

१३. तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पिंगलए नामं नियंठे वेसालियसावए परिवसइ। तए णं से पिंगलए णामं णियंठे वेसालियसावए अण्णदा कयाइं जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, २ खंदगं कच्चायणसगोत्तं इणमक्खेवं पुच्छे—मागहा! किं सअंते लोके, अणंते लोके १, सअंते जीवे अणंते जीवे २, सअंता सिद्धी अणंता सिद्धी ३, सअंते सिद्धे अणंते सिद्धे ४, केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा हायति वा ५? एतावं ताव आयक्खाहि। वुच्चमाणे एवं।

[१३] उसी श्रावस्ती नगरी में वैशालिक श्रावक—(भगवान् महावीर के वचनों को सुनने में रसिक) पिंगल नामक निर्ग्रन्थ (साधु) था। एकदा वह वैशालिक श्रावक पिंगल नामक निर्ग्रन्थ किसी दिन जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक रहता था, वहाँ उसके पास आया और उसने आक्षेपपूर्वक कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक से पूछा—'मागध! (मगधदेश में जन्मे हुए), १-लोक सान्त (अन्त वाला) है या अनन्त (अन्तरहित) है?, २-जीव सान्त है या अनन्त है?, ३-सिद्धि सान्त है या अनन्त है?, ४-सिद्ध सान्त है या अनन्त है?, ५-किस मरण से मरता हुआ जीव बढ़ता (संसार बढ़ाता) है और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता (संसार घटाता) है? इतने प्रश्नों का उत्तर दो (कहो)।

१४. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं णियंठेणं वेसालीसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुसमावन्ने णो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए संचिट्ठइ।

[१४] इस प्रकार उस कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक तापस से वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ द्वारा पूर्वोक्त प्रश्न आक्षेपपूर्वक पूछे, तब स्कन्दक तापस ('इन प्रश्नों के ये ही उत्तर होंगे या दूसरे?' इस प्रकार) शंकाग्रस्त हुआ, (इन प्रश्नों के उत्तर कैसे दूँ? मुझे इन प्रश्नों का उत्तर कैसे आएगा? इस प्रकार की) कांक्षा उत्पन्न हुई; उसके मन में विचिकित्सा उत्पन्न हुई (कि अब मैं जो उत्तर दूँ, उससे प्रश्नकर्ता को सन्तोष होगा या नहीं?); उसकी बुद्धि में भेद उत्पन्न हुआ (कि मैं क्या करूं?) उसके मन में कालुष्य (क्षोभ) उत्पन्न हुआ (कि अब मैं तो इस विषय में कुछ भी नहीं जानता), इस कारण वह तापस, वैशालिक श्रावक पिंगलनिर्ग्रन्थ के प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न दे सका। अतः चुपचाप रह गया।

१५. तए णं से पिंगलए नियंठे वेसालीसावए खंदयं कच्चायणसगोत्तं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छे—मागहा ! किं सम्रंते लोए जाव केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा हायति वा ? एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणे एवं।

[१५] इसके पश्चात् उस वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से दो वार, तीन वार भी उन्हीं प्रश्नों का साक्षेप पूछा कि मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? यावत्—किस मरण से मरने से जीव वढ़ता या घटता है ?; इतने प्रश्नों का उत्तर दो।

१६. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं नियंठेणं वेसालीसावएणं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावण्णे कलुसमावन्ने नो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालिसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए संचिट्ठइ।

[१६] जब वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायन-गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से दो-तीन वार पुनः उन्हीं प्रश्नों को पूछा तो वह पुनः पूर्ववत् शंकित, कांक्षित, विचिकित्साग्रस्त, भेद-समापन्न तथा कालुष्य (शोक) को प्राप्त हुआ, किन्तु वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ के प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न दे सका। अतः चुप होकर रह गया।

विवेचन—पिंगलक निर्ग्रन्थ के पांच प्रश्नों से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक—प्रस्तुत सात सूत्रों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रावस्ती के पिंगलक निर्ग्रन्थ द्वारा स्कन्दक परिव्राजक के समक्ष पांच महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रस्तुत करना और स्कन्दक परिव्राजक का शंकित, कांक्षित आदि होकर निरुत्तर हो जाना है। इसी से पूर्वापर सम्वन्ध जोड़ने के लिए शास्त्रकार ने निम्नोक्त प्रकार से क्रमशः प्रतिपादन किया है—

१. श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह से वाहर अन्य जनपदों में विहार।

२. श्रमण भगवान् महावीर का कृतंगला नगरी में पदार्पण और धर्मोपदेश।

३. कृतंगला की निकटवर्ती श्रावस्ती नगरी के कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक का परिचय।

४. श्रावस्ती नगरी में स्थित वैशालिकश्रवणरसिक पिंगलक निर्ग्रन्थ का परिचय।

५. पिंगलक निर्ग्रन्थ द्वारा स्कन्दक परिव्राजक के समक्ष उत्तर के लिए प्रस्तुत निम्नोक्त पाँच प्रश्न—(१-२-३-४) लोक, जीव, सिद्धि और सिद्ध सान्त है या अन्तरहित और (५) किस मरण से मरने पर जीव का संसार वढ़ता है, किससे घटता है ?

६. पिंगलक निर्ग्रन्थ के ये प्रश्न सुनकर स्कन्दक का शंकित, कांक्षित, विचिकित्साग्रस्त, भेद-समापन्न और कालुष्ययुक्त तथा उत्तर देने में असमर्थ होकर मौन हो जाना।

७. पिंगलक द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नों को दो-तीन वार दोहराये जाने पर भी स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा पूर्ववत् निरुत्तर होकर मौन धारण करना।[1]

---

१. भगवतीसूत्र मूलपाठ-टिप्पणयुक्त (पं. वेचरदास जी संपादित) भा. १, पृ. ७६ से ७८ तक

नो संचाएइ····पमोक्खमक्खाइउं—प्रमोक्ष=उत्तर (जिससे प्रश्नरूपी बन्धन से मुक्त हो सके वह—उत्तर) कह (दे) न सका।[1]

वेसालियसावए=विशाला=महावीरजननी, उसका पुत्र वैशालिक भगवान्, उनके वचन-श्रवण का रसिक=श्रावक धर्म-श्रवणेच्छुक।[2]

स्कन्दक का भगवान् की सेवा में जाने का संकल्प और प्रस्थान

१७. तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग जाव महापहेसु महया जणसम्मद्दे इ वा जणवूहे इ वा परिसा[3] निग्गच्छइ।

तए णं तस्स खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स वहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे, कयंगलाए नयरीए वहिया छत्तपलासए चेइए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तं गच्छामि णं, समणं भगवं महावीरं वंदामि नमंसामि सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता णमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणित्ता कल्लाणं मंगलं देवतं चेतियं पज्जुवासित्ता इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ जेणेव परिव्वायावसहे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता तिदंडं च कुंडियं च कंचणियं च करोडियं च भिसियं च केसरियं च छन्नालयं च अंकुसयं च पवित्तयं च गणेत्तियं च छत्तयं च वाहणाओ य पाउयाओ य धाउरत्ताओ य गेण्हइ, गेण्हइत्ता परिव्वायावसहाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता तिदंड-कुंडिय-कंचणिय-करोडिय-भिसिय-केसरिय-छन्नालय-अंकुसय-पवित्तय-गणेत्तियहत्थगए छत्तोवाहणसंजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए नगरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव कयंगला नगरी जेणेव छत्तपलासए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१७] उस समय श्रावस्ती नगरी में जहाँ तीन मार्ग, चार मार्ग, और बहुत-से मार्ग मिलते हैं, वहाँ तथा महापथों में जनता की भारी भीड़ व्यूहाकार रूप में चल रही थी, लोग इस प्रकार बातें कर रहे थे कि 'श्रमण भगवान् महावीरस्वामी कृतंगला नगरी के बाहर छत्रपलाशक नामक उद्यान में पधारे हैं।' जनता (परिषद्) भगवान् महावीर को वन्दना करने के लिए निकली।

उस समय बहुत-से लोगों के मुँह से यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात सुनकर और उसे अवधारण करके उस कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक तापस के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय,

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ११४

२. वही, अ. वृत्ति, पत्रांक ११४-११५

३. भगवती सूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक ११४-११५ में यहाँ अन्य पाठ भी उद्धृत है—

"जणवोले इ वा, जणकलकले इ वा, जणुम्मी इ वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसन्निवाए इ वा, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—एवं खलु देवाणुप्पिया समणे ३ आइगरे जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दुइज्जमाणे कयंगलाए नगरीए छत्तपलासए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं·······जाव विहरइ।"

चिन्तन, अभिलाषा एवं संकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर कृतंगला नगरी के बाहर छत्रपलाशक नामक उद्यान में तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते (विराजमान) हैं। अतः मैं उनके पास जाऊँ, उन्हें वन्दना—नमस्कार करूँ। मेरे लिये यह श्रेयस्कर है कि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना—नमस्कार करके, उनका सत्कार-सम्मान करके, उन कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप भगवान् महावीर स्वामी की पर्युपासना करूँ, तथा उनसे इन और इस प्रकार के अर्थों, हेतुओं, प्रश्नों, कारणों और व्याकरणों (व्याख्याओं) आदि को पूछूँ।; यों पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर वह स्कन्दक तापस, जहाँ परिव्राजकों का मठ था, वहाँ आया। वहाँ आकर त्रिदण्ड, कुण्डी, रुद्राक्ष की माला (कांचनिका), करोटिका (एक प्रकार की मिट्टी का वर्तन), आसन, केसरिका (वर्तनों को साफ करने का कपड़ा), त्रिगड़ी (छन्नालय), अंकुशक (वृक्ष के पत्तों को एकत्रित करने के अंकुश जैसा साधन), पवित्री (अंगूठी), गणेत्रिका (कलाई में पहनने का एक प्रकार का आभूषण), छत्र (छाता), पगरखी, पादुका (खड़ाऊं), धातु (गैरिक) से रंगे हुए वस्त्र (गेरुए कपड़े), इन सब तापस के उपकरणों को लेकर परिव्राजकों के आवसथ (मठ) से निकला। वहाँ से निकल कर त्रिदण्ड, कुण्डी, कांचनिका (रुद्राक्षमाला), करोटिका (मिट्टी का बना हुआ भिक्षापात्र), भृशिका (आसनविशेष), केसरिका, त्रिगडी, अंकुशक, अंगूठी, और गणेत्रिका, इन्हें हाथ में लेकर, छत्र और पगरखी से युक्त होकर, तथा गेरुए (धातुरक्त) वस्त्र पहनकर श्रावस्ती नगरी के मध्य में से (वीचोवीच) निकलकर जहाँ कृतंगला नगरी थी, जहाँ छत्रपलाशक चैत्य था, और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, उसी ओर जाने के लिए प्रस्थान किया।

विवेचन—स्कन्दक का शंका-समाधानार्थ भगवान् की सेवा में जाने का संकल्प और प्रस्थान— प्रस्तुत सूत्र में शंकाग्रस्त स्कन्दक परिव्राजक द्वारा भगवान् महावीर का कृतंगला में पदार्पण सुन कर अपनी पूर्वोक्त शंकाओं के समाधानार्थ उनकी सेवा में जाने के संकल्प और अपने तापस-उपकरणों—सहित उस ओर प्रस्थान का विवरण दिया गया है।

श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक का स्वागत और परस्पर वार्तालाप—

१८. [१] 'गोयमा !' इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—दच्छिसि णं गोयमा ! पुव्वसंगतियं।

[२] कं भंते ! ?

खंदयं नाम।

[३] से काहे वा ? किह वा ? केवच्चिरेण वा ?

एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं २ सावत्थी नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं सावत्थीए नगरीए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए णामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, तं चेव जाव जेणेव ममं अंतिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। से य अदूराइते बहुसंपत्ते अद्धाणपडिवन्ने अंतरापहे वट्टइ। अज्जेव णं दच्छिसि गोयमा।

[४] 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं वंदइ नमंसइ, २ एवं वदासी—पहू णं भंते ! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता णं अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?

हंता, पभू।

[१८-१] (भगवान् महावीर जहाँ विराजमान थे, वहाँ क्या हुआ ? यह शास्त्रकार बताते हैं—) 'हे गौतम!', इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री इन्द्रभूति अनगार को सम्बोधित करके कहा—"गौतम ! (आज) तू अपने पूर्व के साथी को देखेगा।"

[१८-२] (गौतम—) 'भगवन् ! मैं (आज) किसको देखूंगा ?'

[भगवान्—] गौतम ! तू स्कन्दक (नामक तापस) को देखेगा।

[१८-३ प्र.] (गौतम—) "भगवन् ! मैं उसे कब, किस तरह से, और कितने समय बाद देखूंगा ?"

[१८-३ उ०] 'गौतम ! उस काल उस समय में श्रावस्ती नाम की नगरी थी। जिसका वर्णन जान लेना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी में गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। इससे सम्बन्धित पूरा वृत्तान्त पहले के अनुसार जान लेना चाहिए। यावत्—उस स्कन्दक परिव्राजक ने जहाँ मैं हूँ, वहाँ—मेरे पास आने के लिए संकल्प कर लिया है। वह अपने स्थान से प्रस्थान करके मेरे पास आ रहा है। वह बहुत-सा मार्ग पार करके (जिस स्थान में हम हैं उससे) अत्यन्त निकट पहुँच गया है। अभी वह मार्ग में चल रहा है। वह बीच के मार्ग पर है। हे गौतम ! तू आज ही उसे देखेगा।'

[१८-४ प्र.] फिर 'हे भगवन् !' यों कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित होकर आगार (घर) छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है ?'

[१८-४ उ०] 'हाँ, गौतम ! वह मेरे पास अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है।'

१९. जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ तावं च से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हव्वमागते।

[१९] जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भगवान् गौतम स्वामी से यह (पूर्वोक्त) बात कह ही रहे थे, कि इतने में वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक उस स्थान (प्रदेश) में (भगवान् महावीर के पास) शीघ्र आ पहुँचे।

२०. [१] तए णं भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरआगयं जाणित्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेति, खिप्पामेव पच्चुवगच्छइ, २ जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—'हे खंदया !, सागयं खंदया !, सुसागयं खंदया !, अणुरागयं खंदया !, सागयमणुरागयं खंदया !। से नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए 'मागहा ! किं सअंते लोगे अणंते लोगे ? एवं तं चेव' जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए। से नूणं खंदया ! अत्थे समत्थे ?

हंता अत्थि।

[२] तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—से केस णं गोयमा ! तहारूवे नाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं तुमं जाणसि ? ।

तए णं से भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—एवं खलु खंदया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली तीय-पच्चुप्पन्नमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी जेणं ममं एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया ! ।

[३] तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।

[४] तए णं से भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेणं सद्धि जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणयाए ।

[२०-१) इसके पश्चात् भगवान् गौतम कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को पास आया हुआ जानकर शीघ्र ही अपने आसन से उठे और शीघ्र ही उसके सामने गए; और जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक था, वहाँ आए। स्कन्दक के पास आकर उससे इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक ! स्वागत है तुम्हारा, स्कन्दक ! तुम्हारा सुस्वागत है ! स्कन्दक ! तुम्हारा आगमन अनुरूप (ठीक समय पर—उचित—योग्य हुआ है। हे स्कन्दक ! पधारो ! आप भले पधारे ! (इस प्रकार श्री गौतमस्वामी ने स्कन्दक का सम्मान किया) फिर श्री गौतम स्वामी ने स्कन्दक से कहा—"स्कन्दक ! श्रावस्ती नगरी में वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुम से इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि हे मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? इत्यादि (सब पहले की तरह कहना चाहिए)। (पांच प्रश्न पूछे थे, जिनका उत्तर तुम न दे सके। तुम्हारे मन में शंका, कांक्षा आदि उत्पन्न हुए। यावत्—) उनके प्रश्नों से निरुत्तर होकर उनके उत्तर पूछने के लिए यहाँ भगवान् के पास आए हो। हे स्कन्दक ! कहो, यह बात सत्य है या नहीं ?"

स्कन्दक ने कहा—"हाँ, गौतम ! यह बात सत्य है।

[२०-२ प्र.] फिर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार पूछा—"गौतम ! (मुझे यह बतलाओ कि) कौन ऐसा ज्ञानी और तपस्वी पुरुष है, जिसने मेरे मन की गुप्त बात तुमसे शीघ्र कह दी; जिससे तुम मेरे मन की गुप्त बात को जान गए ?"

[उ.] तब भगवान् गौतम ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—'हे स्कन्दक ! मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर, उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक हैं, अर्हन्त हैं, जिन हैं, केवली हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान काल के ज्ञाता हैं, सर्वज्ञ—सर्वदर्शी हैं; उन्होंने तुम्हारे मन में रही हुई गुप्त बात मुझे शीघ्र कह दी, जिससे हे स्कन्दक ! मैं तुम्हारी उस गुप्त बात को जानता हूँ।'

[२०-३] तत्पश्चात् कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"हे गौतम ! (चलो) हम तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास चलें, उन्हें वन्दना-नमस्कार करें, यावत्—उनकी पर्युपासना करें।"

(गौतम स्वामी—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो। (इस शुभकार्य में) विलम्ब न करो।'

[२०-४] तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक के साथ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ जाने का संकल्प किया।

विवेचन—श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक परिव्राजक का स्वागत और दोनों का परस्पर वार्तालाप—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१८ से २० तक) में शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक से पूर्वापर सम्बद्ध निम्नोक्त विषयों का क्रमशः प्रतिपादन किया है—

१. श्री भगवान् महावीर द्वारा गौतमस्वामी को स्कन्दक परिव्राजक का परिचय और उसके निकट भविष्य में शीघ्र आगमन का संकेत।
२. श्री गौतम स्वामी द्वारा स्कन्दक के निर्ग्रन्थधर्म में प्रव्रजित होने की पृच्छा और समाधान।
३. श्री गौतमस्वामी द्वारा अपने पूर्वसाथी स्कन्दक परिव्राजक के सम्मुख जाकर सहर्ष भव्य स्वागत।
४. स्कन्दक परिव्राजक और गौतम स्वामी का मधुर वार्तालाप।
५. स्कन्दक द्वारा श्रद्धाभक्तिवश भगवान् महावीर की सेवा में पहुँचने का संकल्प, श्री गौतम स्वामी द्वारा उसका समर्थन और प्रस्थान।

विशेषार्थ—रहस्सकडं—गुप्त किया हुआ, केवल मन में अवधारित।[1]

भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शंकाओं का समाधान—

२१. तेणं कालेणं २ समणे भगवं महावीरे वियडभोई याऽवि होत्था। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धण्णं मंगल्लं सस्सिरीयं अणलंकियविभूसियं लक्खण-वंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणं चिट्ठइ।

[२१] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर व्यावृत्तभोजी (प्रतिदिन आहार करने वाले) थे। इसलिए व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का शरीर उदार (प्रधान), शृंगाररूप, अतिशयशोभासम्पन्न, कल्याणरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, विना अलंकार के ही सुशोभित, उत्तम लक्षणों, व्यंजनों और गुणों से युक्त तथा शारीरिक शोभा से अत्यन्त शोभायमान था।

२२. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं जाव अतीव २ उवसोभेमाणं पासइ, २ त्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए नंदिए पीइमणे परमसोम-

---

१. (क) भगवती गुजराती टीकानुवाद (पं. बेचरदास जी) खण्ड १, पृ. २४९-२५०
(ख) भगवती मूलपाठ टिप्पण (पं. बेचरदासजी) भाग १, पृ. ८०-८१

णस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणप्पयाहिणं करेइ जाव पज्जुवासइ।

[२२] अतः व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर के उदार यावत् शोभा से अतीव शोभायमान शरीर को देखकर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को अत्यन्त हर्ष हुआ, सन्तोष हुआ, एवं उसका चित्त आनन्दित हुआ। वह आनन्दित, मन में प्रीतियुक्त परम सौमनस्यप्राप्त तथा हर्ष से प्रफुल्लहृदय होता हुआ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके निकट आया। निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर की दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, यावत् पर्युपासना करने लगा।

२३. 'खंदया !' ति समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चाय० एवं वयासी—से नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगलएणं णियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए 'मागहा ! किं सअंते लोए अणंते लोए ?' एवं तं चेव जाव जेणेव ममं अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं खंदया ! अयमट्ठे समट्ठे।

हंता, अत्थि।

[२३] तत्पश्चात् 'स्कन्दक !' इस प्रकार सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक ! श्रावस्ती नगरी में वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुमसे इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि—मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ! आदि। (उसने पांच प्रश्न पूछे थे, तुम उनका उत्तर नहीं दे सके, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् जान लेना) यावत्—उसके प्रश्नों से व्याकुल होकर तुम मेरे पास (उन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए) शीघ्र आए हो। हे स्कन्दक ! क्या यह बात सत्य है।

(स्कन्दक ने कहा—) 'हाँ, भगवन् ! यह बात सत्य है।'

२४. [१] जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं सअंते लोए, अणंते लोए ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगे लोए सअंते। खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम-विक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं प०, अत्थि पुण से अंते। कालओ णं लोए ण कयावि न आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सइ य, धुवे णियए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अंते। भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंध० रस० फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते। से त्तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

[२] जे वि य ते खंदया ! जाव सअंते जीवे, अणंते जीवे ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते। खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि

अभिगम करके गए। वे (पांच अभिगम) इस प्रकार हैं—(१) (अपने पास रहे हुए) सचित्त द्रव्यों (फूल, ताम्बूल आदि) का त्याग करना, (२) अचित्त द्रव्यों (सभाप्रवेश योग्य वस्त्रादि) का त्याग न करना—साथ में रखना (अथवा मर्यादित करना); (३) एकशाटिक उत्तरासंग करना (एक पट के विना सिले हुए वस्त्र—दुपट्टे को (यतनार्थ मुख पर रखना); (४) स्थविर-भगवन्तों को देखते ही दोनों हाथ जोड़ना, तथा (५) मन को एकाग्र करना।

यों पांच प्रकार का अभिगम करके वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तों के निकट पहुँचे। निकट आकर उन्होंने दाहिनी ओर से तीन वार उनकी प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया यावत् कायिक, वाचिक और मानसिक, इन तीनों प्रकार से उनकी पर्युपासना करने लगे। वे हाथ-पैरों को सिकोड़ कर शुश्रूषा करते हुए, नमस्कार करते हुए, उनके सम्मुख विनय से हाथ जोड़कर काया से पर्युपासना करते हैं। जो-जो वातें स्थविर भगवान् फरमा रहे थे, उसे सुनकर—'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह तथ्य है, यही सत्य है, भगवन्! यह असंदिग्ध है, भगवन्! यह इष्ट है, यह प्रतीष्ट (अभीष्ट) है, हे भगवन्! यही इष्ट और विशेष इष्ट है,' इस प्रकार वाणी से अप्रतिकूल (अनुकूल) होकर विनयपूर्वक वाणी से पर्युपासना करते हैं तथा मन से (हृदय में) संवेगभाव उत्पन्न करते हुए तीव्र धर्मानुराग में रंगे हुए विग्रह (कलह) और प्रतिकूलता (विरोध) से रहित बुद्धि होकर, मन को अन्यत्र कहीं न लगाते हुए विनयपूर्वक (मानसिक) उपासना करते हैं।

विवेचन—तुंगिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरों की सेवा में—प्रस्तुत दो सूत्रों में शास्त्रकार ने तुंगिका के श्रमणोपासकों द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर-मुनियों के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, वन्दन-नमन, विनयभक्ति पर्युपासना आदि को महाकल्याणकारक फलदायक समझकर उनके गुणों से आकृष्ट होकर उनके दर्शन, वन्दना, पर्युपासना आदि के लिए पहुँचने का वर्णन किया है। इस वर्णन से भगवान् महावीर के श्रमणोपासकों की गुणग्राहकता, उदारता, नम्रता और शिष्टता का परिचय मिलता है। पार्श्वनाथतीर्थ के साधुओं को भी उन्होंने स्वतीर्थीय साधुओं की तरह ही वन्दना-नमस्कार, विनयभक्ति एवं पर्युपासना की थी। साम्प्रदायिकता की गन्ध तक न आने दी।[1]

कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता—दो विशेष अर्थ—(१) उन्होंने दुःस्वप्न आदि के दोष निवारणार्थ कौतुक और मंगलरूप प्रायश्चित्त किया, (२) उन्होंने कौतुक अर्थात् मषी का तिलक[2] और मंगल अर्थात्—दही, अक्षत, दूव के अंकुर आदि मांगलिक पदार्थों से मंगल किया और पायच्छित्त यानी पादच्छुप्त=एक प्रकार के पैरों पर लगाने के नेत्र दोष निवारणार्थ तेल का लेपन किया।

१५. तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महतिमहालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति, जहा केसिसामिस्स जाव[3] समणोवासियत्ताए आणाए आराहगे भवंति जाव धम्मो कहिओ।

---

१. भगवतीसूत्र टीकाऽनुवाद (पं. बेचरदासजी) खण्ड १, पृ. २८७

२. काजल की टिकी—नजर दोष से बचने के लिए लगाई जाती है।

३. 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त राजप्रश्नीय सूत्र(पृ. १२०)में उल्लिखित केशीस्वामि-कथित धर्मोपदेशादि का वर्णन समझना चाहिए—'तीसे महतिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं·······सव्वाओ वहिद्धादाणाओ वेरमणं·······' इत्यादि—भगवती मू. पा. टि. पृ. १०३-१०४

(अन्तरहित) है। इस प्रकारद्रव्यजीव और क्षेत्रजीव अन्तसहित है, तथा काल-जीव और भावजीव अन्तरहित है। अतः हे स्कन्दक ! जीव अन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है।

[२४-३] हे स्कन्दक ! तुम्हारे मन में यावत् जो यह विकल्प उठा था कि सिद्धि (सिद्धशिला) सान्त है या अन्तरहित है ? उसका भी यह अर्थ (समाधान) है—हे स्कन्दक ! मैंने चार प्रकार की सिद्धि बताई है। वह इस प्रकार है—द्रव्यसिद्धि, क्षेत्रसिद्धि, कालसिद्धि और भावसिद्धि। १—द्रव्य से सिद्धि एक है, अतः अन्तसहित है। २—क्षेत्र से—सिद्धि ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है, तथा एक करोड़, बयालीस लाख, तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ विशेपाधिक (झाझेरी) है, अतः अन्तसहित है। ३—काल से—ऐसा कोई काल नहीं था, जिसमें सिद्धि नहीं थी, ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें सिद्धि नहीं है तथा ऐसा कोई काल नहीं होगा, जिसमें सिद्धि नहीं रहेगी। अतः वह नित्य है, अन्तरहित है। ४—भाव से सिद्धि—जैसे भाव लोक के सम्बन्ध में कहा था, उसी प्रकार है। (अर्थात् वह अनन्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुरुलघु-अगुरुलघु-पर्यायरूप है तथा अन्तरहित है) इस प्रकार द्रव्यसिद्धि और क्षेत्रसिद्धि अन्तसहित है तथा कालसिद्धि और भावसिद्धि अन्तरहित है। इसलिए हे स्कन्दक ! सिद्धि अन्त-सहित भी है और अन्तरहित भी है।

[२४-४] हे स्कन्दक ! फिर तुम्हें यह संकल्प-विकल्प उत्पन्न हुआ था कि सिद्ध अन्तसहित हैं या अन्तरहित हैं ? उसका अर्थ (सामाधान) भी इस प्रकार है—(यहाँ सब कथन पूर्ववत् कहना चाहिए) यावत्—द्रव्य से एक सिद्ध अन्तसहित है। क्षेत्र से—सिद्ध असंख्यप्रदेश वाले तथा असंख्य आकाश-प्रदेशों का अवगाहन किये हुए हैं, अतः अन्तसहित हैं। काल से—(कोई भी एक) सिद्ध आदि-सहित और अन्तरहित है। भाव से—सिद्ध अनन्तज्ञानपर्यायरूप हैं, अनन्तदर्शनपर्यायरूप हैं, यावत्—अनन्त-अगुरुलघुपर्यायरूप हैं तथा अन्तरहित हैं। अर्थात्—द्रव्य से और क्षेत्र से सिद्ध अन्तसहित हैं तथा काल से और भाव से सिद्ध अन्तरहित हैं। इसलिए हे स्कन्दक ! सिद्ध अन्तसहित भी हैं और अन्तरहित भी हैं।

२५. जे वि य ते खंदया ! इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा हायति वा ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु खंदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे य पंडियमरणे य।

[२५] और हे स्कन्दक ! तुम्हें जो इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, यावत्—संकल्प उत्पन्न हुआ था कि कौन-से मरण से मरते हुए जीव का संसार बढ़ता है और कौन-से मरण से मरते हुए जीव का संसार घटता है ? उसका भी अर्थ (समाधान) यह है—हे स्कन्दक ! मैंने दो प्रकार के मरण बतलाए हैं। वे इस प्रकार हैं—बालमरण और पण्डितमरण।

२६. से किं तं बालमरणे ?

बालमरणे दुवालसविहे प०, तं जहा—वलयमरणे १ वसट्टमरणे २ अंतोसल्लमरणे ३ तब्भव-मरणे ४ गिरिपडणे ५ तरुपडणे ६ जलप्पवेसे ७ जलणप्पवेसे ८ विसभक्खणे ९ सत्थोवाडणे १० वेहाणसे ११ गद्धपट्ठे १२।

इच्चेते णं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं

अप्पाणं संजोएइ, तिरिय० मणुय० देव०, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ, से त्तं मरमाणे वड्ढइ। से त्तं बालमरणे।

[२६] 'वह बालमरण क्या है ?' बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है; वह इस प्रकार है—(१) वलयमरण (वलन्मरण—तड़फते हुए मरना), (२) वशार्तमरण (पराधीनतापूर्वक या विषयवश होकर रिंव रिव कर मरना), (३) अन्तःशल्यमरण (हृदय में शल्य रखकर मरना, या शरीर में कोई तीखा शस्त्रादि घुस जाने से मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना), (४) तद्भव-मरण (मरकर उसी भव में पुनः उत्पन्न होना, और मरना), (५) गिरिपतन (६) तरुपतन, (७) जल-प्रवेश (पानी में डूबकर मरना), (८) ज्वलनप्रवेश (अग्नि में जलकर मरना), (९) विषभक्षण (विष खाकर मरना), (१०) शस्त्रावपाटन (शस्त्राघात से मरना), (११) वैहानस मरण (गले में फांसी लगाने या वृक्ष आदि पर लटकने से होने वाला मरण) और (१२) गृध्रपृष्ठमरण (गिद्ध आदि पक्षियों द्वारा पीठ आदि शरीरावयवों का मांस खाये जाने से होने वाला मरण)।

हे स्कन्दक ! इन बारह प्रकार के बालमरणों से मरता हुआ जीव अनन्त बार नारक भवों को प्राप्त करता है, तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इस चातुर्गतिक अनादि-अनन्त संसाररूप कान्तार (वन) में बार-बार परिभ्रमण करता है। अर्थात्—इस तरह बारह प्रकार के बालमरण से मरता हुआ जीव अपने संसार को बढ़ाता है। यह है—बालमरण का स्वरूप।

२७. से किं तं पंडियमरणे ?

पंडियमरणे दुविहे प०, तं०—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

[२७] पण्डितमरण क्या है ?

पण्डितमरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर (निश्चल) होकर मरना) और भक्त-प्रत्याख्यान (यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग करने के बाद शरीर की सार संभाल करते हुए जो मृत्यु होती है)।

२८. से किं तं पाओवगमणे ?

पाओवगमणे दुविहे प०, तं जहा—नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा अप्पडिकम्मे। से त्तं पाओवगमणे।

[२८] पादपोपगमन (मरण) क्या है ?

पादपोपगमन दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—निर्हारिम और अनिर्हारिम। यह दोनों प्रकार का पादपोपगमन-मरण नियम से अप्रतिकर्म होता है। यह है—पादपोपगमन का स्वरूप।

२९. से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ?

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पं०, तं जहा—नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा सपडिकम्मे। से त्तं भत्तपच्चक्खाणे।

[२९] भक्तप्रत्याख्यान (मरण) क्या है ?

भक्तप्रत्याख्यान मरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—निर्हारिम और

अनिर्हारिम। यह दोनों प्रकार का भक्तप्रत्याख्यान-मरण नियम से सप्रतिकर्म होता है। यह है—भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप।

३०. इच्चेतेणं खंदया! दुविहेणं पंडियमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ जाव वीईवयति। से त्तं मरमाणे हायइ हायइ। से त्तं पंडियमरणे।

[३०] हे स्कन्दक! इन दोनों प्रकार के पण्डितमरणों से मरता हुआ जीव नारकादि अनन्त भवों को प्राप्त नहीं करता; यावत्····संसाररूपी अटवी को उल्लंघन (पार) कर जाता है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के पण्डितमरणों से मरते हुए जीव का संसार घटता है। यह है—पण्डितमरण का स्वरूप!

३१. इच्चेएणं खंदया! दुविहेणं मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा हायति वा।

[३१] हे स्कन्दक! इन दो प्रकार (वालमरण और पण्डितमरण) के मरणों से मरते हुए जीव का संसार (क्रमशः) बढ़ता और घटता है।

विवेचन—भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शंकाओं का समाधान—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रों (२१ से ३१ तक) में स्कन्दक परिव्राजक के भगवान् महावीर के पास जाने से लेकर भगवान् द्वारा उसकी मनोगत शंकाओं का विश्लेषणपूर्वक यथार्थ समाधान पर्यन्त का विवरण प्रस्तुत किया गया है। उसका क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम दर्शन में ही स्कन्दक का भगवान् के अतीव तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित, चित्त में हर्षित एवं सन्तुष्ट होना तथा भगवान् के प्रति प्रीति उत्पन्न होना। उसके द्वारा भगवान् की प्रदक्षिणा, वन्दना, यावत् पर्युपासना करना। (२) भगवान् द्वारा स्कन्दक के समक्ष उसकी मनोगत बातें प्रकट करना; (३) तत्पश्चात् एक-एक करके स्कन्दक की पूर्वोक्त पांचों मनोगत शंकाओं को अभिव्यक्त करते हुए भगवान् द्वारा विश्लेषणपूर्वक अनेकान्त दृष्टि से समाधान करना।

भगवान् द्वारा किये गये समाधान का निष्कर्ष—(१) लोक द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है तथा काल और भाव की अपेक्षा अनन्त है। (२) जीव भी इसी प्रकार है। (३-४) यही समाधान सिद्धि और सिद्ध के विषय में है। (५) मरण दो प्रकार के हैं—वालमरण और पण्डितमरण। विविध वालमरणों से जीव संसार बढ़ाता है और द्विविध पण्डितमरणों से घटाता है।

नीहारिमे-अनीहारिमे—निर्हारिम और अनिर्हारिम, ये दोनों भेद पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान इन दोनों के हैं। निर्हार शब्द का अर्थ है—बाहर निकलना। निर्हार से जो निष्पन्न हो, वह **निर्हारिम** है। अर्थात् जो साधु उपाश्रय में ही (पूर्वोक्त दोनों पण्डितमरणों में से किसी एक से) मरण पाता है—अपना शरीर छोड़ता है। ऐसी स्थिति में उस साधु के शव को उपाश्रय से बाहर निकालकर संस्कारित किया जाता है, अतएव उस साधु का उक्त पण्डितमरण 'निर्हारिम' कहलाता है। जो साधु अरण्य आदि में ही अपने शरीर को छोड़ता है—पण्डितमरण पाता है। उसके शरीर (शव) को कहीं बाहर नहीं निकाला जाता, अतः उक्त साधु का वैसा पण्डितमरण **'अनिर्हारिम'** कहलाता है।

इंगितमरण—यह भी पण्डितमरण है, किन्तु भक्तप्रत्याख्यानमरण का ही विशिष्ट प्रकार होने से उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया।

अपडिक्कम्मे-सपडिक्कम्मे—अप्रतिकर्म और सप्रतिकर्म, ये क्रमशः पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यानमरण के ही लक्षणरूप हैं। पादपोपगमनमरण में चारों प्रकार के आहार का त्याग अनिवार्य है, साथ ही वह नियमतः अप्रतिकर्म-शरीरसंस्काररहित होता है; जबकि भक्तप्रत्याख्यान सप्रतिकर्म—शरीर की सारसंभाल करते हुए होता है।

वियडभोई-वियट्टभोई : तीन अर्थ—(१) विकट-भोजी = अचित्त भोजी, (२) व्यावृत्तभोजी सूर्य के व्यावृत्त—प्रकाशित होने पर भोजनकर्ता—प्रतिदिन दिवसभोजी और (३) व्यावृत्तभोजी = अनैषणीय आहार से निवृत्त अर्थात् एषणीय आहारभोक्ता।[1]

स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण और निर्ग्रन्थधर्माचरण—

३२. [१] एत्थ णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ एवं वदासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामेत्तए।

[२] अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

[३२-१] (भगवान् महावीर के इन (पूर्वोक्त) वचनों से समाधान पाकर) कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को सम्बोध प्राप्त हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके यों कहा—'भगवन्! मैं आपके पास केवलिप्ररूपित धर्म सुनना चाहता हूँ।'

[३२-२] हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो, शुभकार्य में विलम्ब मत करो।

३३. तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ। धम्मकहा भाणियव्वा।

[३३] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को और उस बहुत बड़ी परिषद् को धर्मकथा कही। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार) करना चाहिए।)

३४. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, २ एवं वदासी—सद्दहामि णं भंते! निग्गथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं रोएमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते! निग्गथं पावयणं, एवमेयं भंते!, तहमेयं भंते!, अवितहमेयं भंते!, असंदिद्धमेयं भंते!, इच्छियमेयं भंते!, पडिच्छियमेयं भंते!, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते!, से जहेयं तुब्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ उत्तरपुरत्थिमं दिसीभायं

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्रांक ११८, (ख) भगवती. मू. पा. टि. भा. १, पृ. ८१, (ग) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. २पृ. ५५३ (घ) आचारांग श्रु. १ अ. ९ में, उत्तरा. २१४, तथा समवायांग ११ में 'वियड' शब्द का यही अर्थ है।

अवक्कमइ, २ तिदंडं च कुंडियं च जाव धातुरत्ताओ य एगंते एडेइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता जाव नमंसित्ता एवं वदासी—

आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते ! लोए, आलित्तपलित्ते णं भंते ! लोए जराए मरणेण य। से जहानामए केइ गाहावती अगारंसि झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ अप्पसारे मोल्लगरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुरा य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे, मा णं सीतं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा णं वाला, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु, एस मे नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नीसेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं, सयमेव मुंडावियं, सयमेव सेहावियं, सयमेव सिक्खावियं, सयमेव आयार-गोयरं विणय-वेणइय-चरण-करण-जाया-मायावत्तियं धम्ममाइक्खिअं।

[३४] तत्पश्चात् वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक श्रमण भगवान् महावीर के श्रीमुख से धर्मकथा सुनकर एवं हृदय में अवधारण करके अत्यन्त हर्षित हुआ, सन्तुष्ट हुआ, यावत् उसका हृदय हर्ष से विकसित हो गया। तदनन्तर खड़े होकर और श्रमण भगवान् महावीर को दाहिनी ओर से तीन वार प्रदक्षिणा करके स्कन्दक परिव्राजक ने इस प्रकार कहा—"भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर मैं श्रद्धा करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं प्रतीति करता हूँ, भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में मुझे रुचि है, भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन में (प्रव्रजित होने के लिए) अभ्युद्यत होता हूँ (अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार करता हूँ)। हे भगवन् ! यह (निर्ग्रन्थ प्रवचन) इसी प्रकार है, यह तथ्य है, यह सत्य है, यह असंदिग्ध है, भगवन् !, यह मुझे इष्ट है, प्रतीष्ट है, इष्ट-प्रतीष्ट है। हे भगवन् ! जैसा आप फरमाते हैं, वैसा ही है।" यों कह कर स्कन्दक परिव्राजक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। ऐसा करके उसने उत्तरपूर्व दिशा-भाग (ईशानकोण) में जाकर त्रिदण्ड, कुण्डिका, यावत् गेरुए वस्त्र आदि परिव्राजक के उपकरण एकान्त में छोड़ दिये। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आकर भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा करके यावत् नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

'भगवन् ! वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी अग्नि से यह लोक (संसार) आदीप्त-प्रदीप्त (जल रहा है, विशेष जल रहा) है, वह एकदम जल रहा है और विशेष जल रहा है। जैसे किसी गृहस्थ के घर में आग लग गई हो और वह घर जल रहा हो, तब वह उस जलते घर में से बहुमूल्य और अल्प भार (वजन) वाले सामान को पहले बाहर निकालता है, और उसे लेकर वह एकान्त में जाता है। वह यह सोचता है—(अग्नि में से बचाकर) बाहर निकाला हुआ यह सामान भविष्य में आगे-पीछे मेरे लिए हितरूप, सुखरूप, क्षेमकुशलरूप, कल्याणरूप, एवं साथ चलने वाला (अनुगामीरूप) होगा। इसी तरह हे देवानुप्रिय भगवन् ! मेरा आत्मा भी एक भाण्ड (सामान) रूप है। यह मुझे इष्ट, कान्त,

प्रिय, सुन्दर, मनोज्ञ, मनोरम, स्थिरता वाला, विश्वासपात्र, सम्मत, अनुमत, बहुमत और रत्नों (या आभूषणों) के पिटारे के समान है। इसलिए इसे ठंड न लगे, गर्मी न लगे, यह भूख-प्यास से पीड़ित न हो, इसे चोर, सिंह और सर्प हानि न पहुँचाएँ, इसे डांस और मच्छर न सताएँ, तथा वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि विविध रोग और आतंक (प्राणघातक रोग) परीषह और उपसर्ग इसे स्पर्श न करें, इसप्रकार मैं इनसे इसकी बराबर रक्षा करता हूँ। पूर्वोक्त विघ्नों से रक्षित किया हुआ मेरा आत्मा मुझे परलोक में हितरूप, सुखरूप, कुशलरूप, कल्याणरूप और अनुगामीरूप होगा। इसलिए भगवन्! मैं आपके पास स्वयं प्रव्रजित होना, स्वयं मुण्डित होना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप स्वयं मुझे प्रव्रजित करें, मुण्डित करें, आप स्वयं मुझे प्रतिलेखनादि क्रियाएँ सिखाएँ, सूत्र और अर्थ पढ़ाएँ। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे ज्ञानादि आचार, गोचर (भिक्षाचरी), विनय, विनय का फल, चारित्र (व्रतादि) और पिण्ड-विशुद्धि आदि करण तथा संयम यात्रा और संयमयात्रा के निर्वाहक आहारादि की मात्रा के ग्रहणरूप धर्म को कहें।'

३५. तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चायणसगोत्तं सयमेव पव्वावेइ जाव धम्ममाइक्खइ—एवं देवाणुप्पिया! गंतव्वं, एवं चिट्ठियव्वं, एवं निसीतियव्वं, एवं तुयट्टियव्वं, एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं, एवं उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो किंचि वि पमाइयव्वं।

[३५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयंमेव कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को प्रव्रजित किया, यावत् स्वयमेव धर्म की शिक्षा दी कि हे देवानुप्रिय! इस प्रकार (यतना) से चलना चाहिए, इस तरह से खड़ा रहना चाहिए, इस तरह से बैठना चाहिए, इस तरह से सोना चाहिए, इस तरह से खाना चाहिए, इस तरह से बोलना चाहिए, इस प्रकार से उठकर सावधानतापूर्वक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति संयमपूर्वक बर्ताव करना चाहिये। इस विषय में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

३६. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं संपडिवज्जति, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयति, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाय २ पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमइ, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमायइ।

[३६] तब कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पूर्वोक्त धार्मिक उपदेश को भलीभांति स्वीकार किया और जिस प्रकार की भगवान् महावीर की आज्ञा थी, तदनुसार श्री स्कन्दकमुनि चलने लगे, वैसे ही खड़े रहने लगे, वैसे ही बैठने, सोने, खाने, बोलने आदि की क्रियाएँ करने लगे; तथा तदनुसार ही प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के प्रति संयमपूर्वक बर्ताव करने लगे। इस विषय में वे जरा-सा भी प्रमाद नहीं करते थे।

३७. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाते इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणसमिए

वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वइगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभचारी चाई लज्जू धण्णे खंतिखमे जितिंदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अबहिल्लेस्से सुसामण्णरए दंते इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ।

[३७] अब वह कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक अनगार हो गए। वह अब ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, एवं मन:समिति, वचनसमिति और कायसमिति, इन आठ समितियों का सम्यक् रूप से सावधानतापूर्वक पालन करने लगे। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति से गुप्त रहने लगे, अर्थात्—मन, वचन और काया को वश में रखने लगे। वे सबको वश में रखने वाले (गुप्त) इन्द्रियों को गुप्त (सुरक्षित=वश में) रखने वाले, गुप्तब्रह्मचारी, त्यागी, लज्जावान् (संयमी=सरल) धन्य (पुण्यवान् या धर्मधनवान्), क्षमावान्, जितेन्द्रिय, व्रतों आदि के शोधक (शुद्धिपूर्वक आचरणकर्ता) निदानरहित (नियाणा न करने वाले), आकांक्षारहित, उतावल से दूर, संयम से बाहर चित्त न रखने वाले, श्रेष्ठ साधुव्रतों में लीन, दान्त स्कन्दक मुनि इसी निर्ग्रन्थ प्रवचन को सम्मुख रखकर विचरण करने लगे, (अर्थात्—निर्ग्रन्थप्रवचनानुसार सब क्रियाएँ करने लगे)।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण एवं निर्ग्रन्थ धर्माचरण— प्रस्तुत छह सूत्रों (३२ से ३७ तक) में शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा धर्मकथाश्रवण से लेकर प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ धर्माचरण तक का विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ पूर्वापर सम्बद्ध विषय क्रम इस प्रकार है—स्कन्दक की धर्म-श्रवण की इच्छा, भगवान् द्वारा धर्मोपदेश, निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति, प्रतिबोध, संसार से विरक्ति, निर्ग्रन्थ धर्म में प्रव्रजित करने के लिए निवेदन, भगवान् द्वारा निर्ग्रन्थधर्मदीक्षा, तत्पश्चात् निर्ग्रन्थधर्माचरण से सम्बन्धित समिति-गुप्ति आदि की शिक्षा, आज्ञानुसार शास्त्रोक्त साध्वाचारपूर्वक विचरण इत्यादि।

कठिन शब्दों की व्याख्या—आयार-गोयरं=ज्ञानादि आचार और गोचर (भिक्षाटन) वेणइय-विनय का आचरण या विनयोत्पन्न चारित्र। **जाया-मायावत्तियं**=संयमयात्रा, और आहारादि की मात्रादि वृत्ति, **चरण**=चारित्र, **करण**=पिण्डविशुद्धि। **अप्पुस्सुए**=उत्सुकतारहित। **लज्जू**=लज्जावान् या रज्जू (रस्सी) की तरह सरल—अवक्र।[1]

३८. तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ नयरीओ छत्तपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

[३८] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कृतंगला नगरी के छत्रपलाशक उद्यान से निकले और बाहर (अन्य) जनपदों (देशों) में विचरण करने लगे।

स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण—

३९. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १२२, (ख) भगवती टीकानुवाद (पं. बेचर.) खण्ड १, पृ. २५३

समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेइ ।

[३९] इसके बाद स्कन्दक अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरों से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। शास्त्र-अध्ययन करने के बाद श्रमण भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं मासिकी भिक्षुप्रतिमा अंगीकार करके विचरना चाहता हूँ।'

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो। शुभ कार्य में प्रतिबन्ध न करो (रुकावट न डालो)।

४०. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

[४०] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके अतीव हर्षित हुए और यावत् भगवान् महावीर को नमस्कार करके मासिक भिक्षुप्रतिमा अंगीकार करके विचरण करने लगे।

४१. [१] तए णं से खंदए अणगारे मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं काएण फासेति पालेति सोहेति तीरेति पूरेति किट्टेति अणुपालेइ आणाए आराहेइ, काएण फासित्ता जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं जाव नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं० ।

[२] तं चेव ।

[४१] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने सूत्र के अनुसार, मार्ग के अनुसार, यथातत्त्व (सत्यतापूर्वक), सम्यक् प्रकार से स्वीकृत मासिक भिक्षुप्रतिमा का काया से स्पर्श किया, पालन किया, उसे शोभित (शुद्धता से आचरण=शोधित) किया, पार लगाया, पूर्ण किया, उसका कीर्तन (गुणगान) किया, अनुपालन किया, और आज्ञापूर्वक आराधन किया। उक्त प्रतिमा का काया से सम्यक् स्पर्श करके यावत् उसका आज्ञापूर्वक आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और श्रमण भगवान् महावीर को यावत् वन्दन-नमस्कार करके यों बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ।'

इस पर भगवान् ने कहा— 'हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, शुभकार्य में विलम्ब न करो।'

[४१-२] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार ने द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा को स्वीकार किया। (सभी वर्णन पूर्ववत् कहना), यावत् सम्यक् प्रकार से आज्ञापूर्वक आराधन किया।

४२. एवं तेमासियं चाउम्मासियं पंच-छ-सत्तमा० । पढमं सत्तराइंदियं, दोच्चं सत्तराइंदियं, तच्चं सत्तरातिदियं, रातिदियं, एगराइयं ।

[४२] इसी प्रकार त्रैमासिकी, चातुर्मासिकी, पंचमासिकी, षाण्मासिकी एवं सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा की यथावत् आराधना की । तत्पश्चात् प्रथम सप्तरात्रि-दिवस की, द्वितीय सप्त रात्रि-दिवस की एवं तृतीय सप्तरात्रि-दिवस की फिर एक अहोरात्रि की, तथा एकरात्रि की, इस तरह बारह भिक्षुप्रतिमाओं का सूत्रानुसार यावत् आज्ञापूर्वक सम्यक् आराधन किया ।

४३. तए णं से खंदए अणगारे एगराइयं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समणं भगवं महावीरं जाव नमंसित्ता एवं वदासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं० ।

[४३] फिर स्कन्दक अनगार अन्तिम एकरात्रि की भिक्षुप्रतिमा का यथासूत्र यावत् आज्ञा-पूर्वक सम्यक् आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आकर उन्हें (श्रमण भगवान् महावीर को) वन्दना-नमस्कार करके यावत् इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं 'गुणरत्नसंवत्सर' नामक तपश्चरण अंगीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'

भगवान् ने फरमाया—'तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो; धर्मकार्य में विलम्ब न करो ।'

४४. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे जाव नमंसित्ता गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरति ।

तं जहा— पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य । दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं० दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य । एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं, चउत्थं मासं दसमं दसमेणं, पंचमं मासं बारसमं बारसमेणं, छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं, सत्तमं मासं सोलसमं २, अट्ठमं मासं अट्ठारसमं २, नवमं मासं वीसतीमं २, दसमं मासं बावीसतिमं २, एक्कारसमं मासं चउव्वीसतिमं २, बारसमं मासं छव्वीसतिमं २, तेरसमं मासं अट्ठावीसतिमं २, चोद्दसमं मासं तीसतिमं २, पन्नरसमं मासं बत्तीसतिमं २, सोलसमं मासं चोत्तीसतिमं २, अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेणं ।

[४४] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके यावत् उन्हें वन्दना-नमस्कार करके गुणरत्नसंवत्सर नामक तपश्चरण स्वीकार करके विचरण करने लगे ।

जैसे कि—(गुणरत्न संवत्सर तप की विधि) पहले महीने में निरन्तर (लगातार) उपवास (चतुर्थभक्त तपःकर्म) करना, दिन में सूर्य के सम्मुख (मुख) दृष्टि रखकर आतापनाभूमि में उत्कुटुक

आसन से बैठकर सूर्य की आतापना लेना और रात्रि में अपावृत (निर्वस्त्र) होकर वीरासन से बैठना एवं शीत सहन करना। इसी तरह निरन्तर बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ) पारणा करना। दिन में उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख रखकर आतापनाभूमि में सूर्य की आतापना लेना, रात्रि में अपावृत होकर वीरासन से बैठकर शीत सहन करना। इसी प्रकार तीसरे मास में उपर्युक्त विधि के अनुसार निरन्तर तेले-तेले पारणा करना। इसी विधि के अनुसार चौथे मास में निरन्तर चौले-चौले (चार-चार उपवास से) पारणा करना। पाँचवें मास में पचौले-पचौले (पांच-पांच उपवास से) पारणा करना। छठे मास में निरन्तर छह-छह उपवास करना। सातवें मास में निरन्तर सात-सात उपवास करना। आठवें मास में निरन्तर आठ-आठ उपवास करना। नौवें मास में निरन्तर नौ-नौ उपवास करना। दसवें मास में निरन्तर दस-दस उपवास करना। ग्यारहवें मास में निरन्तर ग्यारह-ग्यारह उपवास करना। बारहवें मास में निरन्तर बारह-बारह उपवास करना। तेरहवें मास में निरन्तर तेरह-तेरह उपवास करना। निरन्तर चौदहवें मास में चौदह-चौदह उपवास करना। पन्द्रहवें मास में निरन्तर पन्द्रह-पन्द्रह उपवास करना और सोलहवें मास में निरन्तर सोलह-सोलह उपवास करना। इन सभी में दिन में उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख करके आतापनाभूमि में आतापना लेना, रात्रि के समय अपावृत (वस्त्ररहित) होकर वीरासन से बैठकर शीत सहन करना।

४५. तए णं से खंदए अणगारे गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं अहाकप्पं जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ बहूहिं चउत्थ-छट्ठऽट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[४५] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने (उपर्युक्त विधि के अनुसार) गुणरत्नसंवत्सर नामक तपश्चरण की सूत्रानुसार, कल्पानुसार यावत् आराधना की। इसके पश्चात् जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ वे आए और उन्हें वन्दना-नमस्कार किया। और फिर अनेक उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला, मासखमण (मासिक उपवास), अर्द्धमासखमण इत्यादि विविध प्रकार के तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

४६. तए णं से खंदए अणगारे तेणं ओरालेणं, विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धण्णेणं मंगल्लेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेणं तवोक्कम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए किसे धमणिसंतए जाते यावि होत्था, जीवंजीवेण गच्छइ, जीवंजीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाति, भासं भासिस्सामीति गिलाति; से जहा नाम ए कट्ठसगडिया इ वा पत्तसगडिया इ वा पत्ततिलभंडगसगडिया इ वा एरंड-कट्ठसगडिया इ वा इंगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, एवामेव खंदए वि अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, उवचिते तवेणं, अवचिए मंस-सोणितेणं, हुयासणे विव भासरासिपडिच्छन्ने, तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अतीव २ उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ।

[४६] इसके पश्चात् वे स्कन्दक अनगार उस (पूर्वोक्त प्रकार के) उदार, विपुल, प्रदत्त (या प्रयत्न), प्रगृहीत, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, श्रीयुक्त (शोभास्पद), उत्तम, उदग्र

(उत्तरोत्तर वृद्धियुक्त), उदात्त (उज्ज्वल), सुन्दर, उदार और महाप्रभावशाली तपःकर्म से शुष्क हो गए, रूक्ष हो गए, मांसरहित हो गए, वह (उनका शरीर) केवल हड्डी और चमड़ी से ढका हुआ रह गया। चलते समय हड्डियाँ खड़-खड़ करने लगीं, वे कृश-दुर्बल हो गए, उनकी नाड़ियाँ सामने दिखाई देने लगीं, अब वे केवल जीव (आत्मा) के बल से चलते थे, जीव के बल से खड़े रहते थे, तथा वे इतने दुर्बल हो गए थे कि भाषा बोलने के बाद, भाषा बोलते-बोलते भी और भाषा बोलूंगा, इस विचार से भी ग्लानि (थकावट) को प्राप्त होते थे, (उन्हें बोलने में भी कष्ट होता था) जैसे कोई सूखी लकड़ियों से भरी हुई गाड़ी हो, पत्तों से भरी हुई गाड़ी हो, पत्ते, तिल और अन्य सूखे सामान से भरी हुई गाड़ी हो, एरण्ड की लकड़ियों से भरी हुई गाड़ी हो, या कोयले से भरी हुई गाड़ी हो, सभी गाड़ियाँ (गाड़ियों में भरी सामग्री) धूप में अच्छी तरह सुखाई हुई हों और फिर चलाई जाएँ तो खड़-खड़ आवाज करती हुई चलती हैं और आवाज करती हुई खड़ी रहती हैं, इसी प्रकार जब स्कन्दक अनगार चलते थे, खड़े रहते थे, तब खड़-खड़ आवाज होती थी। यद्यपि वे शरीर से दुर्बल हो गए थे, तथापि वे तप से पुष्ट थे। उनका मांस और रक्त क्षीण (अत्यन्त कम) हो गए थे, किन्तु राख के ढेर में दबी हुई अग्नि की तरह वे तप और तेज से तथा तप-तेज की शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित हो रहे थे।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन, भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण— प्रस्तुत आठ सूत्रों (३९ से ४६ तक) में निर्ग्रन्थदीक्षा के बाद स्कन्दक अनगार द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना किस-किस प्रकार से की गई थी?, उसका सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनसे पूर्व के सूत्रों में स्कन्दक द्वारा आचरित समिति, गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म, संयम, ब्रह्मचर्य, महाव्रत, आदि चारित्रधर्म के पालन का विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इसलिए इन सूत्रों में मुख्यतया ज्ञान, दर्शन और तप की आराधना का विवरण दिया गया है। उसका क्रम इस प्रकार है—

१. स्कन्दक ने स्थविरों से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

२. तत्पश्चात् भगवान् की आज्ञा से क्रमशः मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक, षण्मासिक, सप्तमासिक, फिर प्रथम सप्तरात्रिकी, द्वितीय सप्तरात्रिकी, तृतीय सप्त-रात्रिकी, एक अहोरात्रिकी, एवं एकरात्रिकी, यों द्वादश भिक्षुप्रतिमा का अंगीकार करके उनकी सम्यक् आराधना की।

३. तत्पश्चात् गुणरत्नसंवत्सर नामक तप का स्वीकार करके यथाविधि सम्यक् आराधना की तथा अन्य विभिन्न तपस्याओं से आत्मा भावित की।

४. इस प्रकार की आभ्यन्तर तपश्चरण पूर्वक बाह्य तपस्या से स्कन्दक अनगार का शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, किन्तु आत्मा अत्यन्त तेजस्वी, उज्ज्वल, शुद्ध एवं अत्यन्त लघुकर्मा बन गयी।

स्कन्दक का चरित किस वाचना द्वारा अंकित किया गया?—भगवान् महावीर के शासन में ९ वाचनाएँ थीं। पूर्वकाल में उन सभी वाचनाओं में अन्य चरितों के द्वारा वे अर्थ प्रकट किये जाते थे, जो प्रस्तुत वाचना में स्कन्दक के चरित द्वारा प्रकट किये गए हैं। जब स्कन्दक का चरित घटित हो गया, तो सुधर्मा स्वामी ने वही अर्थ स्कन्दकचरित द्वारा प्रकट किया हो, ऐसा सम्भव है।

भिक्षुप्रतिमा की आराधना—निर्ग्रन्थ मुनियों के अभिग्रह (प्रतिज्ञा) विशेष को भिक्षुप्रतिमा कहते हैं। ये प्रतिमाएँ बारह होती हैं, जिनकी अवधि का उल्लेख मूल पाठ में किया है। भिक्षुप्रतिमाधारक मुनि अपने शरीर को संस्कारित करने का तथा शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर देता है। वह अदीनतापूर्वक समभाव से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी उपसर्गों को सहता है। जहाँ कोई जानता हो, वहाँ एक रात्रि और कोई न जानता हो, वहाँ दो रात्रि तक रहे, इससे अधिक जितने दिन तक रहे, उतने दिनों के छेद या तप का प्रायश्चित्त ग्रहण करे। प्रतिमाधारी मुनि चार प्रकार की भाषा बोल सकता है—याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी (स्थान आदि की आज्ञा लेने हेतु) और पृष्टव्याकरणी (प्रश्न का उत्तर देने हेतु)। उपाश्रय के अतिरिक्त मुख्यतया तीन स्थानों में प्रतिमाधारक निवास करे—(१)अधः आरामगृह (जिसके चारों ओर बाग हो), (२) अधोविकटगृह (जो चारों ओर से खुला हो, किन्तु ऊपर से आच्छादित हो), और (३) वृक्षमूलगृह। तीन प्रकार के संस्तारक ग्रहण कर सकता है—पृथ्वीशिला, काष्ठशिला या उपाश्रय में पहले से बिछा हुआ तृण या दर्भ का संस्तारक। उसे अधिकतर समय स्वाध्याय या ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए। कोई व्यक्ति आग लगाकर जलाए या वध करे, मारे-पीटे तो प्रतिमाधारी मुनि को आक्रोश या प्रतिप्रहार नहीं करना चाहिए। समभाव से सहना चाहिए। विहार करते समय मार्ग में मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, सांड या भैंसा अथवा सिंह, व्याघ्र, सूअर आदि हिंस्र पशु सामने आ जाए तो प्रतिमाधारक मुनि भय से एक कदम भी पीछे न हटे, किन्तु मृग आदि कोई प्राणी डरता हो तो चार कदम पीछे हट जाना चाहिए।

प्रतिमाधारी मुनि को शीतकाल में शीतनिवारणार्थ ठंडे स्थान से गर्म स्थान में तथा ग्रीष्मकाल में गर्म स्थान से ठंडे स्थान में नहीं जाना चाहिए, जिस स्थान में बैठा हो, वहीं बैठे रहना चाहिए। प्रतिमाधारी साधु को प्रायः अज्ञात कुल से और आचारांग एवं दशवैकालिक में बताई हुई विधि के अनुसार एषणीय कल्पनीय निर्दोष भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। छह प्रकार की गोचरी उसके लिए बताई है—१. पेटा, २. अर्धपेटा, ३. गोमूत्रिका, ४. पतंगवीथिका, ५. शंखावर्ता और ६. गतप्रत्यागता। प्रतिमाधारी साधु तीन समय में से किसी एक समय में भिक्षा ग्रहण कर सकता है—(१) दिन के आदिभाग में (२) दिन के मध्यभाग में और (३) दिन के अन्तिम भाग में। पहली प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक उत्तरोत्तर एक-एक मास की अवधि और एक-एक दत्ति आहार और पानी की क्रमशः बढ़ाता जाए। आठवीं प्रतिमा सात दिनरात्रि की है, इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करके गाँव के बाहर जाकर उत्तानासन या पार्श्वासन से लेटना या निषद्यासन से बैठकर ध्यान लगाना चाहिए। उपसर्ग के समय दृढ़ रहे। मल-मूत्रादि वेगों को न रोके। सप्त अहोरात्रि की नौवीं प्रतिमा में ग्रामादि के बाहर जाकर दण्डासन या उत्कुटुकासन से बैठना चाहिए। शेष विधि पूर्ववत् है। सप्त अहोरात्रि की दसवीं प्रतिमा में ग्रामादि से बाहर जाकर गोदोहासन, वीरासन या अम्बकुब्जासन से ध्यान करे। शेष विधि पूर्ववत्। एक अहोरात्रि की ग्यारहवीं प्रतिमा (८ प्रहर की) में चौविहार बेला करके ग्रामादि के बाहर जाकर दोनों पैरों को कुछ संकुचित करके हाथों को घुटने तक लम्बे करके कायोत्सर्ग करे। शेषविधि पूर्ववत्। एक रात्रि की बारहवीं प्रतिमा में चौविहार तेला करके ग्रामादि से बाहर जाकर एक पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि स्थिर करके पूर्ववत् कायोत्सर्ग करना होता है। यद्यपि यह प्रतिमा जघन्य नौवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक के ज्ञान वाला कर सकता है, तथापि स्कन्दक मुनि ने साक्षात् तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से ये प्रतिमाएँ ग्रहण की थीं। पंचाशक में प्रतिमा

ग्रहण करने से पूर्व उतनी अवधि तक उसके अभ्यास करने तथा सबसे क्षमापना करके निःशल्य, निष्कषाय होने का उल्लेख है।[1]

गुणरत्न (गुणरचन) संवत्सर तप—जिस तप में गुणरूप रत्नों वाला सम्पूर्ण वर्ष बिताया जाए वह **गुणरत्न संवत्सर** तप कहलाता है। अथवा जिस तप को करने में १६ मास तक एक ही प्रकार की निर्जरारूप विशेष गुण की रचना (उत्पत्ति) हो, वह गुणरचन-संवत्सर तप है। इस तप में १६ महीने लगते हैं जिनमें से ४०७ दिन तपस्या के और ७३ दिन पारणे के होते हैं। शेष सब विधि मूलपाठ में है।

उदार, विपुल, प्रदत्त, प्रगृहीत : तपोविशेषणों की व्याख्या—**उदार**—लौकिक आशारहित होने से उदार, **विपुल**—दीर्घकाल तक चलने वाला होने से विपुल, **प्रदत्त**=प्रमाद छोड़कर अप्रमत्ततापूर्वक आचरित होने से प्रदत्त तथा **प्रगृहीत**—बहुमानपूर्वक आचरित होने से प्रगृहीत कहलाता है।[2] **उत्तम**—उत्तम पुरुषसेवित, या तम-अज्ञान से ऊपर।

स्कन्दक द्वारा संलेखना-भावना, अनशन-ग्रहण, समाधि-मरण—

४७. तेणं कालेणं २ रायगिहे नगरे जाव समोसरणं जाव परिसा पडिगया।

[४७] उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर में पधारे। समवसरण की रचना हुई। यावत् जनता भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर वापिस लौट गई।

४८. तए णं तस्स खंदयस्स अणगारस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव (सु. १७) समुप्पज्जित्था—"एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं ओरालेणं जाव (सु. ४६) किसे धमणिसंतए जाते जीवंजीवेणं गच्छामि, जीवंजीवेणं चिट्ठामि, जाव गिलामि, जाव (सु. ४६) एवामेव अहं पि ससद्दं गच्छामि, ससद्दं चिट्ठामि, तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तं जावता मे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पल-कमलकोमलुम्मिलियम्मि अहपंडरे पभाए रत्तासोयप्पकासकिंसुय-सुयमुह-गुंजऽद्धरागसरिसे कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आरोवेत्ता, समणा य समणीओ य खामेत्ता, तहारूवेहिं थेरेहिं कडाऽऽईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं दुरूहित्ता, मेघघणसन्निगासं देवसन्निवातं पुढवीसिलावट्टयं पडिलेहित्ता, दब्भसंथारयं संथरित्ता, दब्भसंथारोवगयस्सं संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ त्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव पज्जुवासति।

---

१. (क) दशाश्रुतस्कन्ध अ. ७ के अनुसार। (ख) हरिभद्रसूरि रचित पंचाशक, पंचा. १८, गा. ५,७
(ग) विशेषार्थ देखें—आचारदसा ७ (मुनि कन्हैयालालजी कमल)

२. भगवती, अ. वृत्ति, पत्रांक १२४-१२५

[४८] तदनन्तर किसी एक दिन रात्रि के पिछले पहर में धर्म-जागरणा करते हुए स्कन्दक अनगार के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि मैं इस (पूर्वोक्त) प्रकार के उदार यावत् महाप्रभावशाली तपःकर्म द्वारा शुष्क, रूक्ष यावत् कृश हो गया हूँ। यावत् मेरा शारीरिक बल क्षीण हो गया, मैं केवल आत्मबल से चलता हूँ और खड़ा रहता हूँ। यहाँ तक कि बोलने के बाद, बोलते समय और बोलने से पूर्व भी मुझे ग्लानि—खिन्नता होती है यावत् पूर्वोक्त गाड़ियों की तरह चलते और खड़े रहते हुए मेरी हड्डियों से खड़-खड़ आवाज होती है। अतः जब तक मुझ में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम है, जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर सुहस्ती (गन्धहस्ती) की तरह (या भव्यों के लिए शुभार्थी होकर) विचरण कर रहे हैं, तब तक मेरे लिए श्रेयस्कर है कि इस रात्रि के व्यतीत हो जाने पर कल प्रातः-काल कोमल उत्पलकमलों को विकसित करने वाले, क्रमशः पाण्डुरप्रभा से रक्त अशोक के समान प्रकाशमान, टेसू के फूल, तोते की चोंच, गुंजा के अर्द्ध भाग जैसे लाल, कमलवनों को विकसित करने वाले, सहस्ररश्मि, तथा तेज से जाज्वल्यमान दिनकर सूर्य के उदय होने पर मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार यावत् पर्युपासना करके श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके, स्वयमेव पंचमहाव्रतों का आरोपण करके, श्रमण-श्रमणियों के साथ क्षमापना करके कृतादि (प्रतिलेखना आदि धर्म क्रियाओं में कुशल='कृत' या 'कृतयोगी',—'आदि पद से धर्मप्रिय, धर्मदृढ़, सेवासमर्थ आदि) तथारूप स्थविर साधुओं के साथ विपुलगिरि पर शनैः शनैः चढ़कर, मेघसमूह के समान काले, देवों के अवतरणस्थानरूप पृथ्वीशिलापट्ट की प्रतिलेखना करके, उस पर डाभ (दर्भ) का संथारा (संस्तारक) बिछाकर, उस दर्भ संस्तारक पर बैठकर आत्मा को संलेखना तथा झोषणा से युक्त करके, आहार-पानी का सर्वथा त्याग (प्रत्याख्यान) करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई डाली के समान स्थिर रहकर) संथारा करके, मृत्यु की आकांक्षा न करता हुआ विचरण करूँ।

इस प्रकार का सम्प्रेक्षण (विचार) किया और रात्रि व्यतीत होने पर प्रातःकाल यावत् जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में आकर उन्हें वन्दना-नमस्कार करके यावत् पर्युपासना करने लगे।

४९. 'खंदया !' इ समणे भगवं महावीरे खंदयं अणगारं एवं वयासी—से नूणं तव खंदया ! पुव्वरत्तावरत्त० जाव (सु. ४८) जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (सु. १७) समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं ओरालेणं विपुलेणं तं चेव जाव (सु. ४८) कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु' एवं संपेहेसि, २ कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलंते जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे ?

हंता, अत्थि।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

[४९] तत्पश्चात् 'हे स्कन्दक !' यों सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने स्कन्दक अनगार से इस प्रकार कहा—"हे स्कन्दक ! रात्रि के पिछले पहर में धर्म जागरणा करते हुए तुम्हें इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि इस उदार यावत् महाप्रभावशाली तपश्चरण से मेरा शरीर अब कृश हो गया है, यावत् अब मैं संलेखना—संथारा करके मृत्यु की आकांक्षा न करके

पादपोपगमन अनशन करूँ। ऐसा विचार करके प्रातःकाल सूर्योदय होने पर तुम मेरे पास आए हो। हे स्कन्दक ! क्या यह सत्य है ?"

(स्कन्दक अनगार ने कहा—) हाँ, भगवन् ! यह सत्य है।

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो; इस धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।

५०. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ जाव[1] नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ, २ त्ता समणे य समणीओ य खामेइ, २ त्ता तहारूवेहिं थेरेहिं कडाऽऽईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं २ दुरूहेइ, २ मेघघणसन्निगासं देवसन्निवायं पुढविसिलावट्टयं पडिलेहेइ, २ उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, २ दब्भसंथारयं संथरेइ, २ दब्भसंथारयं दुरूहेइ, २ दब्भसंथारोवगते पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसण्णे करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदासि—नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव[2] संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगते, पासउ मे भयवं तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ नमंसति, २ एवं वदासी—"पुव्विं पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वे पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणिं पि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि। एवं सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं जाव[4] फुसंतु त्ति कट्टु एयं पि णं चरिमेहिं उस्सास-नीसासेहिं वोसिरामि" त्ति कट्टु संलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरति।

[५०] तदनन्तर श्री स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर अत्यन्त हर्षित, सन्तुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हुए। फिर खड़े होकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की और वन्दना-नमस्कार करके स्वयमेव पांच महाव्रतों का आरोपण किया। फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमायाचना की, और तथारूप योग्य कृतादि स्थविरों के साथ शनैः-शनैः विपुलाचल पर चढ़े। वहाँ मेघ-समूह के समान काले, देवों के उतरने योग्य स्थानरूप एक पृथ्वी-शिलापट्ट की प्रतिलेखना की तथा उच्चार-प्रस्रवणादि परिष्ठापनभूमि की प्रतिलेखना की।

---

१. यहाँ 'जाव' पद 'वंदइ वंदित्ता नमंसइ' पाठ का सूचक है।
२. यहाँ जाव 'पद' 'आइगराणं' से 'संपत्ताणं' तक के पाठ का सूचक है।
३. यहाँ जाव शब्द 'मुसावाए' से लेकर 'मिच्छादंसणसल्ल' तक १८ पापस्थानवाचक पदों का सूचक है।
४. 'जाव' पद 'मणुन्ने मणामे धेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे' इत्यादि द्वितीयान्त पाठ का सूचक है।

ऐसा करके उस पृथ्वीशिलापट्ट पर डाभ का संथारा बिछाकर, पूर्वदिशा की ओर मुख करके, पर्यंकासन से बैठकर, दसों नख सहित दोनों हाथों को मिलाकर मस्तक पर रखकर, (मस्तक के साथ) दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—'अरिहन्त भगवन्तों को, यावत् जो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें नमस्कार हो। तथा अविचल शाश्वत सिद्ध स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार हो। (अर्थात् 'नमोत्थु णं' के पाठ का दो बार उच्चारण किया।) तत्पश्चात् कहा—'वहाँ रहे हुए भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहा हुआ (स्थित) मैं वन्दना करता हूँ। वहाँ विराजमान श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यहां पर रहे हुए मुझ को देखें।' ऐसा कहकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात का त्याग किया था, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापों का त्याग किया था। इस समय भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापों का त्याग करता हूँ। और यावज्जीवन के लिए अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। तथा यह मेरा शरीर, जो कि मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय है, यावत् जिसकी मैंने बाधा—पीड़ा, रोग, आतंक, परीषह और उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक व्युत्सर्ग (ममत्व-विसर्जन) करता हूँ, यों कहकर संलेखना संथारा करके, भक्त-पान का सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर रहकर) अनशन करके मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए विचरण करने लगे।

५१. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमादियाइं एक्कारस्स अंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए।

[५१] इसके पश्चात् स्कन्दक अनगार, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के तथारूप स्थविरों के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन पूरे बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन करके, एक मास की संलेखना से अपनी आत्मा को संलिखित (सेवित=युक्त) करके साठ भक्त का त्यागरूप अनशन करके, आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके क्रमशः कालधर्म (मरण) को प्राप्त हुए।

५२. तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगारं कालगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति, २ पत्त-चीवराणि गिण्हंति, २ विपुलाओ पव्वयाओ सणियं २ पच्चोरुहंति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, २ समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे पगइभद्दए पगतिविणीए पगतिउवसंते पगति-पयणुकोह-माण-माया-लोभे मिउ-मद्दवसंपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए। से णं देवाणुप्पिएहिं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आरोवित्ता समणे य समणीओ य खामेत्ता, अम्हेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं तं चेव निरवसेसं जाव (सु. ५०) अहाणुपुव्वीए कालगए। इमे य से आयारभंडए।

[५२] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तों ने स्कन्दक अनगार को कालधर्म प्राप्त हुआ जानकर

उनके परिनिर्वाण (समाधिमरण) सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया। फिर उनके पात्र, वस्त्र (चीवर) आदि उपकरणों को लेकर वे विपुलगिरि से शनैः शनैः नीचे उतरे। उतरकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके उन स्थविर मुनियों ने इस प्रकार कहा—हे भगवन्! आप देवानुप्रिय के शिष्य स्कन्दक अनगार, जो कि प्रकृति से भद्र, प्रकृति के विनीत, स्वभाव से उपशान्त, अल्पक्रोध-मान-माया-लोभ वाले, कोमलता और नम्रता से युक्त, इन्द्रियों को वश में करने वाले, भद्र और विनीत थे, वे आपकी आज्ञा लेकर स्वयमेव पंचमहाव्रतों का आरोपण करके, साधुसाध्वियों से क्षमापना करके, हमारे साथ विपुलगिरि पर गये थे, यावत् वे पादपोपगमन संथारा करके कालधर्म को प्राप्त हो गए हैं। ये उनके धर्मोपकरण हैं।

विवेचन—स्कन्दकमुनि द्वारा संल्लेखनाभावना, अनशन ग्रहण और समाधिमरण—प्रस्तुत पांच सूत्रों (४७ से ५१ तक) में स्कन्दकमुनि द्वारा संल्लेखनापूर्वक भक्तप्रत्याख्यान अनशन की भावना से लेकर उनके समाधिमरण तक का वर्णन किया गया है। संल्लेखना-संथारा (अनशन) से पूर्वापर सम्बन्धित विषयक्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—(१) धर्मजागरणा करते हुए स्कन्दकमुनि के मन में संल्लेखनापूर्वक पादपोपगमन संथारा करने की भावना, (२) भगवान् से संल्लेखना-संथारा करने की अनुज्ञा प्राप्त की, (३) समस्त साधु-साध्वियों से क्षमायाचना करके योग्य स्थविरों के साथ विपुलाचल पर आरोहण, एक पृथ्वीशिलापट्ट पर दर्भसंस्तारक, विधिपूर्वक यावज्जीव संलेखनापूर्वक अनशन ग्रहण किया (४) एक मास तक संल्लेखना-संथारा की आराधना करके समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए। (५) तत्पश्चात् उनके साथी स्थविरों ने उनके अवशिष्ट धर्मोपकरण ले जाकर भगवान् को स्कन्दक अनगार की समाधिमरण प्राप्ति की सूचना दी।

कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ—**फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि**=कोमल उत्पलकमलों के विकसित हो जाने पर। **अहापंडुरे पभाए**=निर्मल प्रभात हो जाने पर। **पाउप्पभायाए**=प्रातःकाल। **कडाइ**=कृत योगी आदि प्रतिलेखनादि या आलोचन—प्रतिक्रमणादि योगों (क्रियाओं) में जो कृत= कुशल हैं, वे कृतयोगी आदि शब्द से प्रियधर्मी या दृढ़धर्मी। **संपलि अंकनिसन्ने**=पद्मासन (पर्यकासन) से बैठे हुए। **संलेहणाझूसणाझूसियस्स**—जिसमें कषायों तथा शरीर को कृश किया जाता है, वह है संल्लेखना तप, उसकी जोषणा—सेवना से जुष्ट—सेवित अथवा जिसने संल्लेखना तप की सेवा से कर्म क्षपित (झूषित) कर दिये हैं। **सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेइत्ता**=अनशन से साठ भक्त (साठ बार—टंक भोजन) छोड़कर। **परिणिव्वाणवत्तियं**=परिनिर्वाण=मरण अथवा मृतशरीर का परिष्ठापन। वही जिसमें निमित्त है—वह परिनिर्वाणप्रत्ययिक।[1]

स्कन्दक की गति और मुक्ति के विषय में भगवत्-कथन—

५२. 'भंते!' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १२६ से १२९ तक

'गोयमा !' इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव से णं मए अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाइं आरोवित्ता तं चेव सव्वं अविसेसियं नेयव्वं जाव (सु. ५०-५१) आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं एगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिती प०। तत्थ णं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

[५३] इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! आपके शिष्य स्कन्दक अनगार काल के अवसर पर कालधर्म को प्राप्त करके कहाँ गए और कहाँ उत्पन्न हुए ?'

[उ०] गौतम आदि को सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया—'हे गौतम ! मेरा शिष्य स्कन्दक अनगार, प्रकृतिभद्र यावत् विनीत मेरी आज्ञा प्राप्त करके, स्वयमेव पंचमहाव्रतों का आरोपण करके, यावत् संल्लेखना-संथारा करके समाधि को प्राप्त होकर काल के अवसर पर काल करके अच्युतकल्प (देवलोक) में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ कतिपय देवों की स्थिति बाईस सागरोपम की है। तदनुसार स्कन्दक देव की स्थिति भी बाईस सागरोपम की है।

५४. से णं भंते ! खंदए देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितीखएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिनिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति। खंदओ समत्तो॥

॥ वितीय सए पढमो उद्देसो समत्तो॥

[५४] तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी ने पूछा—'भगवन् ! स्कन्दकदेव वहाँ की आयु का क्षय, भव का क्षय और स्थिति का क्षय करके उस देवलोक से कहाँ जाएँगे और कहाँ उत्पन्न होंगे ?'

[उ०] गौतम ! स्कन्दक देव वहाँ की आयु, भव और स्थिति का क्षय होने पर महाविदेह-वर्ष (क्षेत्र) में जन्म लेकर सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे, मुक्त होंगे, परिनिर्वाण को प्राप्त करेंगे और सभी दुःखों का अन्त करेंगे।

श्री स्कन्दक का जीवनवृत्त पूर्ण हुआ।

विवेचन—स्कन्दक की गति और मुक्ति के विषय में भगवत्कथन—प्रस्तुत सूत्रद्वय (५३-५४ सू.) में समाधिमरण प्राप्त स्कन्दकमुनि की भावी गति के सम्बन्ध में श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्नों का भगवान् द्वारा प्रदत्त उत्तर अंकित है। भगवान् ने समाधिमरण प्राप्त स्कन्दक मुनि की गति (उत्पत्ति) अच्युतकल्प देवलोक में बताई है तथा वहाँ से महाविदेहक्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धि मुक्ति गति बताई है।

कहिं गए ? कहिं उववण्णे ? =कहाँ—किस गति में गए ? कहाँ—किस देवलोक में उत्पन्न हुए ? **चयं चइत्ता**=चय=शरीर को छोड़कर।

'आउक्खएणं, भवक्खएणं ठिइक्खएणं' की व्याख्या—आउक्खएणं=आयुष्यकर्म के दलिकों की निर्जरा होने से, भवक्खएणं=देव भव के कारणभूत गत्यादि (नाम) कर्मो की निर्जरा होने से, ठिइक्खएणं=आयुष्यकर्म भोग लेने से स्थिति का क्षय होने के कारण।[1]

॥ द्वितीय शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक

बिइओ उद्देसो : समुग्घाया

द्वितीय उद्देशक : समुद्घात

समुद्घात : प्रकार तथा तत्सम्बन्धी विश्लेषण—

१—कति णं भंते ! समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा—छाउमत्थियसमुग्घायावज्जं समुग्घायपदं णेयव्वं।

[तं०—वेदणासमुग्घाए० । एवं समुग्घायपदं छातुमत्थियसमुग्घातवज्जं भाणियव्वं जाव वेमाणियाणं कसायसमुग्घाया अप्पाबहुयं।

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो केवलीसमुग्घाय जाव सासयमणागयद्धं चिट्ठंति ।[1]]

॥ बितीय सए बितीयो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कितने समुद्घात कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! समुद्घात सात कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषाय-समुद्घात, (३) मारणान्तिक-समुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजस-समुद्घात, (६) आहारक-समुद्घात और (७) केवलि-समुद्घात। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का छत्तीसवाँ समुद्घात-पद कहना चाहिए, किन्तु उसमें प्रतिपादित छद्मस्थ समुद्घात का वर्णन यहाँ नहीं कहना चाहिए। और इस प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए, तथा कषाय-समुद्घात और अल्पबहुत्व कहना चाहिए।

[प्र.] हे भगवन् ! भावितात्मा अनगार के क्या केवली-समुद्घात यावत् समग्र भविष्यकाल-पर्यन्त शाश्वत रहता है ?

[उ.] हे गौतम ! यहाँ भी उपर्युक्त कथनानुसार समुद्घातपद जान लेना चाहिए। (अर्थात्-यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के छत्तीसवें समुद्घातपद के सू. २१६८ से सू. २१७६ तक में उल्लिखित सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति तक का सारा पाठ (वर्णन) समझ लेना चाहिए।[2]

विवेचन—समुद्घात : प्रकार तथा तत्सम्बन्धी विश्लेषण—प्रस्तुत उद्देशक में एक ही सूत्र में समुद्घात के प्रकार, उसके अधिकारी, तथा उसके कारणभूत कर्म एवं परिणाम का निरूपण है, किन्तु वह सब प्रज्ञापना सूत्र के ३६वें पद के अनुसार जानने का यहाँ निर्देश किया गया है।

---

१. यह पाठ बहुत-सी प्रतियों में है। पं० बेचरदासजी सम्पादित भगवती टीकानुवाद में भी यह पाठ है।

२. पण्णवणासुत्त (मूलपाठ) भा. १ पृ. ३३७

समुद्घात—वेदना आदि के साथ एकाकार (लीन या संमिश्रित) हुए आत्मा का कालान्तर में उदय में आने वाले (आत्मा से सम्बद्ध) वेदनीय आदि कर्मों को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर प्रबलतापूर्वक घात करना—उनकी निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है।

आत्मा समुद्घात क्यों करता है?—जैसे किसी पक्षी की पाँखों पर बहुत धूल चढ़ गई हो, तब वह पक्षी अपनी पाँखें फैला (फड़फड़ा) कर उस पर चढ़ी हुई धूल झाड़ देता है, इसी प्रकार यह आत्मा, बद्ध कर्म के अणुओं को झाड़ने के लिए समुद्घात नाम की क्रिया करता है। आत्मा असंख्य-प्रदेशी होकर भी नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर-परिमित होता है। आत्मीय प्रदेशों में संकोच-विकासशक्ति होने से जीव के शरीर के अनुसार वे व्याप्त होकर रहते हैं। आत्मा अपनी विकास शक्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो सकता है। कितनी ही बार कुछ कारणों से आत्मा अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर भी फैलाता है और वापिस सिकोड़ (समेट) लेता है। इसी क्रिया को जैन-परिभाषा में समुद्घात कहते हैं। ये समुद्घात सात हैं।

१. **वेदनासमुद्घात**—वेदना को लेकर होने वाले समुद्घात को वेदनासमुद्घात कहते हैं, यह असातावेदनीय कर्मों को लेकर होता है। तात्पर्य यह है कि वेदना से जब जीव पीड़ित हो, तब वह अनन्तानन्त (असातावेदनीय) कर्मस्कन्धों से व्याप्त अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर के भाग में भी फैलाता है। वे प्रदेश मुख, उदर आदि के छिद्रों में, तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालों में भरे रहते हैं। तथा लम्बाई-चौड़ाई (विस्तार) में शरीरपरिमित क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। जीव एक अन्तर्मुहूर्त्त तक इस अवस्था में ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त में वह असातावेदनीय कर्म के प्रचुर पुद्गलों को (उदीरणा से खींचकर उदयावलिका में प्रविष्ट करके वेदता है, इस प्रकार) अपने पर से झाड़ देता (निर्जरा कर लेता) है। इसी क्रिया का नाम वेदनासमुद्घात है।

२. **कषायसमुद्घात**—क्रोधादि कषाय के कारण मोहनीयकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को कषायसमुद्घात कहते हैं। अर्थात् तीव्र कषाय के उदय से ग्रस्त जीव जब क्रोधादियुक्त दशा में होता है, तब अपने आत्मप्रदेशों को बाहर फैलाकर तथा उनसे मुख, पेट आदि के छिद्रों में एवं कान तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालों में भर कर शरीर परिमित लम्बे व विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होकर जीव अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, उतने समय में प्रचुर कषाय-पुद्गलों को अपने पर से झाड़ देता है—निर्जरा कर लेता है। वही क्रिया कषायसमुद्घात है।

३. **मारणान्तिक-समुद्घात**—मरणकाल में अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट आयुकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। आयुष्य (कर्म) भोगते-भोगते जब अन्तर्मुहूर्त्त भर आयुष्य शेष रहता है, तब अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकालता है। वे प्रदेश मुख और उदर के छिद्रों तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तराल में भर कर विष्कम्भ (घेरा) और मोटाई में शरीर की अपेक्षा कम से कम अंगुल के असंख्यात भाग जितनी मोटी और अधिक से अधिक असंख्य योजन मोटी जगह में व्याप्त होकर जीव अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है, उतने समय में आयुष्यकर्म के प्रभूत पुद्गलों को अपने पर से झाड़ कर आयुकर्म की निर्जरा कर लेता है, इसी क्रिया को मारणान्तिक-समुद्घात कहते हैं।

४. **वैक्रिय-समुद्घात**—विक्रियाशक्ति का प्रयोग प्रारम्भ करने पर वैक्रियशरीरनामकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। वैक्रिय लब्धि वाला जीव अपने जीर्ण प्रायः शरीर को पुष्ट एवं

सुन्दर बनाने की इच्छा से अपने आत्मप्रदेशों को बाहर एक दंड के आकार में निकालता है। उस दण्ड को चौड़ाई और मोटाई तो अपने शरीर जितनी ही होने देता है, किन्तु लम्बाई संख्येय योजन करके वह अन्तर्मुहूर्त तक टिकता है और उतने समय में पूर्वबद्ध वैक्रियशरीर नामकर्म के स्थूल-पुद्गलों को अपने पर से झाड़ देता है और अन्य नये तथा सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। यही वैक्रिय-समुद्घात है।

५. **तैजस्समुद्घात**—तपस्वियों को प्राप्त होने वाली तेजोलेश्या (नाम की विभूति) का जब विनिर्गम होता है, तब 'तैजस-समुद्घात' होता है, जिसके प्रभाव से तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गल आत्मा से अलग होकर बिखर जाते हैं। अर्थात्—तेजोलेश्या की लब्धि वाला जीव ७-८ कदम पीछे हटकर घेरे और मोटाई में शरीरपरिमित और लम्बाई में संख्येय योजन परिमित जीवप्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकालकर क्रोध के वशीभूत होकर जीवादि को जलाता है और प्रभूत तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

६. **आहारक-समुद्घात**—चतुर्दशपूर्वधर साधु का आहारक शरीर होता है। आहारक लब्धिधारी साधु आहारक शरीर की इच्छा करके विष्कम्भ और मोटाई में शरीरपरिमित और लम्बाई में संख्येय योजन परिमित अपने आत्मप्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकाल कर पूर्वबद्ध एवं अपने पर रहे हुए आहारक-शरीर नामकर्म के पुद्गलों को झाड़ देता (निर्जरा कर लेता) है।

७. **केवलि-समुद्घात**—अन्तर्मुहूर्त्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली भगवान् के समुद्घात को केवलिसमुद्घात कहते हैं। वह वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को विषय करता है। अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी अपने अघाती कर्मों को सम करने के लिए, यानी वेदनीय, नाम, गोत्र, इन तीन कर्मों की स्थिति को आयुकर्म के बराबर करने के लिए यह समुद्घात करते हैं, जिसमें केवल ८ समय लगते हैं।[1]

स्पष्टता के लिए पृष्ठ २०२ की टिप्पणी देखिए—

---

१. (क) भगवती—सूत्र टीकानुवाद (पं. बेचरदास) भा. १, पृ. २६२ से २६४.
   (ख) प्रज्ञापना, पृ. टीका मलयगिरि. ७९३-९४

समुद्घातयंत्र

क्रम	नाम	किसको होते हैं ?	कितना समय	किस कर्म के कारण से	परिणाम
१.	वेदनासमुद्घात	सर्वछद्मस्थ जीवों को	अन्तर्मुहूर्त	असातावेदनीय कर्म से	असातावेदनीय कर्मपुद्गलों का नाश
२.	कषायसमुद्घात	"	"	कषाय नामक चारित्र-मोहनीय कर्म के कारण	कषायमोहकर्म के पुद्गलों का नाश
३.	मारणान्तिक समुद्घात	"	"	आयुष्यकर्म के कारण	आयुष्यकर्म के पुद्गलों का नाश
४	वैक्रियसमुद्घात	नारकों, चारों प्रकार के देवों, तिर्यंचपंचेन्द्रियों एवं छद्मस्थ मनुष्यों को।	"	वैक्रिय शरीर नामकर्म के कारण से	वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुराने पुद्गलों का नाश और नये पुद्गलों का ग्रहण
५.	तैजससमुद्घात	व्यन्तर ज्योतिष्क देवों, नारकों पंचेन्द्रियतिर्यंचों एवं छद्मस्थ मनुष्यों को	"	तैजस शरीर नामकर्म के कारण से	तैजस शरीर नामकर्म के पुद्गलों का नाश
६.	आहारकसमुद्घात	चतुर्दशपूर्वधर मनुष्यों को	"	आहारक शरीर नाम-कर्म के कारण से	आहारक शरीर नामकर्म के पुद्गलों का नाश
७.	केवलिसमुद्घात	केवलज्ञानी मनुष्यों को	आठ समय	आयुष्य के अतिरिक्त तीन अघातीकर्मों के कारण	आयुष्य के सिवाय तीन अघाती कर्म के पुद्गलों का नाश

॥ द्वितीय शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसो : पुढवी

तृतीय उद्देशक : पृथ्वी

सप्त नरकपृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन—

१—कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

जीवाभिगमे नेरइयाणं जो बितिओ उद्देसो सो नेयव्वो ।

पुढविं ओगाहित्ता निरया संठाणमेव वाहल्लं । जाव किं सव्वे पाणा उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ।

॥ बितीय सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१ उ.] गौतम ! जीवाभिगमसूत्र में नैरयिकों का दूसरा उद्देशक कहा है, उसमें पृथ्वी-सम्बन्धी (नरकभूमि से सम्वन्धित) जो वर्णन है, वह सब यहाँ जान लेना चाहिए । वहाँ (पृथ्वियों के भेद के उपरान्त) उनके संस्थान, मोटाई आदि का तथा यावत्-अन्य जो भी वर्णन है, वह सब यहाँ कहना चाहिए ।

[प्र.] भगवन् ! क्या सब जीव उत्पन्नपूर्व हैं ? अर्थात्—सभी जीव पहले रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] हाँ, गौतम ! सभी जीव रत्नप्रभा आदि नरकपृथ्वियों में अनेक वार अथवा अनन्त वार पहले उत्पन्न हो चुके हैं । यावत्-यहाँ जीवाभिगमसूत्र का पृथ्वी-उद्देशक कहना चाहिए ।[1]

विवेचन—सप्त नरक पृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक में एक सूत्र के द्वारा जीवाभिगम सूत्रोक्त नरकपृथ्वियोंसम्वन्धी समस्त वर्णन का निर्देश कर दिया गया है ।

संग्रहगाथा—जीवाभिगमसूत्र के द्वितीय उद्देशक में पृथ्वियों के वर्णनसम्वन्धी संग्रहगाथा इस प्रकार दी गई है—

'पुढवी ओगाहित्ता णिरया, संठाणमेव वाहल्लं ।[2]
विक्खंभ-परिक्खेवो, वण्णो गंधो य फासो य ॥'

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३० ।

२. यह आधी गाथा मूल पाठ में भी है ।

अर्थात्—(१) पृथ्वियाँ सात हैं, रत्नप्रभा आदि, (२) कितनी दूर जाने पर नरकावास हैं ? रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है, उसमें से एक हजार योजन ऊपर और नीचे छोड़कर बीच के १,७८,००० योजन में ३० लाख नरकावास हैं। शर्कराप्रभा की मोटाई १,३२,००० योजन, वालुकाप्रभा की १,२८,००० योजन, पंकप्रभा की १,२०,००० योजन, धूमप्रभा की १,१८,००० योजन, तमःप्रभा की १,१६,००० योजन, तमस्तमःप्रभा की १,०८,००० योजन है। (३) संस्थान-आवलिका प्रविष्ट नारकों का संस्थान गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण होता है। शेष नारकों का नाना प्रकार का। (४) बाहल्य (मोटाई)—प्रत्येक नरकावास की ३ हजार योजन है। (५) विष्कम्भ परिक्षेप—(लम्बाई-चौड़ाई और परिधि) कुछ नरकावास संख्येय (योजन) विस्तृत है, कुछ असंख्येय योजन विस्तृत हैं। (६) वर्ण—नारकों का वर्ण भयंकर काला, उत्कट रोमांचयुक्त (७) गन्ध—सर्पादि के मृत कलेवर से भी कई गुनी बुरी गन्ध। (८) स्पर्श—क्षुरधारा, खड्गधारा आदि से भी कई गुना तीक्ष्ण।

॥ द्वितीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसो : इंदिय

चतुर्थ उद्देशक : इन्द्रिय

इन्द्रियाँ और उनके संस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—

१—कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया पण्णत्ता, तं जहा—पढमिल्लो इंदियउद्देसओ नेयव्वो, संठाणं बाहल्लं पोहत्तं जाव अलोगो।

॥ बितीय सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१ उ.] गौतम ! पांच इन्द्रियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें, इन्द्रियपद का प्रथम उद्देशक कहना चाहिए। उसमें कहे अनुसार इन्द्रियों का संस्थान, बाहल्य (मोटाई), चौड़ाई, यावत् अलोक (द्वार) तक के विवेचन-पर्यन्त समग्र इन्द्रिय-उद्देशक कहना चाहिए।

विवेचन—इन्द्रियाँ और उनके संस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक में एक सूत्र में इन्द्रियों से सम्बन्धित समग्र वर्णन के लिए प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रिय-पद के प्रथम उद्देशक का निर्देश किया गया है।

इन्द्रियसम्बन्धी द्वारगाथा—प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रियपद के प्रथम उद्देशक में वर्णित ग्यारह इन्द्रियसम्बन्धित द्वारों की गाथा इस प्रकार है—

'संठाणं बाहल्लं पोहत्तं कइ-पएस ओगाढे।
अप्पाबहु पुट्ठ-पविट्ठ-विसय-अणगार-आहारे' ॥२०२॥

अद्दाय असी य मणी उडुपाणे तेल्ल फाणिय वसाय।
कंबल थूणा थिग्गल दीवोदहि लोगऽलोगे ॥२०३॥

अर्थात्—(१) संस्थान (आकारविशेष)—श्रोत्रेन्द्रिय का संस्थान कदम्बपुष्प के आकार का है, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल या चन्द्रमा के आकार का है, घ्राणेन्द्रिय का संस्थान अतिमुक्तक पुष्पवत् है; रसनेन्द्रिय का संस्थान क्षुरप्र (उस्तरे) के आकार का है और स्पर्शेन्द्रिय का संस्थान नाना प्रकार का है। (२) बाहल्य (मोटाई)—पाँचों इन्द्रियों की मोटाई अंगुल के असंख्यातवें भाग है। (३) विस्तार-लम्बाई—आदि की तीन इन्द्रियों की लम्बाई अंगुल के असंख्यातवें भाग है। रसनेन्द्रिय की अंगुल-पृथक्त्व (दो से नौ अंगुल तक) तथा स्पर्शेन्द्रिय की लम्बाई अपने-अपने शरीर-प्रमाण है।

(४) **कतिप्रदेश**—प्रत्येक इन्द्रिय अनन्त प्रदेशी है। (५) **अवगाढ**—प्रत्येक इन्द्रिय असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ है। (६) **अल्पबहुत्व**—सबसे कम अवगाहना चक्षुरिन्द्रिय की, उससे संख्यातगुणी अवगाहना क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय की है और उससे असंख्यातगुणी अवगाहना रसनेन्द्रिय की और उससे भी संख्यातगुणी स्पर्शेन्द्रिय की अवगाहना है। इसी प्रकार का अल्पबहुत्व प्रदेशों के विषय में समझना चाहिए। (७-८) **स्पृष्ट और प्रविष्ट**—चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ स्पृष्ट और प्रविष्ट विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात्—चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी हैं, शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। (९) **विषय**—श्रोत्रेन्द्रिय के ५, चक्षुरिन्द्रिय के ५, घ्राणेन्द्रिय के २, रसनेन्द्रिय के ५ और स्पर्शेन्द्रिय के ८ विषय हैं। पांचों इन्द्रियों का विषय जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है, उत्कृष्ट श्रोत्रेन्द्रिय का १२ योजन, चक्षुरिन्द्रिय का साधिक १ लाख योजन, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय का ९-९ योजन है। इतनी दूरी से ये स्वविषय को ग्रहण कर लेती हैं। इसके पश्चात्—(१०) अनगारद्वार, (११) आहारद्वार, (१२) आदर्शद्वार, (१३) असिद्वार, (१४) मणिद्वार, (१५) उदपान (दुग्धपान) द्वार, (१६) तैलद्वार, (१७) फाणितद्वार, (१८) वसाद्वार, (१९) कम्बल-द्वार, (२०) स्थूणाद्वार, (२१) थिग्गलद्वार, (२२) द्वीपोदधिद्वार, (२३) लोकद्वार और (२४) अलोकद्वार। यों अलोकद्वार पर्यन्त चौबीस द्वारों के माध्यम से इन्द्रियसम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रियपद के प्रथम-उद्देशक से जान लेना चाहिए।[1]

॥ द्वितीय शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३१, (ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय० वृत्ति, पत्रांक २९५ से ३०८ तक

पंचमो उद्देसो : नियंठ

पंचम उद्देशक : निर्ग्रन्थ

निर्ग्रन्थदेव-परिचारणासम्बन्धी परमतनिराकरण-स्वमतप्ररूपरण—

१. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भासंति पण्णवेंति परूवेंति—एवं खलु नियंठे कालगते समाणे देवब्भूएणं अप्पाणेणं से णं तत्थ णो अन्ने देवे, नो अन्नेसिं देवाणं देवीओ अहिजुंजिय २ परियारेइ १, णो अप्पणच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ २, अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ ३; एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो वेदे वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। एवं परउत्थियवत्तव्वया नेयव्वा जाव[1] इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि भा० प० परू०—एवं खलु निअंठे कालगए समाणे अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति महिड्ढिएसु जाव[2] महाणुभागेसु दूरगतीसु चिरट्ठितीएसु। से णं तत्थ देवे भवति महिड्ढीए जाव[3] दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे जाव पडिरूवे। से णं तत्थ अन्ने देवे, अन्नेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ १, अप्पणच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ २, नो अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ ३; एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा, जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ णो तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं पुरिसवेयं वेएइ णो तं समयं इत्थिवेयं वेदेइ, इत्थिवेयस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेएइ, पुरिसवेयस्स उदएणं नो इत्थिवेयं वेएइ। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेयं वा पुरिसवेयं वा। इत्थी इत्थिवेएणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिसवेएणं उदिण्णेणं इत्थिं पत्थेइ। दो वि ते अन्नमन्नं पत्थेंति, तं जहा—इत्थी वा पुरिसं, पुरिसे वा इत्थिं।

---

१. 'जाव' पद निम्नोक्त पाठ का सूचक है—"जं समयं इत्थिवेयं वेएइ, तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं पुरिसवेयं वेएइ, तं समयं इत्थिवेयं वेएइ, इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ, पुरिसवेयस्स वेएणाए इत्थीवेयं.......।'

२. 'जाव' पद से महज्जुइएसु महाबलेसु महासोक्खेसु इत्यादि पाठ समझना चाहिए।

३. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'महज्जुइए महाबले महायसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइयवच्छे (अथवा वत्थे) कडयतुडियथंभियभुए अंगयकुंडलमट्ठगंडकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउलिमउडे' इत्यादि यावत् रिद्धीए जईये पभाए छायाए अच्चीए तेएणं लेसाए.......।

[१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, भाषण करते हैं, बताते हैं और प्ररूपणा करते हैं कि कोई भी निर्ग्रन्थ (मुनि) मरने पर देव होता है और वह देव, वहाँ (देवलोक में) दूसरे देवों के साथ, या दूसरे देवों की देवियों के साथ, उन्हें वश में करके या उनका आलिंगन करके, परिचारणा (मैथुन-सेवन) नहीं करता, तथा अपनी देवियों को वश में करके या आलिंगन करके उनके साथ भी परिचारणा नहीं करता। परन्तु वह देव वैक्रिय से स्वयं अपने ही दो रूप बनाता है। (जिसमें एक रूप देव का और एक रूप देवी का बनाता है।) यों दो रूप बनाकर वह, उस वैक्रिय-कृत (कृत्रिम) देवी के साथ परिचारणा करता है। इस प्रकार एक जीव एक ही समय में दो वेदों का अनुभव (वेदन) करता है, यथा—स्त्री-वेद का और पुरुषवेद का। इस प्रकार परतीर्थिक की वक्तव्यता कहनी चाहिए, और वह—एक जीव एक ही समय में स्त्रीवेद और पुरुषवेद का अनुभव करता है,' यहाँ तक कहना चाहिए। भगवन् ! यह इस प्रकार कैसे हो सकता है? अर्थात् क्या यह अन्यतीर्थिकों का कथन सत्य है ?

[१ उ.] हे गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो यह कहते यावत् प्ररूपणा करते हैं कि—यावत् स्त्रीवेद और पुरुषवेद; (अर्थात्—एक ही जीव एक समय में दो वेदों का अनुभव करता है;) उनका वह कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बताता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि कोई एक निर्ग्रन्थ जो मरकर, किन्हीं महर्द्धिक यावत् महाप्रभावयुक्त, दूरगमन करने की शक्ति से सम्पन्न, दीर्घकाल की स्थिति (आयु) वाले देवलोकों में से किसी एक में देवरूप में उत्पन्न होता है, ऐसे देवलोक में वह महती ऋद्धि से युक्त यावत् दशों दिशाओं में उद्योत करता हुआ, विशिष्ट कान्ति से शोभायमान यावत् अतीव रूपवान् देव होता है। और वह देव वहाँ दूसरे देवों के साथ, तथा दूसरे देवों की देवियों के साथ, उन्हें वश में करके, परिचारणा करता है और अपनी देवियों को वश में करके उनके साथ भी परिचारणा करता है; किन्तु स्वयं वैक्रिय करके अपने दो रूप बनाकर परिचारणा नहीं करता, (क्योंकि) एक जीव एक समय में स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दोनों वेदों में से किसी एक वेद का ही अनुभव करता है। जब स्त्रीवेद को वेदता (अनुभव करता) है, तब पुरुषवेद को नहीं वेदता; जिस समय पुरुषवेद को वेदता है, उस समय स्त्रीवेद को नहीं वेदता। स्त्रीवेद के उदय होने से पुरुषवेद को नहीं वेदता और पुरुषवेद का उदय होने से स्त्रीवेद को नहीं वेदता। अतः एक जीव एक समय में स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दोनों वेदों में से किसी एक वेद को ही वेदता है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है, तब स्त्री, पुरुष की अभिलाषा करती है और जब पुरुष-वेद का उदय होता है, तब पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है। अर्थात्—(अपने-अपने वेद के उदय से) पुरुष और स्त्री परस्पर एक दूसरे की इच्छा करते हैं। वह इस प्रकार—स्त्री, पुरुष की और पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है।

विवेचन—देव की परिचारणा-सम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत सूत्र में अन्यतीर्थिकों का परिचारणा के सम्बन्ध में असंगत मत देकर, उसका निराकरण करते हुए भगवान् के मत का प्ररूपण किया गया है।

सिद्धान्त-विरुद्ध मत—भूतपूर्व निर्ग्रन्थ मरकर देव बनता है, तब वह न तो अन्य देव-देवियों के साथ परिचारणा करता है और न निजी देवियों के साथ। वह वैक्रियलब्धि से अपने दो रूप बनाकर परिचारणा करता है और इस प्रकार एक ही समय में स्त्रीवेद और पुरुषवेद, दोनों का अनुभव करता है।

सिद्धान्तानुकूल मत—वह देव अन्य देव-देवियों तथा निजी देवियों के साथ परिचारणा करता है किन्तु वैक्रिय से अपने ही दो रूप बनाकर परिचारणा नहीं करता, क्योंकि सिद्धान्ततः एक जीव एक समय में एक ही वेद का अनुभव कर सकता है, एक साथ दो वेदों का नहीं। जैसे परस्पर-निरपेक्ष—विरुद्ध वस्तुएँ एक ही समय में स्थान पर नहीं रह सकतीं, यथा—अन्धकार और प्रकाश, इसी तरह स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनों परस्परविरुद्ध हैं, अतः ये दोनों एक समय में एक साथ नहीं वेदे जाते।[1]

उदकगर्भ आदि की कालस्थिति का विचार—

२. उदगगब्भे णं भंते ! 'उदगगब्भे' त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

[२ प्र.] भगवन् ! उदकगर्भ (पानी का गर्भ) उदकगर्भ के रूप में कितने समय तक रहता है ?

[२ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक उदकगर्भ उदकगर्भरूप में रहता है।

३. तिरिक्खजोणियगब्भे णं भंते ! 'तिरिक्खजोणियगब्भे' त्ति कालओ केवच्चिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठ संवच्छराइं।

[३ प्र.] भगवन् ! तिर्यग्योनिकगर्भ कितने समय तक तिर्यग्योनिकगर्भरूप में रहता है ?

[३ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष तक तिर्यग्योनिकगर्भ तिर्यग्योनिकगर्भ-रूप में रहता है।

४. मणुस्सीगब्भे णं भंते ! 'मणुस्सीगब्भे' त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं।

[४ प्र.] भगवन् ! मानुषीगर्भ, कितने समय तक मानुषीगर्भरूप में रहता है ?

[४ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक मानुषीगर्भ मानुषीगर्भरूप में रहता है।

५. काय-भवत्थे णं भंते ! 'काय-भवत्थे' त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउव्वीसं संवच्छराइं।

[५ प्र.] भगवन् ! काय-भवस्थ कितने समय तक काय-भवस्थरूप में रहता है ?

[५ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौवीस वर्ष तक काय-भवस्थ काय-भवस्थ के रूप में रहता है।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३२

६. मणुस्स-पंचेंदियतिरिक्खजोणियबीए णं भंते ! जोणिब्भूए केवतियं कालं संचिट्ठइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।

[६ प्र.] भगवन् ! मानुषी और पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्ची-सम्बन्धी योनिगत बीज (वीर्य) योनिभूतरूप में कितने समय तक रहता है ?

[६ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक 'योनिभूत' रूप में रहता है।

विवेचन—उदकगर्भ आदि की कालस्थिति का विचार—प्रस्तुत पांच सूत्रों (२ से ६ तक) में उदकगर्भ, तिर्यग्योनिकगर्भ, मानुषीगर्भ, काय-भवस्थ एवं योनिभूत बीज की कालस्थिति का निरूपण किया गया है।

उदकगर्भ : कालस्थिति और पहचान—कालान्तर में पानी बरसने के कारणरूप पुद्गल-परिणाम को 'उदकगर्भ' कहते हैं। उसका अवस्थान (स्थिति) कम से कम एक समय, उत्कृष्टतः छह मास तक होता है। अर्थात्—वह कम से कम एक समय बाद बरस जाता है, अधिक से अधिक छह महीने बाद बरसता है।[1] 'मार्गशीर्ष और पौष मास में दिखाई देने वाला सन्ध्याराग, मेघ की उत्पत्ति (या कुण्डल से मुक्त मेघ) या मार्गशीर्ष मास में ठंड न पड़ना और पौष मास में अत्यन्त हिम-पात होना, ये सब उदकगर्भ के चिह्न हैं।'[1]

काय-भवस्थ—माता के उदर में स्थित निजदेह (गर्भ के अपने शरीर) में जन्म (भव) को 'कायभव' कहते हैं, उसी निजकाय में जो पुनः जन्म ले, उसे कायभवस्थ कहते हैं। जैसे—कोई जीव माता के उदर में गर्भरूप में आकर उसी शरीर में बारह वर्ष तक रहकर वहीं मर जाए, फिर अपने द्वारा निर्मित उसी शरीर में उत्पन्न होकर पुनः बारह वर्ष तक रहे। यों एक जीव अधिक से अधिक २४ वर्ष तक 'काय-भवस्थ' के रूप में रह सकता है।

योनिभूतरूप में बीज की कालस्थिति—मनुष्य या तिर्यंचपञ्चेन्द्रिय का मानुषी या तिर्यञ्ची की योनि में गया हुआ वीर्य बारह मुहूर्त्त तक योनिभूत रहता है। अर्थात्—उस वीर्य में बारह मुहूर्त्त तक सन्तानोत्पादन की शक्ति रहती है।[2]

मैथुनप्रत्ययिक सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं मैथुनसेवन से असंयम का निरूपण—

७. एगजीवे णं भंते ! एगभवग्गहणेणं केवतियाणं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छति ?

गोयमा ! जहन्नेणं इक्कस्स वा दोण्हं वा तिण्हं वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तस्स जीवाणं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छति।

[७ प्र.] भगवन् ! एक जीव, एक भव की अपेक्षा कितने जीवों का पुत्र हो सकता है ?

---

१. पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः।
नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं, पौषेऽतिहिमपातः॥

२. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३३

[७ उ.] गौतम ! एक जीव, एक भव में जघन्य एक जीव का, दो जीवों का अथवा तीन जीवों का, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ तक) जीवों का पुत्र हो सकता है।

८. [१] एगजीवस्स णं भंते ! एगभवग्गहणेणं केवइया जीवा पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं इक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जाव हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! इत्थीए य पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नामं संजोए समुप्पज्जइ। ते दुहओ सिणेहं संचिणंति, २ तत्थ णं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति। से तेणट्ठेणं जाव हव्वमागच्छंति।

[८-१ प्र.] भगवन् ! एक जीव के एक भव में कितने जीव पुत्ररूप में (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

[८-१ उ.] गौतम ! जघन्य एक, दो अथवा तीन जीव, और उत्कृष्ट लक्षपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्ररूप में (उत्पन्न) हो सकते हैं।

[८-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जघन्य एक..........यावत् दो लाख से नौ लाख तक जीव पुत्ररूप में (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

[८-२ उ.] हे गौतम ! कर्मकृत (नामकर्म से निष्पन्न अथवा कामोत्तेजित) योनि में स्त्री और पुरुष का जब मैथुनवृत्तिक (सम्भोग निमित्तक) संयोग निष्पन्न होता है, तब उन दोनों के स्नेह (पुरुष के वीर्य और स्त्री के रक्त=रज) का संचय (सम्बन्ध) होता है, फिर उसमें से जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्षपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्ररूप में उत्पन्न होते हैं। हे गौतम ! इसीलिए पूर्वोक्त कथन किया गया है।[1]

९. मेहुणं भंते ! सेवमाणस्स केरिसिए असंजमे कज्जइ ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं[2] समभिधंसेज्जा। एरिसए णं गोयमा ! मेहुणं सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

[९ प्र.] भगवन् ! मैथुनसेवन करते हुए जीव के किस प्रकार का असंयम होता है ?

---

१. आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार पुरुष के शुक्र में करोड़ों जीवाणु होते हैं, किन्तु वे धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं और एक या दो जीवाणु जीवित रहते हैं जो गर्भ रूप में आते हैं।

२. 'कणएणं' कनकः लोहमयः ज्ञेयः। कनक शब्द लोहमयी शलाका अर्थ में समझ लेना चाहिए। भगवती. प्रमेय चन्द्रिका टीका भा. २, पृ. ८३१ में 'कनकस्य शलाकार्थो लभ्यते' लिखा है। —भग. मू. पा. टि. पृ. ९९

[९ उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष तपी हुई सोने की (या लोहे की) सलाई (डालकर, उस) से वांस की रूई से भरी हुई नली या वूर नामक वनस्पति से भरी नली को जला (विध्वस्त कर) डालता है, हे गौतम ! ऐसा ही असंयम मैथुन सेवन करते हुए जीव के होता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', ऐसा कहकर—यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—मैथुन प्रत्ययिक सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं मैथुनसेवन से असंयम का निरूपण— प्रस्तुत तीन सूत्रों में से प्रथम दो सूत्रों में यह वताया गया है कि एक जीव के एक जन्म में कितने पुत्र (सन्तान) हो सकते हैं और उसका क्या कारण है ? तीसरे सूत्र में मैथुन-सेवन से कितना और किस प्रकार का असंयम होता है ? यह सोदाहरण वताया गया है।

एक जीव शतपृथक्त्व जीवों का पुत्र कैसे ?—गाय आदि की योनि में गया हुआ शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ तक) सांडों का वीर्य, वीर्य ही गिना जाता है, क्योंकि वह वीर्य वारह मुहूर्त्त तक वीर्यरूप पर्याय में रहता है। उस वीर्य पिण्ड में उत्पन्न हुआ एक जीव उन सवका (जिनका कि वीर्य गाय की योनि में गया है) पुत्र (सन्तान) कहलाता है। इस प्रकार एक जीव, एक ही भव में शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ) जीवों का पुत्र हो सकता है। अर्थात्—एक जीव के, एक ही भव में उत्कृष्ट नौ सौ पिता हो सकते हैं।

एक जीव के, एक ही भव में शत-सहस्रपृथक्त्व पुत्र कैसे ?—मत्स्य आदि जव मैथुनसेवन करते हैं तो एक वार के संयोग से उनके शत-सहस्रपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्र रूप से उत्पन्न होते हैं और जन्म लेते हैं। यह प्रमाण है—एक भव में एक जीव के उत्कृष्ट शतसहस्र-पृथक्त्व पुत्र होने का। यद्यपि मनुष्यस्त्री की योनि में भी वहुत-से जीव उत्पन्न होते हैं किन्तु जितने उत्पन्न होते हैं, वे सव के सव निष्पन्न नहीं होते (जन्म नहीं लेते)।

मैथुन सेवन से असंयम—मैथुनसेवन करते हुए पुरुष के मेहन (लिंग) द्वारा स्त्री की योनि में रहे हुए पंचेन्द्रिय जीवों का विनाश होता है, जिसे समझाने के लिए मूलपाठ में उदाहरण दिया गया है।[1]

तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों का जीवन—

१०. तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ वहिया जणवयविहारं विहरति।

[१०] इसके पश्चात् (एकदा) श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील उद्यान से निकालकर वाहर जनपदों में विहार करने लगे।

११. तेणं कालेणं २ तुंगिया[2] नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे णं तुंगियाए नगरीए

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३४

२. वनारस (वाराणसी या काशी) से ८० कोस दूर पाटलीपुत्र (पटना) नगर है, वहाँ से १० कोस दूर 'तुंगिया' नाम की नगरी है। —श्रीसम्मेतशिखर रास

वहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए पुप्फवतीए नामं चेतिए होत्था। वण्णओ। तत्थ णं तुंगियाए नगरीए बहवे समणोवासया परिवसंति अड्डा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवण-सयणाऽऽसण-जाण-वाहणाइण्णा बहुधण-बहुजायरूव-रयया आयोग-पयोगसंपउत्ता विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलयप्पभूता बहुजणस्स अपरिभूता अभिगतजीवाजीवा उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-संवर-निज्जर-किरियाहिकरण-बंधमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथातो पावयणातो अणतिक्कमणिज्जा, णिग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिता निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहितट्ठा पुच्छितट्ठा अभिगतट्ठा विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता—'अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे,' ऊसियफलिहा अवंगुतदुवारा चियत्तंतेउर-घरप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं चाउद्दसऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, समणे निग्गंथे फासुएउणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंवल-पादपुंछणेणं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगेणं ओसह-भेसज्जेण य पडिलाभेमाणा,[1] अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

[११] उस काल उस समय में तुंगिया (तुंगिका) नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। उस तुंगिका नगरी के वाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग (ईशान कोण) में पुष्पवतिक नाम का चैत्य (उद्यान) था। उसका वर्णन समझ लेना चाहिए।

उस तुंगिकानगरी में बहुत-से श्रमणोपासक रहते थे। वे आढ्य (विपुल धनसम्पत्ति वाले) और दीप्त (प्रसिद्ध या दृप्त—स्वाभिमानी) थे। उनके विस्तीर्ण (विशाल) विपुल (अनेक) भवन थे। तथा वे शयनों (शयन सामग्री), आसनों, यानों (रथ, गाड़ी आदि), तथा वाहनों (वैल, घोड़े आदि) से सम्पन्न थे। उनके पास प्रचुर धन (रुपये आदि सिक्के), बहुत-सा सोना-चाँदी आदि था। वे आयोग (रुपया उधार देकर उसके व्याज आदि द्वारा दुगुना तिगुना अर्थोपार्जन करने का व्यवसाय) और प्रयोग (अन्य कलाओं का व्यवसाय) करने में कुशल थे। उनके यहाँ विपुल भात-पानी (खान-पान) तैयार होता था, और वह अनेक लोगों को वितरित किया जाता था। उनके यहाँ बहुत-सी दासियाँ (नौकरानियाँ) और दास (नौकर-चाकर) थे; तथा बहुत-सी गायें, भैंसे, भेड़ें और वकरियाँ आदि थीं। वे बहुत-से मनुष्यों द्वारा भी अपरिभूत (पराभव नहीं पाते=दवते नहीं) थे। वे जीव (चेतन) और अजीव (जड़) के स्वरूप को भलीभाँति जानते थे। उन्होंने पुण्य और पाप का तत्त्व उपलब्ध कर लिया था। वे आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के विषय में कुशल थे। (अर्थात्—इनमें से हेय, ज्ञेय और उपादेय को सम्यक् रूप से जानते थे।) वे (किसी भी कार्य में दूसरों से) सहायता की अपेक्षा नहीं रखते थे। (वे निर्ग्रन्थ प्रवचन में इतने दृढ़ थे कि) देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग, आदि देवगणों के द्वारा निर्ग्रन्थप्रवचन से अनतिक्रमणीय (विचलित नहीं किये जा सकते) थे। वे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति निःशंकित थे, निष्कांक्षित थे, तथा विचिकित्सारहित (फलाशंकारहित) थे। उन्होंने शास्त्रों के अर्थों

---

१. पाठान्तर—'बहूहिं सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णिमासिणीसु अधापरिग्गहितेणं पोसहोववासेणं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।'

को भलीभांति उपलब्ध कर लिया था, शास्त्रों के अर्थों को (दत्तचित्त होकर) ग्रहण कर लिया था। (शास्त्रों के अर्थों में जहाँ सन्देह था, वहाँ) पूछकर उन्होंने यथार्थ निर्णय कर लिया था। उन्होंने शास्त्रों के अर्थों और उनके रहस्यों को निर्णयपूर्वक जान लिया था। उनकी हड्डियाँ और मज्जाएँ (नसें) (निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति) प्रेमानुराग में रंगी हुई (व्याप्त) थीं। (इसीलिए वे कहते थे कि—) 'आयुष्मान् बन्धुओ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ (सार्थक) है, यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ (निरर्थक) हैं।' वे इतने उदार थे कि उनके घरों में दरवाजों के पीछे रहने वाली अर्गला (आगल-भोगल) सदैव ऊँची रहती थी। उनके घर के द्वार (याचकों के लिए) सदा खुले रहते थे। उनका अन्तःपुर तथा परगृह में प्रवेश (अतिधार्मिक होने से) लोकप्रीतिकर (विश्वसनीय) होता था। वे शीलव्रत (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, विरमणव्रत (अणुव्रत), प्रत्याख्यान (त्याग-नियम), पौषधोपवास आदि का सम्यक् आचरण करते थे, तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियों में (प्रतिमास छह) प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन (आचरण) करते थे। वे श्रमण निर्ग्रन्थों को (उनके कल्पानुसार) प्रासुक (अचित्त) और एषणीय (एषणा दोषों से रहित) अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ (चौकी या बाजोट) फलक (पट्टा या तख्त), शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज आदि प्रतिलाभित करते (देते) थे; और यथाप्रतिगृहीत (अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण किये हुए) तपःकर्मों से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते (जीवनयापन करते) थे।

विवेचन—तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों का जीवन—प्रस्तुत दो सूत्रों (१० और ११) में से प्रथम में श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह से अन्यत्र विहार का सूचन है, और द्वितीय में भगवान् महावीर के तुंगिकानगरी निवासी श्रमणोपासकों का जीवन आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि विविध पहलुओं से चित्रित किया गया है।

कठिन शब्दों के दूसरे अर्थ—'**विच्छिण्णविपुल भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे**=जिनके घर विशाल और ऊँचे थे, तथा जिनके शयन, आसन, यान और वाहन प्रचुर थे। **विच्छड्डियविउलभत्त-पाणा**=उनके यहाँ बहुत-सा भात-पानी (याचकों को देने के लिए) छोड़ा जाता था। अथवा जिनके यहाँ अनेक लोग भोजन करते थे, इसलिए बहुत-सा भात-पानी बचता था। अथवा जिनके यहाँ विविध प्रकार का प्रचुर खान-पान होता था। **असहेज्ज-देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाईएहिं**—आपत्ति में भी देवादिगणों की सहायता से निरपेक्ष थे, अर्थात्—'स्वकृत कर्म स्वयं ही भोगना होगा', इस तत्त्व पर स्थित होने से वे अदीनमनोवृत्ति वाले थे। अथवा परपाषण्डियों द्वारा आक्षेपादि होने पर वे सम्यक्त्व की रक्षा के लिए दूसरों की सहायता नहीं लेते थे, क्योंकि वे स्वयं उनके आक्षेपादि निवारण में समर्थ थे। **सुवण्ण**=अच्छे वर्ण वाले ज्योतिष्क देव। **गरुल**=गरुड़—सुपर्णकुमार। **अट्ठिमिज्जपेमाणु रागरत्ता**=उनकी हड्डियाँ और उनमें रहा हुआ धातु=मिज्जा, ये सर्वज्ञप्रवचनों पर प्रतीतिरूप कसुम्बे के रंग से रंगे हुए थे। **ऊसिअफलिहा**=अत्यन्त उदारता से अतिशय दान देने के कारण घर में भिक्षुकों के निराबाध प्रवेश के लिए जिन्होंने दरवाजे की अर्गला हटा दी थी। **चियत्तंतेउर-घरप्पवेसा**=जिनके अन्तःपुर या घर में कोई सत्पुरुष प्रवेश करे तो उन्हें अप्रीति नहीं होती थी, क्योंकि उन्हें ईर्ष्या नहीं होती। अथवा जिन्होंने दूसरों के अन्तःपुर या घर में प्रवेश करना छोड़ दिया था। अथवा वे किसी के घर में या अन्तःपुर में प्रवेश करें तो अतीव

धर्मनिष्ठ होने के कारण उसे प्रसन्नता होती थी, शंका नहीं। उद्दिट्ठा=अमावस्या (उद्दिष्टा)। अहिकरण=क्रिया का साधन।[1]

तुंगिका में अनेक गुणसम्पन्न पार्श्वापत्यीय स्थविरों का पदार्पण—

१२. तेणं कालेणं २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना रूवसंपन्ना विणयसंपन्ना णाणसंपन्ना दंसणसंपन्ना चरित्तसंपन्ना लज्जासंपन्ना लाघवसंपन्ना ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जितकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जितिंदिया जितपरीसहा जीवियासा-मरणभयविप्पमुक्का जाव[2] कुत्तियावणभूता बहुस्सुया बहुपरिवारा, पंचहिं अणगारसतेहिं सद्धि संपरिवुडा, अहाणुपुव्वि चरमाणा, गामाणुगामं दूइज्जमाणा, सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया नगरी, जेणेव पुप्फवतीए चेतिए तेणेव उवागच्छंति, २ अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

[१२] उस काल और उस समय में पार्श्वापत्यीय (भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवान् पांच सौ अनगारों के साथ यथाक्रम से चर्या करते हुए, ग्रामानुग्राम जाते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए जहाँ तुंगिका नगरी थी और जहाँ (उसके बाहर ईशानकोण में) पुष्पवतिक चैत्य (उद्यान) था, वहाँ पधारे। वहाँ पधारते ही यथानुरूप अवग्रह (अपने अनुकूल मर्यादित स्थान की याचना करके आज्ञा) लेकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ विहरण करने लगे। वे स्थविर भगवन्त जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, लज्जासम्पन्न, लाघवसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी (विशिष्ट प्रभाव युक्त) और यशस्वी थे। उन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ, निद्रा, इन्द्रियों और परीषहों को जीत लिया था। वे जीवन (जीने) की आशा और मरण के भय से विमुक्त थे, यावत् (यहाँ तक कि) वे कुत्रिकापण-भूत (जैसे कुत्रिकापण में तीनों लोकों की आवश्यक समस्त वस्तुएँ मिल जाती हैं, वैसे ही वे समस्त अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति में समर्थ अथवा समस्त गुणों की उपलब्धि से युक्त) थे। वे बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले थे।

विवेचन—तुंगिका में अनेक गुणसम्पन्न पार्श्वापत्यीय स्थविरों का पदार्पण—प्रस्तुत सूत्र में अनेक श्रमणगुणों के धनी पार्श्वनाथ-शिष्यानुशिष्य श्रुतवृद्ध स्थविरों का वर्णन किया गया है। **कुत्रिकापण**=कु=पृथ्वी, त्रिक=तीन, आपण=दूकान। अर्थात्—जिसमें तीनों लोक की वस्तुएँ मिलें, ऐसी देवाधिष्ठित दूकान को कुत्रिकापण कहते हैं। **वच्चंसी**=वर्चस्वी, वचस्वी (वाग्मी), अथवा वृत्तस्वी (वृत्त-चारित्र रूपी धन वाले)।[3]

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३५-१३६

२. 'जाव' शब्द से यहाँ स्थविरों के ये विशेषण और समझ लेने चाहिए—"तवप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा निग्गहप्पहाणा निच्छयप्पहाणा मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा एवं विज्जा-मंत-वेय-बंभ-नय-नियम-सच्च-सोयप्पहाणा चारुप्पण्णा सोही अणियाणा अप्पुस्सुया अवहिल्लेसा सुसामण्णरया अच्छिद्दपसिणवागरणा कुत्तियावण०"—भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १३६

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १३६-१३७

तुंगिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरों की सेवा में—

१३. तए णं तुंगियाए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-महापहपहेसु जाव[1] एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति।

[१३] तदनन्तर तुंगिकानगरी के शृंगाटक (सिंघाड़े के आकार वाले त्रिकोण) मार्ग में, त्रिक (तीन मार्ग मिलते हैं, ऐसे) रास्तों में, चतुष्क पथों (चार मार्ग मिलते हैं, ऐसे चौराहों) में तथा अनेक मार्ग मिलते हैं, ऐसे मार्गों में, राजमार्गों में एवं सामान्य मार्गों में (सर्वत्र उन स्थविर भगवन्तों के पदार्पण की) बात फैल गई। जनता एक ही दिशा में उन्हें वन्दन करने के लिए जाने लगी है।

१४. तए णं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा जाव[2] सद्दावेंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना जाव[3] अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं थेराणं भगवंताणं णाम-गोत्तस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमण-वंदण-नमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए? जाव[4] गहणयाए?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! थेरे भगवंते वंदामो नमंसामो जाव[5] पज्जुवासामो, एयं णं इहभवे वा परभवे वा जाव[6] अणुगामियत्ताए भविस्सतीति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, २ जेणेव सयाइं सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, २ ण्हाया कयबलिकम्मा कतकोउयमंगलपायच्छित्ता, सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया, अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सएहिं २ गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति, २ त्ता एगतओ मेलायंति, २ पायविहारचारेणं तुंगियाए नगरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, २ जेणेव पुप्फवतीए चेतिए तेणेव उवागच्छंति, २ थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति, तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणताए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणताए २ एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे अंजलिप्पग्गहेणं ४ मणसो एगत्तीकरणेणं ५; जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, २

---

१ 'जाव' शब्द यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'बहुजणसद्दे इ वा जणवोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४ एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना'……इत्यादि पाठ सू. १२ के प्रारम्भ में उक्त पाठ 'विहरंति' तक समझना चाहिए।

२. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ-सूचक है—'चित्तमाणंदिआ णंदिआ परमाणंदिआ पीइमणा परमसोमणसिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया धाराहयनीवसुरहिकुसुमचंचुमालइयतणू ऊससियरोमकूवा।'

३. यहाँ 'जाव' पद 'जातिसंपन्ना' (सू. १२) से लेकर 'अहापडिरूवं' तक का बोधक है।

४. 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त पाठ समझें—'एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणताए किमंग पुण विउलस्स अत्थस्स गहणयाए।'

५. 'जाव' पद निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो।'

६. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए।'

तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेंति, २ जाव[1] तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासेंति,[2] तं जहा—काइ० वाइ० माण०। तत्थ काइयाए-संकुचियपाणि-पाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएण पंजलिउडे पज्जुवासंति। वाइयाए—जं जं भगवं वागरेति 'एवमेयं भंते !, तहमेयं भं० !, अवितहमेयं भं० !, असंदिद्धमेयं भं० !, इच्छियमेयं भं० !, पडिच्छियमेयं भं० !, इच्छियपडिच्छियमेयं भं० !, वायाए अपडिकूलेमाणा विणएणं पज्जुवासंति। माणसियाए—संवेगं जणयंता तिव्वधम्माणुरागरत्ता विगह-विसोत्तियपरिवज्जियमई अन्नत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणा विणएणं पज्जुवासंति।

[१४] जब यह बात तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों को ज्ञात हुई तो वे अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् परस्पर एक दूसरे को बुलाकर इस प्रकार कहने लगे—हे देवानुप्रियो ! (सुना है कि) भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवन्त, जो कि जातिसम्पन्न आदि विशेषण-विशिष्ट हैं, यावत् (यहाँ पधारे हैं) और यथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विहरण करते हैं। हे देवानुप्रियो ! तथारूप स्थविर भगवन्तों के नाम-गोत्र के श्रवण से भी महाफल होता है, तब फिर उनके सामने जाना, वन्दन-नमस्कार करना, उनका कुशल-मंगल (सुख-साता) पूछना और उनकी पर्युपासना (सेवा) करना, यावत्……उनसे प्रश्न पूछ कर अर्थ-ग्रहण करना, इत्यादि बातों के (अवश्य कल्याण रूप) फल का तो कहना ही क्या ? अतः हे देवानुप्रियो ! हम सब उन स्थविर भगवन्तों के पास चलें और उन्हें वन्दन-नमस्कार करें, यावत् उनकी पर्युपासना करें। ऐसा करना अपने लिए इस भव में तथा परभव में हित-रूप होगा; यावत् परम्परा से (परलोक में कल्याण का) अनुगामी होगा।

इस प्रकार बातचीत करके उन्होंने उस बात को एक दूसरे के सामने (परस्पर) स्वीकार किया। स्वीकार करके वे सब श्रमणोपासक अपने-अपने घर गए। घर जाकर स्नान किया, फिर बलिकर्म (कौए, कुत्ते, गाय आदि को अन्नादि दिया, अथवा स्नान से सम्बन्धित तिलक, छापा आदि कार्य) किया। (तदनन्तर दुःस्वप्न आदि के फलनाश के लिए) कौतुक और मंगल-रूप प्रायश्चित्त किया। फिर शुद्ध (स्वच्छ), तथा धर्मसभा आदि में प्रवेश करने योग्य (अथवा शुद्ध आत्माओं के पहनने योग्य) एवं श्रेष्ठ वस्त्र पहने। थोड़े-से, (या कम वजन वाले) किन्तु बहुमूल्य आभरणों (आभूषणों) से शरीर को विभूषित किया। फिर वे अपने-अपने घरों से निकले, और एक जगह मिले। (तत्पश्चात्) वे सम्मिलित होकर पैदल चलते हुए तुंगिका नगरी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ पुष्पवतिक चैत्य था, वहाँ आए। (वहाँ) स्थविर भगवन्तों (को दूर से देखते ही, उन) के पास पांच प्रकार के

---

१. 'जाव' पद से यह पाठ समझना चाहिए—'वंदंति णमंसंति णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा।'

२. 'तं जहा' से लेकर 'पज्जुवासंति' तक का पाठ अन्य प्रतियों में नहीं है। औपपातिक सूत्र से उद्धृत किया हुआ प्रतीत होता है।—"तं जहा—काइयाए वाइयाए माणसियाए। काइयाए ताव संकुइअग्गहत्थ-पाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ। वाइयाए जं जं भगवं वागरेइ एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! इच्छिअमेअं भंते ! पडिच्छिअमेअं भंते ! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते ! से जहेयं तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासति। माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुराग-रत्तो पज्जुवासइ।"

अभिगम करके गए। वे (पांच अभिगम) इस प्रकार हैं—(१) (अपने पास रहे हुए) सचित्त द्रव्यों (फूल, ताम्बूल आदि) का त्याग करना, (२) अचित्त द्रव्यों (सभाप्रवेश योग्य वस्त्रादि) का त्याग न करना—साथ में रखना (अथवा मर्यादित करना); (३) एकशाटिक उत्तरासंग करना (एक पट के विना सिले हुए वस्त्र—दुपट्टे को (यतनार्थ मुख पर रखना); (४) स्थविर-भगवन्तों को देखते ही दोनों हाथ जोड़ना, तथा (५) मन को एकाग्र करना।

यों पांच प्रकार का अभिगम करके वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तों के निकट पहुँचे। निकट आकर उन्होंने दाहिनी ओर से तीन वार उनकी प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया यावत् कायिक, वाचिक और मानसिक, इन तीनों प्रकार से उनकी पर्युपासना करने लगे। वे हाथ-पैरों को सिकोड़ कर शुश्रूषा करते हुए, नमस्कार करते हुए, उनके सम्मुख विनय से हाथ जोड़कर काया से पर्युपासना करते हैं। जो-जो बातें स्थविर भगवान् फरमा रहे थे, उसे सुनकर—'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह तथ्य है, यही सत्य है, भगवन्! यह असंदिग्ध है, भगवन्! यह इष्ट है, यह प्रतीष्ट (अभीष्ट) है, हे भगवन्! यही इष्ट और विशेष इष्ट है,' इस प्रकार वाणी से अप्रतिकूल (अनुकूल) होकर विनयपूर्वक वाणी से पर्युपासना करते हैं तथा मन से (हृदय में) संवेगभाव उत्पन्न करते हुए तीव्र धर्मानुराग में रंगे हुए विग्रह (कलह) और प्रतिकूलता (विरोध) से रहित बुद्धि होकर, मन को अन्यत्र कहीं न लगाते हुए विनयपूर्वक (मानसिक) उपासना करते हैं।

विवेचन—तुंगिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरों की सेवा में—प्रस्तुत दो सूत्रों में शास्त्रकार ने तुंगिका के श्रमणोपासकों द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर-मुनियों के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, वन्दन-नमन, विनयभक्ति पर्युपासना आदि को महाकल्याणकारक फलदायक समझकर उनके गुणों से आकृष्ट होकर उनके दर्शन, वन्दना, पर्युपासना आदि के लिए पहुँचने का वर्णन किया है। इस वर्णन से भगवान् महावीर के श्रमणोपासकों की गुणग्राहकता, उदारता, नम्रता और शिष्टता का परिचय मिलता है। पार्श्वनाथतीर्थ के साधुओं को भी उन्होंने स्वतीर्थीय साधुओं की तरह ही वन्दना-नमस्कार, विनयभक्ति एवं पर्युपासना की थी। साम्प्रदायिकता की गन्ध तक न आने दी।[1]

कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता—दो विशेष अर्थ—(१) उन्होंने दुःस्वप्न आदि के दोष निवारणार्थ कौतुक और मंगलरूप प्रायश्चित्त किया, (२) उन्होंने कौतुक अर्थात् मषी का तिलक[2] और मंगल अर्थात्—दही, अक्षत, दूव के अंकुर आदि मांगलिक पदार्थों से मंगल किया और पायच्छित्त यानी पादच्छुप्त=एक प्रकार के पैरों पर लगाने के नेत्र दोष निवारणार्थ तेल का लेपन किया।

१५. तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महतिमहालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति, जहा केसिसामिस्स जाव[3] समणोवासियत्ताए आणाए आराहगे भवंति जाव धम्मो कहिओ।

---

१. भगवतीसूत्र टीकाऽनुवाद (पं. वेचरदासजी) खण्ड १, पृ. २८७

२. काजल की टिकी—नजर दोष से बचने के लिए लगाई जाती है।

३. 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त राजप्रश्नीय सूत्र(पृ. १२०)में उल्लिखित केशीस्वामि-कथित धर्मोपदेशादि का वर्णन समझना चाहिए—'तीसे महतिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं.......सव्वाओ वहिद्धादाणाओ वेरमणं.......' इत्यादि—भगवती मू. पा. टि. पृ. १०३-१०४

[१५] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तों ने उन श्रमणोपासकों तथा उस महती परिषद् (धर्मसभा) को केशीश्रमण की तरह चातुर्याम-धर्म (चार याम वाले धर्म) का उपदेश दिया। यावत्....वे श्रमणोपासक अपनी श्रमणोपासकता द्वारा (उन स्थविर भगवन्तों की) आज्ञा के आराधक हुए। यावत् धर्म-कथा पूर्ण हुई।

तुंगिका के श्रमणोपासकों के प्रश्न और स्थविरों के उत्तर—

१६. तए णं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हयहिदया तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, २ जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति, २ एवं वदासी—

संजमे णं भंते ! किंफले ? तवे णं भंते ! किंफले ?

तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वदासी—संजमे णं अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले।

[१६] तदनन्तर वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तों से धर्मोपदेश सुनकर एवं हृदयंगम करके बड़े हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् उनका हृदय खिल उठा और उन्होंने स्थविर भगवन्तों की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, यावत् (पूर्वोक्तानुसार) तीन प्रकार की उपासना द्वारा उनकी पर्युपासना की और फिर इस प्रकार पूछा—

[प्र.] भगवन् ! संयम का क्या फल है ? भगवन् ! तप का क्या फल है ?

[उ.] इस पर उन स्थविर भगवन्तों ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—'हे आर्यो ! संयम का फल अनाश्रवता (आश्रवरहितता—संवरसम्पन्नता) है। तप का फल व्यवदान (कर्मों को विशेषरूप से काटना या कर्मपंक से मलिन आत्मा को शुद्ध करना) है।

१७. [१] तए णं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वदासी—जइ णं भंते ! संजमे अणण्हयफले, तवे वोदाणफले किंपत्तियं णं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ?

[१७-१ प्र.] (स्थविर भगवन्तों से उत्तर सुनकर) श्रमणोपासकों ने उन स्थविर भगवन्तों से (पुनः) इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! यदि संयम का फल अनाश्रवता है और तप का फल व्यवदान है तो देव देवलोकों में किस कारण से उत्पन्न होते हैं ?'

[२] तत्थ णं कालियपुत्ते नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति।

[१७-२ उ.] (श्रमणोपासकों का प्रश्न सुनकर) उन स्थविरों में से कालिकपुत्र नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से यों कहा—'आर्यो ! पूर्वतप के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं।'

[३] तत्थ णं मेहिले नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—पुव्वसंजमेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति।

[१७-३ उ.] उनमें से मेहिल (मेधिल) नाम के स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! पूर्व-संयम के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं।'

[४] तत्थ णं आणंदरक्खिए णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ।

[१७-४ उ.] फिर उनमें से आनन्दरक्षित नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! कर्मिता (कर्मों की विद्यमानता या कर्म शेष रहने) के कारण देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं ।

[५] तत्थ णं कासवे णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति । सच्चे णं एस अट्ठे, नो चेव णं आतभाववत्तव्वयाए ।

[१७-५ उ.] उनमें से काश्यप नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से यों कहा—'आर्यो ! संगिता (द्रव्यादि के प्रति रागभाव=आसक्ति) के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार हे आर्यो ! (वास्तव में) पूर्व (रागभावयुक्त) तप से, पूर्व (सराग) संयम से, कर्मिता (कर्मक्षय न होने से या कर्मों के रहने) से, तथा संगिता (द्रव्यासक्ति) से, देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं । यह बात (अर्थ) सत्य है । इसलिए कही है, हमने अपना आत्मभाव (अपना अहंभाव या अपना अभिप्राय) बताने की दृष्टि से नहीं कही है ।'

१८. तए णं ते समणोवासया थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति, २ पसिणाइं पुच्छंति, २ अट्ठाइं उवादियंति, २ उट्ठाए उट्ठेंति, २ थेरे भगवंते तिक्खुत्तो वंदंति णमंसंति, २ थेराणं भगवंताणं अंतियाओ पुप्फवतियाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ।

[१८] तत्पश्चात् वे श्रमणोपासक, स्थविर भगवन्तों द्वारा (अपने प्रश्नों के) कहे हुए इन और ऐसे उत्तरों को सुनकर बड़े हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए और स्थविर भगवन्तों को वन्दना नमस्कार करके अन्य प्रश्न भी पूछते हैं, प्रश्न पूछ कर फिर स्थविर भगवन्तों द्वारा दिये गये उत्तरों (अर्थों) को ग्रहण करते हैं । तत्पश्चात् वे वहाँ से उठते हैं और तीन वार वन्दना-नमस्कार करते हैं । फिर वे उन स्थविर भगवन्तों के पास से और उस पुष्पवतिक चैत्य से निकलकर जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में वापस (अपने-अपने स्थान पर) लौट गए ।

१९. तए णं ते थेरा अन्नया कयाइ तुंगियाओ पुप्फवतिचेइयाओ पडिनिग्गच्छंति, २ बहिया जणवयविहारं विहरंति ।

[१९] इधर वे स्थविर भगवन्त भी किसी एक दिन तुंगिका नगरी के उस पुष्पवतिक चैत्य से निकले और बाहर (अन्य) जनपदों में विचरण करने लगे ।

विवेचन—तुंगिका के श्रमणोपासकों के प्रश्न और स्थविरों के उत्तर—प्रस्तुत पांच सूत्रों (१५ से १९ तक) में तुंगिका के श्रमणोपासकों द्वारा स्थविरों का धर्मोपदेश सुनकर उनसे सविनय पूछे गये प्रश्नों तथा उनके द्वारा विभिन्न अपेक्षाओं से दिये गये उत्तरों का निरूपण है ।

देवत्व किसका फल ? संयम और तप का फल श्रमणोपासकों द्वारा पूछे जाने पर स्थविरों ने क्रमशः अनाश्रवत्व एवं व्यवदान बताया। इस पर श्रमणोपासकों ने पुनः प्रश्न उठाया—संयम और तप का फल यदि संवर और व्यवदान निर्जरा है तो देवत्व की प्राप्ति कैसे होती है ? इस पर विभिन्न स्थविरों ने पूर्वतप, और पूर्वसंयम को देवत्व का का कारण बताया। इसका आशय है—वीतरागदशा से पूर्व किया गया तप और संयम। ये दोनों (पूर्वतप और पूर्वसंयम) सरागदशा में सेवित होने से देवत्व के कारण है। जबकि पश्चिम तप और पश्चिम संयम रागरहित स्थिति में होते हैं। उनका फल अनाश्रवत्व और व्यवदान है। वास्तव में देवत्व के साक्षात्कारण कर्म और संग (रागभाव) हैं। शुभ कर्मों का पुंज बढ़ जाता है, वह क्षीण नहीं किया जाता, साथ ही संयम आदि से युक्त होते हुए भी व्यक्ति अगर समभाव (संग या आसक्ति) से युक्त है तो वह देवत्व का कारण बनता है।

व्यवदान—'दाप्' धातु काटने और दैप् शोधन करने अर्थ है, इसलिए व्यवदान का अर्थ—कर्मों को काटना अथवा कार्यों के कचरें को साफ करना है।[1]

राजगृह में गौतम स्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन—

२०. तेणं कालेणं २ रायगिहे नामं नगरे जाव परिसा पडिगया।

[२०] उस काल, उस समय में राजगृह नामक नगर था। वहाँ (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् वन्दना करने गई) यावत् (धर्मोपदेश सुनकर) परिषद् वापस लौट गई।

२१. तेणं कालेणं २ समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती-नामं अणगारे जाव[2] संखित्तविउलतेयलेस्से छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे जाव विहरति।

[२१] उस काल, उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) इन्द्रभूति नामक अनगार थे। वे यावत्···वे विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर में संक्षिप्त (समेट) करके रखते थे। वे निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) के तपश्चरण से तथा संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए यावत् विचरते थे।

२२. तए णं से भगवं गोतमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियायइ, ततियाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेति, २

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३८-१३९

(ख) आचार्य ने कहा है—

पुव्व-तव-संजमा होंति रागिणो पच्छिमा अरागस्स।
रागो संगो वुत्तो संगा कम्मं भवो तेण॥

(ग) तुलना—सरागसंयम-संयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसिदैवस्य।'— —तत्त्वार्थ सूत्र अ, ६ सूत्र. २०

२. 'जाव' पद.सूचक पाठ—"गोयमसगोत्ते सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वइरोसहनारायसंघयणे कणगपुलकनिग्घसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे घोरतवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी उच्छूढसरीरे"— —औप. पृ. ८३

भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ, २ भायणाइं पमज्जति, २ भायणाइं उग्गाहेति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

[२२] इसके पश्चात् छट्ठ (वेले) के पारणे के दिन भगवान् (इन्द्रभूति) गौतमस्वामी ने प्रथम प्रहर (पौरुषी) में स्वाध्याय किया; द्वितीय प्रहर (पौरुषी) में ध्यान ध्याया (किया;) और तृतीय प्रहर (पौरुषी) में शारीरिक शीघ्रता-रहित, मानसिक चपलतारहित, आकुलता (हड़बड़ी) से रहित होकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की; फिर पात्रों और वस्त्रों की प्रतिलेखना की; तदनन्तर पात्रों का प्रमार्जन किया और फिर उन पात्रों को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। वहाँ आकर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार निवेदन किया—'भगवन् ! आज मेरे छट्ठ तप (वेले) के पारणे का दिन है। अतः आप से आज्ञा प्राप्त होने पर मैं राजगृह नगर में उच्च, नीच और मध्यम कुलों के गृहसमुदाय में भिक्षाचर्या की विधि के अनुसार, भिक्षाटन करना (भिक्षा लेने के निमित्त जाना) चाहता हूँ।'

(इस पर भगवान् ने कहा—) हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसे करो; किन्तु विलम्ब मत करो।'

२३. तए णं भगवं गोतमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसिलाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ, २ अतुरितमचवलमसंभंते जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरतो रियं सोहेमाणे २ जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छइ, २ रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडति।

[२३] भगवान् की आज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद भगवान् गौतमस्वामी श्रमण भगवान् महावीर के पास से तथा गुणशील चैत्य से निकले। फिर वे त्वरा (उतावली), चपलता (चंचलता) और संभ्रम (आकुलता-हड़बड़ी) से रहित होकर युगान्तर (गाड़ी के जुए=धूसर-) प्रमाण दूर (अन्तर) तक की भूमि का अवलोकन करते हुए, अपनी दृष्टि से आगे-आगे के गमन मार्ग का शोधन करते (अर्थात्—ईर्यासमिति-पूर्वक चलते) हुए जहाँ राजगृह नगर था, वहाँ आए। वहाँ (राजगृहनगर में) ऊँच, नीच और मध्यम कुलों के गृह-समुदाय में विधिपूर्वक भिक्षाचरी करने के लिए पर्यटन करने लगे।

विवेचन—राजगृह में श्री गौतमस्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन—प्रस्तुत चार सूत्रों में क्रमशः भगवान् महावीर के राजगृह में पदार्पण, श्रीगौतमस्वामी के छट्ठ-छट्ठ तपश्चरण, तप के पारणे के दिन विधिपूर्वक साधुचर्या से निवृत्त होकर भगवान् से भिक्षाटन के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने और राजगृह में ईर्या-शोधनपूर्वक भिक्षा प्राप्ति के लिए पर्यटन का सुन्दर वर्णन दिया गया है।

इस वर्णन पर से निर्ग्रन्थ साधुओं की अप्रमत्ततापूर्वक दैनिक चर्या की झांकी मिल जाती है।

कुछ विशिष्ट शब्दों की व्याख्या—घरसमुदाणस्स=घरों में समुदान अर्थात् भिक्षा के लिए। **भिक्खायरियाए**=भिक्षाचर्या की विधिपूर्वक। **जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए**=चलते समय अपने शरीर

का भाग तथा दृष्टिगोचर होने वाला (मार्ग का) भाग; इन दोनों के वीच का युग-जूआ-धूसर जितना अन्तर (फासला=व्यवधान) युगान्तर कहलाता है। युगान्तर तक देखने वाली दृष्टि—युगान्तरप्रलोकना दृष्टि, उससे, ईर्या=गमन करना।[1]

स्थविरों की उत्तरप्रदानसमर्थता आदि के विषय में गौतम की जिज्ञासा और भगवान् द्वारा समाधान—

२४. तए णं से भगवं गोतमे रायगिहे नगरे जाव (सु. २३) अडमाणे वहुजणसद्दं निसामेति—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए नगरीए वहिया पुप्फवतीए चेतिए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं भंते ! किंफले, तवे णं भंते ! किंफले ? । तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वदासी—संजमे णं अज्जो ! अणण्हय-फले, तवे वोदाणफले तं चेव जाव (सु. १७) पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चे णं एसमट्ठे, णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए" से कहमेतं मन्ने एवं ? ।

[२४] उस समय राजगृह नगर में (पूर्वोक्त विधिपूर्वक) भिक्षाटन करते हुए भगवान् गौतम ने वहुत-से लोगों के मुख से इस प्रकार के उद्गार (शब्द) सुने—हे देवानुप्रिय ! तुंगिका नगरी के वाहर (स्थित) पुष्पवतिक नामक उद्यान (चैत्य) में भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य (पार्श्वा-पत्यीय) स्थविर भगवन्त पधारे थे, उनसे वहाँ के (श्रमण भगवान् महावीर के) श्रमणोपासकों ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि 'भगवन् ! संयम का क्या फल है, भगवन् ! तप का क्या फल है ?' तव (इनके उत्तर में) उन स्थविर भगवन्तों ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा था—"आर्यो ! संयम का फल अनाश्रवत्व (संवर) है, और तप का फल व्यवदान (कर्मों का क्षय) है। यह सारा वर्णन पहले (सू. १७) की तरह कहना चाहिए, यावत्—'हे आर्यो ! पूर्वतप से, पूर्वसंयम से, कर्मिता (कर्म शेष रहने से) और संगिता (रागभाव या आसक्ति) से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यह वात सत्य है, इसलिए हमने कही है, हमने अपने अहंभाव (आत्मभाव) वश यह वात नहीं कही है।' तो मैं (गौतम) यह (इस जनसमूह की) वात कैसे मान लूँ ?'

२५. [१] तए णं से समणे भगवं गोयमे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जायसड्ढे जाव समुप्पन्नकोतुहल्ले अहापज्जत्तं समुदाणं गेण्हति, २ रायगिहातो नगरातो पडिनिक्खमति, २ अतुरियं जाव सोहेमाणे जेणेव गुणसिलाए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवा०, २ सम० भ० महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमति, एसणमणेसणं आलोएति, २ भत्तपाणं पडिदंसेति, २ समणं भ० महावीरं जाव एवं वदासि—"एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वहुजणसद्दं निसामेमि 'एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए नगरीए वहिया पुप्फवईए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं पुच्छिता—संजमे णं भंते ! किंफले ? तवे किंफले ? तं चेव जाव (सु. १७) सच्चे णं एसमट्ठे, णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए'।

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४०

[२५-१] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् गौतम ने इस प्रकार की वात लोगों के मुख से सुनी तो उन्हें [उस वात की जिज्ञासा में] श्रद्धा उत्पन्न हुई, और यावत् (उस वात के लिए) उनके मन में कुतूहल भी जागा। अतः भिक्षाविधिपूर्वक आवश्यकतानुसार भिक्षा लेकर वे राजगृहनगर (की सीमा) से वाहर निकले और अत्वरित गति से यावत् (ईर्यासमितिपूर्वक) ईर्या-शोधन करते हुए जहाँ गुणशीलक-चैत्य था, और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके पास आए। फिर उनके निकट उपस्थित होकर गमनागमन सम्बन्धी प्रतिक्रमण किया, (भिक्षाचर्या में लगे हुए) एपणादोषों की आलोचना की, फिर (लाया हुआ) आहार-पानी भगवान् को दिखाया। तत्पश्चात् श्रीगौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार निवेदन किया—"भगवन्! मैं आपसे आज्ञा प्राप्त करके राजगृहनगर में उच्च, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षा-चर्या की विधिपूर्वक भिक्षाटन कर रहा था, उस समय वहुत-से लोगों के मुख से इस प्रकार के उद्गार सुने कि तुंगिका नगरी के वाहर (स्थित) पुष्पवतिक नामक उद्यान में पार्श्वापत्यीय स्थविर भगवन्त पधारे थे, उनसे वहाँ के श्रमणोपासकों ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि 'भगवन्! संयम का क्या फल है? और तप का क्या फल है?' यह सारा वर्णन पहले (सू. १७) की तरह कहना चाहिए; यावत् यह वात सत्य है, इसलिए कही है, किन्तु हमने अहं (आत्म) भाव के वश होकर नहीं कही।

[२] "तं पभू णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयणं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु अप्पभू?, समिया णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासगाणं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु असमिया?, आउज्जिया णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु अणाउज्जिया?, पलिउज्जिया णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु अपलिउज्जिया?, पुव्वतवेणं अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वसंजमेणं०, कम्मियाए०, संगियाए०, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जंति। सच्चे णं एस मट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए?"।

[२५-२ प्र.] (यों कहकर श्री गौतम स्वामी ने पूछा—) हे भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों के प्रश्नों के ये और इस प्रवार के उत्तर देने में समर्थ हैं, अथवा असमर्थ हैं? भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन् उन श्रमणोपासकों को ऐसा उत्तर देने में सम्यक्रूप से ज्ञानप्राप्त (समित या सम्पन्न) (अथवा श्रमित=शास्त्राभ्यासी या अभ्यस्त) हैं, अथवा असम्पन्न या अनभ्यस्त हैं? (और) हे भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों को ऐसा उत्तर देने में उपयोग वाले हैं या उपयोग वाले नहीं हैं? भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों को ऐसा उत्तर देने में परिज्ञानी (विशिष्ट ज्ञानवान्) हैं, अथवा विशेष ज्ञानी नहीं हैं कि आर्यो! पूर्वतप से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, तथा पूर्वसंयम से, कर्मिता से और संगिता (आसक्ति) के कारण देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यह वात सत्य है, इसलिए हम कहते हैं, किन्तु अपने अहंभाव वश नहीं कहते हैं?

[३] पभू णं गोतमा! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं

वागरेत्तए, णो चेव णं अप्पभू, तह चेव नेयव्वं अविसेसियं जाव पभू समिया आउज्जिया पलिउज्जिया जाव सच्चे णं एस मट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।

[२५-३ उ.](महावीर प्रभु ने उत्तर दिया—) हे गौतम ! वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों को इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ हैं, असमर्थ नहीं; (शेष-सब पूर्ववत् जानना) यावत् वे सम्यक् रूप से सम्पन्न (समित) हैं अथवा अभ्यस्त (श्रमित) हैं ; असम्पन्न या अनभ्यस्त नहीं; वे उपयोग वाले हैं, अनुपयोग वाले नहीं; वे विशिष्ट ज्ञानी हैं, सामान्य ज्ञानी नहीं। यह बात सत्य है, इसलिए उन स्थविरों ने कही है, किन्तु अपने अहंभाव के वश होकर नहीं कही।

[४] अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भासेमि पण्णवेमि परूवेमि—पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वसंजमेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति, कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति, संगियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति; सच्चे णं एस मट्ठे, णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।

[२५-४ उ.] हे गौतम ! मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बताता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि पूर्वतप के कारण से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, पूर्वसंयम के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, कर्मिता (कर्मक्षय होने बाकी रहने) से देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं तथा संगिता (आसक्ति या रागभाव) के कारण देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। (निष्कर्ष यह है कि) आर्यो ! पूर्वतप से, पूर्वसंयम से, कर्मिता और संगिता से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यही बात सत्य है; इसलिए उन्होंने कही है, किन्तु अपनी अहंता प्रदर्शित करने के लिए नहीं कही।

विवेचन—स्थविरों की उत्तरप्रदान-समर्थता आदि के विषय में गौतम के प्रश्न और भगवान् द्वारा समाधान—प्रस्तुत दो सूत्रों (२४ और २५) में श्री गौतमस्वामी ने राजगृह में भिक्षाटन करते समय पार्श्वापत्यीय स्थविरों की ज्ञानशक्ति के सम्बन्ध में जो सुना था, भगवान् महावीर से उन्होंने विभिन्न पहलुओं से उनके सम्बन्ध में जिज्ञासावश पूछकर जो यथार्थ समाधान प्राप्त किया था उसका सांगोपांग निरूपण है।

'समिया' आदि पदों को व्याख्या—समिया=सम्यक्, अथवा समित सम्यक् प्रकार से इत अर्थात् ज्ञात, अथवा श्रमित=शास्त्रज्ञान में श्रम किये हुए=अभ्यस्त। **आउज्जिय**=आयोगिक—उपयोगवान् अर्थात्—ज्ञानी। **पलिउज्जिय**=प्रायोगिक अथवा परियोगिक—परिज्ञानी=सर्वतोमुखी ज्ञानवान्।[1] **एसणमणेसणं**=यतना(एषणा) पूर्वक की हुई भिक्षाचरी में लगे हुए दोष का।

श्रमण-माहनपर्युपासना का अनन्तर और परम्पर फल—

२६. **[१] तहारूवं णं भंते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किंफला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला।**

[२६-१ प्र.] भगवन् ! तथारूप (जैसा वेश है, तदनुरूप गुणों वाले) श्रमण या माहन की पर्युपासना करने वाले मनुष्य को उसकी पर्युपासना का क्या फल मिलता है ?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४०

[२६-१ उ.] गौतम ! तथारूप श्रमण या माहन के पर्युपासक को उसकी पर्युपासना का फल होता है—श्रवण (सत्-शास्त्र श्रवणरूप फल मिलता है)।

[२] से णं भंते ! सवणे किंफले ?

णाणफले।

[२६-२ प्र.] भगवन् ! उस श्रवण का क्या फल होता है ?

[२६-२ उ.] गौतम ! श्रवण का फल ज्ञान है। (अर्थात्—शास्त्र-श्रवण से ज्ञानलाभ होता है।)

[३] से णं भंते ! नाणे किंफले ?

विण्णाणफले।

[२६-३ प्र.] भगवन् ! उस ज्ञान का क्या फल है?

[२६-३ उ.] गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है (अर्थात्—ज्ञान से हेय और उपादेय तत्त्व के विवेक की प्राप्ति होती है।)

[४] से णं भंते ! विण्णाणे किंफले ?

पच्चक्खाणफले।

[२६-४ प्र.] भगवन् ! उस विज्ञान का क्या फल होता है ?

[२६-४ उ.] गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान (हेय पदार्थों का त्याग) है।

[५] से णं भंते ! पच्चक्खाणे किंफले ?

संजमफले।

[२६-५ प्र.] भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल होता है ?

[२६-५ उ.] गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम (सर्वसावद्यत्यागरूप संयम अथवा पृथ्वीकायादि १७ प्रकार का संयम) है।

[६] से णं भंते ! संजमे किंफले ?

अणण्हयफले।

[२६-६ प्र.] भगवन् ! संयम का क्या फल होता है ?

[२६-६ उ.] गौतम ! संयम का फल अनाश्रवत्व (संवर=नवीन कर्मों का निरोध) है।

[७] एवं अणण्हये तवफले। तवे वोदाणफले। वोदाणे अकिरियाफले।

[२६-७] इसी तरह अनाश्रवत्व का फल तप है, तप का फल व्यवदान (कर्मनाश) है और व्यवदान का फल अक्रिया है।

[८] से णं भंते ! अकिरिया किंफला ?

सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा ! गाहा—

सवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हये तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥१॥

[२६-८ प्र.] भगवन् ! उस अक्रिया का क्या फल है ?

[२६-८ उ.] गौतम ! अक्रिया का अन्तिम फल सिद्धि है । (अर्थात्—अक्रियता—अयोगी अवस्था प्राप्त होने पर अन्त में सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होती है ।)

गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

१. (पर्युपासना का प्रथम फल) श्रवण, २. (श्रवण का फल) ज्ञान, ३. (ज्ञान का फल) विज्ञान, ४. (विज्ञान का फल) प्रत्याख्यान, ५. (प्रत्याख्यान का फल) संयम, ६. (संयम का फल) अनाश्रवत्व, ७. (अनाश्रवत्व का फल) तप, ८. (तप का फल) व्यवदान, ९. (व्यवदान का फल) अक्रिया, और १०. (अक्रिया का फल) सिद्धि है ।

विवेचन—श्रमण-माहन-पर्युपासना का अनन्तर और परम्पर फल—प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न विभागों द्वारा श्रमण और माहन की पर्युपासना का साक्षात् फल श्रवण और तदनन्तर उत्तरोत्तर ज्ञानादि फलों के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है ।

श्रमण—जो श्रम (आत्मगुणों के लिए स्वयं श्रम या तप), सम (प्राणिमात्र को आत्मवत् मानने) और शम (विषय-कषायों के उपशमन) से युक्त हो, वह साधु ।

माहन—जो स्वयं किसी जीव का हनन न करता हो, और दूसरों को 'मत मारो' ऐसा उपदेश देता हो । उपलक्षण से मूलगुणों के पालक को 'माहन' कहा जाता है । अथवा 'माहन' व्रतधारी श्रावक को भी कहते हैं ।

श्रमण-माहन-पर्युपासना से अन्त में सिद्धि—श्रमणों की सेवा करने से शास्त्र-श्रवण, उससे श्रुतज्ञान, तदनन्तर श्रुतज्ञान से विज्ञान—(हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक) प्राप्त होता है । जिसे ऐसा विशेष ज्ञान होता है, वही पापों का प्रत्याख्यान या हेय का त्याग कर सकता है । प्रत्याख्यान करने से मन, वचन, काय पर या पृथ्वीकायादि पर संयम रख सकता है । संयमी व्यक्ति नये कर्मों को रोक देता है । इस प्रकार का लघुकर्मी व्यक्ति तप करता है । तप से पुराने कर्मों की निर्जरा (व्यवदान) होती है । यों कर्मों की निर्जरा करने से व्यक्ति योगों का निरोध कर लेता है, योग निरोध होने से क्रिया बिलकुल बंद हो जाती है, और अयोगी (अक्रिय) अवस्था से अन्त में मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त हो जाती है । यह है—श्रमणसेवा से उत्तरोत्तर १० फलों की प्राप्ति का लेखा-जोखा ![1]

राजगृह का गर्मजल का स्रोत : वैसा है या ऐसा ?

२७. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भासेंति पण्णवेंति परूवेंति—एवं खलु

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४१

रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स ग्रहे एत्थ णं महं एगे हरए अप्पे (अघे)[1] पण्णत्ते, अणेगाइं जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं नाणादुमसंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए जाव पडिरूवे। तत्थ णं बहवे ओराला बलाहया संसेयंति सम्मुच्छंति वासंति तव्वतिरित्ते य णं सया समियं उसिणे २ आउकाए अभिनिस्सवइ। से कहमेतं भंते! एवं?

गोयमा! जं णं ते अण्णउत्थिया एयमाइक्खंति जाव जे ते एवं परूवेंति मिच्छं ते एवमाइक्खंति जाव सव्वं नेयव्वं। अहं पुण गोतमा! एवमाइक्खामि भा० पं० प०—एवं खलु रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वतस्स अदूरसामंते एत्थ णं महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे पण्णत्ते, पंच धणुसताणि आयाम-विक्खंभेणं नाणादुमसंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति तव्वतिरित्ते वि य णं सया समितं उसिणे २ आउयाए अभिनिस्सवति—एस णं गोतमा! महातवोवतीरप्पभवे पासवणे, एस णं गोतमा! महातवोवतीरप्पभवस्स पासवणस्स अट्ठे पण्णत्ते।

सेवं भंते! २ त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति।

॥ बितीय सए पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

[२७ प्र.] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, भाषण करते हैं, बतलाते हैं और प्ररूपणा करते हैं कि 'राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के नीचे एक महान् (बड़ा भारी) पानी का ह्रद (कुण्ड) है।[2] उसकी लम्बाई—चौड़ाई (आयाम-विष्कम्भ) अनेक योजन है। उसका अगला भाग (उद्देश) अनेक प्रकार के वृक्षसमूह से सुशोभित है, वह सुन्दर (श्रीयुक्त) है, यावत् प्रतिरूप (दर्शकों की आँखों को सन्तुष्ट करने वाला) है। उस ह्रद में अनेक उदार मेघ संस्वेदित (उत्पन्न) होते (गिरते) हैं, सम्मूर्छित होते (बरसते) हैं। इसके अतिरिक्त (कुण्ड भर जाने के उपरान्त) उसमें से सदा परिमित (समित) गर्म-गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है।' भगवन्! (अन्यतीर्थिकों का) इस प्रकार का कथन कैसा है? क्या यह (कथन) सत्य है?

[२७ उ.] हे गौतम! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं, भाषण करते हैं, बतलाते हैं, और प्ररूपणा करते हैं कि राजगृह नगर के बाहर……यावत्……गर्म-गर्म जल झरता रहता है, यह सब (पूर्वोक्त वर्णन) वे मिथ्या कहते हैं; किन्तु हे गौतम! मैं इस प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बतलाता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ, कि राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के निकटवर्ती एक महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना (प्रस्रवण) (बताया गया) है। वह लम्बाई-चौड़ाई में पांच-सौ धनुष है। उसके आगे का भाग (उद्देश) अनेक प्रकार के वृक्ष-समूह से सुशोभित है, सुन्दर है,

---

१. 'अघे' के स्थान में 'अप्पे' पाठ ही संगत लगता है, अर्थ होता है आप्य=पानी का।

२. वर्तमान में भी यह गर्म पानी का कुण्ड राजगृह में वैभारगिरि के निकट प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। वास्तव में यह पर्वत में से झर-झर कर झरने के रूप में ही आकर इस कुण्ड में गिरता है। कुण्ड स्वाभाविक नहीं है, यह तो सरकार द्वारा बना दिया गया है। बहुतसे यात्री या पर्यटक आकर धर्मबुद्धि से इसमें नहाते हैं, कई चर्मरोगों को मिटाने के लिए इसमें स्नान करते हैं। इटली के आरमिग्रा के निकट भी एक ऐसा झरना है, जिसमें सर्दियों में गर्म पानी होता है और गर्मियों में बर्फ जैसा ठंडा पानी रहता है। (देखें—संसार के १५०० अद्भुत आश्चर्य भाग २. पृ. १५९)—सं.

प्रसन्नताजनक है दर्शनीय है, रमणीय (अभिरूप) है और प्रतिरूप (दर्शकों के नेत्रों को सन्तुष्ट करने वाला) है। उस झरने में वहुत-से उष्णयोनिक जीव और पुद्गल जल के रूप में उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, च्यवते (च्युत होते) हैं और उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उस झरने में से सदा परिमित गर्म-गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है। हे गौतम ! यह महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना है, और हे गौतम ! यही महातपोपतीरप्रभव नामक झरने का अर्थ (रहस्य) है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर भगवान् गौतम-स्वामी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं।

विवेचन—राजगृह का गर्म जल का स्रोत : वैसा है या ऐसा ? प्रस्तुत सूत्र में राजगृह में वैभारगिरि के निकटस्थ उष्णजल के स्रोत के सम्वन्ध में अन्यतीर्थिकों के मन्तव्य को मिथ्या वताकर भगवान् का यथार्थ मन्तव्य प्ररूपित किया गया है।

॥ द्वितीय शतक : पंचम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

छट्ठो उद्देसो : भासा

छठा उद्देशक : भाषा

भाषा का स्वरूप और उससे सम्बन्धित वर्णन—

१. से णूणं भंते ! 'मन्नामी' ति ओधारिणी भासा ?

एवं भासापदं भाणियव्वं ।

॥ बितीय सए छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! भाषा अवधारिणी है; क्या मैं ऐसा मान लूँ ?

[१ उ.] गौतम ! उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में प्रज्ञापनासूत्र के ग्यारहवें भाषापद का समग्र वर्णन जान लेना चाहिए ।

विवेचन—भाषा का स्वरूप और उससे सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत छठे उद्देशक में एक ही सूत्र द्वारा प्रज्ञापनासूत्र के भाषापद में वर्णित समग्र वर्णन का निर्देश कर दिया गया है ।

भाषासम्बन्धी विश्लेषण—प्रज्ञापनासूत्र के ११वें भाषापद में अनेक द्वारों से भाषा का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है । यथा—(१) भेद—भाषा के ४ भेद हैं—सत्या, असत्या, सत्या-मृषा (मिश्र) और असत्याऽऽमृषा (व्यवहारभाषा) (२) भाषा का आदि (मूल) कारण—जीव है । (३) भाषा की उत्पत्ति—(औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक) शरीर से होती है । (४) भाषा का संस्थान—वज्र के आकार का है । (५) भाषा के पुद्गल—लोक के अन्त तक जाते हैं । (६) भाषारूप में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल—अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध पुद्गल, असंख्यात आकाशप्रदेशों को अवगाहित पुद्गल; एक समय, दो समय यावत् दस समय संख्यात और असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल, पांच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और ८ स्पर्शों में से ४ स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष, ठंडा, गर्म) वाले पुद्गल, तथा नियमतः छह दिशा के पुद्गल भाषा के रूप में गृहीत होते हैं । (७) सान्तर-निरन्तर—भाषावर्गणा के पुद्गल निरन्तर गृहीत होते हैं, किन्तु सान्तर त्यागे (छोड़े) जाते हैं । सान्तर का अर्थ यह नहीं कि बीच में रुक-रुक कर त्यागे जाते हैं, अपितु सान्तर का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रथम समय में गृहीत भाषा-पुद्गल दूसरे समय में, तथा दूसरे समय में गृहीत तीसरे समय में त्यागे जाते हैं, इत्यादि । प्रथम समय में सिर्फ ग्रहण होता है, और अन्तिम समय में सिर्फ त्याग होता है; बीच के समयों में निरन्तर दोनों क्रियाएँ होती रहती हैं । यही सान्तर-निरन्तर का तात्पर्य है । (८) भाषा की स्थिति—जघन्य एक समय की उत्कृष्ट असंख्येय समय की । (९) भाषा का अन्तर (व्यवधान)—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का, उत्कृष्ट अनन्तकाल का है । (१०) भाषा के पुद्गलों का ग्रहण और त्याग—ग्रहण काययोग से और

त्याग वचनयोग से। **ग्रहणकाल**—जघन्य एक समय, उत्कृष्ट असंख्येय समय, **त्यागकाल**—जघन्य दो समय, उत्कृष्ट असंख्येय सामयिक अन्तर्मुहूर्त्त। (११) **किस योग से, किस निमित्त से, कौन सी भाषा**—ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और मोहनीयकर्म के उदय से, वचनयोग से असत्या और सत्या-मृषा भाषा बोली जाती है, तथा ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से सत्य और असत्या मृषा-भाषा बोली जाती है, तथा ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से सत्या और असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा वचनयोग से बोली जाती है। (१२) **भाषक-अभाषक**—अपर्याप्त-जीव, एकेन्द्रिय, सिद्ध भगवान् और शैलेशी प्रतिपन्न जीव अभाषक होते हैं। शेष सब जीव भाषक होते हैं। (१३) **अल्पबहुत्व**—सबसे थोड़े सत्य भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुने मिश्र भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुना असत्य भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुने व्यवहार भाषा बोलने वाले हैं तथा उनसे अनन्त गुने अभाषक जीव हैं।[1]

॥ द्वितीय शतक: छठा उद्देशक समाप्त ॥

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४२ (ख) पण्णवणासुत्तं मूलपाठ पृष्ठ २१४-२१५

सत्तमो उद्देसो : देव

सप्तम उद्देशक : देव

देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि का वर्णन—

१. कइ णं भंते ! देवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवति-वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया।

[१ प्र.] भगवन् ! देव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! देव चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

२. कहि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जहा ठाणपदे देवाणं वत्तव्वया सा भाणियव्वा। उववादेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। एवं सव्वं भाणियव्वं जाव (पण्णवणासुत्तं सु. १७७ त : २११) सिद्धगंडिया समत्ता।

"कप्पाण पतिट्ठाणं वाहल्लुच्चत्तमेव संठाणं।"

जीवाभिगमे जो वेमाणियुद्देसो सो भाणियव्वो सव्वो।

॥ बितीय सए सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥

[२ प्र.] भगवन् ! भवनवासी देवों के स्थान कहाँ पर कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! भवनवासी देवों के स्थान इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे हैं; इत्यादि देवों की सारी वक्तव्यता प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे स्थान-पद में कहे अनुसार कहनी चाहिए। किन्तु विशेषता इतनी है कि यहाँ भवनवासियों के भवन कहने चाहिए। उनका उपपात लोक के असंख्यातवें भाग में होता है। यह समग्र वर्णन सिद्ध सिद्धगण्डिकापर्यन्त पूरा कहना चाहिए।

कल्पों का प्रतिष्ठान (आधार) उनकी मोटाई, ऊँचाई और संस्थान आदि का सारा वर्णन जीवाभिगमसूत्र के वैमानिक उद्देशक पर्यन्त कहना चाहिए।

विवेचन—देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि का वर्णन—प्रस्तुत सप्तम उद्देशक के दो सूत्रों के द्वारा देवों के प्रकार, स्थान आदि के तथा आधार, संस्थान आदि के वर्णन को प्रज्ञापना सूत्र एवं जीवाभिगम सूत्र द्वारा जान लेने का निर्देश किया गया है।

देवों के स्थान आदि—प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे स्थानपद में भवनवासियों का स्थान इस प्रकार बताया है—रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमें से एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़कर बीच में १ लाख ७८ हजार योजन में भवनपति देवों के भवन हैं। **उपपात**—भवनपतियों का उपपात लोक के असंख्यातवें भाग में होता है। मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा और स्थान की अपेक्षा वे लोक के असंख्येय भाग में ही रहते हैं, क्योंकि उनके ७ करोड़ ७२ लाख भवन लोक के असंख्येय भाग में ही हैं। इसी तरह असुरकुमार आदि के विषय में तथा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, सभी देवों के स्थानों का कथन करना चाहिए, यावत् सिद्ध भगवान् के स्थानों का वर्णन करने वाले 'सिद्धगण्डिका' नामक प्रकरण तक कहना चाहिए।[1]

वैमानिक-प्रतिष्ठान आदि का वर्णन—जीवाभिगम सूत्र के वैमानिक उद्देशक में कथित वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है—(१) **प्रतिष्ठान**—सौधर्म और ईशान कल्प में विमान की पृथ्वी : घनोदधि के आधार पर टिकी हुई है। इससे आगे के तीन घनोदधि और वात पर प्रतिष्ठित हैं। उससे आगे के सभी ऊपर के विमान आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। (२) **बाहल्य (मोटाई) और उच्चत्व**—सौधर्म और ईशान कल्प में विमानों की मोटाई २७०० योजन और ऊँचाई ५०० योजन है। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में मोटाई २६०० योजन और ऊँचाई ६०० योजन है। ब्रह्मलोक और लान्तक में मोटाई २५०० योजन, ऊँचाई ७०० योजन है। महाशुक्र और सहस्रारकल्प में मोटाई २४०० योजन, ऊँचाई ८०० योजन है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोकों में मोटाई २३०० योजन, ऊँचाई ९०० योजन हैं। नवग्रैवेयक के विमानों की मोटाई २२०० योजन और ऊँचाई १००० योजन है। पंच अनुत्तर विमानों की मोटाई २१०० योजन और ऊँचाइ ११०० योजन है। (३) **संस्थान**—दो प्रकार के (१) आवलिकाप्रविष्ट और (२) आवलिका बाह्य। वैमानिक देव आवलिका-प्रविष्ट (पंक्तिबद्ध) तीन संस्थानों वाले हैं—वृत्त (गोल), त्र्यंस (त्रिकोण) और चतुरस्र (चतुष्कोण), आवलिकाबाह्य नाना प्रकार के संस्थानों वाले हैं। इसी तरह विमानों के प्रमाण, रंग, कान्ति, गन्ध आदि का सब वर्णन जीवाभिगम सूत्र से जान लेना चाहिए।[2]

॥ द्वितीय शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४२-१४३

(ख) प्रज्ञापनासूत्र स्थानपद-द्वितीय पद; पृ. ९४ से १३० तक

२. जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ४, विमान-उद्देशक २, सू. २०९-१२

अट्ठमो उद्देसो : सभा

अष्टम उद्देशक : सभा

असुरकुमार राजा चमरेन्द्र की सुधर्मासभा आदि का वर्णन—

१. कहि णं भंते ! चमरस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स वाहिरिल्लातो वेइयंतातो अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुररण्णो तिगिंछिकूडे नामं उप्पायपव्वते पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारितीसे जोयणसते कोसं च उव्वेहेणं; गोत्थुभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेणं नेयव्वं, नवरं उवरिल्लं पमाणं मज्झे भाणियव्वं [मूले दसबावीसे जोयणसते विक्खंभेणं, मज्झे चत्तारि चउवीसे जोयणसते विक्खंभेणं, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसते विक्खंभेणं; मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, मज्झे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं दोण्णि य जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं][1]; जाव मूले वित्थडे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले। मज्झे वरवइरविग्गहिए महामउंदसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे।

से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेण य सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते। पउमवरवेइयाए वणसंडस्स य वण्णओ।

तस्स णं तिगिंछिकूडस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। वण्णओ। तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे। एत्थ णं महं एगे पासातवडिंसए पण्णत्ते अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं। पासायवण्णओ। उल्लोयभूमिवण्णओ। अट्ठ जोयणाइं मणिपेढिया। चमरस्स सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं।

तस्स णं तिगिंछिकूडस्स दाहिणेणं छक्कोडिसए पणपन्नं च कोडीओ पणतीसं च सतसहस्साइं पण्णासं च सहस्साइं अरुणोदए समुद्दे तिरियं वीइवइत्ता, अहे य रयणप्पभाए पुढवीए चत्तालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पण्णत्ता, एगं जोयणसतसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबुद्दीवपमाणा। [1][पागारो दिवड्ढं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं, उवरिं अद्धतेरसजोयणा कविसीसगा अद्धजोयणआयामं कोसं विक्खंभेणं देसूणं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं एगमेगाए बाहाए पंच पंच दारसया, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं—

१. यह पाठ हमारी मूल प्रति में नहीं है, अन्य प्रतियों में है, अतः इसे कोष्टक में दिया गया है। —सम्पादक

२५० उड्ढं उच्चत्तेणं, अद्धं—१२५ विक्खंभेणं।] ओवारियलेणं सोलस जोयणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, पन्नासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, सव्वप्पमाणं वेमाणियप्पमाणस्स अद्धं नेयव्वं। सभा सुहम्मा उत्तरपुरत्थिमेणं, जिणघरं, ततो उववायसभा हरओ अभिसेय० अलंकारो जहा विजयस्स।

उववाओ संकप्पो अभिसेय विभूसणा य ववसाओ।
अच्चणियं सुहगमो वि य चमर परिवार इड्ढत्तं ॥१॥

॥ वितीय सए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के इन्द्र, और उनके राजा चमर की सुधर्मा-सभा कहाँ पर है ?

[१ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मध्य में स्थित मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा में तिरछे असंख्य द्वीपों और समुद्रों को लांघने के वाद अरुणवर द्वीप आता है। उस द्वीप की वेदिका के वाहिरी किनारे से आगे बढ़ने पर अरुणोदय नामक समुद्र आता है। इस अरुणोदय समुद्र में वयालीस लाख योजन जाने के वाद उस स्थान में असुरकुमारों के इन्द्र, असुरकुमारों के राजा चमर का तिगिच्छकूट नामक उत्पात पर्वत है। उसकी ऊँचाई १७२१ योजन है। उसका उद्वेध (जमीन में गहराई) ४३० योजन और एक कोस है। इस पर्वत का नाप गोस्तुभ नामक आवासपर्वत के नाप की तरह जानना चाहिए। विशेष वात यह है कि गोस्तुभ पर्वत के ऊपर के भाग का जो नाप है, वह नाप यहाँ वीच के भाग का समझना चाहिए। (अर्थात्-तिगिच्छकूट पर्वत का विष्कम्भ मूल में १०२२ योजन है, मध्य में ४२४ योजन है और ऊपर का विष्कम्भ ७२३ योजन है। उसका परिक्षेप मूल में ३२३२ योजन से कुछ विशेषोन है, मध्य में १३४१ योजन तथा कुछ विशेषोन है और ऊपर का परिक्षेप २२८६ योजन तथा कुछ विशेषाधिक है।) वह मूल में विस्तृत है, मध्य में संकीर्ण (संकड़ा) है और ऊपर फिर विस्तृत है। उसके वीच का भाग उत्तम वज्र जैसा है, वड़े मुकुन्द के संस्थान का-सा आकार है। पर्वत पूरा रत्नमय है, सुन्दर है, यावत् प्रतिरूप है।

वह पर्वत एक पद्मवरवेदिका से और एक वनखण्ड से चारों ओर से घिरा हुआ है। (यहाँ वेदिका और वनखण्ड का वर्णन करना चाहिए)।

उस तिगिच्छकूट नामक उत्पातपर्वत का ऊपरी भू-भाग वहुत ही सम एवं रमणीय है। (उसका भी वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए।) उस अत्यन्त सम एवं रमणीय ऊपरी भूमिभाग के ठीक वीचोवीच एक महान् प्रासादावतंसक (श्रेष्ठ महल) है। उसकी ऊँचाई २५० योजन है और उसका विष्कम्भ १२५ योजन है। (यहाँ उस प्रासाद का वर्णन करना चाहिए; तथा प्रासाद के सवसे ऊपर की भूमि (अट्टालिका) का वर्णन करना चाहिए।) आठ योजन की मणिपीठिका है। (यहाँ चमरेन्द्र के सिंहासन का सपरिवार वर्णन करना चाहिए।)

उस तिगिच्छकूट के दक्षिण की ओर अरुणोदय समुद्र में छह सौ पचपन करोड़, पैंतीस लाख, पचास हजार योजन तिरछा जाने के वाद नीचे रत्नप्रभापृथ्वी का ४० हजार योजन भाग अवगाहन

करने के पश्चात् यहाँ असुरकुमारों के इन्द्र—राजा चमर की चमरचंचा नाम की राजधानी है। उस राजधानी का आयाम और विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) एक लाख योजन है। वह राजधानी जम्बूद्वीप जितनी है। (उसका प्राकार (कोट) १५० योजन ऊँचा है। उसके मूल का विष्कम्भ ५० योजन है। उसके ऊपरी भाग का विष्कम्भ साढ़े तेरह योजन है। उसके कपिशीर्षकों (कंगूरों) की लम्बाई आधा योजन और विष्कम्भ एक कोस है। कपिशीर्षकों की ऊँचाई आधे योजन से कुछ कम है। उसकी एक-एक भुजा में पांच-पांच सौ दरवाजे हैं। उसकी ऊँचाई २५० योजन है। ऊपरी तल (उवारियल ? घर के पीठवन्ध जैसा भाग) का आयाम और विष्कम्भ (लम्वाई-चौड़ाई) सोलह हजार योजन है। उसका परिक्षेप (घेरा) ५०५९७ योजन से कुछ विशेषोन है। यहाँ समग्र प्रमाण वैमानिक के प्रमाण से आधा समझना चाहिए। उत्तर पूर्व में सुधर्मासभा, जिनगृह, उसके पश्चात् उपपातसभा, ह्रद, अभिषेक सभा और अलंकारसभा; यह सारा वर्णन विजय की तरह कहना चाहिए। (यह सब भी सौधर्म-वैमानिकों से आधे-आधे प्रमाण वाले हैं।)

(गाथार्थ—) उपपात, (तत्काल उत्पन्न देव का) संकल्प, अभिषेक, विभूषणा, व्यवसाय, अर्चनिका और सिद्धायतन-सम्बन्धी गम, तथा चमरेन्द्र का परिवार और उसकी ऋद्धिसम्पन्नता; (आदि का वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिए।)

विवेचन—असुरकुमार-राज चमरेन्द्र की सुधर्मासभा आदि का वर्णन—प्रस्तुत अष्टम उद्देशक में एक सूत्र द्वारा अनेक पर्वत, द्वीप, समुद्रों के अवगाहन के पश्चात् आने वाली चमरेन्द्र की राजधानी चमरचंचा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उत्पातपर्वत आदि शब्दों के विशेषार्थ—तिरछालोक में जाने के लिए इस पर्वत पर आकर चमर उत्पतन करता—उड़ता है, इससे इसका नाम **उत्पात पर्वत** पड़ा है। **मुकुन्द**=मुकुन्द एक प्रकार का वाद्य विशेष है। **अभिसेय सभा**=अभिषेक करने का स्थान।

पद्मवरवेदिका का वर्णन—श्रेष्ठ पद्मवेदिका की ऊँचाई आधा योजन, विष्कम्भ पांच सौ धनुष्य है, वह सर्वरत्नमयी है। उसका परिक्षेप तिगिच्छकूट के ऊपर के भाग के परिक्षेप जितना है।

वनखण्ड वर्णन—वनखण्ड का चक्रवाल विष्कम्भ देशोन दो योजन हैं। उसका परिक्षेप पद्मवरवेदिका के परिक्षेप जितना है। वह काला है, काली कान्ति वाला है, इत्यादि।

उत्पातपर्वत का ऊपरितल—अत्यन्त सम एवं रमणीय है। वह भूमिभाग मुरज-मुख, मृदंग-पुष्कर या सरोवरतल के समान है; अथवा आदर्श-मण्डल, करतल या चन्द्रमण्डल के समान है।

प्रासादावतंसक—वह प्रासादों में शेखर अर्थात् सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ प्रासाद वादलों की तरह ऊँचा, और अपनी चमक-दमक के कारण हंसता हुआ-सा प्रतीत होता है। वह प्रासाद कान्ति से श्वेत और प्रभासित है। मणि, स्वर्ण और रत्नों की कारीगरी से विचित्र है। उसका ऊपरी भाग भी सुन्दर है। उस पर हाथी, घोड़े, बैल आदि के चित्र हैं।

चमरेन्द्र का सिंहासन—यह प्रासाद के बीच में है। इस सिंहासन के पश्चिमोत्तर में, उत्तर में तथा उत्तरपूर्व में चमरेन्द्र के ६४ हजार सामानिक देवों के ६४ हजार भद्रासन हैं। पूर्व में पाँच पटरानियों के ५ भद्रासन सपरिवार हैं। दक्षिण-पूर्व में आभ्यन्तर परिषद् के २४ हजार देवों के २४ हजार, दक्षिण में मध्यमपरिषद् के २८ हजार देवों के २८ हजार और दक्षिण-पश्चिम में बाह्यपरिषद्

के ३२ हजार देवों के ३२ हजार भद्रासन हैं। पश्चिम में ७ सेनाधिपतियों के सात और चारों दिशाओं में आत्मरक्षक देवों के ६४-६४ हजार भद्रासन हैं।

विजयदेवसभावत् चमरेन्द्रसभावर्णन—(१) **उपपात-सभा** में तत्काल उत्पन्न हुए इन्द्र को यह संकल्प उत्पन्न होता है कि मुझे पहले क्या और पीछे क्या कार्य करना है ? मेरा जीताचार क्या है ?, (२) **अभिषेक**—फिर सामानिक देवों द्वारा बड़ी ऋद्धि से अभिषेकसभा में अभिषेक होता है। (३) **अलंकार-सभा** में उसे वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया जाता है। (४) **व्यवसाय-सभा** में पुस्तक का वाचन किया जाता है, (५) **सिद्धायतन** में सिद्ध भगवान् के गुणों का स्मरण तथा भाववन्दन-पूजन किया जाता है। फिर सामानिक देव आदि परिवार सहित सुधर्मासभा (चमरेन्द्र की) में आते हैं।[1]

॥ द्वितीय शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति पत्रांक १४५-१४६

(ख) जीवाभिगम ५२१-६३२ क. आ.

नवमो उद्देसो : दीव (समयखेत्तं)

नवम उद्देशक : द्वीप (समयक्षेत्र)

समयक्षेत्र-सम्बन्धी प्ररूपणा—

१. किमिदं भंते ! 'समयखेत्ते' त्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा—एस णं एवतिए 'समयखेत्ते' त्ति पवुच्चति । 'तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीव-समुद्दाणं सव्वब्भंतरए' (जीवाजीवाभि० सू. १२४ पत्र १७७) एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्वा जाव अब्भितरं पुक्खरद्धं जोइसविहूणं ।

॥ बितीय सए नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! यह समयक्षेत्र किसे कहा जाता है ?

[१ उ.] गौतम ! अढाई द्वीप और दो समुद्र इतना यह (प्रदेश) 'समयक्षेत्र' कहलाता है। इनमें जम्बूद्वीप नामक द्वीप समस्त द्वीपों और समुद्रों के वीचोवीच है । इस प्रकार जीवाभिगम सूत्र में कहा हुआ सारा वर्णन यहाँ यावत् आभ्यन्तर पुष्कराद्धं तक कहना चाहिए; किन्तु ज्योतिष्कों का वर्णन छोड़ देना चाहिए ।

विवेचन—समयक्षेत्र सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत नौवें उद्देशक में एक सूत्र द्वारा समयक्षेत्र के स्वरूप, परिमाण आदि का वर्णन जीवाभिगम सूत्र के निर्देशपूर्वक किया गया है ।

समयक्षेत्र : स्वरूप और विश्लेषण—समय अर्थात् काल से उपलक्षित क्षेत्र 'समयक्षेत्र' कहलाता है । सूर्य की गति से पहचाना जाने वाला दिवस-मासादिरूप काल समयक्षेत्र-मनुष्यक्षेत्र में ही है, इससे आगे नहीं है; क्योंकि इससे आगे के सूर्य चर (गतिमान) नहीं हैं, अचर हैं ।

समयक्षेत्र का स्वरूप—जीवाभिगम सूत्र में मनुष्यक्षेत्र (मनुष्यलोक) के स्वरूप को वताने वाली एक गाथा दी गई है—

"अरिहंत-समय-वायर-विज्जू-थणिया वलाहगा अगणी ।
आगर-णिहि-णई-उवराग-णिग्गमे वुड्ढिवयणं च ॥"

अर्थात्—मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्यक्षेत्र कहलाता है । जहाँ तक **अरिहन्त, चक्रवर्ती, वलदेव,**

वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका और मनुष्य हैं, वहाँ तक **मनुष्यलोक** कहलाता है। जहाँ तक **समय**, आवलिका आदि काल है, **स्थूल विद्युत्** है, **मेघगर्जन** है, **मेघों की पंक्ति** वरसती है, स्थूल अग्नि है, आकर, निधि, नदी, उपराग (चन्द्र-सूर्यग्रहण) है, चन्द्र, सूर्य, तारों का अतिगमन (उत्तरायण) और निर्गमन (दक्षिणायन) है, तथा रात्रि-दिन का वढ़ना-घटना इत्यादि है, वहाँ तक समयक्षेत्र-मनुष्यक्षेत्र है।[1]

॥ द्वितीय शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४७ (ख) जीवाभिगम सूत्र, क. आ. ७९२-८०३

दसमो उद्देसो : अत्थिकाय

दशम उद्देशक : अस्तिकाय

अस्तिकाय : स्वरूप प्रकार एवं विश्लेषण—

१. कति णं भंते ! अत्थिकाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए।

[१ प्र.] भगवन् ! अस्तिकाय कितने कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! अस्तिकाय पांच कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।

२. धम्मत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे ?

गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासतो पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो गुणतो। दव्वतो णं धम्मत्थिकाए एगे दव्वे। खेत्ततो णं लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कदायि न आसि, न कयाइ नत्थि, जाव निच्चे। भावतो अवण्णे अगंधे अरसे अफासे। गुणतो गमणगुणे।

[२ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

[२ उ.] गौतम ! धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित, और स्पर्शरहित है, अर्थात्—धर्मास्तिकाय अरूपी है, अजीव है, शाश्वत है, अवस्थित लोक (प्रमाण) द्रव्य है।

संक्षेप में, धर्मास्तिकाय पांच प्रकार का कहा गया है—द्रव्य से (धर्मास्तिकाय), क्षेत्र से (धर्मास्तिकाय), काल से (धर्मास्तिकाय), भाव से (धर्मास्तिकाय) और गुण से (धर्मास्तिकाय)। धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, क्षेत्र से धर्मास्तिकाय लोकप्रमाण है; काल की अपेक्षा धर्मास्तिकाय कभी नहीं था, ऐसा नहीं; कभी नहीं है, ऐसा नहीं; और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं; किन्तु वह था, है और रहेगा, यावत् वह नित्य है। भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित और स्पर्शरहित है। गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय गतिगुण वाला (गतिपरिणत जीवों और पुद्गलों के गमन में सहायक-निमित्त) है।

३. अधम्मत्थिकाए वि एवं चेव। नवरं गुणतो ठाणगुणे।

[३] जिस तरह धर्मास्तिकाय का कथन किया गया है, उसी तरह अधर्मास्तिकाय के विषय

में भी कहना चाहिए ; किन्तु इतना अन्तर है कि अधर्मास्तिकाय गुण की अपेक्षा स्थिति गुण वाला (जीवों-पुद्गलों की स्थिति में सहायक) है।

४. **आगासत्थिकाए वि एवं चेव। नवरं खेत्तओ णं आगासत्थिकाए लोयालोयप्पमाणमेत्ते अणंते चेव जाव (सु. २) गुणओ अवगाहणागुणे।**

[४] आकाशास्तिकाय के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए, किन्तु इतना अन्तर है कि क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोकालोक-प्रमाण (अनन्त) है और गुण की अपेक्षा अवगाहना गुण वाला है।

५. **जीवत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कइफासे ?**

गोयमा ! अवण्णे जाव (सु. २) अरूवी जीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते; तं जहा—दव्वतो जाव गुणतो। दव्वतो णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं। खत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कयाइ न आसि जाव (सु. २) निच्चे। भावतो पुण अवण्णे अगंधे अरसे अफासे। गुणतो उवयोगगुणे।

[५ प्र.] भगवन् ! जीवास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

[५ उ.] गौतम ! जीवास्तिकाय वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित है वह अरूपी है, जीव (आत्मा) है, शाश्वत है, अवस्थित (और प्रदेशों की अपेक्षा) लोकद्रव्य (—लोकाकाश के बराबर) है। संक्षेप में, जीवास्तिकाय के पांच प्रकार कहे गए हैं। वह इस प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा जीवास्तिकाय। द्रव्य की अपेक्षा—जीवास्तिकाय अनन्त जीवद्रव्यरूप है। क्षेत्र की अपेक्षा—लोक-प्रमाण है। काल की अपेक्षा—वह कभी नहीं था, ऐसा नहीं, यावत् वह नित्य है। भाव की अपेक्षा—जीवास्तिकाय में वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं और स्पर्श नहीं है। गुण की अपेक्षा—जीवास्तिकाय उपयोगगुण वाला है।

६. **पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे० रसे० फासे ?**

गोयमा ! पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते; तं जहा—दव्वतो खेत्तओ कालतो भावतो गुणतो। दव्वतो णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं। खेत्ततो लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कयाइ न आसि जाव (सु. २) निच्चे। भावतो वण्णमंते गंध० रस० फासमंते। गुणतो गहणगुणे।

[६ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

[६ उ.] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय में पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श हैं। वह रूपी है, अजीव है, शाश्वत और अवस्थित लोकद्रव्य है। संक्षेप में उसके पांच प्रकार कहे गए हैं;

यथा—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य की अपेक्षा—पुद्गलास्तिकाय अनन्त-द्रव्यरूप है; क्षेत्र की अपेक्षा—पुद्गलास्तिकाय लोक-प्रमाण है, काल की अपेक्षा—वह कभी नहीं था ऐसा नहीं, यावत् नित्य है। भाव की अपेक्षा—वह वर्ण वाला, गन्ध वाला, रस वाला और स्पर्श वाला है। गुण की अपेक्षा—वह ग्रहण गुण वाला है।

विवेचन—अस्तिकाय : स्वरूप, प्रकार एवं विश्लेषण—प्रस्तुत ६ सूत्रों में अस्तिकाय के पांच भेद एवं उनमें से धर्मास्तिकाय आदि प्रत्येक के स्वरूप एवं प्रकार का निरूपण किया गया है।

'अस्तिकाय' का निर्वचन—'अस्ति' का अर्थ है—प्रदेश और 'काय' का अर्थ है—समूह। अतः अस्तिकाय का अर्थ हुआ—'प्रदेशों का समूह' अथवा 'अस्ति' शब्द त्रिकालसूचक निपात (अव्यय) है। इस दृष्टि से अस्तिकाय का अर्थ हुआ—जो प्रदेशों का समूह भूतकाल में था, वर्तमानकाल में है और भविष्यकाल में रहेगा।

पांचों का यह क्रम क्यों?—धर्म शब्द मंगल सूचक होने से द्रव्यों में सर्वप्रथम धर्मास्तिकाय बताया है। धर्मास्तिकाय से विपरीत अधर्मास्तिकाय होने से उसे धर्मास्तिकाय के बाद रखा गया। इन दोनों के लिए आकाशास्तिकाय आधाररूप होने से इन दोनों के बाद उसे रखा गया। आकाश की तरह जीव भी अनन्त और अमूर्त होने से इन दोनों तत्त्वों में समानता की दृष्टि से आकाशास्ति-काय के बाद जीवास्तिकाय को रखा गया। पुद्गल द्रव्य जीव के उपयोग में आता है, इसलिए जीवास्तिकाय के बाद पुद्गलास्तिकाय कहा गया।

पंचास्तिकाय का स्वरूप-विश्लेषण—धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य वर्णादि रहित होने से अरूपी-अमूर्त्त हैं, किन्तु वे धर्म (स्वभाव) रहित नहीं हैं। धर्मास्तिकायादि द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत हैं, प्रदेशों की अपेक्षा अवस्थित हैं, धर्मास्तिकायादि प्रत्येक लोकद्रव्य (पंचास्तिकायरूप लोक के अंशरूप द्रव्य) हैं। गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय गति-गुण वाला है, जैसे मछली आदि के गमन करने में पानी सहायक होता है, वैसे ही धर्मास्तिकाय गतिक्रिया में परिणत हुए जीवों और पुद्गलों को सहायता देता है। किन्तु स्वयं गतिस्वभाव से रहित है—सदा स्थिर ही रहता है, फिर भी वह गति में निमित्त होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति क्रिया में परिणत हुए जीवों और पुद्गलों को सहायता देता है, जैसे विश्राम चाहने वाले थके हुए पथिक को छायादार वृक्ष सहायक होता है। अवगाहन गुण वाला आकाशास्तिकाय जीवादि द्रव्यों को अवकाश देता है, जैसे बेरों को रखने में कुण्डा आधारभूत होता है। जीवास्तिकाय उपयोगगुण (चैतन्य या चित्-शक्ति) वाला है। पुद्गलास्तिकाय ग्रहण-गुण वाला है; क्योंकि औदारिकादि अनेक पुद्गलों के साथ जीव का ग्रहण (परस्पर सम्बन्ध) होता है। अथवा पुद्गलों का परस्पर में ग्रहण-बन्ध होता है।[1]

धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—

७. [१] एगे भंते! धम्मत्थिकायपदेसे 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-१ प्र.] भगवन्! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४८

[७-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

[२] एवं दोण्णि तिण्णि चत्तारि पंच छ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा भंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-२ प्र.] भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय के दो प्रदेशों, तीन प्रदेशों, चार प्रदेशों, पांच प्रदेशों, छह प्रदेशों, सात प्रदेशों, आठ प्रदेशों, नौ प्रदेशों, दस प्रदेशों, संख्यात प्रदेशों तथा असंख्येय प्रदेशों को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय के असंख्यात-प्रदेशों को भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

[३] एगपदेसूणे वि य णं भंते ! धम्मत्थिकाए 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-३ प्र.] भगवन् ! एक प्रदेश से कम धर्मास्तिकाय को क्या 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

[७-३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं; अर्थात्—एक प्रदेश कम धर्मास्तिकाय को भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

[४] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव (सु. ७ [२]) एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?'

से नूणं गोयमा ! खंडे चक्के ? सगले चक्के ?

भगवं ! नो खंडे चक्के, सगले चक्के।

एवं छत्ते चम्मे दंडे दूसे आयुहे मोयए। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया'।

[७-४ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को यावत् एक प्रदेश कम हो, वहाँ तक उसे धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता ?

[७-४ उ.] गौतम ! (यह बतलाओ कि) चक्र का खण्ड (भाग या टुकड़ा) चक्र कहलाता है या सम्पूर्ण चक्र चक्र कहलाता है ?

(गौतम—) भगवन् ! चक्र का खण्ड चक्र नहीं कहलाता, किन्तु सम्पूर्ण चक्र, चक्र कहलाता है।

(भगवान्—) इस प्रकार छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, शस्त्र और मोदक के विषय में भी जानना चाहिए। अर्थात्—समग्र हों, तभी छत्र आदि कहे जाते हैं, इनके खण्ड को छत्र आदि नहीं कहा जाता। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को, यावत् जब तक उसमें एक प्रदेश भी कम हो, तब तक उसे, धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

८. [१] से किं खाइं णं भंते ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! असंखेज्जा धम्मत्थिकायपदेसा ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगग्गहण-गहिया, एस णं गोयमा ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया।

[८-१ प्र.] भगवन् ! तब फिर यह कहिए कि धर्मास्तिकाय किसे कहा जा सकता है ?

[८-१ उ.] हे गौतम ! धर्मास्तिकाय में असंख्येय प्रदेश हैं, जब वे सब कृत्स्न (पूरे), परिपूर्ण, निरवशेष (एक भी बाकी न रहे) तथा एकग्रहणगृहीत अर्थात्—एक शब्द से कहने योग्य हो जाएँ, तब उस (असंख्येयप्रदेशात्मक सम्पूर्ण द्रव्य) को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है।

[२] एवं अहम्मत्थिकाए वि।

[८-२] इसी प्रकार 'अधर्मास्तिकाय' के विषय में जानना चाहिए।

[३] आगासत्थिकाय-जीवत्थिकाय-पोग्गलत्थिकाया वि एवं चेव। नवरं पदेसा अणंता भाणियव्वा। सेसं तं चेव।

[८-३] इसी तरह आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष बात यह है कि इन तीनों द्रव्यों के अनन्त प्रदेश कहना चाहिए। बाकी सारा वर्णन पूर्ववत् समझना।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—प्रस्तुत दो सूत्रों में उल्लिखित प्रश्नोत्तरों से यह स्वरूप निर्धारित कर दिया गया है कि धर्मास्तिकायादि के एक खण्ड या एक प्रदेश न्यून को धर्मास्तिकायादि नहीं कहा जा सकता, समग्रप्रदेशात्मक रूप को ही धर्मास्तिकायादि कहा जा सकता है।

निश्चयनय का मन्तव्य—प्रस्तुत में जो यह बताया गया है कि जब तक एक भी प्रदेश कम हो, तब तक वे धर्मास्तिकाय आदि नहीं कहे जा सकते, किन्तु जब सभी प्रदेश परिपूर्ण हों, तभी वे धर्मास्तिकाय आदि कहे जा सकते हैं। अर्थात् जब वस्तु पूरी हो, तभी वह वस्तु कहलाती है, अधूरी वस्तु, वस्तु नहीं कहलाती; यह निश्चयनय का मन्तव्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से तो थोड़ी-सी अधूरी या विकृत वस्तु को भी पूरी वस्तु कहा जाता है, उसी नाम से पुकारा जाता है। व्यवहारनय मोदक के टुकड़े या कुछ न्यून अंश को भी मोदक ही कहता है। जिस कुत्ते के कान कट गए हों, उसे भी कुत्ता ही कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का एक भाग विकृत या न्यून हो गया हो, वह वस्तु अन्य वस्तु नहीं हो जाती, अपितु वह वही मूल वस्तु कहलाती है; क्योंकि उसमें उत्पन्न विकृति या न्यूनता मूल वस्तु की पहचान में बाधक नहीं होती। यह व्यवहारनय का मन्तव्य है। जीवास्तिकाय के अनन्तप्रदेशों का कथन समस्त जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिए। एक जीव-

द्रव्य के प्रदेश असंख्यात ही होते हैं। एक पुद्गल के संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्तप्रदेश होते हैं। समस्त पुद्गलास्तिकाय के मिलकर अनन्त (अनन्तानन्त) प्रदेश होते हैं।[1]

उत्थानादियुक्त जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—

९. [१] जीवे णं भंते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! जीवे णं सउट्ठाणे जाव उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया।

[९-१ प्र.] भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम वाला जीव आत्मभाव (अपने उत्थानादि परिणामों) से जीवभाव (चैतन्य) को प्रदर्शित—प्रकट करता है; क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-१ उ.] हाँ, गौतम ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से जीवभाव को उपदर्शित—प्रकट करता है, ऐसा कहा जा सकता है।

[२] से केणट्ठेणं जाव वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! जीवे णं अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं एवं सुतनाणपज्जवाणं ओहिनाणपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मतिअण्णाणपज्जवाणं सुतअण्णाणपज्जवाणं विभंगणाणपज्जवाणं चक्खुदंसणपज्जवाणं अचक्खुदंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवाणं उवओगं गच्छति, उवयोगलक्खणे णं जीवे। से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ—गोयमा ! जीवे णं सउट्ठाणे जाव वत्तव्वं सिया।

[९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि तथारूप जीव आत्मभाव से जीवभाव को प्रदर्शित करता है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-२ उ.] गौतम ! जीव आभिनिबोधिक ज्ञान के अनन्त पर्यायों, श्रुतज्ञान के अनन्त पर्यायों, अवधिज्ञान के अनन्त पर्यायों, मनःपर्यवज्ञान के अनन्त पर्यायों एवं केवलज्ञान के अनन्त पर्यायों के तथा मतिअज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंग (अवधि) अज्ञान के अनन्तपर्यायों के, एवं चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन के अनन्तपर्यायों के उपयोग को प्राप्त करता है, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम वाला जीव, आत्मभाव से जीवभाव (चैतन्य स्वरूप) को प्रदर्शित (प्रकट) करता है।

विवेचन—जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—प्रस्तुत सूत्र में उत्थानादि युक्त संसारी जीवों द्वारा किस प्रकार आत्मभाव (शयन-गमनादि रूप आत्मपरिणाम) से चैतन्य (जीवत्व-चेतनाशक्ति) प्रकट (प्रदर्शित) की जाती है ? इस शंका का युक्तियुक्त समाधान अंकित किया गया है।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४९

उत्थानादि विशेषण संसारी जीव के हैं—मूलपाठ में 'सउट्ठाणे' आदि जो जीव के विशेषण दिए गए हैं, वे संसारी जीवों की अपेक्षा से दिये गए हैं, क्योंकि मुक्त जीवों में उत्थानादि नहीं होते।

'आत्मभाव' का अर्थ है—उत्थान (उठना), शयन, गमन, भोजन, भाषण आदि रूप आत्मपरिणाम। इस प्रकार के आत्मपरिणाम द्वारा जीव का जीवत्व (चैतन्य—चेतनाशक्ति) प्रकाशित होता है; क्योंकि जब विशिष्ट चेतनाशक्ति होती है, तभी विशिष्ट उत्थानादि होते हैं।

पर्यव-पर्याय—प्रज्ञाकृत विभाग या परिच्छेद को पर्यव या पर्याय कहते हैं, प्रत्येक ज्ञान, अज्ञान एवं दर्शन के ऐसे अनन्त-अनन्तपर्याय होते हैं। उत्थान-शयनादि भावों में प्रवर्तमान जीव आभिनिवोधिक आदि ज्ञानसम्बन्धी अनन्तपर्यायरूप एक प्रकार के चैतन्य (उपयोग) को प्राप्त करता है। यही जीवत्व (चैतन्यशक्तिमत्ता) को प्रदर्शित करता है।[1]

आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण—

१०. कतिविहे णं भंते ! आकासे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा—लोयाकासे य अलोयागासे य।

[१० प्र.] भगवन् ! आकाश कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] गौतम ! आकाश दो प्रकार का कहा गया है। यथा—लोकाकाश और अलोकाकाश।

११. लोयाकासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपदेसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा ?

गोयमा ! जीवा वि जीवदेसा वि जीवपदेसा वि, अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपदेसा वि। जे जीवा ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अणिंदिया। जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा जाव अणिंदियदेसा। जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा जाव अणिंदिय-पदेसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—रूवी य अरूवी य। जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—खंधा खंधदेसा खंधपदेसा परमाणुपोग्गला। जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, नोधम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए, नोअधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा, अद्धासमए।

[११ प्र.] भगवन् ! क्या लोकाकाश में जीव हैं ? जीव के देश हैं ? जीव के प्रदेश हैं ? क्या अजीव हैं ? अजीव के देश हैं ? अजीव के प्रदेश हैं ?

[११ उ.] गौतम ! लोकाकाश में जीव भी हैं, जीव के देश भी हैं, जीव के प्रदेश भी हैं; अजीव भी हैं, अजीव के देश भी हैं और अजीव के प्रदेश भी हैं। जो जीव हैं, वे नियमत: (निश्चित रूप से) एकेन्द्रिय हैं, द्वीन्द्रिय हैं, त्रीन्द्रिय हैं, चतुरिन्द्रिय हैं, पंचेन्द्रिय हैं और अनिन्द्रिय हैं। जो जीव के देश हैं, वे नियमत: एकेन्द्रिय के देश हैं, यावत् अनिन्द्रिय के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं, वे

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४९

नियमत: एकेन्द्रिय के प्रदेश हैं, यावत् अनिन्द्रिय के प्रदेश हैं। जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं यथा—रूपी और अरूपी। जो रूपी हैं, वे चार प्रकार के कहे गए हैं—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणुपुद्गल। जो अरूपी हैं, उनके पांच भेद कहे गए हैं। वे इस प्रकार—धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नोअधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय है।

१२. अलोगागासे णं भंते ! किं जीवा ? पुच्छा तह चेव (सु. ११)।

गोयमा ! नो जीवा जाव नो अजीवप्पएसा। एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या अलोकाकाश में जीव हैं, यावत् अजीवप्रदेश हैं ? इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा।

[१२ उ.] गौतम ! अलोकाकाश में न जीव हैं, यावत् न ही अजीवप्रदेश हैं। वह एक अजीवद्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनन्त अगुरुलघु-गुणों से संयुक्त है; (क्योंकि लोकाकाश सर्वाकाश का अनन्तवाँ भाग है, अत:) वह अनन्तभाग-कम सर्वाकाशरूप है।

विवेचन—आकाशास्तिकाय : भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों द्वारा आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एवं उनमें जीव-अजीव आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है।

देश, प्रदेश—प्रस्तुत प्रसंग में देश का अर्थ है—जीव या अजीव के बुद्धिकल्पित दो, तीन आदि विभाग; तथा प्रदेश का अर्थ है—जीवदेश या अजीवदेश के बुद्धिकल्पित ऐसे सूक्ष्मतम विभाग, जिनके फिर दो विभाग न हो सकें।

जीव-अजीव के देश-प्रदेशों का पृथक् कथन क्यों ?—यद्यपि जीव या अजीव कहने से ही क्रमश: जीव तथा अजीव के देश तथा प्रदेशों का ग्रहण हो जाता है, क्योंकि जीव या अजीव के देश व प्रदेश जीव या अजीव से भिन्न नहीं हैं, तथापि इन दोनों (देश और प्रदेश) का पृथक् कथन 'जीवादि पदार्थ प्रदेश-रहित हैं', इस मान्यता का निराकरण करने एवं जीवादि पदार्थ सप्रदेश हैं, इस मान्यता को सूचित करने के लिए किया गया है।

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, परमाणुपुद्गल—परमाणुओं का समूह 'स्कन्ध' कहलाता है। स्कन्ध के दो, तीन आदि भागों को स्कन्ध-देश कहते हैं, तथा स्कन्ध के ऐसे सूक्ष्म अंश, जिनके फिर विभाग न हो सकें, उन्हें स्कन्धप्रदेश कहते हैं। 'परमाणु' ऐसे सूक्ष्मतम अंशों को कहते हैं, जो स्कन्धभाव को प्राप्त नहीं हुए—किसी से मिले हुए नहीं—स्वतंत्र हैं।

अरूपी के दस भेद के बदले पांच भेद ही क्यों ?—अरूपी अजीव के अन्यत्र दस भेद (धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीनों के देश और प्रदेश तथा अद्धासमय) कहे गए हैं, किन्तु यहाँ पांच ही भेद कहने का कारण यह है कि—तीन भेद वाले आकाश को यहाँ आधाररूप माना गया है, इस कारण उसके तीन भेद यहाँ नहीं गिने गए हैं। इन तीन भेदों को निकाल देने पर शेष रहे सात भेद। उनमें भी धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के देश का ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक की

पृच्छा होने से यहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध के रूप में पूर्ण का ही ग्रहण किया गया है। इसलिए इन दो भेदों को निकाल देने पर पांच भेद ही शेष रहते हैं।

अद्धा-समय—अद्धा अर्थात् काल, तद्‌रूप जो समय, वह अद्धासमय है।

अलोकाकाश—में जीवादि कोई पदार्थ नहीं है किन्तु उसे अजीवद्रव्य का एक भाग-रूप कहा गया है, उसका कारण है—आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश, ये दो भाग हैं। इस दृष्टि से अलोकाकाश, आकाश (अजीवद्रव्य) का एक भाग सिद्ध हुआ। अलोकाकाश अगुरुलघु है, गुरुलघु नहीं। वह स्व-पर-पर्यायरूप अगुरुलघु स्वभाव वाले अनन्तगुणों से युक्त है। अलोकाकाश से लोकाकाश अनन्तभागरूप है। दोनों आकाशों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं होते।

लोकाकाश—जहाँ धर्मास्तिकायादि द्रव्यों की वृत्ति-प्रवृत्ति हो वह क्षेत्र लोकाकाश है।[1]

धर्मास्तिकाय आदि का प्रमाण—

१३. [१] धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ?

गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय कितना बड़ा कहा गया है ?

[१३-१ उ.) गौतम ! धर्मास्तिकाय लोकरूप है, लोकमात्र है, लोक-प्रमाण है, लोकस्पृष्ट है और लोक को ही स्पर्श करके रहा हुआ है।

[२] एवं अधम्मत्थिकाए, लोयाकासे, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए। पंच वि एक्काभिलावा।

[१३-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। इन पांचों के सम्बन्ध में एक समान अभिलाप (पाठ) है।

विवेचन—धर्मास्तिकाय आदि का प्रमाण—प्रस्तुत सूत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय, इन पांचों को लोक-प्रमाण, लोकमात्र, लोकस्पृष्ट एवं लोकरूप आदि बताया गया है। लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने ही धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं। धर्मास्तिकायादि के सब प्रदेश लोकाकाश के साथ स्पृष्ट हैं और धर्मास्तिकायादि अपने समस्त प्रदेशों द्वारा लोक को स्पर्श करके रहे हुए हैं।[2]

धर्मास्तिकाय आदि की स्पर्शना—

१४. अहोलोए णं भंते ! धम्मत्थिकायस्स केवतियं फुसति ?

गोयमा ! सातिरेगं अद्धं फुसति।

[१४ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को अधोलोक स्पर्श करता है ?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५०-१५१

२. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक, १५१

[१४ उ.] गौतम ! अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग को स्पर्श करता है ।

१५. तिरियलोए णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! असंखेज्जइभागं फुसइ ।

[१५ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को तिर्यग्लोक स्पर्श करता है ? पृच्छा० ।

[१५ उ.] गौतम ! तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करता है ।

१६. उड्ढलोए णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! देसोणं अद्धं फुसइ ।

[१६ प्र] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को ऊर्ध्वलोक स्पर्श करता है ?

[१६ उ.] गौतम ! ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन (कुछ कम) अर्धभाग को स्पर्श करता है ।

१७. इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसति ? असंखेज्जइभागं फुसइ ? संखिज्जे भागे फुसति ? असंखेज्जे भागे फुसति ? सव्वं फुसति ?

गोयमा ! णो संखेज्जइभागं फुसति, असंखेज्जइभागं फुसइ, णो संखेज्जे०, णो असंखेज्जे०, नो सव्वं फुसति ।

[१७ प्र.] भगवन् ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी, क्या धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श करती है या असंख्यात भाग को स्पर्श करती है, अथवा संख्यात भागों को स्पर्श करती है या असंख्यात भागों को स्पर्श करती है अथवा समग्र को स्पर्श करती है ?

[१७ उ.] गौतम ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी, धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श नहीं करती, अपितु असंख्यात भाग को स्पर्श करती है । इसी प्रकार संख्यात भागों को, असंख्यात भागों को या समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श नहीं करती ।

१८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदही धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसति ?० ।

जहा रयणप्पभा (सु. १७) तहा घणोदहि-घणवात-तणुवाया वि ।

[१८ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी का घनोदधि, धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है; यावत् समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ? इत्यादि पृच्छा ।

[१८ उ.] हे गौतम ! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के लिए कहा गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधि के विषय में कहना चाहिये । और उसी तरह घनवात और तनुवात के विषय में भी कहना चाहिए ।

१६. [१] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए श्रोवासंतरे धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइ-भागं फुसति, असंखेज्जइभागं फुसइ जाव (सु. १७) सव्वं फुसइ।

गोयमा ! संखेज्जइभागं फुसइ, णो असंखेज्जेइभागं फुसइ, नोसंखेज्जे०, नो असंखेज्जे०, नो सव्वं फुसइ।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अवकाशान्तर क्या धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है, अथवा असंख्येय भाग को स्पर्श करता है ?, यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ?

[१९-१ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अवकाशान्तर, धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है, किन्तु असंख्येय भाग को, संख्येय भागों को, असंख्येय भागों को तथा सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श नहीं करता।

[२] ओवासंतराइं सव्वाइं जहा रयणप्पभाए।

[१६-२] इसी तरह समस्त अवकाशान्तरों के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

२०. जहा रयणप्पभाए पुढवीए वत्तव्वया भणिया एवं जाव[1] अहेसत्तमाए।

[२०] जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में कहा, वैसे ही यावत् नीचे सातवीं पृथ्वी तक कहना चाहिए।

२१. [जंबुदीवाइया दीवा, लवणसमुद्दाइया समुद्दा][2] एवं सोहम्मे कप्पे जाव[3] ईसिपब्भारा-पुढवीए। एते सव्वे वि असंखेज्जइभागं फुसंति, सेसा पडिसेहेतव्वा।

[२१] [तथा जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र,] सौधर्मकल्प से ले कर (यावत्) ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक, ये सभी धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करते हैं। शेष भागों की स्पर्शना का निषेध करना चाहिए।

२२. एवं अधम्मत्थिकाए। एवं लोयागासे वि। गाहा—

पुढवोदही घण तणू कप्पा गेवेज्जऽणुत्तरा सिद्धी।
संखेज्जइभागं अंतरेसु सेसा असंखेज्जा ॥१॥

॥ वितीय-सए दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ विइयं सयं समत्तं ॥

---

१. 'जाव' पद से शर्कराप्रभा आदि सातों नरकपृथ्वियों के नाम समझ लेने चाहिए।

२. वृत्तिकार द्वारा ५२ सूत्रों की सूचना के अनुसार यहाँ 'जंबुद्दीवाइया·······समुद्दा' यह पाठ संगत नहीं लगता, इसलिए ब्राकेट में दिया गया है।

३. 'जाव' पद से 'ईशान' से लेकर 'ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी' तक समझ लेना चाहिए।

[२२] जिस तरह धर्मास्तिकाय की स्पर्शना कही, उसी तरह अधर्मास्तिकाय और लोकाकाशास्तिकाय की स्पर्शना के विषय में भी कहना चाहिए।

गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात, कल्प, ग्रैवेयक, अनुत्तर, सिद्धि (ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी) तथा सात अवकाशान्तर, इनमें से अवकाशान्तर तो धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग का स्पर्श करते हैं और शेष सब धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग का स्पर्श करते हैं।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि की स्पर्शना—प्रस्तुत नौ सूत्रों (१४ से २२ तक) में तीनों लोक, रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ, उन सातों के घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, सौधर्मकल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक धर्मास्तिकायादि के संख्येय, या असंख्येय तथा समग्र आदि भाग के स्पर्श का विचार किया गया है।

तीनों लोकों द्वारा धर्मास्तिकाय का स्पर्श कितना और क्यों?—धर्मास्तिकाय चतुर्दशरज्जुप्रमाण समग्र लोकव्यापी है और अधोलोक का परिमाण सात रज्जु से कुछ अधिक है। इसलिए अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग का स्पर्श करता है। तिर्यग्लोक का परिमाण १८०० योजन है और धर्मास्तिकाय का परिमाण असंख्येय योजन का है। इसलिए तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग का स्पर्श करता है। ऊर्ध्वलोक देशोन सात रज्जुपरिमाण है और धर्मास्तिकाय चौदह रज्जु-परिमाण है। इसलिए ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन अर्धभाग का स्पर्श करता है।

वृत्तिकार के अनुसार ५२ सूत्र—यहाँ रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी के विषय में पांच-पाँच सूत्र होते हैं (यथा—रत्नप्रभा, उसका घनोदधि, घनवात, तनुवात और अवकाशान्तर)। इस दृष्टि से सातों पृथ्वियों के कुल ३५ सूत्र हुए। बारह देवलोक के विषय में बारह सूत्र, ग्रैवेयकत्रिक के विषय में तीन सूत्र, अनुत्तरविमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के विषय में दो सूत्र, इस प्रकार सब मिलाकर ३५+१२+३+२=५२ सूत्र होते हैं। इन सभी सूत्रों में—'क्या धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है?....यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है?' इस प्रकार कहना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है—'सभी अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को और शेष सभी असंख्येय भाग को स्पर्श करते हैं।'

अधर्मास्तिकाय और लोकाकाशास्तिकाय के विषय में भी इसी तरह सूत्र (आलापक) कहने चाहिए।[1]

॥ द्वितीय शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५२

तृतीय शतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का यह तृतीय शतक है।

* इसमें मुख्यतया तपस्या आदि क्रियाओं से होने वाली दिव्य उपलब्धियों का वर्णन है। इसमें दस उद्देशक हैं।

* प्रथम उद्देशक में मोका नगरी में भगवान् के पदार्पण का उल्लेख करके उसमें उद्देशक-प्रतिपादित विषयों के प्रश्नोत्तर का संकेत किया गया है। तदनन्तर अग्निभूति अनगार द्वारा पूछी गई चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ समस्त प्रमुख देव-देवियों की ऋद्धि, कान्ति, प्रभाव, वल, यश, सुख और वैक्रियशक्ति का, फिर वायुभूति अनगार द्वारा पूछी गई वलीन्द्र एवं उसके अधीनस्थ समस्त प्रमुख देववर्ग की ऋद्धि आदि एवं वैक्रियशक्ति का, तत्पश्चात् पुनः अग्निभूति द्वारा पूछे गए नागकुमारराज धरणेन्द्र तथा अन्य भवनपतिदेवों के इन्द्रों, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क के इन्द्रों, शक्रेन्द्र, तिष्यक सामानिक देव तथा ईशानेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक के वैमानिक इन्द्रों की ऋद्धि आदि एवं वैक्रियशक्ति की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् राजगृह में इन्द्रभूति गौतम गणधर द्वारा ईशानेन्द्र की दिव्य ऋद्धि वैक्रियशक्ति आदि के सम्वन्ध में पूछे जाने पर भगवान् द्वारा तामली वालतपस्वी का गृहस्थ-जीवन तथा प्राणामा प्रवज्याग्रहण से लेकर ईशानेन्द्र वनने तक विस्तृत वर्णन किया गया है। फिर तामली तापस द्वारा वलिचंचावासी असुरों द्वारा वलीन्द्र वनने के निदान का अस्वीकार करने से प्रकुपित होकर शव की विडम्वना करने पर ईशानेन्द्र के रूप में भू. पू. तामली का प्रकोप, उससे भयभीत होकर असुरों द्वारा क्षमायाचना आदि वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है। अन्त में, ईशानेन्द्र की स्थिति, मुक्ति तथा शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र की वैभवसम्वन्धी तुलना, सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि का निरूपण किया गया है।

* द्वितीय उद्देशक में असुरकुमार देवों के स्थान, उनके द्वारा ऊर्ध्व-अधो-तिर्यग्गमन–सामर्थ्य, तत्पश्चात् पूर्वभव में पूरण तापस द्वारा दानामा प्रव्रज्या से लेकर असुरराज-चमरेन्द्रत्व की प्राप्ति तक का समग्र वर्णन है। उसके बाद भगवदाश्रय लेकर चमरेन्द्र द्वारा शक्रेन्द्र को छेड़े जाने पर शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत है। तत्पश्चात् फेंकी हुई वस्तु को पकड़ने तथा शक्रेन्द्र तथा चमरेन्द्र के ऊर्ध्व-अधः, तिर्यग्गमन-सामर्थ्य-सम्वन्धी प्रश्नोत्तर हैं। अन्त में, वज्रभयमुक्त चमरेन्द्र द्वारा भगवान् के प्रति कृतज्ञता, क्षमायाचना तथा नाट्यविधि-प्रदर्शन का और असुरकुमार देवों द्वारा सौधर्मकल्पगमन का कारणान्तर वताया गया है।

* तृतीय उद्देशक में पांच क्रियाओं, उनके अवान्तर भेदों, सक्रिय अक्रिय जीवों की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व के कारणों का वर्णन है, तथा प्रमत्त-अप्रमत्त संयम के सर्वकाल एवं लवणसमुद्रीय हानि-वृद्धि के कारण का प्ररूपण है।

※ चतुर्थ उद्देशक में भावितात्मा अनगार की जानने, देखने एवं विकुर्वणा करने की शक्ति की वायुकाय, मेघ आदि द्वारा रूपपरिणमन व गमनसम्बन्धी चर्चा है। चौवीस दण्डकों की लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा है।

※ पंचम उद्देशक में भावितात्मा अनगार द्वारा स्त्री आदि रूपों की वैक्रिय एवं अभियोगसम्बन्धी चर्चा है।

※ छठे उद्देशक में मायी मिथ्यादृष्टि एवं अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और दर्शन तथा चमरेन्द्रादि के आत्म-रक्षक देवों की संख्या का प्ररूपण है।

※ सातवें उद्देशक में शक्रेन्द्र के चारों लोकपालों के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन है।

※ आठवें उद्देशक में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के अधिपतियों का वर्णन है।

※ नौवें उद्देशक में पंचेन्द्रिय-विषयों से सम्बन्धित अतिदेशात्मक वर्णन है।

※ दसवें उद्देशक में चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषदा-सम्बन्धी प्ररूपणा है।[1]

□□

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूल पाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. ३४ से ३६ तक।
   (ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त), खण्ड—२, पृ. १–२

तइयं सयं—तृतीय शतक

संग्रहणी गाथा

तृतीय शतक की संग्रहणी गाथा—

१. केरिस विउव्वणा १ चमर २ किरिय ३ जाणित्थि ४-५ नगर ६ पाला य ७ ।

अहिवति ८ इंदिय ९ परिसा १० ततियम्मि सते दसुद्देसा ।।१।।

[१] तृतीय शतक में दस उद्देशक हैं । उनमें से प्रथम उद्देशक में चमरेन्द्र की विकुर्वणा-शक्ति (विविध रूप करने—बनाने की शक्ति) कैसी है ? इत्यादि प्रश्नोत्तर हैं, दूसरे उद्देशक में चमरेन्द्र के उत्पात का कथन है । तृतीय उद्देशक में क्रियाओं की प्ररूपणा है । चतुर्थ में देव द्वारा विकुर्वित यान को साधु जानता है ? इत्यादि प्रश्नों का निर्णय है । पाँचवें उद्देशक में साधु द्वारा (बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके) स्त्री आदि के रूपों की विकुर्वणा-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं । छठे में नगर-सम्बन्धी वर्णन है । सातवें में लोकपाल-विषयक वर्णन है । आठवें में अधिपति-सम्बन्धी वर्णन है । नौवें उद्देशक में इन्द्रियों के सम्बन्ध में निरूपण है और दसवें उद्देशक में चमरेन्द्र की परिषद् (सभा) का वर्णन है ।

पढमो उद्देसओ : विउव्वणा

[पढमो उद्देसो 'मोया—केरिस विउव्वणा']

प्रथम उद्देशक : विकुर्वणा

प्रथम उद्देशक का उपोद्घात—

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं मोया नामं नगरी होत्था । वण्णओ । तीसे णं मोयाए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे णं नंदणे नामं चेतिए होत्था । वण्णओ । तेणं कालेणं २ सामी समोसढे । परिसा निग्गच्छति । पडिगता परिसा ।

[२] उस काल उस समय में 'मोका' नाम की नगरी थी । उसका वर्णन करना चाहिए । उस मोका नगरी के बाहर उत्तरपूर्व के दिशाभाग में, अर्थात्—ईशानकोण में नन्दन नाम का चैत्य (उद्यान) था । उसका वर्णन करना चाहिए । उस काल उस समय में (एकदा) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे । (श्रमण भगवान् महावीर का आगमन जान कर) परिषद् (जनता) (उनके दर्शनार्थ) निकली । (भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर) परिषद् वापस चली गई ।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का उपोद्घात—प्रथम उद्देशक कब, कहाँ (किस नगरी में, किस

जगह), किसके द्वारा कहा गया है ? इसे बताने हेतु भूमिका के रूप में यह उपोद्घात[1] प्रस्तुत किया गया है।

चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा शक्ति—

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स दोच्चे अंतेवासी अग्गिभूती नामं अणगारे गोतमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव[2] पज्जुवासमाणे एवं वदासी—चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया केमहिड्ढीए ? केमहज्जुतीए ? केमहाबले ? केमहायसे ? केमहासोक्खे ? केमहाणुभागे ? केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरे णं असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए जाव महाणुभागे। से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससतसहस्साणं, चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं, तायत्तीसाए तायत्तीसगाण जाव[3] विहरति। एमहिड्ढीए जाव एमहाणुभागे। एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवती जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिता, एवामेव गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णति, २ संखेज्जाइं जोअणाइं दंडं निसिरति, तं जहा—रतणाणं जाव[4] रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडेति, २ अहासुहुमे पोग्गले परियाइयति, २ दोच्चं पि वेउव्वियस-मुग्घाएणं समोहण्णति, २ पभू णं गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वितिकिण्णं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए। अदुत्तरं च णं गोतमा ! पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं असुर-कुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस णं गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अयमेतारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, णो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा।

---

१. 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थमुपोद्घातं विदुर्बुधाः'—साहित्यकारों द्वारा की गई इस परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत (वक्ष्यमाण) अर्थ (बात) को सिद्ध-प्रमाणित करने हेतु किये गये चिन्तन या कथन को विद्वान् उपोद्घात कहते हैं।

२. 'जाव' पद से औपपातिक सूत्र के उत्तरार्द्ध में प्रथम और द्वितीय सूत्र में उक्त इन्द्रभूति गौतम स्वामी के विशेषणों से युक्त पाठ समझना चाहिए।

३. 'जाव' पद से 'चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउण्हं चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं चमरचंचारायहाणिवत्थ-व्वाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं आणाईसर-सेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महयाऽऽहयनट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घणमुइंगपडुप्प-वाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे;' यह पाठ समझना चाहिए।

४. 'जाव' पद से 'वइराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधियाणं जोतीरसाणं अंकाणं अंजणाणं रयणाणं जायरूवाणं अंजणपुलयाणं फलिहाणं' यह पाठ समझना चाहिए।

[३ प्र.] उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के द्वितीय अन्तेवासी (शिष्य) अग्निभूति नामक अनगार (गणधर) जिनका गोत्र गौतम था, तथा जो सात हाथ ऊँचे (लम्बे) थे, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) (भगवान् की) पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले (पूछने लगे)—"भगवन् ! असुरों का इन्द्र असुरराज चमरेन्द्र कितनी बड़ी ऋद्धि वाला है ? कितनी बड़ी द्युति-कान्ति वाला है ? कितने महान् बल से सम्पन्न है ? कितना महान् यशस्वी है ? कितने महान् सुखों से सम्पन्न है ? कितने महान् प्रभाव वाला है ? और वह कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है ?"

[३ उ.] गौतम ! असुरों का इन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला है यावत् महाप्रभावशाली है। वह वहाँ चौंतीस लाख भवनावासों पर, चौंसठ हजार सामानिक देवों पर और तैंतीस त्रायस्त्रिंशक देवों पर आधिपत्य (सत्ताधीशत्व=स्वामित्व) करता हुआ यावत् विचरण करता है। (अर्थात्—) वह चमरेन्द्र इतनी बड़ी ऋद्धि वाला है, यावत् ऐसे महाप्रभाव वाला है; तथा उसकी विक्रिया करने की शक्ति इस प्रकार है—हे गौतम ! जैसे—कोई युवा पुरुष (अपने) हाथ से युवती स्त्री के हाथ को (दृढ़तापूर्वक) पकड़ता (पकड़ कर चलता) है, अथवा जैसे—गाड़ी के पहिये (चक्र) की धुरी (नाभि) आरों से अच्छी तरह जुड़ी हुई (आयुक्त=संलग्न) एवं सुसम्बद्ध होती है, इसी प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर, वैक्रिय-समुद्घात द्वारा समवहत होता है, समवहत होकर संख्यात योजन तक लम्बा दण्ड (बनाकर) निकालता है। तथा उसके द्वारा रत्नों के, यावत् रिष्ट रत्नों के स्थूल पुद्गलों को झाड़ (गिरा) देता है और सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। फिर दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है। (ऐसी प्रक्रिया से) हे गौतम ! वह असुरेन्द्र असुरराज चमर, बहुत-से (स्वशरीर प्रतिबद्ध) असुरकुमार देवों और (असुरकुमार-) देवियों द्वारा (इस तिर्यग्लोक में) परिपूर्ण (केवलकल्प) जम्बूद्वीप नामक द्वीप को आकीर्ण (व्याप्त), व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, संस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढ़ावगाढ़ करने में समर्थ है (ठसाठस भर सकता है)। हे गौतम ! इसके उपरान्त वह असुरेन्द्र असुरराज चमर, अनेक असुरकुमार-देव-देवियों द्वारा इस तिर्यग्लोक में भी असंख्यात द्वीपों और समुद्रों तक के स्थल को आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, संस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढ़ावगाढ़ कर सकता है। (अर्थात्—चमरेन्द्र अपनी वैक्रिय शक्ति से दूसरे रूप इतने अधिक विकुर्वित कर सकता है, जिनसे असंख्य द्वीप-समुद्रों तक का स्थल भर जाता है।) हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की (ही सिर्फ) ऐसी (पूर्वोक्त प्रकार की) शक्ति है, विषय है, विषयमात्र है, परन्तु चमरेन्द्र ने इस (शक्ति की) सम्प्राप्ति से कभी (इतने रूपों का) विकुर्वण किया नहीं, न ही करता है, और न ही करेगा।

४. जति णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा केमहिड्ढीया जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा महिड्ढीया जाव महाणुभागा। ते णं तत्थ साणं साणं भवणाणं, साणं साणं सामाणियाणं, साणं साणं अग्गमहिसीणं, जाव[1] दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति। एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरयाउत्ता सिया, एवामेव गोतमा ! चमरस्स

१. 'जाव' पद से यहाँ भी सू. ३ की तरह ......'अन्नेसि च बहूणं'......'दिव्वाइं' तक का पाठ समझना।

असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणिए देवे वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, २ पभू णं गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणिए देवे केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वितिकिण्णं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए। अदुत्तरं च णं गोतमा ! पभू चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणियदेवे तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस णं गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगस्स सामाणियदेवस्स अयमेतारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, णो चेव णं संपत्तीए विकुव्विंसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[४ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर जब (इतनी) ऐसी बड़ी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने में समर्थ है, तब, हे भगवन् ! उस असुरराज असुरेन्द्र चमर के सामानिक देवों की कितनी बड़ी ऋद्धि है, यावत् वे कितना विकुर्वण करने में समर्थ हैं ?

[४ उ.] हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव, महती ऋद्धि वाले हैं, यावत् महाप्रभावशाली हैं। वे वहाँ अपने-अपने भवनों पर, अपने-अपने सामानिक देवों पर तथा अपनी-अपनी अग्रमहिषियों (पटरानियों) पर आधिपत्य (सत्ताधीशत्व-स्वामित्व) करते हुए, यावत् दिव्य (देवलोक सम्बन्धी) भोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं। ये इस प्रकार की बड़ी ऋद्धि वाले हैं, यावत् इतना विकुर्वण करने में समर्थ हैं—

'हे गौतम ! विकुर्वण करने के लिए असुरेन्द्र असुरराज चमर का एक-एक सामानिक देव, वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है और यावत् दूसरी बार भी वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है। जैसे कोई युवा पुरुष अपने हाथ से युवती स्त्री के हाथ को (कसकर) पकड़ता (हुआ चलता) है, तो वे दोनों दृढ़ता से संलग्न मालूम होते हैं, अथवा जैसे गाड़ी के पहिये की धुरी (नाभि) आरों से सुसम्बद्ध (आयुक्त=संलग्न) होती है, इसी प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर का प्रत्येक सामानिक देव इस सम्पूर्ण (या पूर्ण शक्तिमान्) जम्बूद्वीप नामक द्वीप को बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों द्वारा आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, संस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढ़ावगाढ़ कर सकता है। इसके उपरान्त हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर का एक-एक सामानिक देव, इस तिर्यग्लोक के असंख्य द्वीपों और समुद्रों तक के स्थल को बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, संस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढ़ावगाढ़ कर सकता है। (अर्थात्—वह इतने रूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ है कि असंख्य द्वीप-समुद्रों तक का स्थल उन विकुर्वित देव-देवियों से ठसाठस भर जाए।) हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के प्रत्येक सामानिक देव में (पूर्वोक्त कथनानुसार) विकुर्वण करने की शक्ति है, वह विषयरूप है, विषयमात्र—शक्तिमात्र है, परन्तु (उक्त शक्ति का) प्रयोग करके उसने न तो कभी विकुर्वण किया है, न ही करता है और न ही करेगा।

५. [१] जइ णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसिया देवा केमहिड्ढीया ?

तायत्तीसिया देवा जहा सामाणिया तहा नेयव्वा।

[५-१ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव यदि इस प्रकार की महती ऋद्धि से सम्पन्न हैं, यावत् इतना विकुर्वण करने में समर्थ हैं, तो हे भगवन् ! उस असुरेन्द्र असुरराज चमर के त्रायस्त्रिंशक देव कितनी बड़ी ऋद्धि वाले हैं ? (यावत् वे कितना विकुर्वण करने में समर्थ हैं ?)

[५-१ उ.] (हे गौतम !) जैसा सामानिक देवों (की ऋद्धि एवं विकुर्वणा शक्ति) के विषय में कहा था, वैसा ही त्रायस्त्रिंशक देवों के विषय में कहना चाहिए ।

[२] लोयपाला तहेव । नवरं संखेज्जा दीव-समुद्दा भाणियव्वा ।

[५-२] लोकपालों के विषय में भी इसी तरह कहना चाहिए । किन्तु इतना विशेष कहना चाहिए कि लोकपाल (अपने द्वारा वैक्रिय किये हुए असुरकुमार देव-देवियों के रूपों से) संख्येय द्वीप समुद्रों को व्याप्त कर सकते हैं । (किन्तु यह सिर्फ उनकी विकुर्वणाशक्ति का विषय है, विषयमात्र है । उन्होंने कदापि इस विकुर्वणाशक्ति का प्रयोग न तो किया है, न करते हैं और न ही करेंगे ।)

६. जति णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो लोगपाला देवा एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ केमहिड्ढीयाओ जाव[1] केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ महिड्ढीयाओ जाव महाणुभागाओ । ताओ णं तत्थ साणं साणं भवणाणं, साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं, साणं साणं महत्तरियाणं, साणं साणं परिसाणं जाव एमहिड्ढीयाओ, अन्नं जहा लोगपालाणं (सु. ५ [२]) अपरिसेसं ।

[६ प्र.] भगवन् ! जब असुरेन्द्र असुरराज चमर के लोकपाल ऐसी महाऋद्धि वाले हैं, यावत् वे इतना विकुर्वण करने में समर्थ हैं, तब असुरेन्द्र असुरराज चमर की अग्रमहिषियाँ (पटरानी देवियाँ) कितनी बड़ी ऋद्धि वाली हैं, यावत् वे कितना विकुर्वण करने में समर्थ हैं ?

[६ उ.] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की अग्रमहिषी-देवियाँ महाऋद्धिसम्पन्न हैं, यावत् महाप्रभावशालिनी हैं । वे अपने-अपने भवनों पर, अपने-अपने एक हजार सामानिक देवों (देवीगण) पर, अपनी-अपनी (सखी) महत्तरिका देवियों पर और अपनी-अपनी परिषदाओं पर आधिपत्य (स्वामित्व) करती हुई विचरती हैं; यावत् वे अग्रमहिषियाँ ऐसी महाऋद्धिवाली हैं । इस सम्बन्ध में शेष सब वर्णन लोकपालों के समान कहना चाहिए ।

७. सेवं भंते ! २ त्ति भगवं दोच्चे गोतमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ जेणेव तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे तेणेव उवागच्छति, २ तच्चं गोयमं वायुभूतिं अणगारं एवं वदासि—एवं खलु गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए तं चेव एवं सव्वं अपुट्ठवागरणं नेयव्वं अपरिसेसियं जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता ।

---

१. यहाँ 'जाव' पद से 'केमहज्जुतीयाओ' इत्यादि पाठ स्त्रीलिंग पद सहित समझना ।

[७] 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है' (यों कहकर) द्वितीय गौतम (गोत्रीय) अग्निभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार करके जहाँ तृतीय गौतम (-गोत्रीय) वायुभूति अनगार थे, वहाँ आए। उनके निकट पहुँचकर वे, तृतीय गौतम वायुभूति अनगार से यों बोले—हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महाऋद्धि वाला है, इत्यादि समग्र वर्णन (चमरेन्द्र, उसके सामानिक, त्रायस्त्रिंशक लोकपाल, और अग्रमहिषी देवियों तक का सारा वर्णन) अपृष्ट व्याकरण (प्रश्न पूछे विना ही उत्तर) के रूप में यहाँ कहना चाहिए।

८. तए णं से तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे दोच्चस्स गोतमस्स अग्गिभूतिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स भा० पं० परू० एतमट्ठं नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोयति; एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे उट्ठाए उट्ठेति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—एवं खलु भंते ! मम दोच्चे गोतमे अग्गिभूती अणगारे एवमाइक्खति भासइ पण्णवेइ परूवेइ—एवं खलु गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए जाव महाणुभावे से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं एवं तं चेव सव्वं अपरिसेसं भाणियव्वं जाव (सु. ३—६) अग्गमहिसीणं वत्तव्वता समत्ता। से कहमेतं भंते ! एवं ?

'गोतमा' दि समणे भगवं महावीरे तच्चं गोतमं वायुभूतिं अणगारं एवं वदासि—जं णं गोतमा ! तव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे एवमाइक्खइ ४—"एवं खलु गोयमा ! चमरे ३ महिड्ढीए एवं तं चेव सव्वं जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता", सच्चे णं एस मट्ठे, अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भा० प० परू०। एवं खलु गोयमा ! चमरे ३ जाव महिड्ढीए सो चेव बितिओ गमो भाणियव्वो जाव अग्गमहिसीओ, सच्चे णं एस मट्ठे।

[८ प्र.] तदनन्तर अग्निभूति अनगार द्वारा कथित, भाषित, प्रज्ञापित (निवेदित) और प्ररूपित उपर्युक्त बात (अर्थ) पर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार को श्रद्धा नहीं हुई, प्रतीति न हुई, न ही उन्हें रुचिकर लगी। अतः उक्त बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि न करते हुए वे तृतीय गौतम वायुभूति अनगार उत्थान—(शक्ति) द्वारा उठे और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ (उनके पास) आए और यावत् उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भगवन् ! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने मुझ से इस प्रकार कहा, इस प्रकार भाषण किया, इस प्रकार बतलाया और प्ररूपित किया कि—'असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी बड़ी ऋद्धिवाला है, यावत् ऐसा महान् प्रभावशाली है कि वह चौंतीस लाख भवनावासों आदि पर आधिपत्य—स्वामित्व करता हुआ विचरता है।' (यहाँ उसकी अग्रमहिषियों तक का शेष सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए;); तो हे भगवन् ! यह बात कैसे है ?'

[८ उ.] 'हे गौतम !' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने तृतीय गौतम वायुभूति अनगार से इस प्रकार कहा—'हे गौतम ! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने तुम से जो इस प्रकार कहा, भाषित किया, बतलाया और प्ररूपित किया कि 'हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महा-

ऋद्धि वाला है; इत्यादि उसकी अग्रमहिषियों तक का समग्र वर्णन (यहाँ कहना चाहिए)। हे गौतम !) यह कथन सत्य है। हे गौतम ! मैं भी इसी तरह कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बतलाता हूँ और प्ररूपित करता हूँ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर महाऋद्धिशाली है, इत्यादि उसकी अग्रमहिषियों तक का समग्र वर्णनरूप द्वितीय गम (आलापक) यहाँ कहना चाहिए। (इसलिए हे गौतम ! द्वितीय गौतम अग्निभूति द्वारा कथित) यह बात सत्य है।'

९. सेवं भंते २ ० तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ जेणेव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे तेणेव उवागच्छइ, २ दोच्चं गोयमं अग्गिभूतिं अणगारं वंदइ नमंसति, २ एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो २ खामेति।

[९] 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; (जैसा आप फरमाते हैं) भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कहकर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, और फिर जहाँ द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार थे, वहाँ उनके निकट आए। वहाँ आकर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार को वन्दन-नमस्कार किया और पूर्वोक्त बात के लिए (उनकी कही हुई बात नहीं मानी थी, इसके लिए) उनसे सम्यक् विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना की।

१०. तए णं से दोच्चे गोयमे अग्गिभूई अण० तच्चेणं गो० वायुभूइणा अण० एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो २ खामिए समाणे उट्ठाए उट्ठेइ, २ तच्चेणं गो० वायुभूइणा अण० सद्धिं जेणेव समणे भगवं० महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं०, वंदइ० २ जाव पज्जुवासए।

[१०] तदनन्तर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार उस पूर्वोक्त बात के लिए तृतीय गौतम वायुभूति के साथ सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक क्षमायाचना कर लेने पर अपने उत्थान से उठे और तृतीय गौतम वायुभूति अनगार के साथ वहाँ आए, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे। वहाँ उनके निकट आकर उन्हें (श्रमण भगवान् महावीर को) वन्दन-नमस्कार किया, यावत् उनकी पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ देवों की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—प्रस्तुत आठ सूत्रों (३ से १० तक) में चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल एवं अग्रमहिषियों की ऋद्धि, द्युति, बल, यश, सौख्य, प्रभाव एवं विकुर्वणाशक्ति के विषय में अग्निभूति गौतम की शंकाओं का समाधान अंकित है, साथ ही वायुभूति गौतम की इस समाधान के प्रति अश्रद्धा, अप्रतीति एवं अरुचि होने पर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा पुनः समाधान और वायुभूति द्वारा क्षमायाचना का निरूपण है।

'गौतम'-सम्बोधन—यहाँ 'इन्द्रभूति गौतम' की तरह अग्निभूति और वायुभूतिगणधर को भी भगवान् महावीर ने 'गौतम' शब्द से सम्बोधित किया है, उसका कारण यह है कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर अन्तेवासी (पट्टशिष्य) थे, उनमें से प्रथम इन्द्रभूति, द्वितीय अग्निभूति और तृतीय वायुभूति थे। ये तीनों ही अनगार सहोदर भ्राता थे। ये गुब्बर (गोबर) ग्राम में गौतम गोत्रीय विप्र श्रीवसुभूति और पृथिवीदेवी के पुत्र थे। तीनों ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार लिया था। तीनों के गौतमगोत्रीय होने के कारण ही इन्हें 'गौतम' शब्द से सम्बोधित किया है, किन्तु

उनका पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व दिखलाने के लिए 'द्वितीय' और 'तृतीय' विशेषण उनके नाम से पूर्व लगा दिया गया है।[1]

दो दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण—चमरेन्द्र वैक्रियकृत बहुत-से असुरकुमार देव-देवियों से इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को किस प्रकार ठसाठस भर देता है ? इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ दो दृष्टान्त दिये गये हैं—(१) युवक और युवती का परस्पर संलग्न होकर गमन, (२) गाड़ी के चक्र की नाभि (धुरी) का आरों से युक्त होना। वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या यों की है—(१) जैसे कोई युवापुरुष काम के वशवर्ती होकर युवती स्त्री का हाथ दृढ़ता से पकड़ता है, (२) जैसे गाड़ी के पहिये की धुरी चारों ओर आरों से युक्त हो, अथवा 'जिस धुरी में आरे दृढतापूर्वक जुड़े हुए हों। वृद्ध आचार्यों ने इस प्रकार व्याख्या की है—जैसे—यात्रा (मेले) आदि में जहाँ बहुत भीड़ होती है, वहाँ युवती स्त्री युवापुरुष के हाथ को दृढ़ता से पकड़कर उसके साथ संलग्न होकर चलती है। जैसे वह स्त्री उस पुरुष से संलग्न होकर चलती हुई भी उस पुरुष से पृथक् दिखाई देती है, वैसे ही वैक्रिय-कृत अनेकरूप वैक्रियकर्त्ता मूलपुरुष के साथ संलग्न होते हुए भी उससे पृथक् दिखाई देते हैं। अथवा अनेक आरों से प्रतिबद्ध पहिये की धुरी सघन (पोलाररहित) और छिद्ररहित दिखाई देती है; इसी तरह से वह असुरेन्द्र असुरराज चमर अपने शरीर के साथ प्रतिबद्ध (संलग्न) वैक्रियकृत अनेक असुरकुमार देव-देवियों से पृथक् दिखाई देता हुआ इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भर देता है। इसी प्रकार अन्य देवों की विकुर्वणाशक्ति के विषय में समझ लेना चाहिए।[2]

विक्रिया-विकुर्वणा—यह जैन पारिभाषिक शब्द है। नारक, देव, वायु, विक्रियालब्धि-सम्पन्न कतिपय मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अपने शरीर को लम्बा, छोटा, पतला, मोटा, ऊँचा, नीचा, सुन्दर और विकृत अथवा एकरूप से अनेकरूप धारण करने हेतु जो क्रिया करते हैं, उसे **'विक्रिया'** या **'विकुर्वणा'** कहते हैं। उससे तैयार होने वाले शरीर को **'वैक्रिय शरीर'** कहते हैं। वैक्रिय-समुद्घात द्वारा यह विक्रिया होती है।[3]

वैक्रियसमुद्घात में रत्नादि औदारिक पुद्गलों का ग्रहण क्यों ? इसका समाधान यह है कि वैक्रिय-समुद्घात में ग्रहण किये जाने वाले रत्न आदि पुद्गल औदारिक नहीं होते, वे रत्न-सदृश सारयुक्त होते हैं, इस कारण यहाँ रत्न आदि का ग्रहण किया गया है। कुछ आचार्यों के मतानुसार रत्नादि औदारिक पुद्गल भी वैक्रिय-समुद्घात द्वारा ग्रहण करते समय वैक्रिय पुद्गल बन जाते हैं।[4]

आइण्णे वितिकिण्णे आदि शब्दों के अर्थ—मूलपाठ में प्रयुक्त 'आइण्णे' आदि ६ शब्द प्रायः एकार्थक हैं, और अत्यन्तरूप से व्याप्त कर (भर) देता है, इस अर्थ को सूचित करने के लिए हैं; फिर भी इनके अर्थ में थोड़ा-थोड़ा अन्तर इस प्रकार है—**आइण्णं**=आकीर्ण-व्याप्त, **वितिकिण्णं**=

---

१. (क) भगवतीसूत्र के थोकड़े, द्वितीय भाग पृ. १
   (ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित पं. बेचरदासजी), खण्ड २, पृ. ३
   (ग) समवायांग—११वाँ समवाय।
२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५४
३. भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित पं. बेचरदासजी), खण्ड २, पृ. १०
४. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५४

विशेषरूप से व्याप्त, **उवत्थडं**=उपस्तीर्ण=आसपास फैला हुआ, **संथडं**=संस्तीर्ण—सम्यक् प्रकार से फैला हुआ, **फुडं** =स्पृष्ट—एक दूसरे से सटा हुआ, **अवगाढावगाढं**=अत्यन्त ठोस—दृढ़तापूर्वक जकड़े हुए।[1]

चमरेन्द्र आदि की विकुर्वणाशक्ति प्रयोग रहित—यहाँ चमरेन्द्र आदि की जो विकुर्वणाशक्ति बताई गई है, वह केवल शक्तिमात्र है, क्रियारहित विषयमात्र है। चमरेन्द्र आदि सम्प्राप्ति (क्रियारूप) से इतने रूपों की विकुर्वणा किसी काल में नहीं करते।[2]

देवनिकाय में दस कोटि के देव—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ये दस भेद प्रत्येक देवनिकाय में होते हैं, किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। दसों में से यहाँ पाँच का उल्लेख है, उनके अर्थ इस प्रकार हैं—इन्द्र=अन्य देवों से असाधारण अणिमादिगुणों से सुशोभित, तथा सामानिक आदि सभी प्रकार के देवों का स्वामी। **सामानिक**—आज्ञा और ऐश्वर्य (इन्द्रत्व) के सिवाय आयु, वीर्य, परिवार, भोग-उपभोग आदि में इन्द्र के समान ऋद्धि वाले। **त्रायस्त्रिंश**—जो देव मंत्री और पुरोहित का काम करते हैं, ये संख्या में ३३ ही होते हैं। **लोकपाल**=आरक्षक के समान अर्थचर, लोक (जनता) का पालन-रक्षण करने वाले। **आत्मरक्ष**=जो अंगरक्षक के समान हैं।[3]

अग्रमहिषियाँ—चमरेन्द्र की अग्रमहिषी (पटरानी) देवियां पांच हैं—काली, रात्रि, रत्नी, विद्युत् और मेधा।[4] **महत्तरिया**=महत्तरिका—मित्ररूपा देवी।

वैरोचनेन्द्र बलि और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—

११. तए णं से तच्चे गो० वायुभूती अण० समणं भगवं० वंदइ नमंसइ, २ एवं वदासी[5]—जति णं भंते! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए जाव (सु. ३) एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, बली णं भंते! वइरोयणिंदे वइरोयणराया केमहिड्ढीए जाव (सु. ३) केवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए?

गोयमा! बली णं वइरोयणिंदे वइरोयणराया महिड्ढीए जाव (सु. ३) महाणुभागे। से णं तत्थ तीसाए भवणावाससयसहस्साणं, सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं सेसं जहा चमरस्स,[6] नवरं चउण्हं सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च जाव भुंजमाणे विहरति। से जहानामए एवं जहा चमरस्स; णवरं सातिरेगं केवलकप्पं जंबुद्दीवे दीवं ति भाणियव्वं।[7] सेसं तहेव जाव विउव्विस्सति वा (सु. ३)।

---

१. (क) भगवतीसूत्र विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. २, पृ. ५३५ (ख) भगवती. अ. वृ., पत्र १५५
२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५५
३. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५४ (ख) तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका, पृ. १७५
४. ज्ञाताधर्मकथांग, प्रथम वर्ग, १ से ५ अध्ययन।
५. पाठान्तर—"तते णं से तच्चे गोतमे वायुभूती अणगारे दोच्चेणं गोयमेणं अग्गिभूतिणा अणगारेण सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी"—
६. पाठान्तर—"स्स तहा बलिस्स वि नेयव्वं; नवरं सातिरेगं केवल"।
७. पाठान्तर—"सेसं त चेव णिरवसेसं णेयव्वं, णवरं णाणत्तं जाणियव्वं भवणेहिं सामाणिएहिं, सेवं भंते २ त्ति तच्चे गोयमे वायुभूति जाव विहरति।"

[११ प्र.] इसके पश्चात् तीसरे गौतम (-गोत्रीय) वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया, और फिर यों बोले—'भगवन् ! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी बड़ी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणाशक्ति से सम्पन्न है, तब हे भगवन् ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि कितनी बड़ी ऋद्धि वाला है ? यावत् वह कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है ?'

[११ उ.] गौतम ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि महाऋद्धिसम्पन्न है, यावत् महानुभाग (महाप्रभावशाली) है। वह वहाँ तीस लाख भवनावासों का तथा साठ हजार सामानिक देवों का अधिपति है। जैसे चमरेन्द्र के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है, वैसे बलि के विषय में भी शेष वर्णन जान लेना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि बलि वैरोचनेन्द्र दो लाख चालीस हजार आत्मरक्ष देवों का तथा अन्य बहुत-से (उत्तरदिशावासी असुरकुमार देव-देवियों का) आधिपत्य यावत् उपभोग करता हुआ विचरता है। चमरेन्द्र की विकुर्वणाशक्ति की तरह बलीन्द्र के विषय में भी युवक युवती का हाथ दृढ़ता से पकड़ कर चलता है, तब वे जैसे संलग्न होते हैं, अथवा जैसे गाड़ी के पहिये की धुरी में आरे संलग्न होते हैं, ये दोनों दृष्टान्त जानने चाहिए। विशेषता यह है कि बलि अपनी विकुर्वणा-शक्ति से सातिरेक सम्पूर्ण जम्बूद्वीप (जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल) को भर देता है। शेष सारा वर्णन यावत् 'विकुर्वणा करेंगे भी नहीं', यहाँ तक पूर्ववत् (उसी तरह) समझ लेना चाहिए।

[1]१२. जइ णं भंते ! बली वइरोयणिंदे वैरोयणराया एमहिड्ढीए जाव (सु. ३) एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए बलिस्स णं वइरोयणस्स सामाणियदेवा केमहिड्ढीया ?

एवं सामाणियदेवा तावत्तीसा लोकपालऽग्गमहिसीओ य जहा चमरस्स (सु. ४-६), नवरं साइरेगं जंबुद्दीवं जाव एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए, इमे वुइए विसए जाव विउव्विस्संति वा। सेवं भंते ! २ तच्चे गो० वायुभूती अण० समणं भगवं महा० वंदइ ण०, २ नऽच्चासन्ने जाव पज्जुवासइ।

[१२ प्र.] भगवन् ! यदि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि इतनी महाऋद्धि वाला है, यावत् उसकी इतनी विकुर्वणाशक्ति है तो उस वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि के सामानिक देव कितनी बड़ी ऋद्धि वाले हैं, यावत् उनकी विकुर्वणाशक्ति कितनी है ?

[१२ उ.] (गौतम !) बलि के सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक एवं लोकपाल तथा अग्रमहिषियों की ऋद्धि एवं विकुर्वणाशक्ति का वर्णन चमरेन्द्र के सामानिक देवों की तरह समझना चाहिए। विशेषता यह है कि इनकी विकुर्वणाशक्ति सातिरेक जम्बूद्वीप के स्थल तक को भर देने की है; यावत् प्रत्येक अग्रमहिषी की इतनी विकुर्वणाशक्ति विषयमात्र कही है; यावत् वे विकुर्वणा करेंगी भी नहीं; यहाँ तक पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

'हे भगवन् ! जैसा आप कहते हैं, वह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह उसी प्रकार है,' यों कह कर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और फिर न अतिदूर, और न अतिनिकट रहकर वे यावत् पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—वैरोचनेन्द्र बलि और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-

---

१. यह सूत्र (सू. १२) अन्य प्रतियों में नहीं मिलता।

शक्ति—प्रस्तुत दो सूत्रों (११-१२ सू.) में वैरोचनेन्द्र वलि तथा उसके अधीनस्थ देववर्ग सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल एवं अग्रमहिषियों की ऋद्धि एवं विकुर्वणाशक्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर का निरूपण किया गया है। ये प्रश्न वायुभूति अनगार के हैं और उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने दिये हैं।

'वैरोचनेन्द्र का परिचय—दाक्षिणात्य असुरकुमारों की अपेक्षा जिनका रोचन (दीपन-कान्ति) अधिक (विशिष्ट) है, वे देव वैरोचन कहलाते हैं। वैरोचनों का इन्द्र वैरोचनेन्द्र है। ये उत्तरदिशावर्ती (औदीच्य) असुरकुमारों के इन्द्र हैं। इन देवों के निवास, उपपातपर्वत, इनके इन्द्र, तथा अधीनस्थ देववर्ग, वैरोचनेन्द्र की पांच अग्रमहिषियों आदि का सब वर्णन स्थानांगसूत्र के दशम स्थान में हैं। वलि वैरोचनेन्द्र की पांच अग्रमहिषियाँ हैं—शुम्भा, निशुम्भा, रंभा, निरंभा और मदना। इन का सब वर्णन प्रायः चमरेन्द्र की तरह है। इसकी विकुर्वणा शक्ति सातिरेक जम्बूद्वीप तक की है, क्योंकि औदीच्य इन्द्र होने से चमरेन्द्र की अपेक्षा वैरोचनेन्द्र वलि की लब्धि विशिष्टतर होती है।[1]

नागकुमारेन्द्र धरण और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—

१३. तए णं से दोच्चे गो० अग्गिभूती अण० समणं भगवं वंदइ०, २ एवं वदासि—जति णं भंते! वली वइरोयणिंदे वइरोयणराया एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए धरणे णं भंते! नागकुमारिंदे नागकुमारराया केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए?

गोयमा! धरणे णं नागकुमारिंदे नागकुमारराया एमहिड्ढीए जाव से णं तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साणं, छण्हं सामाणियसाहस्सीणं, तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं, छण्हं अग्गमहिसीण सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवतीणं, चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च जाव विहरइ। एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणे जाव (सु. ३) पभू केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं जाव तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे वहूहिं नागकुमारेहिं नागकुमारीहिं जाव विउव्विस्सति वा। सामाणिय-तायत्तीस-लोगपालऽग्गमहिसीओ य तहेव जहा चमरस्स (सु. ४-६)। नवरं संखिज्जे दीव-समुद्दे भाणियव्वं।

[१३ प्र.] तत्पश्चात् द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा— 'भगवन्! यदि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज वलि इस प्रकार की महाऋद्धि वाला है यावत् इतनी विकुर्वणा करने में समर्थ है, तो भगवन्! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण कितनी वड़ी ऋद्धि वाला है? यावत् कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है?'

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५७
(ख) स्थानांग, स्था. १०
(ग) ज्ञातासूत्र, वर्ग २, अ. १ से ५ तक
(घ) 'विशिष्टं रोचनं—दीपनं (कान्तिः) येषामस्ति ते वैरोचना औदीच्या असुराः, तेषु मध्ये इन्द्रः परमेश्वरो वैरोचनेन्द्रः।' —भगवती, अ. वृत्ति १५७ प., स्था. वृत्ति

[१३ उ.] गौतम ! वह नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरणेन्द्र महाऋद्धि वाला है, यावत् वह चवालीस लाख भवनावासों पर, छह हजार सामानिक देवों पर, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देवों पर, चार लोकपालों पर, परिवार सहित छह अग्रमहिषियों पर, तीन सभाओं (परिषदों) पर, सात सेनाओं पर, सात सेनाधिपतियों पर, और चौवीस हजार आत्मरक्षक देवों पर तथा अन्य अनेक दाक्षिणात्य कुमार देवों और देवियों पर आधिपत्य, नेतृत्व, स्वामित्व यावत् करता हुआ रहता है। उसकी विकुर्वणाशक्ति इतनी है कि जैसे युवापुरुष युवती स्त्री के करग्रहण के अथवा गाड़ी के पहिये की धुरी में संलग्न आरों के दृष्टान्त से (जैसे वे दोनों संलग्न दिखाई देते हैं, उसी तरह से) यावत् वह अपने द्वारा वैक्रियकृत बहुत-से नागकुमार देवों और नागकुमारदेवियों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को भरने में समर्थ है और तिर्यग्लोक के संख्येय द्वीप-समुद्रों जितने स्थल को भरने की शक्ति वाला है। परन्तु यावत् (जम्बूद्वीप को या संख्यात द्वीप-समुद्रों जितने स्थल को उक्त रूपों से भरने की उनकी शक्ति-मात्र है, क्रियारहित विषय है) किन्तु ऐसा उसने कभी किया नहीं, करता नहीं और भविष्य में करेगा भी नहीं। धरणेन्द्र के सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक देव, लोकपाल और अग्रमहिषियों की ऋद्धि आदि तथा वैक्रिय शक्ति का वर्णन चमरेन्द्र के वर्णन की तरह कह लेना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि इन सबकी विकुर्वणाशक्ति संख्यात द्वीप-समुद्रों तक के स्थल को भरने की समझनी चाहिए।

विवेचन—नागकुमारेन्द्र धरण और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति—प्रस्तुत सूत्र में नागकुमारेन्द्र धरण और उनके अधीनस्थ देववर्ग सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल और अग्रमहिषियों की ऋद्धि आदि का तथा विकुर्वणाशक्ति का वर्णन किया गया है।

नागकुमारों के इन्द्र—धरणेन्द्र का परिचय—दाक्षिणात्य नागकुमारों के ये इन्द्र हैं। इनके निवास, लोकपालों का उपपात पर्वत, पाँच युद्ध सैन्य, पांच सेनापति एवं छह अग्रमहिषियों का वर्णन स्थानांग एवं प्रज्ञापना सूत्र में है। नागकुमारेन्द्र धरण की छह अग्रमहिषियों के नाम इस प्रकार हैं—अल्ला, शक्रा, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा और घनविद्युता।[1]

शेष भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों के इन्द्रों और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—

१४. एवं जाव थणियकुमारा, वाणमंतर-जोतिसिया वि। नवरं दाहिणिल्ले सव्वे अग्गीभूती पुच्छति, उत्तरिल्ले सव्वे वाउभूती पुच्छइ।

[१४] इसी तरह यावत् 'स्तनितकुमारों तक सभी भवनपतिदेवों (के इन्द्र और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति) के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

इसी तरह समस्त वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों (के इन्द्र एवं उनके अधीनस्थ देवों की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति) के विषय में कहना चाहिए।

विशेष यह है कि दक्षिण दिशा के सभी इन्द्रों के विषय में द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार पूछते हैं और उत्तरदिशा के सभी इन्द्रों के विषय में तृतीय गौतम वायुभूति अनगार पूछते हैं।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र क. आ., पृ. १०५-१०६
(ख) स्थानांग क. आ., पृ. ५५०, ३५७, ४१८

विवेचन—शेष भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों के इन्द्रों और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि, विकुर्वणा-शक्ति आदि—प्रस्तुत सूत्र में असुरकुमार एवं नागकुमार को छोड़कर स्तनितकुमार पर्यन्त शेष समस्त भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों के इन्द्रों तथा उनके अधीनस्थ सामानिक, त्रायस्त्रिंश एवं लोकपाल तथा अग्रमहिषियों की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति का निरूपण पूर्ववत् बताया है।

भवनपति देवों के बीस इन्द्र—भवनपतिदेवों के दो निकाय हैं—दक्षिण निकाय (दाक्षिणात्य) और उत्तरी निकाय (औदीच्य)। वैसे भवनपतिदेवों के दस भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्-कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, पवनकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिशाकुमार. और स्तनित कुमार। इसी जाति के इसी नाम के दस-दस प्रकार के भवनपति दोनों निकायों में होने से बीस भेद हुए। इन बीस प्रकार के भवनपति देवों के इन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं—चमर, धरण, वेणुदेव, हरिकान्त, अग्निशिख, पूर्ण, जलकान्त, अमित, विलम्ब (विलेव) और घोष (सुघोष)। ये दस दक्षिण निकाय के इन्द्र हैं। बलि, भूतानन्द, वेणुदालि (री), हरिस्सह, अग्निमाणव, (अ) वशिष्ट, जलप्रभ, अमितवाहन, प्रभंजन और महाघोष, ये दस उत्तर-निकाय के इन्द्र हैं।

प्रस्तुत में चमरेन्द्र, बलीन्द्र, एवं धरणेन्द्र को छोड़ कर अधीनस्थ देववर्ग सहित शेष, १७ इन्द्रों की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति इत्यादि का वर्णन जान लेना चाहिए।

भवन-संख्या—इनके भवनों की संख्या—**'चउत्तीसा चउचत्ता'** इत्यादि पहले कही हुई दो गाथाओं में बतला दी गई है।

सामानिकदेव-संख्या—चमरेन्द्र के ६४ हजार और बलीन्द्र के ६० हजार सामानिक हैं, इस प्रकार असुरकुमारेन्द्रद्वय के सिवाय शेष सब इन्द्रों के प्रत्येक के ६-६ हजार सामानिक हैं।

आत्मरक्षक देव संख्या—जिसके जितने सामानिक देव होते हैं, उससे चौगुने आत्मरक्षक देव होते हैं।

अग्रमहिषियों की संख्या—चमरेन्द्र और बलीन्द्र के पांच-पांच अग्रमहिषियां हैं, आगे धरणेन्द्र आदि प्रत्येक इन्द्र के छह-छह अग्रमहिषियां हैं।

त्रायस्त्रिंश और लोकपालों की संख्या नियत है।

व्यन्तरदेवों के सोलह इन्द्र—व्यन्तरदेवों के ८ प्रकार हैं—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व। इनमें से प्रत्येक प्रकार के व्यन्तरदेवों के दो-दो इन्द्र होते हैं—एक दक्षिण दिशा का, दूसरा उत्तरदिशा का। उनके नाम इस प्रकार हैं—काल और महाकाल, सुरूप (अतिरूप) और प्रतिरूप, पूर्णभद्र और मणिभद्र, भीम और महाभीम, किन्नर और किम्पुरुष, सत्पुरुष और महापुरुष, अतिकाय और महाकाय, गीतरति और गीतयश।

व्यन्तर इन्द्रों का परिवार—वाणव्यन्तर देवों में प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार सामानिक देव और इनसे चार गुने अर्थात् प्रत्येक के १६-१६ हजार आत्मरक्षक देव होते हैं। इनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार अग्रमहिषियां होती हैं।

ज्योतिष्केन्द्र परिवार—ज्योतिष्क निकाय के ५ प्रकार के देव हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनमें सूर्य और चन्द्र दो मुख्य एवं अनेक इन्द्र हैं। इनके भी प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार

सामानिक देव, १६-१६ हजार आत्मरक्षक और चार-चार अग्रमहिषियाँ होती हैं। ज्योतिष्क देवेन्द्रों के त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते।

वैक्रियशक्ति—इनमें से दक्षिण के देव और सूर्यदेव अपने वैक्रियकृत रूपों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भरने में समर्थ हैं, और उत्तरदिशा के देव और चन्द्रदेव अपने वैक्रियकृत रूपों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल को भरने में समर्थ हैं।

दो गणधरों की पृच्छा—इन सब में दक्षिण के इन्द्रों और सूर्य के विषय में द्वितीय गणधर श्री अग्निभूति द्वारा पृच्छा की गई है, जबकि उत्तर के इन्द्रों और चन्द्र के विषय में तृतीय गणधर श्री वायुभूति द्वारा पृच्छा की गई है।[1]

शक्रेन्द्र, तिष्यक देव तथा शुक्र के सामानिक देवों की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—

१५. 'भंते !' त्ति भगवं दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे समणं भगवं म० वंदति नमंसति, २ एवं वयासी—जति णं भंते ! जोतिसिंदे जोतिसराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए ?

गोयमा ! सक्के णं देविंदे देवराया महिड्ढीए जाव महाणुभागे। से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं जाव[2] चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेव-साहस्सीणं अन्नेसिं च जाव विहरइ। एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए। एवं जहेव चमरस्स तहेव भाणियव्वं, नवरं दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अवसेसं तं चेव। एस णं गोयमा !

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५७-१५८ (ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. ६ व ११ का भाष्य पृ. ९२
(ग) प्रज्ञापनासूत्र में अंकित गाथाएँ—

चमरे धरणे तह वेणुदेव-हरिकंत-अग्गिसीहे य।
पुण्णे जलकंते वि य अमिय-विलंबे य घोसे य ॥६॥
बलि-भूयाणंदे वेणुदालि-हरिस्सहे अग्गिमाणव-वसिट्ठे।
जलप्पभे अमियवाहणे पहंजणे महाघोसे ॥७॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं।
सामाणियाओ एए चउगुणा आयरक्खा उ ॥५॥
काले य महाकाले, सुरूव-पडिरूव-पुण्णभद्दे य।
अमरवइमाणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किण्णर-किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे चेव तह महापुरिसे।
अइकाय-महाकाय, गीयरई चेव गीयजसे ॥२॥

—प्रज्ञापना, क. आ. पृ. १०८, ९१ तथा ११२

२. यहाँ जाव शब्द से "ताय त्तीसाए से अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चउण्हं लोकपालाणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं" तक का पाठ जानना चाहिए।

सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते णं वुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[१५ प्र.] 'भगवन्!' यों संबोधन करके द्वितीय गणधर भगवान् गौतमगोत्रीय अग्निभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा (पूछा—) 'भगवन्! यदि ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज ऐसी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने में समर्थ है, तो हे भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र कितनी महाऋद्धि वाला है और कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है?'

[१५ उ.] गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र महान् ऋद्धिवाला है यावत् महाप्रभावशाली है। वह वहाँ बत्तीस लाख विमानावासों पर तथा चौरासी हजार सामानिक देवों पर यावत् (त्रायस्त्रिंशक देवों एवं लोकपालों पर) तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देवों पर एवं दूसरे बहुत-से देवों पर आधिपत्य—स्वामित्व करता हुआ विचरण करता है। (अर्थात्—) शक्रेन्द्र ऐसी बड़ी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है। उसकी वैक्रिय शक्ति के विषय में चमरेन्द्र की तरह सब कथन करना चाहिये; विशेष यह है कि (वह अपने वैक्रियकृत रूपों से) दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप जितने स्थल को भरने में समर्थ है; और शेष सब पूर्ववत् है। (अर्थात्—तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्रों जितने स्थल को भरने में समर्थ है।) हे गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र की यह इस रूप की वैक्रियशक्ति तो केवल शक्तिरूप (क्रियारहित शक्ति) है। किन्तु सम्प्राप्ति (साक्षात् क्रिया) द्वारा उसने ऐसी विक्रिया की नहीं, करता नहीं और न भविष्य में करेगा।

१६. जइ णं भंते! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी तीसए णामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं अट्ठ संवच्छराइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सयंसि विमाणंसि उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सामाणियदेवत्ताए उववन्ने। तए णं तीसए देवे अहुणोववन्नमेत्ते समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ, तं जहा—आहार-पज्जत्तीए सरीर० इंदिय० आणापाणुपज्जत्तीए भासा-मणपज्जत्तीए। तए णं तं तीसयं देवं पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गयं समाणं सामाणियपरिसोववन्नया देवा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धाविंति, २ एवं वदासि—अहो! णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवज्जुती, दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते, जारिसिया णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते तारिसिया णं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता, जारिसिया णं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता तारिसिया णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता।

से णं भंते! तीसए देवे केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए?

गोयमा ! महिड्ढीए जाव महाणुभागे, से णं तत्थ सयस्स विमाणस्स, चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं, चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवतीणं, सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य जाव विहरति । एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए—से जहाणामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा जहेव सक्कस्स तहेव जाव एस णं गोयमा ! तीसयस्स देवस्स अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, नो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा ३ ।

[१६ प्र.] भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र ऐसी महान् ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने से समर्थ है, तो आप देवानुप्रिय का शिष्य 'तिष्यक' नामक अनगार, जो प्रकृति से भद्र, यावत् विनीत था निरन्तर छठ-छठ (वेले-वेले) की तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, पूरे आठ वर्ष तक श्रामण्यपर्याय (साधु-दीक्षा) का पालन करके, एक मास की संल्लेखना से अपनी आत्मा को संयुक्त (जुष्ट-सेवित) करके, तथा साठ भक्त (टंक) अनशन का छेदन (पालन) कर, आलोचना और प्रतिक्रमण करके, मृत्यु (काल) के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके सौधर्मदेवलोक में गया है । वह वहाँ अपने विमान में, उपपातसभा में, देव-शयनीय (देवों की शय्या) में देवदूष्य (देवों के वस्त्र) से ढँके हुए अंगुल के असंख्यात भाग जितनी अवगाहना में देवेन्द्र देवराज शक्र के सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ है ।

फिर तत्काल उत्पन्न हुआ वह तिष्यक देव पांच प्रकार की पर्याप्तियों (अर्थात्—आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-पर्याप्ति (श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति) और भाषा-मन:पर्याप्ति से पर्याप्तिभाव को प्राप्त हुआ । तदनन्तर जब वह तिष्यकदेव पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्त हो चुका, तब सामानिक परिषद् के देवों ने दोनों हाथों को जोड़कर एवं दसों अंगुलियों के दसों नखों को इकट्ठे करके मस्तक पर अंजलि करके जय-विजय-शब्दों से बधाई दी । इसके बाद वे इस प्रकार बोले—अहो ! आप देवानुप्रिय ने यह दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-द्युति (कान्ति) उपलब्ध की है, प्राप्त की है, और दिव्य देव-प्रभाव उपलब्ध किया है, सम्मुख किया है । जैसी दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-कान्ति और दिव्य देवप्रभाव आप देवानुप्रिय ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति और दिव्य देवप्रभाव देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है; जैसी दिव्य ऋद्धि दिव्य देवकान्ति और दिव्यप्रभाव देवेन्द्र देवराज शक्र ने लब्ध, प्राप्त एवं अभिमुख किया है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति और दिव्य देवप्रभाव आप देवानुप्रिय ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है । (अत: अग्निभूति अनगार भगवान् से पूछते हैं–) भगवन् ! वह तिष्यक देव कितनी महा ऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[१६ उ.] गौतम ! वह तिष्यक देव महाऋद्धि वाला है, यावत् महाप्रभाव वाला है । वह वहाँ अपने विमान पर, चार हजार सामानिक देवों पर, सपरिवार चार अग्रमहिषियों पर, तीन परिषदों (सभाओं) पर, सात सैन्यों पर, सात सेनाधिपतियों पर एवं सोलह हजार आत्मरक्षक देवों पर, तथा अन्य बहुत-से वैमानिक देवों और देवियों पर आधिपत्य, स्वामित्व एवं नेतृत्व करता हुआ विचरण करता है । यह तिष्यकदेव ऐसी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने में समर्थ

है, जैसे कि कोई युवती (भय अथवा भीड़ के समय) युवा पुरुष का हाथ दृढ़ता से पकड़ कर चलती है, अथवा गाड़ी के पहिये की धुरी आरों से गाढ़ संलग्न (आयुक्त) होती है, इन्हीं दो दृष्टान्तों के अनुसार वह शक्रेन्द्र जितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है। हे गौतम ! यह जो तिष्यकदेव को इस प्रकार की विकुर्वणाशक्ति कही है, वह उसका सिर्फ विषय है, विषयमात्र (क्रियारहित वैक्रियशक्ति) है, किन्तु सम्प्राप्ति (क्रिया) द्वारा कभी उसने इतनी विकुर्वणा की नहीं, करता भी नहीं और भविष्य में करेगा भी नहीं।

१७. जति णं भंते ! तीसए देवे एमहिड्ढीए जाव ऐवइयं च णं पभ विकुव्वित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो अवसेसा सामाणिया देवा केमहिड्ढीया ?

तहेव सव्वं जाव एस णं गोयमा ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एगमेगस्स सामाणियस्स देवस्स इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वंति वा विकुव्विस्संति वा।

[१७ प्र.] भगवन् ! यदि तिष्यक देव इतनी महाऋद्धि वाला है यावत् इतनी विकुर्वणा करने की शक्ति रखता है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के दूसरे सब सामानिक देव कितनी महाऋद्धि वाले हैं यावत् उनकी विकुर्वणाशक्ति कितनी है ?

[१७ उ.] हे गौतम ! (जिस प्रकार तिष्यकदेव की ऋद्धि एवं विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय में कहा), उसी प्रकार शक्रेन्द्र के समस्त सामानिक देवों की ऋद्धि एवं विकुर्वणा शक्ति आदि के विषय में जानना चाहिए, किन्तु हे गौतम ! यह विकुर्वणाशक्ति देवेन्द्र देवराज शक्र के प्रत्येक सामानिक देव का विषय है, विषयमात्र है, सम्प्राप्ति द्वारा उन्होंने कभी इतनी विकुर्वणा की नहीं, करते नहीं, और भविष्य में करेंगे भी नहीं।

१८. तायत्तीसय-लोगपाल-अग्गमहिसीणं जहेव चमरस्स। नवरं दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अन्नं तं चेव। सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति दोच्चे गोयमे जाव विहरति।

[१८] शक्रेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल और अग्रमहिषियों (की ऋद्धि, विकुर्वणा शक्ति आदि) के विषय में चमरेन्द्र (के त्रायस्त्रिंशक आदि की ऋद्धि आदि) की तरह कहना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि वे अपने वैक्रियकृत रूपों से दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीपों को भरने में समर्थ हैं। शेष समग्र वर्णन चमरेन्द्र की तरह कहना चाहिए।

हे 'भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर द्वितीय गौतम अग्निभूत अनगार यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—शक्रेन्द्र तथा तिष्यक देव एवं शक्र के सामानिक देवों आदि की ऋद्धि, विकुर्वणा शक्ति आदि का निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रों (१५ से १८ सू. तक) में सौधर्मदेवलोक के इन्द्र—देवराज शक्रेन्द्र तथा सामानिक रूप में उत्पन्न तिष्यकदेव एवं शक्रेन्द्र के सामानिक आदि देववर्ग की ऋद्धि आदि और विकुर्वणाशक्ति के विषय में निरूपण किया गया है।

शक्रेन्द्र का परिचय—देवेन्द्र देवराज शक्र प्रथम सौधर्म देवलोक के वैमानिक देवों का इन्द्र है। प्रज्ञापनासूत्र में इसके अन्य विशेषण भी मिलते हैं, जैसे—वज्रपाणि, पुरन्दर, शतक्रतु, सहस्राक्ष (पांच सौ मंत्री होने से), मघवा, पाकशासन, दक्षिणार्धलोकाधिपति, बत्तीस लाख विमानों का अधिपति, ऐरावतवाहन, सुरेन्द्र,....आदि। शक्रेन्द्र के आवासस्थान, विमान, विमानों का आकार—वर्णगन्धादि, उसको प्राप्त शरीर, श्वासोच्छ्वास, आहार, लेश्या, ज्ञान अज्ञान, दर्शन-कुदर्शन, उपयोग,

वेदना, कषाय, समुद्घात, सुख, समृद्धि, वैक्रियशक्ति आदि का समस्त वर्णन प्रज्ञापनासूत्र में किया गया है।[1]

तिष्यक अनगार की सामानिक देवरूप में उत्पत्ति-प्रक्रिया—शक्रेन्द्र की ऋद्धि आदि के विषय में प्रश्नोत्तर के पश्चात् शक्रेन्द्र के सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुए अपने पूर्वपरिचित भगवत् शिष्य तिष्यक अनगार के समग्र चरितानुवादपूर्वक प्रश्न करते हैं—द्वितीय गौतम श्री अग्निभूति अनगार ! तिष्यक अनगार का मनुष्यलोक से देहावसान होने पर देवलोक में देवशरीर की रचना की प्रक्रिया का वर्णन यहाँ शास्त्रकार करते हैं। कर्मबद्ध आत्मा (जीव) के तथारूप पुद्गलों से आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि रूप शरीर बनता है। पर्याप्तियाँ छह होते हुए भी यहाँ पाँच पर्याप्तियों का उल्लेख बहुश्रुत पुरुषों के द्वारा भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति को एक मान लेने से किया गया है।[2]

'लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते' का विशेषार्थ—लद्धे = दूसरे (पूर्व) जन्म में इसका उपार्जन किया था, इस कारण लब्ध (मिला, लाभ प्राप्त) हुआ; **पत्ते** = देवभव की अपेक्षा से प्राप्त हुआ है, इसलिए 'पत्ते' शब्द प्रयुक्त है; **अभिसमन्नागते** = प्राप्त किये हुए भोगादि साधनों के उपभोग (अनुभव) की अपेक्षा से अभिमुख लाया हुआ है।

'जहेव चमरस्स' का आशय—इस पंक्ति से यह सूचित किया गया है कि लोकपाल और अग्रमहिषियों की विकुर्वणाशक्ति 'तिरछे संख्यात द्वीप-समुद्रों जितने स्थल को भरने तक की' कहनी चाहिए।[3]

कठिन शब्दों के अर्थ—**अणिक्खित्तेणं**—निरन्तर (अनिक्षिप्त)। **झूसित्ता** = सेवन करके। **जारिसिया** = जैसी, **तारिसिया** = वैसी।[4]

ईशानेन्द्र, कुरुदत्तपुत्रदेव तथा सनत्कुमारेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के इन्द्रों एवं उनके सामानिकादि देववर्ग की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति आदि का प्ररूपण—

१६. 'भंते !' त्ति भगवं तच्चे गोयमे वाउभूती अणगारे भगवं जाव एवं वदासी—जति णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए, ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए ?

एवं तहेव, नवरं साहिए दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अवसेसं तहेव।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र (उ. ४ क. आ., पृ. १२०-१)—"सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कड सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिण(ड्ढ) लोगाहिवई वत्तीस विमाणावाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे····आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वेमाणे जाव विहरइ।"
(ख) जीवाभिगमसूत्र क. आ. पृ. ९२६

२. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १५९
(ख) भगवतीसूत्र टीका—गुजराती अनुवाद (पं. बेचरदासजी), खण्ड २, पृ. १९

३. भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १५९

४. भगवती सूत्र हिन्दी विवेचनयुक्त (पं. घेवरचन्द जी), भाग २, पृ. ५५७

[१९ प्र.] 'भगवन् !' यों संबोधन कर तृतीय गौतम भगवान् वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके यावत् इस प्रकार कहा—(पूछा—) भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र इतनी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने में समर्थ है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान कितनी महाऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने की शक्ति वाला है ?'

[१९ उ०] (गौतम ! जैसा शक्रेन्द्र के विषय में कहा था,) वैसा ही सारा वर्णन ईशानेन्द्र के विषय में जानना चाहिए। विशेषता यह है कि वह (अपने वैक्रियकृत रूपों से) सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल को भर देता है। शेष सारा वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

२०. जति णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए, एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुरुदत्तपुत्ते नामं पगतिभद्दए जाव विणीए अट्ठमंअट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं पारणए आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आतावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे सयंसि विमाणंसि जा चेव तीसए वत्तव्वया स च्चेव अपरिसेसा कुरुदत्तपुत्ते वि।

नवरं सातिरेगे दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अवसेसं तं चेव।

[२० प्र.] भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज ईशानेन्द्र इतनी बड़ी ऋद्धि से युक्त है, यावत् वह इतनी विकुर्वणाशक्ति रखता है, तो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत, तथा निरन्तर अट्ठम (तेले-तेले) की तपस्या और पारणे में आयम्बिल, ऐसी कठोर तपश्चर्या से आत्मा को भावित करता हुआ, दोनों हाथ ऊँचे रखकर सूर्य की ओर मुख करके आतापना-भूमि में आतापना लेने वाला (सख्त धूप को सहने वाला) आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) कुरुदत्तपुत्र अनगार, पूरे छह महीने तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करके, अर्द्धमासिक (१५ दिन की) संलेखना से अपनी आत्मा को संसेवित (संयुक्त) करके, तीस भक्त (३० टंक) अनशन (संथारे) का छेदन (पालन) करके, आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके (समभावसमाधिपूर्वक) काल (मरण) का अवसर आने पर काल करके, ईशानकल्प में, अपने विमान में, ईशानेन्द्र के सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ है, इत्यादि जो वक्तव्यता, तिष्यक देव के सम्बन्ध में पहले कही है, वही समग्र वक्तव्यता कुरुदत्तपुत्र देव के विषय में भी कहनी चाहिए। (अतः प्रश्न यह है कि वह सामानिक देवरूप में उत्पन्न कुरुदत्तपुत्र देव कितनी महाऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है ?)

[२० उ.] (हे गौतम ! इस सम्बन्ध में सब वक्तव्य पूर्ववत् जानना चाहिए।) विशेषता यह है कि कुरुदत्तपुत्रदेव की (अपने वैक्रियकृत रूपों से) सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक स्थल को भरने की विकुर्वणाशक्ति है। शेष समस्त वर्णन उसी तरह ही समझना चाहिए।

२१. एवं सामाणिय-तायत्तीस-लोगपाल-अग्गमहिसीणं जाव एस णं गोयमा ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो एवं एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वंति वा विकुव्विस्संति वा।

[२१] इसी तरह (ईशानेन्द्र के अन्य) सामानिक देव, त्रायस्त्रिशक देव एवं लोकपाल तथा अग्रमहिषियों (की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि) के विषय में जानना चाहिए। यावत्—हे गौतम! देवेन्द्र देवराज ईशान की अग्रमहिषियों की इतनी यह विकुर्वणाशक्ति केवल विषय है, विषयमात्र है, परन्तु सम्प्राप्ति द्वारा कभी इतना वैक्रिय किया नहीं, करती नहीं, और भविष्य में करेगी भी नहीं, (यहाँ तक सारा आलापक कह देना चाहिए)।

२२. [१] एवं सणंकुमारे वि, नवरं चत्तारि केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अदुत्तरं च णं तिरियम-संखेज्जे।

[२२-१] इसी प्रकार सनत्कुमार देवलोक के देवेन्द्र (की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति) के विषय में भी समझना चाहिए। विशेषता यह है कि (सनत्कुमारेन्द्र की विकुर्वणाशक्ति) सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों जितने स्थल को भरने की है और तिरछे उसकी विकुर्वणाशक्ति असंख्यात (द्वीप समुद्रों जितने स्थल को भरने की) है।

[२] एवं सामाणिय-तायत्तीस-लोगपाल-अग्गमहिसीणं असंखेज्जे दीव-समुद्दे सव्वे विउव्वंति।

[२२-२] इसी तरह (सनत्कुमारेन्द्र के) सामानिक देव, त्रायस्त्रिशक, लोकपाल एवं अग्रमहिषियों की विकुर्वणाशक्ति असंख्यात द्वीप समुद्रों जितने स्थल को भरने की है। (शेष सब बातें पूर्ववत् समझनी चाहिए)।

२३. सणंकुमाराओ आरद्धा उवरिल्ला लोगपाला सव्वे वि असंखेज्जे दीव-समुद्दे विउव्वंति।

[२३] सनत्कुमार से लेकर ऊपर के (देवलोकों के) सब लोकपाल असंख्येय द्वीप-समुद्रों (जितने स्थल) को भरने की वैक्रियशक्ति वाले हैं।

२४. एवं माहिंदे वि। नवरं साइरेगे चत्तारि केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे।

[२४] इसी तरह माहेन्द्र (नामक चतुर्थ देवलोक के इन्द्र तथा उसके सामानिक आदि देवों की ऋद्धि आदि) के विषय में भी समझ लेना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि ये सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों (जितने स्थल को भरने) की विकुर्वणाशक्ति वाले हैं।

२५. एवं बंभलोए वि, नवरं अट्ठ केवलकप्पे०।

[२५] इसी प्रकार ब्रह्मलोक (नामक पंचम देवलोक के इन्द्र तथा तदधीन देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय में भी जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों (को भरने) की वैक्रियशक्ति (रखते हैं) वाले हैं।

२६. एवं लंतए वि, नवरं सातिरेगे अट्ठ केवलकप्पे०।

[२६] इसी प्रकार लान्तक नामक छठे देवलोक के इन्द्रादि की ऋद्धि आदि के विषय में समझना चाहिए किन्तु इतना विशेष है कि वे सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक स्थल को भरने की विकुर्वणाशक्ति रखते हैं।

२७. महासुक्के सोलस केवलकप्पे० ।

[२७] महाशुक्र (नामक सप्तम देवलोक के इन्द्रादि) के विषय में इसी प्रकार समझना चाहिए, किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण सोलह जम्बूद्वीपों (जितने स्थल) को भरने की वैक्रियशक्ति रखते हैं।

२८. सहस्सारे सातिरेगे सोलस० ।

[२८] सहस्रार (नामक अष्टम देवलोक के इन्द्रादि) के विषय में भी यही बात है। किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण सोलह जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक स्थल को भरने का वैक्रिय-सामर्थ्य रखते हैं।

२९. एवं पाणए वि, नवरं बत्तीसं केवल० ।

[२९] इसी प्रकार प्राणत (देवलोक के इन्द्र तथा उसके देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय में भी जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि वे सम्पूर्ण बत्तीस जम्बूद्वीपों (जितने क्षेत्र को भरने) की वैक्रियशक्ति वाले हैं।

३०. एवं अच्चुए वि, नवरं सातिरेगे बत्तीसं केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे । अन्नं तं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसति जाव विहरति ।

[३०] इसी तरह अच्युत (नामक बारहवें देवलोक के इन्द्र तथा उसके देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय में भी जानना चाहिए। किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण बत्तीस जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक क्षेत्र को भरने का वैक्रिय-सामर्थ्य रखते हैं। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कहकर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार कर यावत् विचरण करने लगे।

विवेचन—ईशानेन्द्र, कुरुदत्तपुत्र देव तथा सनत्कुमारेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के इन्द्रों तथा उनके सामानिक आदि देववर्ग की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—प्रस्तुत १२ सूत्रों (१९ से ३० सू० तक) में ईशानेन्द्र, ईशानदेवलोकोत्पन्न कुरुदत्तपुत्रदेव, ईशानेन्द्र के सामानिकादि तथा सनत्कुमार से अच्युत देवलोक तक के इन्द्रों तथा उनके सामानिकादि देवों की ऋद्धि आदि एवं विकुर्वणाशक्ति के विषय में प्ररूपण किया गया है।

कुरुदत्तपुत्र अनगार के ईशान-सामानिक होने की प्रक्रिया—ईशानेन्द्र की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय में प्रश्नोत्तर के पश्चात् ईशानेन्द्र के सामानिकदेव के रूप में उत्पन्न हुए प्रश्नकर्ता के पूर्व परिचित कुरुदत्तपुत्र अनगार की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय में प्रश्न करना प्रसंगप्राप्त ही है। प्रश्नकर्त्ता ने अपने परिचित कुरुदत्तपुत्र अनगार की कठोर तपश्चर्या से सामानिक देव पद तथा उससे सम्बन्धित ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का वर्णन करके सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक की गई तपश्चर्या का महत्त्व भी प्रकारान्तर से प्रतिपादित कर दिया है।

ईशानेन्द्र एवं शक्रेन्द्र में समानता और विशेषता—यद्यपि शक्रेन्द्र के प्रकरण में कही हुई बहुत-सी बातों के साथ ईशानेन्द्र के प्रकरण में कही गई बहुत-सी बातों की समानता होने से ईशानेन्द्र-प्रकरण को शक्रेन्द्र-प्रकरण के समान बताया गया है, तथापि कुछ बातों में विशेषता है। वह इस प्रकार—ईशानेन्द्र के २८ लाख विमान, ८० हजार सामानिक देव और ३ लाख २० हजार आत्मरक्षक देव हैं; तथा ईशानेन्द्र की वैक्रियशक्ति सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक स्थल को भरने की है, जो शक्रेन्द्र की वैक्रियशक्ति से अधिक है।[1]

सनत्कुमार से लेकर अच्युत तक के इन्द्रादि की वैक्रियशक्ति—सनत्कुमार देवेन्द्रादि की वैक्रियशक्ति सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों तथा तिरछे असंख्येय द्वीप-समुद्रों जितने स्थल को भरने की है, माहेन्द्र की सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक की, ब्रह्मलोक की सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों को भरने की, लान्तक की सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक की, महाशुक्र की १६ पूरे जम्बूद्वीपों को भरने की, सहस्रार की १६ जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक की, प्राणत की ३२ पूरे जम्बूद्वीपों के भरने की और अच्युत की ३२ पूरे जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक की है।[2]

सनत्कुमार देवलोक में देवी कहाँ से ?—यद्यपि सनत्कुमार देवलोक में देवी उत्पन्न नहीं होती, तथापि सौधर्म देवलोक में जो अपरिगृहीता देवियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी स्थिति समयाधिक पल्योपम से लेकर दस पल्योपम तक की होती है। वे अपरिगृहीता देवियाँ सनत्कुमारदेवों की भोग्या होती हैं, इसी कारण सनत्कुमार-प्रकरण के मूलपाठ में **'अग्गमहिसीणं'** कहकर अग्रमहिषियों का उल्लेख किया गया है।[3]

देवलोकों के विमानों की संख्या—सौधर्म में ३२ लाख, ईशान में २८ लाख, सनत्कुमार में १२ लाख, माहेन्द्र में ८ लाख, ब्रह्मलोक में ४ लाख, लान्तक में ५० हजार, महाशुक्र में ४० हजार, सहस्रार में ६ हजार, आनत और प्राणत में ४०० तथा आरण और अच्युत में ३०० विमान हैं।

सामानिक देवों की संख्या—पहले देवलोक में ८४ हजार, दूसरे में ८० हजार, तीसरे में ७२ हजार, चौथे में ७० हजार, पांचवें में ६० हजार, छठे में ५० हजार, सातवें में ४० हजार, आठवें में ३० हजार, नौवें और दसवें में २० हजार तथा ग्यारहवें और बारहवें देवलोक में १० हजार सामानिक देव हैं।[4]

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १६० (ख) भगवती० टीकानुवादसहित, खं० २, पृ. २२
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति (वियाहपन्नत्तीसुत्तं) (मूलपाठ टिप्पण) भा० १, पृ० १२७-१२८
३. भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १६०
४. (क) भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १६०
(ख) प्रज्ञापनासूत्र (क० आ० पृ० १२८) में निम्नोक्त गाथाओं से मिलती जुलती गाथाएँ—

बत्तीस अट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
आरणे बंभलोया विमाणसंखा भवे एसा ॥ १ ॥
पण्णासं चत्त छच्चेव सहस्सा लंतक-सुक्क-सहस्सारे।
सय चउरो आणय-पाणएसु, तिण्णि आरणऽच्चुयओ ॥ २ ॥
चउरासीई असीई बावत्तरी सत्तरी य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दससहस्सा ॥ ३ ॥

'पगिज्झिय' आदि कठिन शब्दों के अर्थ—पगिज्झिय=ग्रहण करके—करके। आरद्धा उवरिल्ला—से लेकर ऊपर के।[1]

मोकानगरी से विहार और ईशानेन्द्र द्वारा भगवद्वन्दन—

३१. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाई मोयाओ नगरीओ नंदणाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[३१] इसके पश्चात् किसी एक दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी 'मोका' नगरी के 'नन्दन' नामक उद्यान से बाहर निकलकर (अन्य) जनपद में विचरण करने लगे।

३२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। जाव परिसा पज्जुवासइ।

[३२] उस काल उस समय में राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन औपपातिकसूत्र के नगरी वर्णन के समान जानना चाहिए। (भगवान् वहाँ पधारे) यावत् परिषद् भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

३३. तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसभवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंवरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव (राज० पत्र ४४-५४) दिव्वं देविड्ढिं जाव जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[३३] उस काल उस समय में देवेन्द्र देवराज, शूलपाणि (हाथ में शूल-त्रिशूल धारक) वृषभ-वाहन (बैल पर सवारी करने वाला) लोक के उत्तरार्द्ध का स्वामी, अट्ठाईस लाख विमानों का अधिपति, आकाश के समान रजरहित निर्मल वस्त्रधारक, सिर पर माला से सुशोभित मुकुटधारी, नवीनस्वर्ण निर्मित सुन्दर, विचित्र एवं चंचल कुण्डलों से कपोल को जगमगाता हुआ यावत् दसों दिशाओं को उद्योतित एवं प्रभासित करता हुआ ईशानेन्द्र, ईशानकल्प में ईशानावतंसक विमान में (रायपसेणीय-राजप्रश्नीय उपांग में कहे अनुसार) यावत् दिव्य देवऋद्धि का अनुभव करता हुआ (भगवान् के दर्शन-वन्दन करने आया) और यावत् जिस दिशा से आया था उसी दिशा में वापस चला गया।

विवेचन—मोका नगरी से विहार और ईशानेन्द्र द्वारा भगवद्वन्दन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (३१ से ३३ तक) में शास्त्रकार ने तीन बातों का संकेत किया है—

१—मोकानगरी से भगवान् का बाह्य जनपद में विहार।

२—राजगृह ने भगवान् का पदार्पण और परिषद् द्वारा पर्युपासना।

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १६०

३—ईशानेन्द्र का भगवान् के दर्शन-वंदन के लिए आगमन।[1]

राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव के भगवत्सेवा में आगमन-वृत्तान्त का अतिदेश—संक्षेप में ईशानेन्द्र के आगमन वृत्तान्त के मुद्दे इस प्रकार हैं—

(१) सामानिक आदि परिवार से परिवृत ईशानेन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा श्रमण भगवान् महावीर को राजगृह में विराजे हुए देख, वहीं से वंदन किया।

(२) आभियोगिक देवों को राजगृह में एक योजन क्षेत्र साफ करने का आदेश।

(३) सेनाधिपति द्वारा सभी देव-देवियों को ईशानेन्द्र की सेवा में उपस्थित होने की घंटारव द्वारा घोषणा।

(४) समस्त देव-देवियों से परिवृत होकर एक लाख योजन विस्तृत विमान में बैठकर ईशानेन्द्र भगवद् वंदनार्थ निकला। नन्दीश्वर द्वीप में विश्राम। विमान को छोटा बनाकर राजगृह में विमान से उतर कर भगवान् के समवसरण में प्रवेश। भगवान् को वंदन-नमस्कार कर पर्युपासना में लीन हुआ।

(५) सर्वज्ञ प्रभु की सेवा में गौतमादि महर्षियों को दिव्य नाटकादि विधि दिखाने की इच्छा प्रगट की। उत्तर की अपेक्षा न रखकर वैक्रियप्रयोग से दिव्यमण्डप, मणिपीठिका और सिंहासन बनाए। सिंहासन पर बैठ कर दांए और वांए हाथ से १०८-१०८ देवकुमार-देवकुमारियाँ निकालीं। फिर वाद्यों और गीतों के साथ बत्तीस प्रकार का नाटक बतलाया। इसके पश्चात् अपनी दिव्य ऋद्धि-वैभव-प्रभाव-कान्ति आदि समेट कर पूर्ववत् अकेला हो गया।

(६) फिर अपने परिवार सहित ईशानेन्द्र भगवान् को वंदन-नमस्कार करके वापस अपने स्थान को लौट गया।[2]

कूटाकारशालादृष्टान्तपूर्वक ईशानेन्द्रऋद्धि की तत्शरीरानुप्रविष्ट-प्ररूपणा—

३४. [१] **'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसति, २ एवं वदासी—अहो णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया महिड्ढीए। ईसाणस्स णं भंते ! सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गता ? कहिं अणुपविट्ठा ?**

गोयमा ! सरीरं गता, सरीरं अणुपविट्ठा।

[३४-१ प्र०] 'हे भगवन् !' इस प्रकार सम्बोधित करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'अहो, भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान इतनी महाऋद्धि वाला है ! भगवन् ! ईशानेन्द्र की वह (नाट्य-प्रदर्शनकालिक) दिव्य देवऋद्धि (अब) कहाँ चली गई ? कहाँ प्रविष्ट हो गई ?'

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणी युक्त) पृ० १२९

२. (क) रायपसेणीयसुत्तं पत्र० ४४ से ५४ तक का सार।

(ख) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १६२-१६३

[३४-१ उ०] गौतम ! (ईशानेन्द्र द्वारा पूर्वप्रदर्शित) वह दिव्य देवऋद्धि (उसके) शरीर में चली गई, शरीर में प्रविष्ट हो गई है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति सरीरं गता, सरीरं अणुपविट्ठा ?

गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा, तीसे णं कूडागार० जाव (राज० पत्र ५६) कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वो।

[३४-२ प्र०] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि वह दिव्य देवऋद्धि शरीर में चली गई और शरीर में प्रविष्ट हो गई ?

[३४-२ उ०] गौतम ! जैसे कोई कूटाकार (शिखर के आकार की) शाला हो, जो दोनों तरफ से लीपी हुई हो, गुप्त हो, गुप्त-द्वारवाली हो, निर्वात हो, वायुप्रवेश से रहित गम्भीर हो, यावत् ऐसी कूटाकारशाला का दृष्टान्त (यहां) कहना चाहिए।

विवेचन—कूटाकारशाला के दृष्टान्तपूर्वक ईशानेन्द्र की ऋद्धि की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में ईशानेन्द्र की पुनः अदृश्य हुई ऋद्धि, प्रभाव एवं दिव्यकान्ति के सम्बन्ध में श्री गौतमस्वामी द्वारा किये गए प्रश्न का भगवान् द्वारा कूटाकारशाला के दृष्टान्तपूर्वक किया गया समाधान है।

कूटाकारशाला दृष्टान्त—जैसे (पूर्वोक्त) शिखराकार कोई शाला (घर) हो और उसके पास बहुत-से मनुष्य खड़े हों, इसी बीच आकाश में बादल उमड़ घुमड़कर आ गए हों और बरसने की तैयारी हो, ऐसी स्थिति में वे तमाम मनुष्य वर्षा से रक्षा के लिए उस शाला में प्रविष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार ईशानेन्द्र की वह दिव्यऋद्धि, देव-प्रभाव एवं दिव्य कांति ईशानेन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गई।[1]

ईशानेन्द्र का पूर्वभव : तामली का संकल्प और प्राणामाप्रव्रज्या ग्रहण—

३५. ईसाणेणं भंते ! देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभागे किण्णालद्धे ? किण्णापत्ते ? किण्णा अभिसमन्नागए ? के वा एस आसि पुव्वभवे ? किंणामए वा ? किंगोत्ते वा ? कतरंसि वा गामंसि वा नगरंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा ? किं वा सोच्चा ? किं वा दच्चा ? किं वा भोच्चा ? किं वा किच्चा ? किं वा समायरित्ता ? कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म जं णं ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया ?-

एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे तामलित्ती नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं तामलित्तीए नगरीए तामली नामं मोरियपुत्ते गाहावती होत्था। अड्ढे दित्ते जाव बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था।

[३५ प्र०] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति (कान्ति) और दिव्य देवप्रभाव किस कारण से उपलब्ध किया, किस कारण से प्राप्त किया और किस हेतु से

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १६३

अभिमुख किया ? यह ईशानेन्द्र पूर्वभव में कौन था ? इसका क्या नाम था, क्या गोत्र था ? यह किस ग्राम, नगर अथवा यावत् किस सन्निवेश में रहता था ? इसने क्या सुनकर, क्या (आहार-पानी आदि) देकर, क्या (रूखा-सूखा) खाकर, क्या (तप एवं शुभ ध्यानादि) करके, क्या (शीलव्रतादि या प्रतिलेखन-प्रमार्जन आदि धर्मक्रिया का) सम्यक् आचरण करके, अथवा किस तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य (तीर्थंकरोक्त) एवं धार्मिक सुवचन सुनकर तथा हृदय में धारण करके (पुण्यपुंज का उपार्जन किया,) जिस (पुण्य-प्रताप) से देवेन्द्र देवराज ईशानेन्द्र ने वह दिव्य देव ऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है और अभिमुख की है ?

[३५ उ०] हे गौतम ! उस काल उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भारतवर्ष में ताम्रलिप्ती नाम की नगरी थी। उसका वर्णन समझ लेना चाहिए। उस ताम्रलिप्ती नगरी में तामली नाम का मौर्यपुत्र (मौर्यवंश में उत्पन्न) गृहपति (गृहस्थ) रहता था। वह धनाढ्य था, दीप्तिमान (तेजस्वी) था, और बहुत-से मनुष्यों द्वारा अपराभवनीय (नहीं दबने वाला = दबंग) था।

३६. तए णं तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावतिस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—"अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणे फलवित्तिविसेसे जेणाहं हिरण्णेणं वड्ढामि, सुवण्णेणं वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धन्नेणं वड्ढामि, पुत्तेहिं वड्ढामि, पसूहिं वड्ढामि, विउलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतेज्जेणं अतीव २ अभिवड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं जाव कडाणं कम्माणं एगंतसोक्खयं उवेहेमाणे विहरामि ?, तं जाव च णं मे मित्त-नाति-नियग-संबंधिपरियणो आढाति परियाणइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासइ तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभाताए रयणीए जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहयं करेत्ता विउलं असण-पाण-खातिम-सातिमं उवक्खडावेत्ता मित्त-नाति-नियग-संबंधिपरियणं आमंतेत्ता तं मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरयणं विउलेणं असण-पाण-खातिम-सातिमेणं वत्थ-गंध-मल्ला-ऽलंकारेण य सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरियणस्स पुरतो जेट्ठं पुत्तं कुडुंबे ठावेत्ता तं मित्त-नाति-णियग-संबंधिपरियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए। पव्वइते वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामि—'कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्भिय पगिज्भिय सूराभिमुहस्स आतावणभूमीए आयावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीतो पच्चोरुभित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहयं गहाय तामलित्तीए नगरीए उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्ता सुद्धोदणं पडिग्गाहेत्ता, तं तिसत्तखुतो उदएणं पक्खालेत्ता, तओ पच्छा आहारं आहारित्तए' त्ति कट्टु" एवं संपेहेइ, २ कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहयं करेइ, २ विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेइ, २ तओ पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवर परिहिए अप्पमहग्घाऽऽभरणालंकियसरीरे भोयणवेलाए भोयण-

मंडवंसि सुहासणवरगते। तए णं मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरिजणेणं सद्धि तं विउलं असण-पाण-खातिम-साइमं आसादेमाणे वीसादेमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ।

[३६] तत्पश्चात् किसी एक दिन पूर्वरात्रि व्यतीत होने पर अपर (पश्चिम=पिछली) रात्रि-काल के समय कुटुम्ब जागरिका जागते हुए उस मौर्यपुत्र तामली गाथापति (गृहस्थ) को इस प्रकार का यह अध्यवसाय यावत् मन में संकल्प उत्पन्न हुआ कि—"मेरे द्वारा पूर्वकृत, पुरातन (दानादि रूप में) सम्यक् आचरित, (तप आदि में) सुपराक्रमयुक्त, शुभ और कल्याणरूप कृतकर्मों का कल्याणफलरूप प्रभाव अभी तक तो विद्यमान है; जिसके कारण मैं हिरण्य (चांदी) से बढ़ रहा हूँ, सुवर्ण (सोने) से बढ़ रहा हूँ, धन से बढ़ रहा हूँ, धान्य से बढ़ रहा हूँ, पुत्रों से बढ़ रहा हूँ, पशुओं से बढ़ रहा हूँ, तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, चन्द्रकान्त वगैरह शैलज मणिरूप पत्थर, प्रवाल (मूंगा) रक्तरत्न तथा माणिक्यरूप सारभूत धन से अधिकाधिक बढ़ रहा हूँ; (अर्थात्—मेरे घर में पूर्वकृत पुण्यप्रभाव से पूर्वोक्तरूप में सारभूत धनवैभव आदि बढ़ रहे हैं;) तो क्या मैं पूर्वकृत, पुरातन, (दानादिरूप में) समाचरित यावत् पूर्वकृतकर्मों का (शुभकर्मों का फल भोगने से उनका) एकान्तरूप से क्षय हो रहा है, इसे अपने सामने देखता रहूँ—इस (क्षय=नाश) की उपेक्षा करता रहूँ ? (अर्थात्—मुझे इतना सुख-साधनों का लाभ है, इतना ही बस मान कर क्या भविष्य-कालीन लाभ के प्रति उदासीन बना रहूँ ? यह मेरे लिए ठीक नहीं है।) अतः जब तक मैं चांदी-सोने यावत् माणिक्य आदि सारभूत पदार्थों के रूप में सुखसामग्री द्वारा दिनानुदिन अतीत-अतीव अभिवृद्धि पा रहा हूँ और जब तक मेरे मित्र, ज्ञातिजन, स्वगोत्रीय कुटुम्बीजन, मातृपक्षीय (ननिहाल के) या श्वसुरपक्षीय सम्बन्धी एवं परिजन (दास-दासी आदि), मेरा आदर करते हैं, मुझे स्वामी रूप में मानते हैं, मेरा सत्कार-सम्मान करते हैं, मुझे कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, और चैत्य (संज्ञानवान्=समझदार=अनुभवी) रूप मानकर विनयपूर्वक मेरी पर्युपासना=सेवा करते हैं; तब तक (मुझे अपना कल्याण कर लेना चाहिए।) यही मेरे लिए श्रेयस्कर है। अतः रात्रि के व्यतीत होने पर प्रभात का प्रादुर्भाव होते ही (अर्थात् प्रातःकाल का प्रकाश होने पर) यावत् जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर मैं स्वयं अपने हाथ से काष्ठपात्र बनाऊँ और पर्याप्त अशन, पान, खादिम और स्वादिमरूप चारों प्रकार का आहार तैयार करा कर, अपने मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन-सम्बन्धी तथा दास-दासी आदि परिजनों को आमंत्रित करके उन्हें सम्मानपूर्वक अशनादि चारों प्रकार के आहार का भोजन कराऊँ; फिर वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, माला और आभूषण आदि द्वारा उनका सत्कार-सम्मान करके उन्हीं मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन-सम्बन्धी और परिजनों के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित करके (उसे कुटुम्ब का सारा दायित्व सौंप कर), उन मित्र-ज्ञातिजन-स्वजन-परिजनादि तथा अपने ज्येष्ठपुत्र से पूछकर, मैं स्वयमेव काष्ठपात्र लेकर एवं मुण्डित होकर 'प्राणामा' नाम की प्रव्रज्या अंगीकार करूं और प्रव्रजित होते ही मैं इस प्रकार का अभिग्रह (संकल्प=प्रतिज्ञा) धारण करूं कि मैं जीवनभर निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तपश्चरण करूंगा और सूर्य के सम्मुख दोनों भुजाएं ऊँची करके आतापना भूमि में आतापना लेता (कठोर ताप सहता) हुआ रहूँगा और छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन आतापनाभूमि से नीचे उतर कर स्वयं काष्ठपात्र हाथ में लेकर ताम्रलिप्ती नगरी के ऊँच, नीच और मध्यम कुलों के गृहसमुदाय में भिक्षाचरी के लिए पर्यटन करके भिक्षाविधि द्वारा शुद्ध ओदन (अर्थात्—केवल भात) लाऊंगा और उसे २१ बार धोकर खाऊँगा।" इस प्रकार तामली गृहपति ने शुभ विचार किया।

इस प्रकार का विचार करके रात्रि व्यतीत होते ही प्रभात का प्रादुर्भाव होने पर यावत् तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर स्वयमेव लकड़ी का पात्र बनाया। फिर अशन, पान, खादिम, स्वादिमरूप चारों प्रकार का आहार तैयार करवाया। तत्पश्चात् उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक मंगल और प्रायश्चित्त किया, शुद्ध और उत्तम वस्त्रों को ठीक-से पहने, और अल्पभार तथा बहुमूल्य आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत किया। तत्पश्चात् भोजन के समय वह तामली गृहपति भोजनमण्डप में आकर शुभासन पर सुखपूर्वक बैठा। इसके बाद (आमंत्रित) मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन सम्बन्धी एवं परिजन आदि के साथ उस (तैयार कराए हुए) विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार का आस्वादन करता (चखता) हुआ, विशेष स्वाद लेता हुआ, दूसरों को परोसता हुआ भोजन कराता हुआ—और स्वयं भोजन करता हुआ तामली गृहपति विहरण कर रहा था।

३७. जिमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए तं मित्त जाव परियणं विउलेणं असणपाण० ४ पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लाऽलंकारेण य सक्कारेइ, २ तस्सेव मित्त-नाइ जाव परियणस्स पुरओ जेट्ठं पुत्तं कुटुम्बे ठावेइ, २ त्ता तं मित्त-नाइ-णियग-संबंधिपरिजणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ, २ मुण्डे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—'कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं जाव आहारित्तए' त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, २ त्ता जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आतावणभूमीए आतावेमाणे विहरइ। छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आतावण-भूमीओ पच्चोरुभइ, २ सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नगरीए उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ, २ सुद्धोयणं पडिग्गाहेइ, २ तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेइ, तओ पच्छा आहारं आहारेइ।

[३७] भोजन करने के बाद उसने पानी से हाथ धोये, और चुल्लू में पानी लेकर शीघ्र आचमन (कुल्ला) किया, मुख साफ करके स्वच्छ हुआ। फिर उन सब मित्र-ज्ञाति-स्वजन-परिजनादि का विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम, पुष्प, वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, माला, अलंकार आदि से सत्कार-सम्मान किया। फिर उन्हीं मित्रस्वजन आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित किया—(अर्थात्—उसे कुटुम्ब का भार सौंपा)। तत्पश्चात् उन्हीं मित्र-स्वजन आदि तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर और मुण्डित हो कर 'प्राणामा' नाम की प्रव्रज्या अंगीकार की।

प्राणामा-प्रव्रज्या में प्रव्रजित होते ही तामली ने इस प्रकार का अभिग्रह ग्रहण किया—"आज से मेरा कल्प यह होगा कि मैं आजीवन निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तप करूँगा, यावत् पूर्वकथितानुसार भिक्षाविधि से केवल भात (पके हुए चावल) लाकर उन्हें २१ बार पानी से धोकर उनका आहार करूँगा।" इस प्रकार अभिग्रह धारण करके वह तामली तापस यावज्जीवन निरन्तर बेले-बेले तप करके दोनों भुजाएँ ऊँची करके आतापनाभूमि में सूर्य के सम्मुख आतापना लेता हुआ विचरण करने लगा। बेले के पारणे के दिन आतापना भूमि से नीचे उतर कर स्वयं काष्ठपात्र लेकर ताम्रलिप्ती नगरी में ऊँच, नीच और मध्यम कुलों के गृह-समुदाय से विधिपूर्वक भिक्षा के लिए

घूमता था। भिक्षा में वह केवल भात लाता और उन्हें २१ बार पानी से धोता था, तत्पश्चात् आहार करता था।

विवेचन—ईशानेन्द्र का पूर्वभव : तामली का संकल्प और प्राणामा प्रव्रज्या ग्रहण—प्रस्तुत तीन सूत्रों में तीन तथ्यात्मक वृत्तान्त प्रस्तुत किये गये हैं—

१—ईशानेन्द्र के पूर्वभव के विषय में गौतमस्वामी का प्रश्न।

२—तामली गृहपति और उसका प्राणामा प्रव्रज्याग्रहण का संकल्प।

३—संकल्पानुसार विधिपूर्वक प्राणामा प्रव्रज्याग्रहण और पालन।

तामलित्ती—ताम्रलिप्ती—भगवान् महावीर से पूर्व भी यह नगरी बंगदेश की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध थी। तामली गृहपति के प्रकरण से भी यह बात सिद्ध होती है कि बंगदेश ताम्रलिप्ती के कारण गौरवपूर्ण अवस्था में पहुँचा हुआ था। अनेक नदियाँ होने के कारण जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों से माल का आयात-निर्यात होने के कारण व्यापार की दृष्टि से तथा सरसब्ज होने से उत्पादन की दृष्टि से भी यह समृद्ध था। वर्तमान 'ताम्रलिप्ती' का नाम अपभ्रष्ट होकर 'तामलूक' हो गया है, यह कलकत्ता के पास मिदनापुर जिले में है।

मौर्यपुत्र-तामली—तामली गृहपति का नाम ताम्रलिप्ती नगरी के आधार पर तामली (ताम्रलिप्त) रखा गया मालूम होता है। मौर्यपुत्र उसका विशेषण है। 'मुर' नाम की कोई प्रसिद्ध जाति थी, जिस के कारण यह वंश 'मौर्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो भी हो, ताम्रलिप्ती के गृहपतियों में मौर्यवंश ख्यातिप्राप्त था।[1]

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि=पूर्वरात्र (रात्रि का पहला भाग) और अपररात्र (रात्रि के पिछले भाग के बीच में—मध्यरात्रिकाल के समय (शब्दशः अर्थ); अथवा पूर्वरात्रि व्यतीत होने के बाद अपररात्रि (रात्रि के पश्चिम भाग) काल के समय (परम्परागत अर्थ)। **अज्झत्थिए**=आध्यात्मिक (आत्मगत अध्यवसाय)—संकल्प। **कल्लाणफलवित्तिविसेसो**=कल्याणकारी फलविशेष। **वड्ढामि**=(शब्दशः) बढ़ रहा हूँ, (भावार्थ) घर में बढ़ रहा है। **किण्णा**=किस हेतु (कारण) से। **जिमिय भुत्तुत्तरागए**=जीम (भोजन) करके, भोजनोत्तरकाल में अपने उपवेशन—बैठने के—स्थान में आ गया। **आयंते**=शुद्ध जल से आचमन करके, तथा **चोक्खे**—भोजन के कण, लेप, छींटे आदि दूर करके मुँह साफ किया, और **परमसूइब्भूए**=अत्यन्त (बिलकुल) शुचिभूत (साफ-सुथरा) हुआ।[2]

प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' रखने का कारण—

३८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—पाणामा पव्वज्जा ?

गोयमा ! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पासइ इंदं वा खंदं वा रुद्दं वा

---

१. (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) (टीकानुवाद टिप्पण सहित) (पं. बेचरदासजी) खण्ड २, पृ. २४

(ख) इससे लगता है चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व भी मौर्यवंश विद्यमान था —सम्पादक

२. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति. पत्रांक १६३

(ख) भगवती सूत्र विवेचन युक्त (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ५७६

(ग) व्याख्याप्रज्ञप्ति टीकानुवाद (पं. बेचरदास जी) खण्ड २, पृ. ४१

सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा जाव सत्थवाहं वा कागं वा साणं वा पाणं वा उच्चं पासइ उच्चं पणामं करेति, नीयं पासइ नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासति तस्स तहा पणामं करेइ। से तेणट्ठेणं जाव पव्वज्जा।

[३८ प्र.] भगवन् ! तामली द्वारा ग्रहण की हुई प्रव्रज्या 'प्राणामा' कहलाती है, इसका क्या कारण है ?

[३८ उ.] हे गौतम ! प्राणामा प्रव्रज्या में प्रव्रजित होने पर वह (प्रव्रजित) व्यक्ति जिसे जहाँ देखता है, (उसे वहीं प्रणाम करता है।) (अर्थात्—) इन्द्र को, स्कन्द (कार्तिकेय) को, रुद्र (महादेव) को, शिव (शंकर या किसी व्यन्तरविशेष) को, वैश्रमण (कुबेर) को, आर्या (प्रशान्तरूपा पार्वती) को, रौद्ररूपा चण्डिका (महिषासुरमर्दिनी चण्डी) को, राजा को, यावत् सार्थवाह को, (अर्थात्—राजा, युवराज, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह—वनजारे को) अथवा कौआ, कुत्ता और श्वपाक=चाण्डाल (आदि सबको प्रणाम करता है।) इनमें से उच्च व्यक्ति को देखता है, उच्च-रीति से प्रणाम करता है, नीच को देखकर नीची रीति से प्रणाम करता है। (अर्थात्—) जिसे जिस रूप में देखता है, उसे उसी रूप में प्रणाम करता है। इस कारण हे गौतम ! इस प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' प्रव्रज्या है।

विवेचन—प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' रखने का कारण—प्रस्तुत सूत्र में तामली गृहपति द्वारा गृहीत प्रव्रज्या को प्राणामा कहने का आशय व्यक्त किया गया है।

'प्राणामा का शब्दशः अर्थ—भी यह होता है—जिसमें प्रत्येक प्राणी को यथायोग्य प्रणाम करने की क्रिया विहित हो।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—वेसमणं=उत्तरदिग्पाल—कुवेरदेव। **कोट्टकिरियं**=महिषासुर को पीटने (कूटने) की क्रिया वाली चण्डिका। **उच्चं**=पूज्य को, **नीयं**=अपूज्य को, **उच्चं पणामं**=अतिशय प्रणाम, **नीयं पणामं**=अत्यधिक प्रणाम नहीं करता।[2]

---

१. वर्तमान में भी वैदिक सम्प्रदाय में 'प्राणामा' प्रव्रज्या प्रचलित है। इस प्रकार की प्रव्रज्या में दीक्षित हुए एक सज्जन के सम्बन्ध में 'सरस्वती' (मासिक पत्रिका भाग १३, अंक १, पृष्ठ १८०) में इस प्रकार के समाचार प्रकाशित हुए हैं—

"……इसके बाद सब प्राणियों में भगवान् की भावना दृढ़ करने और अहंकार छोड़ने के इरादे से प्राणिमात्र को ईश्वर समझकर आपने साष्टांग प्रणाम करना शुरू किया। जिस प्राणी को आप आगे देखते, उसी के सामने अपने पैरों पर आप जमीन पर लेट जाते। इस प्रकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक और गौ से लेकर गधे तक को आप साष्टांग नमस्कार करने लगे।"

प्रस्तुत शास्त्र में उल्लिखित 'प्राणामा' प्रव्रज्या और 'सरस्वती' में प्रकाशित उपर्युक्त घटना, दोनों की प्रवृत्ति समान प्रतीत होती है। किन्तु ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्ज्ञान के अभाव की सूचक है।

—भगवती विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ५९४ से

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १६४

बालतपस्वी तामली द्वारा पादपोपगमन-अनशन ग्रहण—

३९. तए णं से तामली मोरियपुत्ते तेणं ओरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे जाव[1] धमणिसंतते जाए यावि होत्था।

[३९] तत्पश्चात् वह मौर्यपुत्र तामली तापस उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बाल (अज्ञान) तप द्वारा (अत्यन्त) सूख (शुष्क हो) गया, रूक्ष हो गया, यावत् (इतना दुर्बल हो गया कि) उसके समस्त नाड़ियों का जाल बाहर दिखाई देने लगा।

४०. तए णं तस्स तामलिस्स बालतवस्सिस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं इमेणं ओरालेणं विपुलेणं जाव[2] उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे जाव धमणिसंतते जाते, तं अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तावता मे सेयं कल्लं जाव जलंते तामलित्तीए नगरीए दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसंगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छित्ता तामलित्तीए नगरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छित्ता पाउग्गं कुण्डियमादीयं उवकरणं दारुमयं च पडिग्गहयं एगंते एडित्ता तामलित्तीए नगरीए उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए णियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ। एवं संपेहेत्ता कल्लं जाव जलंते जाव आपुच्छइ, २ तामलित्तीए एगंते एडेइ जाव भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने।

[४०] तदनन्तर किसी एक दिन पूर्वरात्रि व्यतीत होने के बाद अपररात्रिकाल के समय अनित्य जागरिका अर्थात् संसार, शरीर आदि की क्षणभंगुरता का विचार करते हुए उस बालतपस्वी तामली को इस प्रकार का आध्यात्मिक चिन्तन यावत् मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ कि 'मैं इस उदार, विपुल यावत् उदग्र, उदात्त, उत्तम और महाप्रभावशाली तप:कर्म करने से शुष्क और रूक्ष हो गया हूँ, यावत् मेरा शरीर इतना कृश हो गया है कि नाड़ियों का जाल बाहर दिखाई देने लग गया है। इसलिए जब तक मुझ में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम है, तब तक मेरे लिए (यही) श्रेयस्कर है कि कल प्रात:काल यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर मैं ताम्रलिप्ती नगरी में जाऊँ। वहाँ जो दृष्टभाषित (जिनको पहले गृहस्थावस्था में देखा है, जिनके साथ भाषण किया है) व्यक्ति हैं, जो पाषण्ड (व्रतों में) स्थित हैं, या जो गृहस्थ हैं, जो पूर्वपरिचित (गृहस्थावस्था के परिचित) हैं, या जो पश्चात्परिचित (तापसजीवन में परिचय में आए हुए) हैं, तथा जो समकालीन प्रव्रज्या—(दीक्षा) पर्याय से युक्त पुरुष हैं, उनसे पूछकर (विचार-विनिमय करके), ताम्रलिप्ती नगरी के बीचोंबीच से निकलकर पादुका (खड़ाऊं), कुण्डी आदि उपकरणों तथा काष्ठ-पात्र को एकान्त में

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से········'भुक्खे, निम्मंसे निस्सोणिए किडिकिडियाभूए अट्ठि चम्मावणद्धे किसे' यह पाठ जानना चाहिए।

२. 'जाव' पद से 'सस्सिरीएणं पयत्तेणं पग्गहिएणं, कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगलेणं' इस पाठ का ग्रहण करना चाहिए।

रखकर, ताम्रलिप्ती नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग (ईशान कोण) में निवर्तनिक (एक परिमित क्षेत्र विशेष, अथवा निजतनुप्रमाण स्थान) मंडल का आलेखन (निरीक्षण, सम्मार्जन, या रेखा खींच कर क्षेत्रमर्यादा) करके, संल्लेखना तप से आत्मा को सेवित कर आहार-पानी का सर्वथा त्याग (यावज्जीव अनशन) करके पादपोपगमन संथारा करूं और मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ (शान्तचित्त से समभाव में) विचरण करूं; मेरे लिए यही उचित है।' यों विचार करके प्रभातकाल होते ही यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर यावत् (पूर्वोक्त—पूर्वचिन्तित संकल्पानुसार सबसे यथायोग्य) पूछा। (विचार विनिमय करके) उस (तामली तापस) ने (ताम्रलिप्ती नगरी के बीचोंबीच से निकलकर अपने उपकरण) एकान्त स्थान में छोड़ दिये। फिर यावत् आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) किया और पादपोपगमन नामक अनशन (संथारा) अंगीकार किया।

विवेचन—बालतपस्वी तामली द्वारा पादपोपगमन-अनशन-ग्रहण—प्रस्तुत सूत्रद्वय में तामली तापस के बालतपस्वी जीवन के तीन वृत्तान्त प्रतिपादित किये गए हैं—(१) उक्त घोर बालतप के कारण शरीर शुष्क, रूक्ष एवं अत्यन्त कृश हो गया।

(२) एक रात्रि के पिछले पहर में क्रमशः विधिवत् संलेखना-संथारा करने का संकल्प किया।

(३) संकल्पानुसार तामली तापस अपने परिचितों से पूछकर—उनकी अनुमति लेकर ताम्रलिप्ती के ईशानकोण में संल्लेखनापूर्वक पादपोपगमन अनशन की आराधना में संलग्न हुआ।

संलेखना तप—चतुर्विध आहार के सर्वथा प्रत्याख्यान (यावज्जीव अनशन) करने से पूर्व साधक काय और कषाय को कृश करने वाला संल्लेखना तप स्वीकार करता है।

पादपोपगमन-अनशन—इस अनशन का धारक साधक गिरे हुए पादप (वृक्ष) की तरह निश्चेष्ट होकर आत्मध्यान में मग्न रहता है।[1]

बलिचंचावासी देवगण द्वारा इन्द्र बनने की विनति : तामली तापस द्वारा अस्वीकार—

४१. तेणं कालेणं तेणं समएणं बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया यावि होत्था। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं ओहिणा आभोयंति, २ अन्नमन्नं सद्दावेंति, २ एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया! इंदाधीणा इंदाधिट्ठिया इंदाहीणकज्जा। अयं च णं देवाणुप्पिया! तामली बालतवस्सी तामलित्तीए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए नियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं तामलिं बालतवस्सिं बलिचंचाए रायहाणीए ठितिपकप्पं पकरावेत्तए" त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, २ बलिचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, २ जेणेव रुयगिंदे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छंति, २ वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विकुव्वंति, २ ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जइणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए दिव्वाए उद्धुयाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे

---

१. भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. ३ (पूं. घासीलालजी म.) पृ. २१५

जेणेव तामलित्ती नगरी जेणेव तामली मोरियपुत्ते तेणेव उवागच्छंति, २ त्ता तामलिस्स बालतवस्सिस्स उप्पि सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं बत्तीसतिविहं नट्टविहिं उवदंसेंति, २ तामलिं बालतवस्सिं तिक्खुत्तो आदाहिणं पदाहिणं करेंति वंदंति नमंसंति, २ एवं वदासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे बलिचंचारायहाणीवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पियं वंदामो नमंसामो जाव पज्जुवासामो। अम्हं णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचं रायहाणिं आढाह परियाणह सुमरह, अट्ठं बंधह, णिदाणं पकरेह, ठितिपकप्पं पकरेह। तए णं तुब्भे कालमासे कालं किच्चा बलिचंचारायहाणीए उववज्जिस्सह, तए णं तुब्भे अम्हं इंदा भविस्सह, तए णं तुब्भे अम्हेहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सह।"

[४१] उस काल उस समय में बलिचंचा (उत्तरदिशा के असुरेन्द्र असुरकुमारराज की) राजधानी इन्द्रविहीन और (इन्द्र के अभाव में) पुरोहित से विहीन थी। उन बलिचंचा राजधानी निवासी बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने तामली बालतपस्वी को अवधिज्ञान से देखा। देखकर उन्होंने एक दूसरे को बुलाया, और बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! (आपको मालूम ही है कि) बलिचंचा राजधानी (इस समय) इन्द्र से विहीन और पुरोहित से भी रहित है। हे देवानुप्रियो ! हम सब (अब तक) इन्द्राधीन और इन्द्राधिष्ठित (रहे) हैं, अपना सब कार्य इन्द्र की अधीनता में होता है। हे देवानुप्रियो ! (भारतवर्ष में ताम्रलिप्ती नगरी में) यह तामली बालतपस्वी ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर उत्तरपूर्वदिशाभाग (ईशान कोण) में निवर्तनिक (निवर्तनपरिमित या अपने शरीरपरिमित) मंडल (स्थान) का आलेखन करके, संलेखना तप की आराधना से अपनी आत्मा को सेवित करके, आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान कर, पादपोपगमन अनशन को स्वीकार करके रहा हुआ है। अतः देवानुप्रियो ! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि तामली बालतपस्वी को बलिचंचा राजधानी में (इन्द्र रूप में) स्थिति करने (आकर रहने) का संकल्प (प्रकल्प) कराएँ।' ऐसा (विचार) करके परस्पर एक-दूसरे के पास (इस बात के लिए) वचनबद्ध हुए। फिर (वे सब अपने वचनानुसार) बलिचंचा राजधानी के बीचोंबीच होकर निकले और जहाँ रुचकेन्द्र उत्पातपर्वत था, वहाँ आए। वहाँ आकर उन्होंने वैक्रिय समुद्घात से अपने आपको समवहत (युक्त) किया, यावत् उत्तरवैक्रिय रूपों की विकुर्वणा की। फिर उस उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, जयिनी, छेक (निपुण) सिंहसदृश, शीघ्र, दिव्य और उद्धूत देवगति से (वे सब) तिरछे असंख्येय द्वीप-समुद्रों के मध्य में होते हुए जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ भारतवर्ष था, जहाँ ताम्रलिप्ती नगरी थी, जहाँ मौर्यपुत्र तामली तापस था, वहाँ आए, और तामली बालतपस्वी के (ठीक) ऊपर (आकाश में) चारों दिशाओं और चारों कोनों (विदिशाओं) में सामने खड़े (स्थित) होकर दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव और बत्तीस प्रकार की दिव्य नाटकविधि बतलाई।

इसके पश्चात् तामली बालतपस्वी की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, उसे वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! हम बलिचंचा राजधानी के निवासी बहुत-से असुरकुमार देव और देवीवृन्द आप देवानुप्रिय को वन्दन-नमस्कार करते हैं यावत् आपकी पर्युपासना करते हैं। हे देवानुप्रिय ! (इस समय) हमारी बलिचंचा राजधानी

इन्द्र और पुरोहित से विहीन है। और हे देवानुप्रिय ! हम सव इन्द्राधीन और इन्द्राधिष्ठित रहने वाले हैं। और हमारे सव कार्य इन्द्राधीन होते हैं। इसलिए हे देवानुप्रिय ! आप वलिचंचा राजधानी (के अधिपतिपद) का आदर करें (अपनावें)। उसके स्वामित्व को स्वीकार करें, उसका मन में भली-भाँति स्मरण (चिन्तन) करें, उसके लिए (मन में) निश्चय करें, उसका (वलिचंचा राजधानी के इन्द्र-पद की प्राप्ति का) निदान करें, वलिचंचा में उत्पन्न होकर स्थिति (इन्द्ररूप में निवास) करने का संकल्प (निश्चय) करें। तभी (वलिचंचा राजधानी के अधिपतिपदप्राप्ति का आपका विचार स्थिर हो जाएगा, तव ही) आप काल (मृत्यु) के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके वलिचंचा राजधानी में उत्पन्न होंगे। फिर आप हमारे इन्द्र वन जाएँगे और हमारे साथ दिव्य कामभोगों को भोगते हुए विहरण करेंगे।

४२. तए णं से तामली वालतवस्सी तेहिं वलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं य देवीहि य एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं नो आढाइ नो परियाणेइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

[४२] जव वलिचंचा राजधानी में रहने वाले वहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने उस तामली वालतपस्वी को इस (पूर्वोक्त) प्रकार से कहा तो उसने उनकी वात का आदर नहीं किया, स्वीकार भी नहीं किया, किन्तु मौन रहा।

४३. तए णं ते वलिचंचारायहाणिवत्थव्वया वहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं मोरियपुत्तं दोच्चं पि तच्चं पि तिक्खुत्तो आदाहिणप्पदाहिणं करेंति, २ जाव अम्हं च णं देवाणुप्पिया ! वलिचंचा रायहाणी अणिंदा जाव ठितिपकप्पं पकरेह, जाव दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे जाव तुसिणीए संचिट्ठइ।

[४३] तदनन्तर वलिचंचा-राजधानी-निवासी उन वहुत-से देवों और देवियों ने उस तामली वालतपस्वी की फिर दाहिनी ओर से तीन वार प्रदक्षिणा करके दूसरी वार, तीसरी वार पूर्वोक्त वात कही कि हे देवानुप्रिय ! हमारी वलिचंचा राजधानी इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित है, यावत् आप उसके स्वामी वनकर वहाँ स्थिति करने का संकल्प करिये।' उन असुरकुमार देव-देवियों द्वारा पूर्वोक्त वात दो-तीन वार यावत् दोहराई जाने पर भी तामली मौर्यपुत्र ने कुछ भी जवाव न दिया यावत् वह मौन धारण करके वैठा रहा।

४४. तए णं ते वलिचंचारायहाणिवत्थव्वया वहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा वालतवस्सिणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाणिज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४४] तत्पश्चात् अन्त में जव तामली वालतपस्वी के द्वारा वलिचंचा राजधानी-निवासी उन वहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों का अनादर हुआ, और उनकी वात नहीं मानी गई, तव वे (देव-देवीवृन्द) जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में वापस चले गए।

विवेचन—वलिचंचानिवासी देवगण द्वारा इन्द्र बनने की विनति और तामली तापस द्वारा

अस्वीकार—प्रस्तुत चार सूत्रों (४१ से ४४ सू. तक) में तामली तापस से सम्बन्धित चार वृत्तान्त प्रतिपादित किये गए हैं—

(१) वलिचंचा राजधानी निवासी असुरकुमार देव-देवीगण द्वारा अनशन लीन तामली तापस को वहाँ के इन्द्रपद की प्राप्ति का संकल्प एवं निदान करने के लिए विनति करने का विचार।

(२) तामली तापस की सेवा में पहुंचकर उससे वलिचंचा के इन्द्रपद प्राप्ति का संकल्प और निदान का साग्रह अनुरोध।

(३) उनके अनुरोध का तामली तापस द्वारा अनादर और अस्वीकार।

(४) तामली तापस द्वारा अनादृत होने तथा स्वकीय प्रार्थना अमान्य होने से उक्त देवगण का निराश होकर अपने स्थान को लौट जाना।

पुरोहित वनने की विनति नहीं—तामली तापस का उक्त देवगण ने पुरोहित वनने की विनति इसलिए नहीं की कि इन्द्र के अभाव में शान्तिकर्मकर्ता पुरोहित हो नहीं सकता था।

देवों की गति के विशेषण—उक्किट्ठा=उत्कर्षवती, तुरिया=त्वरावाली गति, चवला—शारीरिक चपलतायुक्त, चंडा=रौद्ररूपा, जइणा=दूसरों की गति को जीतने वाली, छेया=उपाय-पूर्वकप्रवृत्ति होने से निपुण, सीहा=सिंह की गति के समान अनायास होने वाली, सिग्घा=शीघ्र-गामिनी, दिव्या=दिव्य-देवों की, उद्धुया=गमन करते समय वस्त्रादि उड़ा देने वाली, अथवा उद्धत-सदर्प गति। ये सव देवों की गति (चाल) के विशेषण हैं।

सपक्खि सपडिदिसिं की व्याख्या—सपक्खि=सपक्ष अर्थात्—जिस स्थल में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, के सभी पक्ष-पार्श्व (पूर्व आदि दिशाएँ विदिशाएं।) एकसरीखे हों, वह सपक्ष। सपडिदिसिं=जिस स्थान से सभी प्रतिदिशाएं (विदिशाएँ) एक समान हो,[1] वह सप्रतिदिक् है।

तामली बालतपस्वी की ईशानेन्द्र के रूप में उत्पत्ति—

४५. तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे कप्पे अणिंदे अपुरोहिते यावि होत्था। तए णं से तामली वालतवस्सी रिसी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे उववातसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिते अंगुलस्स असंखेज्जभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाण-देविंदविरहकालसमयंसि ईसाणदेविंदत्ताए उववन्ने। तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छति, तं जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भासा-मणपज्जत्तीए।

[४५] उस काल और उस समय में ईशान देवलोक (कल्प) इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित भी था। उस समय ऋषि तामली वालतपस्वी, पूरे साठ हजार वर्ष तक तापस पर्याय का पालन करके, दो महीने की संलेखना से अपनी आत्मा को सेवित करके, एक सौ वीस भक्त (टंक) अनशन में काट कर (अर्थात्—१२० बार का भोजन छोड़ कर=दो मास तक अनशन का पालन कर) काल के

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १६७

अवसर पर काल करके ईशान देवलोक के ईशावतंसक विमान में उपपातसभा की देवदूष्य-वस्त्र से आच्छादित देवशय्या में अंगुल के असंख्येय भाग जितनी अवगाहना में, ईशान देवलोक के इन्द्र के विरहकाल (अनुपस्थितिकाल) में ईशानदेवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। तत्काल उत्पन्न वह देवेन्द्र देवराज ईशान, आहारपर्याप्ति से लेकर यावत् भाषा-मन:पर्याप्ति तक, पंचविध पर्याप्तियों से पर्याप्ति भाव को प्राप्त हुआ—पर्याप्त हो गया।

विवेचन—तामली बालतपस्वी की ईशानेन्द्र के रूप में उत्पत्ति—प्रस्तुत सूत्र में तामली तापस द्वारा स्वीकृत संलेखना एवं अनशन पूर्ण होने की तथा आयुष्य पूर्ण होने की अवधि बता कर ईशान देवलोक में ईशान-देवेन्द्र के रूप में उत्पन्न होने का वर्णन है।

तामली तापस की कठोर बाल-तपस्या एवं संलेखनापूर्वक अनशन का सुफल—यहाँ शास्त्रकार ने तामली तापस की साधना के फलस्वरूप उपार्जित पुण्य का फल बताकर यह ध्वनित कर दिया है कि इतना कठोर तपश्चरण अज्ञानपूर्वक होने से कर्मक्षय का कारण न बनकर शुभकर्मोपार्जन का कारण बना।

देवों में पांच ही पर्याप्तियों का उल्लेख—इसलिए किया गया है, कि देवों के भाषा और मन: पर्याप्ति एक साथ सम्मिलित बंधती है।[31]

बलिचंचावासी असुरों द्वारा तामली तापस के शव की विडम्बना—

४६. तए णं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं कालगयं जाणित्ता ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववन्नं पासित्ता आसुरुत्ता कुविया चंडिक्किया मिसिमिसेमाणा बलिचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, २ ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्ती नयरी जेणेव तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरए तेणेव उवागच्छंति, २ वामे पाए सुंबेणं बंधंति, २ तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहंति, २ तामलित्तीए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदासि—'केस णं भो ! से तामली बालतवस्सी सयंगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए ! केस णं से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया' इति कट्टु तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलंति निंदंति खिंसंति गरिहंति अवमन्नंति तज्जंति तालेंति परिवहेंति पव्वहेंति आकड्ढविकड्ढिं करेंति, हीलेत्ता जाव आकड्ढविकड्ढिं करेत्ता एगंते एडेंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४६] उस समय बलिचंचा-राजधानी के निवासी बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने जब यह जाना कि तामली बालतपस्वी कालधर्म को प्राप्त हो गया है और ईशानकल्प (देवलोक) में वहाँ के देवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, तो यह जानकर वे एकदम क्रोध से मूढ़मति हो गए, अथवा शीघ्र क्रोध से भड़क उठे, वे अत्यन्त कुपित हो गए, उनके चेहरे क्रोध से भयंकर उग्र हो गए वे क्रोध की आग से तिलमिला उठे और तत्काल वे सब बलिचंचा राजधानी के बीचोंबीच होकर निकले, यावत् उत्कृष्ट देवगति से इस जम्बूद्वीप में स्थित भरतक्षेत्र की ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर, जहाँ तामली

---

३१. भगवती विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भाग २, पृ. ५८७

वालतपस्वी का शव (मृतशरीर) (पड़ा) था वहाँ आए। उन्होंने (तामली वालतपस्वी के मृत शरीर के) वाएँ पैर को रस्सी से बांधा, फिर तीन वार उसके मुख में थूका। तत्पश्चात् ताम्रलिप्ती नगरी के शृंगाटकों—त्रिकोण मार्गों (तिराहों) में, चौकों में, प्रांगण में, चतुर्मुख मार्ग में तथा महामार्गों में; अर्थात् ताम्रलिप्ती नगरी के सभी प्रकार के मार्गों में उसके शव (मृतशरीर) को घसीटा; अथवा इधर-उधर खींचतान की और जोर-जोर से चिल्लाकर उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहने लगे—'स्वयमेव तापस का वेष पहन (ग्रहण) कर 'प्राणामा' प्रव्रज्या अंगीकार करने वाला यह तामली वालतपस्वी हमारे सामने क्या है ? तथा ईशानकल्प में उत्पन्न हुआ देवेन्द्र देवराज ईशान भी हमारे सामने कौन होता है ?' यों कहकर वे उस तामली वालतपस्वी के मृत शरीर की हीलना, (अवहेलना), निन्दा करते हैं, उसे कोसते (खिसा करते) हैं, उसकी गर्हा करते हैं, उसकी अवमानना, तर्जना और ताड़ना करते हैं (उसे मारते-पीटते हैं)। उसकी कदर्थना (विडम्वना) और भर्त्सना करते हैं, (उसकी वहुत वुरी हालत करते हैं, उसे उठा-उठाकर खूव पटकते हैं।) अपनी इच्छानुसार उसे इधर-उधर घसीटते (खींचते) हैं। इस प्रकार उस शव की हीलना यावत् मनमानी खींचतान करके फिर उसे एकान्त स्थान में डाल देते हैं। फिर वे जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में वापस लौट गए।

विवेचन—वलिचंचावासी असुरों द्वारा तामली तापस के शव की विडम्वना—प्रस्तुत सूत्र में वालतपस्वी तामली तापस का अनशनपूर्वक मरण हो जाने और ईशान देवलोक के इन्द्र के रूप में उत्पन्न होने पर क्रुद्ध वलिचंचावासी असुरों द्वारा उसके मृतशरीर की की गई विडम्वना का वर्णन है। क्रोध में असुरों को कुछ भी भान न रहा कि इसकी प्रतिक्रिया क्या होगी ?

प्रकुपित ईशानेन्द्र द्वारा भस्मीभूत वलिचंचा देख, भयभीत असुरों द्वारा अपराधक्षमा-याचना—

४७. तए णं ईसाणकप्पवासी वहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य वलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं वहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य तामलिस्स वालतवस्सिस्स सरीरयं हीलिज्जमाणं निंदिज्जमाणं जाव आकड्ढविकड्ढिं कीरमाणं पासंति, २ आसुरुत्ता जाव मिसिमिसेमाणा जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छंति, २ करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! वलिचंचारायहाणिवत्थव्वया वहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिए कालगए जाणित्ता ईसाणे य कप्पे इंदत्ताए उववन्ने पासेत्ता आसुरुत्ता जाव एगंते एडेंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४७] तत्पश्चात् ईशानकल्पवासी वहुत-से वैमानिक देवों और देवियों ने (इस प्रकार) देखा कि वलिचंचा-राजधानी-निवासी वहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों द्वारा तामली वालतपस्वी के मृत शरीर की हीलना, निन्दा और आक्रोशना की जा रही है, यावत् उस शव को मनचाहे ढंग से इधर-उधर घसीटा या खींचा जा रहा है। अतः इस प्रकार (तामली तापस के मृत शरीर की दुर्दशा होती) देखकर वे वैमानिक देव-देवीगण शीघ्र ही क्रोध से भड़क उठे यावत् क्रोधानल से तिलमिलाते (दांत पीसते) हुए, जहाँ देवेन्द्र देवराज ईशान था, वहाँ पहुँचे। ईशानेन्द्र के पास पहुँचकर दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर अंजलि करके 'जय हो, विजय हो' इत्यादि शब्दों से उस (तामली के जीव

ईशानेन्द्र) को वधाया। फिर वे इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! वलिचंचा राजधानी निवासी वहुत से असुरकुमार देव और देवीगण आप देवानुप्रिय को कालधर्म प्राप्त हुए एवं ईशानकल्प में इन्द्ररूप में उत्पन्न हुए देखकर अत्यन्त कोपायमान हुए यावत् आपके मृतशरीर को उन्होंने मनचाहा आड़ा-टेढ़ा खींच-घसीटकर एकान्त में डाल दिया। तत्पश्चात् वे जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में वापस लौट गए।'

४८. तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेसिं ईसाणकप्पवासीणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सयणिज्जवरगए तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु वलिचंचं रायहाणिं अहे सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोएइ, तए णं सा वलिचंचा रायहाणी ईसाणेणं देविदेणं देवरण्णा अहे सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेणं दिव्वप्पभावेणं इंगालब्भूया मुम्मुरब्भूया छारिब्भूया तत्तकवेल्लकब्भूया तत्ता समजोइब्भूया जाया यावि होत्था।

[४८] उस समय देवेन्द्र देवराज ईशान ईशानकल्पवासी वहुत-से वैमानिक देवों और देवियों से यह वात सुनकर और मन में विचार कर शीघ्र ही क्रोध से आगववूला हो उठा, यावत् क्रोधाग्नि से तिलमिलाता (मिसमिसाहट करता) हुआ, वहीं देवशय्या स्थित ईशानेन्द्र ने ललाट पर तीन सल (रेखाएँ) डालकर एवं भ्रुकुटि तान कर वलिचंचा राजधानी को, नीचे ठीक सामने, (सपक्ष—चारों दिशाओं से वरावर सम्मुख, और सप्रतिदिक् (चारों विदिशाओं से भी एकदम सम्मुख) होकर एकटक दृष्टि से देखा। इस प्रकार कुपित दृष्टि से वलिचंचा राजधानी को देखने से वह उस दिव्यप्रभाव से जलते हुए अंगारों के समान, अग्नि-कणों के समान, तपी हुई राख के समान, तपतपाती वालू जैसी या तपे हुए गर्म तवे सरीखी, और साक्षात् अग्नि की राशि जैसी हो गई—जलने लगी।

४९. तए णं ते वलिचंचारायहाणिवत्थव्वया वहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तं वलिचंचं रायहाणिं इंगालब्भूयं जाव समजोतिब्भूयं पासंति, २ भीया उत्तत्था सुसिया उव्विग्गा संजायभया सव्वओ समंता आधावेंति परिधावेंति, २ अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा २ चिट्ठंति।

[४९] जव वलिचंचा राजधानी में रहने वाले वहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने उस वलिचंचा राजधानी को अंगारों सरीखी यावत् साक्षात् अग्नि की लपटों जैसी देखी तो वे उसे देखकर अत्यन्त भयभीत हुए, भयत्रस्त होकर कांपने लगे, उनका आनन्दरस सूख गया (अथवा उनके चेहरे सूख गए), वे उद्विग्न हो गए, और भय के मारे चारों ओर इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगे। (इस भगदड़ में) वे एक दूसरे के शरीर से चिपटने लगे अथवा एक दूसरे के शरीर की ओट में छिपने लगे।

५०. तए णं ते वलिचंचारायहाणिवत्थव्वया वहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं परिकुवियं जाणित्ता ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणा सव्वे सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजयेणं वद्धावेंति, २ एवं वयासी—अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पियाणं दिव्वा देविड्ढी जाव लद्धा पत्ता

अभिसमन्नागया। तं खामेमो णं देवाणुप्पिया!, खमंतु णं देवाणुप्पिया!, खंतुमरिहंति णं देवाणुप्पिया!, णाइ भुज्जो एवंकरणयाए त्ति कट्टु एयमट्ठं सम्मं विणयेणं भुज्जो २ खामेंति।

[५०] ऐसी दुःस्थिति हो गई, तब बलिचंचा-राजधानी के बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने यह जानकर कि देवेन्द्र देवराज ईशान के परिकुपित होने से (हमारी राजधानी इस प्रकार आग-सी तप्त हो गई है); वे सब असुरकुमार देवगण, ईशानेन्द्र (देवेन्द्र देवराज) की उस दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव, और दिव्य तेजोलेश्या को सहन न करते हुए देवेन्द्र देवराज ईशान के चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में ठीक सामने खड़े होकर (ऊपर की ओर मुख करके दसों नख इकट्ठे हों, इस तरह से दोनों हाथ जोड़कर शिरसावर्तयुक्त मस्तक पर अंजलि करके ईशानेन्द्र को जय-विजय-शब्दों (के उच्चारणपूर्वक) वधाने लगे—अभिनन्दन करने लगे। अभिनन्दन करके वे इस प्रकार बोले—'अहो! (धन्य है!) आप देवानुप्रिय ने दिव्य देव-ऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है, और अभिमुख कर ली है! हमने आपके द्वारा उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (सम्मुख की हुई) दिव्य देवऋद्धि को, यावत् देवप्रभाव को प्रत्यक्ष देख लिया है। अतः हे देवानुप्रिय! (अपने अपराध के लिए) हम आप से क्षमा मांगते हैं। आप देवानुप्रिय हमें क्षमा करें। आप देवानुप्रिय हमें क्षमा करने योग्य हैं। (भविष्य में) फिर कभी इस प्रकार नहीं करेंगे।' इस प्रकार निवेदन करके उन्होंने ईशानेन्द्र से अपने अपराध के लिए विनयपूर्वक अच्छी तरह बार-बार क्षमा मांगी।

५१. तते णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलिचंचारायहाणीवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो २ खामिए समाणे तं दिव्वं देविड्ढिं जाव तेयलेस्सं पडिसाहरइ। तप्पभितिं च णं गोयमा! ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं आढंति जाव पज्जुवासंति, ईसाणस्स य देविंदस्स देवरण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति।

[५१] अब जबकि बलिचंचा-राजधानी-निवासी उन बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने देवेन्द्र देवराज ईशान से अपने अपराध के लिए सम्यक् विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना कर ली, तब ईशानेन्द्र ने उस दिव्य देव ऋद्धि यावत् छोड़ी हुई तेजोलेश्या को वापस खींच (समेट) ली।

हे गौतम! तब से बलिचंचा-राजधानी-निवासी वे बहुत-से असुरकुमार देव और देवीवृन्द देवेन्द्र देवराज ईशान का आदर करते हैं यावत् उसकी पर्युपासना (सेवा) करते हैं। (और तभी से वे) देवेन्द्र देवराज ईशान की आज्ञा और सेवा में, तथा आदेश और निर्देश में रहते हैं।

५२. एवं खलु गोयमा! ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया।

[५२] हे गौतम! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवऋद्धि यावत् इस प्रकार लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के प्रकोप से उत्तप्त एवं भयभीत असुरों द्वारा क्षमायाचना—इन छह सूत्रों (४७ से ५२ सू. तक) में ईशानेन्द्र से सम्बन्धित सात मुख्य वृत्तान्त शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं—

१. असुरकुमार देवगण द्वारा तामली तापस (वर्तमान में ईशानेन्द्र) के शव की होती हुई दुर्दशा देख ईशानकल्पवासी वैमानिकदेवगण ने अत्यन्त कुपित होकर अपने सद्यःजात ईशानेन्द्र को वस्तुस्थिति से अवगत कराया।

२. सुनकर देवशय्या स्थित कुपित ईशानेन्द्र ने बलिचंचाराजधानी को तेजोलेश्यापूर्ण दृष्टि से देखा। बलिचंचा जाज्वल्यमान अग्निसम तप्त हो गई।

३. बलिचंचा-निवासी असुर अपनी निवासभूमि को अत्यन्त तप्त देख भयत्रस्त होकर कांपने तथा इधर-उधर भागने लगे।

४. ईशानेन्द्र की तेजोलेश्या का प्रभाव असह्य होने से वे मिलकर उससे अनुनय-विनय करने तथा अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगे।

५. इस प्रकार असुरों द्वारा की गई क्षमायाचना से ईशानेन्द्र ने करुणार्द्र होकर अपनी तेजोलेश्या वापस खींच ली। बलिचंचाराजधानी में शान्ति हो गई।

६. तब से बलिचंचा के असुरगण ईशानेन्द्र का आदर-सत्कार एवं विनयभक्ति करने लगे, और उनकी आज्ञा, सेवा एवं आदेश में तत्पर रहने लगे।

७. भ. महावीर ने गौतम द्वारा ईशानेन्द्र की देवऋद्धि आदि से सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर का उपसंहार किया।[1]

कठिन शब्दों के विशिष्ट अर्थ—'**तिवलियं भिउडिनिडालेसाहट्टु**=ललाट में तीन रेखाएं (सल) पड़ जाएं, इस प्रकार से भ्रुकुटि चढ़ा कर। **तत्तकवेलगभूया**=तपे हुए कवेलू (कड़ाही या तवा) या रेत जैसी। **तत्तसमजोइयभूया**=अत्यन्त तपी हुई लाय, अग्नि की लपट या साक्षात् अग्निराशि या ज्योति के समान। **आकड्ढ-विकड्ढि करेंति**=मनचाहा आड़ा-टेढ़ा या इधर-उधर खींचते या घसीटते हैं। **समतुरंगेमाणा**=एक दूसरे से चिपटते या एक दूसरे की ओट में छिपते हुए। **आणा**=तुम्हें यह कार्य करना ही है, इस प्रकार का आदेश, **उववाय**=पास में रहकर सेवा करना, **वयूण**=आज्ञापूर्वक आदेश, **निद्देस**=पूछे हुए कार्य के सम्बन्ध में नियत उत्तर।[2]

ईशानेन्द्र की स्थिति तथा परम्परा से मुक्त हो जाने की प्ररूपणा—

५३. ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता।

[५३ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[५३ उ.] गौतम ! ईशानेन्द्र की स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है।

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) (ख) (पं. बेचरदासजी) भा. १, पृ. १३६-१३७

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १६७

(ख) भगवती विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ५८८ से ५९२ तक

(ग) श्रीमद्भगवती सूत्र (टीका-अनुवाद सहित) (पं. बेचरदासजी) खण्ड २, पृ. ४५

(घ) भगवती सूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका (पू. घासीलालजी म.) भा. ३, पृ. २६५ से २७२

५४. ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति ।

[५४ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान देव आयुष्य का क्षय होने पर, वहाँ का स्थिति-काल पूर्ण होने पर उस देवलोक से च्युत होकर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[५४ उ.] गौतम ! वह (देवलोक से च्यव कर) महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) में जन्म लेकर सिद्ध होगा यावत् समस्त दुःखों का अन्त करेगा ।

विवेचन—ईशानेन्द्र की स्थिति और परम्परा से मुक्त हो जाने की प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम में ईशानेन्द्र की स्थिति और दूसरे में स्थिति आयुष्य और भव पूर्ण होने पर भविष्य में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाने की प्ररूपणा है ।

बालतपस्वी को इन्द्रपद प्राप्ति के बाद भविष्य में मोक्ष कैसे ?—यद्यपि बालतपस्वी होने से तामली मिथ्यात्वी था, किन्तु इन्द्रपद प्राप्ति के बाद सम्यग्दृष्टि (सिद्धान्ततः) हो गया । इस कारण उसका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया । इसलिए महाविदेह में जन्म लेकर भविष्य में सिद्ध-बुद्ध होने में कोई सन्देह नहीं ।

शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानों की ऊँचाई-नीचाई में अन्तर—

५५. [१] सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं उच्चयरा चेव ईसिं उन्नयतरा चेव ? ईसाणस्स वा देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं नीययरा चेव ईसिं निण्णयरा चेव ?

हंता, गोतमा ! सक्कस्स तं चेव सव्वं नेयव्वं।

[५५-१ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानों से देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान कुछ (थोड़े-से) उच्चतर—ऊंचे हैं, कुछ उन्नततर हैं ? अथवा देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानों से देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान कुछ नीचे हैं, कुछ निम्नतर हैं ?

[५५-१ उ.] हाँ, गौतम ! यह इसी प्रकार है । यहाँ ऊपर का सारा सूत्रपाठ (उत्तर के रूप में) समझ लेना चाहिए । अर्थात्—देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानों से देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान कुछ ऊंचे हैं, कुछ उन्नततर हैं, अथवा देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानों से देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान कुछ नीचे हैं, कुछ निम्नतर हैं ।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से जहानामए करतले सिया देसे उच्चे देसे उन्नये, देसे णीए देसे निण्णे, से तेणट्ठेणं० ।

[५५-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

[५५-२ उ.] गौतम ! जैसे किसी हथेली का एक भाग (देश) कुछ ऊंचा और उन्नततर

होता है, तथा एक भाग कुछ नीचा और निम्नतर होता है, इसी तरह शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। इसी कारण से पूर्वोक्त रूप से कहा जाता है।

विवेचन—शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानों की ऊँचाई-नीचाई में अन्तर—प्रस्तुत सूत्र में करतल के दृष्टान्त द्वारा शक्रेन्द्र से ईशानेन्द्र के विमानों को किञ्चित् उच्चतर तथा उन्नततर और ईशानेन्द्र से शक्रेन्द्र के विमानों को कुछ नीचा एवं निम्नतर प्रतिपादन किया गया है।

उच्चता-नीचता या उन्नतता-निम्नता किस अपेक्षा से?—उच्चता और उन्नतता के यहाँ दो अर्थ किये गये हैं—(१) प्रमाण की अपेक्षा से, अथवा प्रासाद की अपेक्षा से विमानों की उच्चता तथा (२) शोभाधिक आदि गुणों की अपेक्षा से अथवा प्रासाद के पीठ की अपेक्षा से उन्नतता समझना चाहिए। तथा इन दोनों के विपरीत नीचत्व और निम्नत्व समझ लेना चाहिए।[1]

यों तो शास्त्रान्तर में दोनों इन्द्रों के विमानों की ऊंचाई ५०० योजन कही है, वह सामान्यापेक्षा से समझना चाहिए।[2]

दोनों इन्द्रों का शिष्टाचार तथा विवाद में सनत्कुमारेन्द्र की मध्यस्थता—

५६. [१] पभू णं भंते! सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवित्तए?

हंता, पभू।

[५६-१ प्र.] भगवन्! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के पास प्रकट होने (जाने) में समर्थ हैं?

[५६-१ उ.] हाँ गौतम! शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास जाने में समर्थ है।

[२] से णं भंते! किं आढायमाणे पभू, अणाढायमाणे पभू?

गोयमा! आढायमाणे पभू, नो अणाढायमाणे पभू।

[५६-२ प्र.] भगवन्! (जब शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास जाता है तो) क्या वह आदर करता हुआ जाता है, या अनादर करता हुआ जाता है?

[५६-२ उ.] हे गौतम! वह उसका (ईशानेन्द्र का) आदर करता हुआ जाता है, किन्तु अनादर करता हुआ नहीं।

५७. [१] पभू णं भंते! ईसाणे देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवित्तए?

हंता, पभू।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १६९
(ख) भगवती सूत्र, प्रमेयचन्द्रिका टीका (हिन्दीगुर्जर भाषानुवादसहित) भा. ३, पृ. २८३-२८४

२. (क) जीवाभिगम सूत्र वृत्ति (म. पृ. ३९७)
(ख) भगवती (टीकानुवाद) प्रथम खण्ड, पृ. २९६; भगवती. अ. वृत्ति, पृ. १६९

[५७-१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान, क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के पास प्रकट होने (जाने) में समर्थ है ?

[५७-१ उ.] हाँ गौतम ! ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाने में समर्थ है।

[२] से भंते ! किं आढायमाणे पभू. अणाढायमाणे पभू ?

गोयमा ! आढायमाणे वि पभू, अणाढायमाणे वि पभू।

[५७-२ प्र.] भगवन् ! (जब ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाता है तो), क्या वह आदर करता हुआ जाता है, या अनादर करता हुआ जाता है ?

[५७-२ उ.] गौतम ! (जब ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाता है, तब) वह आदर करता हुआ भी जा सकता है, और अनादर करता हुआ भी जा सकता है।

५८. पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणं देविंदं देवरायं सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोएत्तए ?

जहा पादुब्भवणा तहा दो वि आलावगा नेयव्वा।

[५८ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के समक्ष (चारों दिशाओं में) तथा सप्रतिदिश (चारों कोनों में=सब ओर) देखने में समर्थ है ?

[५८ उ.] गौतम ! जिस तरह से पास प्रादुर्भूत होने (जाने) (के सम्बन्ध में दो आलापक कहे हैं, उसी) तरह से देखने के सम्बन्ध में भी दो आलापक कहने चाहिए।'

५९. पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए ?

हंता, पभू। जहा पादुब्भवणा।

[५९ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के साथ आलाप या संलाप (भाषण-संभाषण या बातचीत) करने में समर्थ है ?

[५९ उ.] हाँ, गौतम ! वह आलाप-संलाप करने में समर्थ है। जिस तरह पास जाने के सम्बन्ध में दो आलापक कहे हैं, (उसी तरह आलाप-संलाप के विषय में भी दो आलापक कहने चाहिए।)

६०. [१] अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं किच्चाइं करणिज्जाइं समुप्पज्जंति ?

हंता, अत्थि।

[६०-१ प्र] भगवन् ! उन देवेन्द्र देवराज शक्र और देवेन्द्र देवराज ईशान के बीच में परस्पर कोई कृत्य (प्रयोजन) और करणीय (विधेय—करने योग्य) समुत्पन्न होते हैं ?

[६०-१ उ.] हाँ, गौतम ! समुत्पन्न होते हैं ।

[२] से कहमिदाणिं पकरेंति ? गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवति, ईसाणे णं देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवइ—'इति भो ! सक्का ! देविंदा ! देवराया ! दाहिणड्ढलोगाहिवती !'; 'इति भो ! ईसाणा ! देविंदा ! देवराया ! उत्तरड्ढलोगाहिवती !'। 'इति भो इति भो'त्ति ते अन्नमन्नस्स किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति ।

[६०-२ प्र.] भगवन् ! जब इन दोनों के कोई कृत्य (प्रयोजन) या करणीय होते हैं, तब वे कैसे व्यवहार (कार्य) करते हैं ?

[६०-२ उ.] गौतम ! जब देवेन्द्र देवराज शक्र को कार्य होता है, तब वह (स्वयं) देवेन्द्र देवराज ईशान के समीप प्रकट होता है, और जब देवेन्द्र देवराज ईशान को कार्य होता है, तब वह (स्वयं) देवेन्द्र देवराज शक्र के निकट जाता है । उनके परस्पर सम्बोधित करने का तरीका यह है—'ऐसा है, हे दक्षिणार्द्ध लोकाधिपति देवेन्द्र देवराज शक्र !' (शक्रेन्द्र पुकारता है—) 'ऐसा है, हे उत्तरार्द्ध लोकाधिपति देवेन्द्र देवराज ईशान ! (यहाँ), दोनों ओर से 'इति भो-इति भो !' (इस प्रकार के शब्दों से परस्पर) सम्बोधित करके वे एक दूसरे के कृत्यों (प्रयोजनों) और करणीयों (कार्यों) को अनुभव करते हुए विचरते हैं, (अर्थात्—दोनों अपना-अपना कार्यानुभव करते रहते हैं ।)

६१. [१] अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं विवादा समुप्पज्जंति ? हंता, अत्थि ।

[६१-१ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र शक्र और देवेन्द्र देवराज ईशान, इन दोनों में विवाद भी समुत्पन्न होता है ?

[६१-१ उ.] 'हाँ, गौतम ! (इन दोनों इन्द्रों के बीच विवाद भी समुत्पन्न) होता है ।

[२] से कहमिदाणिं पकरेंति ?

गोयमा ! ताहे चेव णं ते सक्कीसाणा देविंदा देवरायाणो सणंकुमारं देविंदं देवरायं मणसीकरेंति । तए णं से सणंकुमारे देविंदे देवराया तेहिं सक्कीसाणेहिं देविंदेहिं देवराईहिं मणसीकए समाणे खिप्पामेव सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं अंतियं पादुब्भवति । जं से वदइ तस्स आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति ।

[६१-२ प्र.] (भगवन् ! जब उन दोनों इन्द्रों में परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है;) तब वे क्या करते हैं ?

[६१-२ उ.] गौतम ! जब शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र में परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है, तब वे दोनों, देवेन्द्र देवराज सनत्कुमारेन्द्र का मन में स्मरण करते हैं । देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र द्वारा स्मरण करने पर शीघ्र ही सनत्कुमारेन्द्र देवराज, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के निकट प्रकट होता (आता) है । वह जो भी कहता है, (उसे ये दोनों इन्द्र मान्य करते हैं ।) ये दोनों इन्द्र उसकी आज्ञा, सेवा, आदेश और निर्देश में रहते हैं ।

विवेचन—दोनों इन्द्रों का शिष्टाचार तथा विवाद में सनत्कुमारेन्द्र की मध्यस्थता—प्रस्तुत छह सूत्रों (५६ से ६१ सू० तक) में शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के परस्पर मिलने-जुलने, एक दूसरे को आदर देने, एक दूसरे को भलीभांति देखने (प्रेमपूर्वक साक्षात्कार करने), परस्पर वार्तालाप करने तथा पारस्परिक विवाद उत्पन्न होने पर सनत्कुमारेन्द्र को मध्यस्थ वनाकर उसकी वात मान्य करने आदि द्वारा दोनों इन्द्रों के पारस्परिक शिष्टाचार एवं व्यवहार का निरूपण किया गया है।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—**पाउब्भवित्तए**=प्रादुर्भूत—प्रकट होने-आने के लिए। **आलावं**= आलाप—एक वार संभाषण, **संलावं**—बार-बार संभाषण, **किच्चाइं**=कृत्य अर्थात्—प्रयोजन, **करणिज्जाइं**=करणीय=करने योग्य कार्य। **कहमिदाणिं पकरेंति**=जव कार्य करने का प्रसंग हो, तव वे किस प्रकार से करते हैं? **पच्चणुभवमाणा**=प्रत्यनुभव करते हुए=अपने-अपने करणीय कार्य का अनुभव करते हुए। **इति भो!** ऐसी वात है, जी! या यह कार्य है, अजी![1] **'आढायमाणे-अणाढायमाणे'** इन दोनों शब्दों का तात्पर्य—यह भी है कि शक्रेन्द्र की अपेक्षा ईशानेन्द्र का दर्जा ऊँचा है, इसलिए शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास तभी जा सकता है जवकि ईशानेन्द्र शक्रेन्द्र को आदरपूर्वक वुलाए। अगर आदरपूर्वक न वुलाए तो वह ईशानेन्द्र के पास नहीं जाता, किन्तु ईशानेन्द्र शक्रेन्द्र के पास विना वुलाए भी जा सकता है क्योंकि उसका दर्जा ऊंचा है।[2]

सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि तथा स्थिति एवं सिद्धि के विषय में प्रश्नोत्तर—

६२. [१] सणंकुमारे णं भंते! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए, अभवसिद्धिए? सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी? परित्तसंसारए, अणंतसंसारए? सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए? आराहए, विराहए? चरिमे अचरिमे?

गोयमा! सणंकुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिए, एवं सम्मद्दिट्ठी परित्तसंसारए सुलभबोहिए आराहए चरिमे, पसत्थं नेयव्वं।

[६२-१ प्र.] हे भगवन्! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार क्या भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक है?; सम्यग्दृष्टि है, या मिथ्यादृष्टि है? परित्त (परिमित) संसारी है या अनन्त (अपरिमित) संसारी?; सुलभबोधि है, या दुर्लभवोधि?; आराधक है, अथवा विराधक? चरम है अथवा अचरम?

[६२-१ उ.] गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार, भवसिद्धिक है, अभवसिद्धिक नहीं; इसी तरह वह सम्यग्दृष्टि है, (मिथ्यादृष्टि नहीं;) परित्तसंसारी है, (अनन्तसंसारी नहीं;) सुलभवोधि है, (दुर्लभवोधि नहीं;) आराधक है, (विराधक नहीं;) चरम है, (अचरम नहीं।) (अर्थात्—इस सम्वन्ध में सभी) प्रशस्त पद ग्रहण करने चाहिए।

[२] से केणट्ठेणं भंते!? गोयमा! सणंकुमारे देविंदे देवराया वहूणं समणाणं बहूणं

---

१. (क) भगवती सूत्र अ-वृत्ति, पत्रांक १६९

(ख) भगवती-विवेचन (पं. घेवरचंदजी), भा. २, पृ. ५९८ से ६०० तक

२. भगवती सूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका (हिन्दी-गुर्जर भावानुवादयुक्त) भाग ३, पृ. २८६

समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं साविगाणं हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए निस्सेयसिए हिय-सुह-निस्सेसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सणंकुमारे णं भवसिद्धिए जाव नो अचरिमे।

[६२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है) ?

[६२-२ उ.] गौतम ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार बहुत-से श्रमणों, बहुत-सी श्रमणियों, बहुत-से श्रावकों और बहुत-सी श्राविकाओं का हितकामी (हितैषी), सुखकामी (सुखेच्छु), पथ्यकामी (पथ्याभिलाषी), अनुकम्पिक (अनुकम्पा करने वाला), निश्रेयसिक (निःश्रेयस=कल्याण या मोक्ष का इच्छुक) है। वह उनका हित, सुख और निःश्रेयस् का कामी (चाहने वाला) है। इसी कारण, गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र भवसिद्धिक है, यावत् (चरम है, किन्तु) अचरम नहीं।

६३. सणंकुमारस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त[१] सागरोवमाणि ठिती पण्णत्ता।

[६३ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार की स्थिति (आयु) कितने काल की कही गई है ?

[६३ उ.] गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र की स्थिति (उत्कृष्ट) सात सागरोपम की कही गई है।

६४. से णं भंते ! ताओ देवलोगातो आउक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति। सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०॥

[६४ प्र.] भगवन् ! वह (सनत्कुमारेन्द्र) उस देवलोक से आयु क्षय (पूर्ण) होने के बाद, यावत् कहाँ उत्पन्न होगा ?

[६४ उ.] हे गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र उस देवलोक से च्यवकर (आयुष्य पूर्ण कर) महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) में, (जन्म लेकर वहीं से) सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !' (यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे।)

विवेचन—सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि, तथा स्थिति एवं सिद्धि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ६२ से ६४ तक) में सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता-अभवसिद्धिकता, सम्यग्दृष्टित्व-मिथ्यादृष्टित्व, परित्तसंसारित्व-अनन्तसंसारित्व, सुलभबोधिता-दुर्लभ-बोधिता, विराधकता-आराधकता, एवं चरमता-अचरमता आदि प्रश्न उठा कर, इनमें से उसके प्रशस्तपदभागी होने के कारण की तथा उसकी स्थिति एवं भविष्य में सिद्धि-प्राप्ति से सम्बन्धित सैद्धान्तिक दृष्टि से प्ररूपणा की गई है।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—'**भवसिद्धिए**'=जो भविष्य में सिद्धि=मुक्ति प्राप्त कर लेगा वह भवसिद्धिक होता है। '**सम्मद्दिट्ठी**'=सम्यग्दृष्टि—जीवादि नौ तत्त्वों पर निर्दोष श्रद्धावान्।

---

१. तुलना—'सप्त सनत्कुमारे'—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ४, सू. ३६

परित्तसंसारए—जिसका संसारपरिभ्रमण परिमित—सीमित हो गया हो, **आराहए**=ज्ञानादि का आराधक। **चरिमे**=जिसका अब अन्तिम एक ही भव शेष रहा हो, अथवा जिसका यह चरम—अन्तिम देव-भव हो, **पत्थकामए**=पथ्यकामी, पथ्य का अर्थ है—दुःख से बचना, उसका इच्छुक। **हियकामए**=हितकामी। हित का अर्थ है—सुख की कारणरूप वस्तु।[1]

तृतीय शतक के प्रथम उद्देशक की संग्रहणीगाथाएँ—

६५. गाहाओ—छट्ठऽट्ठम मासो अद्धमासो वासाइं अट्ठ छम्मासा।
तीसग-कुरुदत्ताणं तव भत्तपरिण्ण परियाओ ॥ १ ॥
उच्चत्त विमाणाणं पादुब्भव पेच्छणा य संलावे।
किच्च विवादुप्पत्ती सणंकुमारे य भवियत्तं ॥ २ ॥

[2]मोया समत्ता

॥ तइय सए : पढमो उद्देसो समत्तो ॥

गाथाओं का अर्थ—(भावार्थ—इस प्रकार है—) तिष्यक श्रमण का तप छट्ठ-छट्ठ (निरन्तर बेला-बेला) था और उसका अनशन एक मास का था। कुरुदत्तपुत्र श्रमण का तप अट्ठम-अट्ठम (निरन्तर तेले-तेले) का था और उसका अनशन था—अर्द्ध मासिक (१५ दिन का)। तिष्यक श्रमण की दीक्षापर्याय आठ वर्ष की थी, और कुरुदत्तपुत्रश्रमण की थी—छह मास की। (इन दोनों से सम्बन्धित विषय इस उद्देशक में आया है।) इसके अतिरिक्त (दूसरे विषय आए हैं, जैसे कि) दो इन्द्रों के विमानों की ऊँचाई, एक इन्द्र का दूसरे के पास आगमन (प्रादुर्भाव) परस्पर प्रेक्षण (अवलोकन), उनका आलाप-संलाप, उनका कार्य, उनमें विवादोत्पत्ति तथा उनका निपटारा, तथा सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि विषयों का निरूपण इस उद्देशक में किया गया है।[3]

॥ मोका समाप्त ॥

विवेचन—*तृतीय शतक के प्रथम उद्देशक की दो संग्रहणी गाथाएँ*—यहाँ प्रथम उद्देशक में प्रतिपादित विषयों का संक्षेप में संकेत दो गाथाओं द्वारा दिया गया है।

॥ तृतीय शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका, हिन्दीगुर्जरभाषानुवादयुक्त भा. ३, पृ. २९९
(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १६९

२. इस उद्देशक में वर्णित विषयों का निरूपण भगवान् ने 'मोका नगरी' में किया था, इसलिए इस उद्देशक का एक नाम 'मोका' भी रखा गया है। वर्तमान में पटना के निकट 'मोकामा घाट' नामक स्थान है, सम्भव है, वही प्राचीन मोका नगरी हो।—सं.

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १६९

बिइओ उद्देसओ : 'चमरो'

द्वितीय उद्देशक : चमर

द्वितीय उद्देशक का उपोद्घात

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे होत्था जाव परिसा पज्जुवासइ।

[१] उस काल, उस समय में राजगृह नाम का नगर था। यावत् भगवान् वहाँ पधारे और परिषद् पर्युपासना करने लगी।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव नट्टविहिं उवदंसेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[२] उस काल, उस समय में चौसठ हजार सामानिक देवों से परिवृत और चमरचंचा नामक राजधानी में, सुधर्मासभा में चमरनामक सिंहासन पर बैठे असुरेन्द्र असुरराज चमर ने (राजगृह में विराजमान भगवान् को अवधिज्ञान से देखा); यावत् नाट्यविधि दिखला कर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापस लौट गया।

विवेचन—द्वितीय उद्देशक का उपोद्घात—द्वितीय उद्देशक की उद्देशना कहाँ से और कैसे प्रारम्भ हुई ? इसका यह उपोद्घात है। इसमें बताया गया है कि राजगृह में भगवान् महावीर विराजमान थे। अपनी सुधर्मा सभा में चमरसिंहासन-स्थित चमरेन्द्र ने वहीं से भगवान् को देखा और अपने समस्त देव परिवार को बुलाकर ईशानेन्द्र की तरह विविध नाट्यविधि भगवान् महावीर और गौतमादि श्रमणवर्ग को दिखलाई और वापस लौट गया। चमरेन्द्र के इस आगमन से और उसकी दिव्य ऋद्धि आदि पर से कैसे प्रश्नों और उत्तरों का सिलसिला प्रारम्भ होता है ? इसे अगले सूत्रों में बताएँगे।

असुरकुमार देवों का स्थान—

३. [१] भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

[३-१ प्र.] 'हे भगवन् !' यों कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या असुरकुमार देव इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे रहते हैं ?'

[३-१ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ (वात) समर्थ (शक्य) नहीं है। (अर्थात्—असुरकुमार देव रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे निवास नहीं करते।)

[२] एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव अत्थि णं भंते! ईसिपब्भाराए पुढवीए अहे असुरकमारा देवा परिवसंति ? णो इणट्ठे समट्ठे।

[३-२ प्र.] इसी प्रकार यावत् सप्तम (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी के नीचे भी वे (असुरकुमार देव) नहीं रहते; और न सौधर्मकल्प-देवलोक के नीचे, यावत् अन्य सभी कल्पों (देवलोकों) के नीचे वे रहते हैं। (तब फिर प्रश्न होता है—) भगवन् ! क्या वे असुरकुमार देव ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) पृथ्वी के नीचे रहते हैं ?

[३-२ उ.] (हे गौतम !) यह अर्थ (वात) भी समर्थ (शक्य) नहीं। (अर्थात्—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे भी असुरकुमार देव नहीं रहते।)

४. से कहिं खाइं णं भंते ! असुरकुमारा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए, एवं[1] असुरकुमारदेववत्तव्वया जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति।

[४ प्र.] भगवन् ! तब ऐसा वह कौन-सा स्थान है, जहाँ असुरकुमार देव निवास करते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बीच में (असुरकुमार देव रहते हैं।) यहाँ असुरकुमारसम्बन्धी समस्त वक्तव्यता कहनी चाहिए; यावत् वे (वहाँ) दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए विचरण (आनन्द से जीवनयापन) करते हैं।

विवेचन—असुरकुमार देवों का आवासस्थान—प्रस्तुत सूत्रद्वय में असुरकुमार देवों के आवासस्थान के विषय में पूछा गया है और अन्त में भगवान् रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्तराल में उनके आवासस्थान होने का प्रतिपादन करते हैं।

असुरकुमारदेवों का यथार्थ आवासस्थान—प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार रत्नप्रभा का पृथ्वी-पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमें से ऊपर एक हजार योजन छोड़कर और नीचे एक हजार योजन छोड़ कर, बीच में एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग में असुरकुमार देवों के ३४ लाख भवनावास हैं।[2]

असुरकुमार देवों के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्वगमन से सम्बन्धित प्ररूपणा—

५. अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए प० ?

हंता, अत्थि।

---

१. असुरकुमार देव सम्बन्धी वक्तव्यता इस प्रकार समझनी चाहिए—"उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता, हेट्ठा च एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थं णं असुरकुमाराणं देवाणं चोसट्ठि भवणावाससयसहस्सा भवंतीति अक्खायं" इसका भावार्थ विवेचन में किया जा चुका है। —सं.

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र (आ. स.)-पृ. ८९-९१
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद) (पं. वेचरदासजी) खण्ड २, पृ. ४९

[५ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवों का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक (सामर्थ्य) है ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! (उनमें अपने स्थान से नीचे जाने का सामर्थ्य) है।

६. केवतिए च णं भंते ! पभू ते असुरकुमाराणं देवाणं अहेगतिविसए पण्णत्ते ?
गोयमा ! जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, तच्चं पुण पुढविं गता य गमिस्संति य।

[६ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवों का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक सामर्थ्य कितना (कितने भाग तक) है ?

[६ उ.] गौतम ! सप्तमपृथ्वी तक नीचे जाने की शक्ति उनमें है। (किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नहीं, जाते नहीं और जाएँगे भी नहीं) वे तीसरी पृथ्वी (वालुकाप्रभा) तक गये हैं, जाते हैं और जायेंगे।

७. किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गता य, गमिस्संति य ? गोयमा ! पुव्ववेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए, पुव्वसंगतियस्स वा वेदणउवसामणयाए। एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गता य, गमिस्संति य।

[७ प्र.] भगवन् ! किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक गये हैं, (जाते हैं,) और भविष्य में जायेंगे ?

[७ उ.] हे गौतम ! अपने पूर्व शत्रु को (असाता वेदन भड़काने)—दुःख देने अथवा अपने पूर्व साथी (मित्रजन) की वेदना का उपशमन करके (दुःख-निवारण कर सुखी बनाने) के लिए असुरकुमार देव तृतीय पृथ्वी तक गये हैं, (जाते हैं,) और जायेंगे।

८. अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियं गतिविसए पण्णत्ते ?
हंता, अत्थि।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमारदेवों में तिर्यग् (तिरछे) गमन करने का (सामर्थ्य) कहा गया है ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! (असुरकुमार देवों में अपने स्थान से तिर्यग्गमन-विषयक सामर्थ्य) है।

९ केवतियं च णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियं गतिविसए पण्णत्ते ?
गोयमा ! जाव असंखेज्जा दीव-समुद्दा, नंदिस्सरवरं पुण दीवं गता य, गमिस्संति य।

[९ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवों में (अपने स्थान से) तिरछा जाने की कितनी (कहाँ तक) शक्ति है ?

[९ उ.] गौतम ! असुरकुमार देवों में (अपने स्थान से), यावत् असंख्येय द्वीप-समुद्रों तक (तिरछा गमन करने का सिर्फ सामर्थ्य है;) किन्तु वे नन्दीश्वर द्वीप तक गए हैं, (जाते हैं,) और भविष्य में जायेंगे।

१०. किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा नंदीसरवरदीवं गता य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंता एतेसि णं जम्मणमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा णाणुप्पत्ति-महिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदीसरवरं दीवं गता य, गमिस्संति य।

[१० प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देव, नन्दीश्वरवरद्वीप किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे ?

[१० उ.] हे गौतम ! जो ये अरिहन्त भगवान् (तीर्थंकर) हैं, इनके जन्म-महोत्सव में, निष्क्रमण (दीक्षा) महोत्सव में, ज्ञानोत्पत्ति (केवलज्ञान उत्पन्न) होने पर महिमा (उत्सव) करने, तथा परिनिर्वाण (मोक्षगमन) पर महिमा (महोत्सव) करने के लिए असुरकुमार देव, नन्दीश्वरवरद्वीप गए हैं, जाते हैं और जाएँगे।

११. अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए प० ?

हंता, अत्थि।

[११ प्र] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवों में (अपने स्थान से) ऊर्ध्व (ऊपर) गमन-विषयक सामर्थ्य है ?

[११ उ.] हाँ गौतम ! (उनमें अपने स्थान से ऊँचे जाने की शक्ति) है।

१२. केवतियं च णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए ?

गोयमा ! जाव अच्चुतो कप्पो। सोहम्मं पुण कप्पं गता य, गमिस्संति य।

[१२ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारदेवों की ऊर्ध्वगमनविषयेक शक्ति कितनी है ?

[१२ उ.] गौतम ! असुरकुमारदेव अपने स्थान से यावत् अच्युतकल्प (बारहवें देवलोक) तक ऊपर जाने में समर्थ हैं। (ऊर्ध्वगमन-विषयक उनकी यह शक्तिमात्र है, किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नहीं, जाते नहीं और न जाएँगे।) अपितु वे सौधर्मकल्प (प्रथम देवलोक) तक गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे।

१३. [१] किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गता य, गम्मिसंति य ?

गोयमा ! तेसि णं देवाणं भवपच्चइयवेराणुबंधे। ते णं देवा विकुव्वेमाणा परियारेमाणा वा आयरक्खे देवे वित्तासेंति। अहालहुस्सगाइं रयणाइं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारदेव किस प्रयोजन (निमित्त=कारण) से सौधर्मकल्प तक गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे ?

[१३-१ उ.] हे गौतम ! उन (असुरकुमार) देवों का वैमानिक देवों के साथ भवप्रत्ययिक (जन्मजात) वैरानुबन्ध होता है। इस कारण वे देव क्रोधवश वैक्रिय शक्ति द्वारा नानारूप बनाते

हुए तथा परकीय देवियों के साथ (परिचार) संभोग करते हुए (वैमानिक) आत्मरक्षक देवों को त्रास पहुंचाते हैं, तथा यथोचित छोटे-मोटे रत्नों को ले (चुरा) कर स्वयं एकान्त भाग में चले जाते हैं।

[२] अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं अहालहुस्सगाइं रयणाइं ?
हंता, अत्थि।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! क्या उन (वैमानिक) देवों के पास यथोचित छोटे-मोटे रत्न होते हैं ?

[१३-२ उ.] हाँ गौतम ! (उन वैमानिक देवों के पास यथोचित छोटे-मोटे रत्न) होते हैं।

[३] से कहमिदाणिं पकरेंति ?
तओ से पच्छा कायं पव्वहंति।

[१३-३ प्र.] भगवन् ! (जब वे (असुरकुमार देव) वैमानिक देवों के यथोचित रत्न चुरा कर, भाग जाते हैं, तब वैमानिक देव) उनका क्या करते हैं ?

[१३-३ उ.] (गौतम ! वैमानिकों के रत्नों का अपहरण करने के) पश्चात् वैमानिक देव उनके शरीर को अत्यन्त व्यथा (पीड़ा) पहुँचाते हैं।

[४] पभू णं भंते ! ते असुरकुमारा देवा तत्थगया चेव समाणा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं तओ पडिनियत्तंति, तओ पडिनियत्तित्ता इहमागच्छंति, २ जति णं ताओ अच्छराओ आढायंति परियाणंति, पभू णं ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए, अह णं ताओ अच्छराओ नो आढायंति नो परियाणंति णो णं पभू ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए।

[१३-४ प्र.] भगवन् ! क्या वहाँ (सौधर्मकल्प में) गए हुए वे असुरकुमार देव उन (देवलोक की) अप्सराओं के साथ दिव्य भोगने योग्य भोगों को भोगने में समर्थ हैं ? (अर्थात्—वे वहाँ उनके साथ भोग भोगते हुए विहरण कर सकते हैं ?)

[१३-४ उ.] (हे गौतम !) यह अर्थ (—ऐसा करने में वे) समर्थ नहीं। वे (असुरकुमार देव) वहाँ से वापस लौट जाते हैं। वहाँ से लौट कर वे यहाँ (अपने स्थान में) आते हैं। यदि वे (वैमानिक) अप्सराएँ उनका (असुरकुमार देवों का) आदर करें, उन्हें स्वामीरूप में स्वीकारें तो, वे असुरकुमार देव उन (उर्ध्वदेवलोकगत) अप्सराओं के साथ दिव्य भोग भोग सकते हैं,—यदि वे (ऊपर की) अप्सराएँ उनका आदर न करें, उनका स्वामी-रूप में स्वीकार न करें तो, असुरकुमार देव उन अप्सराओं के साथ दिव्य एवं भोग्य भोगों को नहीं भोग सकते, भोगते हुए विचरण नहीं कर सकते।

[५] एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य, गमिस्संति य।

[१३-५] हे गौतम ! इस कारण से असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे ।

१४. केवतिकालस्स णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मं कप्पं गया य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! अणंताहिं ओसप्पिणीहिं अणंताहिं उस्सप्पिणीहिं समतिक्कंताहिं, अत्थि णं एस भावे लोयच्छेरयभूए समुप्पज्जइ—जं णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

[१४ प्र.] भगवन् ! कितने काल में (कितना समय व्यतीत होने पर) असुरकुमार देव ऊर्ध्व-गमन करते हैं, तथा सौधर्मकल्प तक ऊपर गये हैं, जाते हैं और जाएँगे ?

[१४ उ.] गौतम ! अनन्त उत्सर्पिणी-काल और अनन्त अवसर्पिणीकाल व्यतीत होने के पश्चात् लोक में आश्चर्यभूत (आश्चर्यजनक) यह भाव समुत्पन्न होता है कि असुरकुमार देव ऊर्ध्व-उत्पतन (गमन) करते हैं, यावत् सौधर्मकल्प तक जाते हैं ।

१५. किंनिस्साए णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ?

से जहानामए इह सबरा इ वा बब्बरा इ वा टंकणा इ वा चुच्चुया इ वा पल्हया इ वा पुलिंदा इ वा एगं महं रण्णं वा, गड्डं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वतं वा णीसाए सुमहल्लमवि आसबलं वा हत्थिबलं वा जोहबलं वा धणुबलं वा आगलेंति, एवामेव असुरकुमारा वि देवा, णऽन्नत्थ अरहंते वा, अरहंतचेइयाणि वा, अणगारे वा भावियप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

[१५ प्र.] भगवन् ! किसका आश्रय (निश्राय) लेकर असुरकुमार देव ऊर्ध्व-गमन करते हैं, यावत् ऊपर सौधर्मकल्प तक जाते हैं ?

[१५ उ.] हे गौतम ! जिस प्रकार यहाँ (इस मनुष्यलोक में) शवर, वर्वर, टंकण (जातीय म्लेच्छ) या चुर्चुक (अथवा भुत्तुय), प्रश्नक अथवा पुलिन्द जाति के लोग किसी वड़े अरण्य (जंगल) का, गड्ढे का, दुर्ग (किले) का, गुफा का, किसी विषम (ऊबड़-खावड़ प्रदेश या वीहड़ या वृक्षों से सघन) स्थान का, अथवा पर्वत का आश्रय ले कर एक महान् एवं व्यवस्थित अश्ववाहिनी को, गजवाहिनी को, पैदल (पदाति) सेना को, अथवा धनुर्धारियों की सेना को आकुल-व्याकुल कर देते (अर्थात्—साहसहीन करके जीत लेते) हैं; इसी प्रकार असुरकुमार देव भी एकमात्र अरिहन्तों का या अरिहन्तदेव के चैत्यों का, अथवा भावितात्मा अनगारों का आश्रय (निश्राय) ले कर ऊर्ध्वगमन करते (उड़ते) हैं, यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं ।

१६. सव्वे वि णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, महिड्डिया णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

[१६ प्र.] भगवन् क्या सभी असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक यावत् ऊर्ध्वगमन करते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। अर्थात् सभी असुरकुमार देव ऊपर सौधर्मकल्प तक नहीं जा सकते; किन्तु महती ऋद्धिवाले असुरकुमार देव ही यावत् सौधर्म-देवलोक तक ऊपर जाते हैं।

१७. एस वि य णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया उड्ढं उप्पतियपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो ?

हंता, गोयमा ! एस वि य णं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पतियपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो।

[१७ प्र.] हे भगवन् ! क्या असुरेन्द्र असुरराज चमर भी पहले कभी ऊपर—यावत् सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्वगमन कर चुका है ?

[१७ उ.] हाँ, गौतम ! यह असुरेन्द्र असुरराज चमर भी पहले ऊपर—यावत् सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्वगमन कर चुका है।

विवेचन—असुरकुमार देवों के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्व-गमन-सामर्थ्य से सम्बन्धित प्ररूपणा— प्रस्तुत १४ सूत्रों (सू. ५ से १८ तक) में असुरकुमारदेवों के गमन-सामर्थ्य-सम्बन्धी चर्चा निम्नोक्त क्रम से की गई है—

(१) क्या असुरकुमारदेवों का अधोगमनसामर्थ्य है ? यदि है तो वे नीचे कहाँ तक जा सकते हैं और किस कारण से जाते हैं ?

(२) क्या असुरकुमार देवों का तिर्यग्गमन-सामर्थ्य है ? यदि है तो वे तिरछे कहाँ तक और किस कारण से जाते हैं ?

(३) क्या असुरकुमार देव ऊर्ध्वगमन कर सकते हैं ? कर सकते हैं तो कहाँ तक कर सकते हैं तथा कहाँ तक करते हैं ? तथा वे किन कारणों से सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं ? क्या वहाँ वे वहाँ की अप्सराओं के साथ दिव्यभोगों का उपभोग कर सकते हैं ? कितना काल बीत जाने पर वे सौधर्मकल्प में गए हैं, जाते हैं, या जाएँगे ? तथा वे किसका आश्रय लेकर सौधर्मकल्प तक जाते हैं ? क्या चमरेन्द्र पहले कभी सौधर्मकल्प में गया है ?[1]

'असुर' शब्द पर भारतीय धर्मों की दृष्टि से चर्चा—असुर शब्द का प्रयोग वैदिक पुराणों में 'दानव' अर्थ में हुआ है। यहाँ भी उल्लिखित वर्णन पर से 'असुर' शब्द इसी अर्थ को सूचित करता है। पौराणिक साहित्य में प्रसिद्ध 'सुराऽसुरसंग्राम' (देव-दानवयुद्ध) भगवती सूत्र में उल्लिखित असुरकुमारदेवों की चर्चा से मिलता जुलता परिलक्षित होता है। यहाँ बताया गया है कि असुर-कुमारों और सौधर्मादि सुरों में परस्पर अहिनकुलवत् जन्मजातवैर (भवप्रत्ययिक वैरानुबन्ध) होता है। इसी कारण वे ऊपर सौधर्मदेवलोक तक जाकर उपद्रव करते हैं, चोरी करते हैं और वहाँ की सुर-प्रजा को त्रास देते हैं।[2]

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) (पं. बेचरदासजी) भा. १, पृ. १४१ से १४३ तक

२. श्रीमद्-भगवती सूत्र (टीकानुवादसहित) (पं. बेचरदास जी) खण्ड २, पृ. ४८

कठिन शब्दों की व्याख्या—'अहेगंतिविसए'=नीचे जाने का विषय=शक्ति। 'पुव्वसंगइयस्स'=पूर्वपरिचित साथियों या मित्रों का। 'वेदणउदीरणयाए=दुःख की उदीरणा करने के लिए। वेदणउवसामणयाए=दुःख का उपशमन करने के लिए। णाणुप्पायमहिमासु=केवलज्ञान कल्याणक की महिमा (महोत्सव) करने के लिए। वित्तासेंति=त्रास पहुँचाते हैं। अहालहुसगाइं=यथोचित लघुरूप—छोटे-छोटे अथवा अलघु=वरिष्ठ महान्। कायं पव्वहंति=शरीर को व्यथित पीड़ित करते हैं। उप्पयंति=ऊपर उड़ते हैं—जाते हैं। समइक्कंताहिं=व्यतीत होने के पश्चात्। लोयच्छेरभूए=लोक में आश्चर्यभूत=आश्चर्यजनक। णिस्साए=निश्राय=आश्रय से। सुमहल्लमवि=अत्यन्त विशाल। जोहबलं=योद्धाओं के बल=सैन्य को। आगलेंति=अकुलाते=थकाते हैं। णण्णत्थ=अथवा नान्यत्र=उनके निश्राय के विना एगंतं=एकान्त, निर्जन। अंतं=प्रदेश।[1] उप्पइयपुव्वि=पहले ऊपर गया था।

१८. अहो णं भंते! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया महिड्डीए महज्जुतीए जाव कहिं पविट्ठा?

कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वो।

[१८ प्र.] 'अहो, भगवन्! (आश्चर्य है,) असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महाऋद्धि एवं महाद्युति वाला है! तो हे भगवन्! (नाटयविधि दिखाने के पश्चात्) उसकी वह दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव कहाँ गया, कहाँ प्रविष्ट हुआ?'

[१८ उ.] (गौतम! पूर्वकथितानुसार) यहाँ भी कूटाकारशाला का दृष्टान्त कहना चाहिए। (अर्थात्—कूटाकारशाला के दृष्टान्तानुसार असुरेन्द्र की वह दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव, उसी के शरीर में समा गया; शरीर में ही प्रविष्ट हो गया।)

चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्वप्राप्ति तक का वृत्तान्त—

१९. चमरेणं भंते! असुरिंदेणं असुररण्णा सा दिव्वा देविड्ढी तं चेव किणा लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया?[2]

एवं खलु गोयमा!

तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे २ भारहे वासे विंझगिरिपायमूले बेभेले नामं सन्निवेसे होत्था। वण्णओ। तत्थ णं बेभेले सन्निवेसे पूरणे नामं गाहावती परिवसति अड्ढे दित्ते जहा तामलिस्स (उ. १ सु. ३५-३७) वत्तव्वया तहा नेतव्वा, नवरं चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहं करेत्ता जाव विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं जाव सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय मुंडे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए।

[१९ प्र.] भगवन्! असुरेन्द्र असुरराज चमर को वह दिव्य देवऋद्धि और यावत् वह सब, किस प्रकार उपलब्ध हुई, प्राप्त हुई और अभिसमन्वागत हुई (अभिमुख आई)?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति., पत्रांक १७४

२. इस प्रश्न के उत्तर की परिसमाप्ति ४४ सूत्र में होती है।

[१९ उ.] हे गौतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष (क्षेत्र) में, विन्ध्याचल की तलहटी (पादमूल) में 'वेभेल' नामक सन्निवेश था। वहाँ 'पूरण' नामक एक गृहपति रहता था। वह आढ्य और दीप्त था। यहाँ तामली की तरह 'पूरण' गृहपति की सारी वक्तव्यता जान लेनी चाहिए। (उसने भी समय आने पर किसी समय तामली की तरह विचार करके अपने ज्येष्ठपुत्र को कुटुम्ब का सारा भार सौंप दिया) विशेष यह है कि चार खानों (पुटकों) वाला काष्ठमय पात्र (अपने हाथ से) बना कर यावत् विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार बनवा कर ज्ञातिजनों आदि को भोजन करा कर तथा उनके समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर यावत् स्वयमेव चार खानों वाले काष्ठपात्र को लेकर मुण्डित होकर 'दानामा' नामक प्रव्रज्या अंगीकार करने का (मनोगत संकल्प किया) यावत् तदनुसार प्रव्रज्या अंगीकार की।)

२०. पव्वइए वि य णं समाणे तं चेव, जाव आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय वेभेले सन्निवेसे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता 'जं मे पढमे पुडए पडइ कप्पइ मे तं पंथियपहियाणं दलइत्तए, जं मे दोच्चे पुडए पडइ कप्पइ मे तं काक-सुणयाणं दलइत्तए, जं मे तच्चे पुडए पडइ कप्पइ मे तं मच्छ-कच्छभाणं दलइत्तए, जं मे चउत्थे पुडए पडइ कप्पइ मे तं अप्पणा आहारं आहारित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए तं चेव निरवसेसं जाव जं से चउत्थे पुडए पडइ तं अप्पणा आहारं आहारेइ।

[२०] प्रव्रजित हो जाने पर उसने पूर्ववर्णित तामली तापस की तरह सब प्रकार से तपश्चर्या की, आतापना भूमि में आतापना लेने लगा, इत्यादि सब कथन पूर्ववत् जानना; यावत् [छट्ठ (बेले के तप) के पारणे के दिन] वह (पूरण तापस) आतापना भूमि से नीचे उतरा। फिर स्वयमेव चार खानों वाला काष्ठमय पात्र लेकर 'वेभेल' सन्निवेश में ऊँच, नीच और मध्यम कुलों के गृहसमुदाय से भिक्षा-विधि से भिक्षाचरी करने के लिए घूमा। भिक्षाटन करते हुए उसने इस प्रकार का विचार किया—मेरे भिक्षापात्र के पहले खाने में जो कुछ भिक्षा पड़ेगी उसे मार्ग में मिलने वाले पथिकों को दे देना है, मेरे (पात्र के) दूसरे खाने में जो कुछ (खाद्यवस्तु) प्राप्त होगी, वह मुझे कौओं और कुत्तों को दे देनी है, जो (भोज्यपदार्थ) मेरे तीसरे खाने में आएगा, वह मछलियों और कछुओं को दे देना है और चौथे खाने में जो भिक्षा प्राप्त होगी, वह स्वयं आहार करना है।

[इस] प्रकार भलीभांति विचार करके कल (दूसरे दिन) रात्रि व्यतीत होने पर प्रभातकालीन प्रकाश होते ही—यहाँ सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए—यावत् वह दीक्षित हो गया, काष्ठपात्र के चौथे खाने में जो भोजन पड़ता है, उसका आहार स्वयं करता है।

२१. तए णं से पूरणे बालतवस्सी तेणं ओरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं तं चेव जाव वेभेलस्स सन्निवेसस्स मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, २ पाउय-कुंडियमादीयं उवकरणं चउप्पुडयं च दारुमयं पडिग्गहयं एगंतमंते एडेइ, २ वेभेलस्स सन्निवेसस्स दाहिणपुरत्थिमे दिसीभागे अद्धनियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे।

[२१] तदनन्तर पूरण बालतपस्वी उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बालतपश्चरण के कारण शुष्क एवं रूक्ष हो गया। यहाँ बीच का सारा वर्णन तामलीतापस की तरह (पूर्ववत्)

जानना चाहिए; यावत् वह (पूरण बालतपस्वी) भी 'वेभेल' सन्निवेश के बीचोंबीच होकर निकला। निकल कर उसने पादुका (खड़ाऊँ) और कुण्डी आदि उपकरणों को तथा चार खानों वाले काष्ठपात्र को एकान्त प्रदेश में छोड़ दिया। फिर वेभेल सन्निवेश के अग्निकोण (दक्षिणपूर्वदिशा-विभाग) में अर्द्धनिर्वर्तनिक मण्डल रेखा खींच कर बनाया अथवा प्रतिलेखित—प्रमार्जित किया। यों मण्डल बना कर उसने संलेखना की जूषणा (आराधना) से अपनी आत्मा को सेवित (युक्त) किया। फिर यावज्जीवन आहार-पानी का प्रत्याख्यान करके उस पूरण बालतपस्वी ने पादपोपगमन अनशन (संथारा) स्वीकार किया।

२२. तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोगवणसंडे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, २ असोगवरपायवस्स हेट्ठा पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि, दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे ईसिपब्भार-गएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं एगरातियं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

[२२] (अब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपना वृत्तान्त कहते हैं—) हे गौतम! उस काल और उस समय में मैं छद्मस्थ अवस्था में था; मेरा दीक्षापर्याय ग्यारह वर्ष का था। उस समय मैं निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (वेले-वेले) तप करता हुआ, संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, पूर्वानुपूर्वी (क्रम) से विचरण करता हुआ, ग्रामानुग्राम घूमता हुआ, जहाँ सुंसुमारपुर नगर था, और जहाँ अशोकवनषण्ड नामक उद्यान था, वहाँ श्रेष्ठ अशोक के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक के पास आया। मैंने उस समय अशोकतरु के नीचे स्थित पृथ्वीशिलापट्टक पर (खड़े होकर) अट्ठमभक्त (तेले का) तप ग्रहण किया। (उस समय) मैंने दोनों पैरों को परस्पर सटा (इकट्ठा कर) लिया। दोनों हाथों को नीचे की ओर लटकाए (लम्बे किये) हुए सिर्फ एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर (टिका) कर, निर्निमेषनेत्र (आँखों की पलकों को न झपकाते हुए) शरीर के अग्रभाग को कुछ झुका कर, यथावस्थित गात्रों (शरीर के अंगों) से एवं समस्त इन्द्रियों को गुप्त (सुरक्षित) करके एकरात्रिकी महा (भिक्षु) प्रतिमा को अंगीकार करके कायोत्सर्ग किया।

२३. तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया याऽवि होत्था। तए णं से पूरणे बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं दुवालस वासाइं परियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता कालमासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए उववायसभाए जाव इंदत्ताए उववन्ने।

[२३] उस काल और उस समय में चमरचंचा राजधानी इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित थी। (इधर) पूरण नामक बालतपस्वी पूरे बारह वर्ष तक (दानामा) प्रव्रज्या पर्याय का पालन करके, एकमासिक संल्लेखना की आराधना से अपनी आत्मा को सेवित करके, साठ भक्त (साठ टंक तक)

अनशन रख कर (आहारपानी का विच्छेद करके), मृत्यु के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके चमरचंचा राजधानी की उपपातसभा में यावत् इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

२४. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ, तं जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भास-मणपज्जत्तीए।

[२४] उस समय तत्काल उत्पन्न हुआ असुरेन्द्र असुरराज चमर पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्ति भाव को प्राप्त (पर्याप्त) हुआ। वे पांच पर्याप्तियाँ इस प्रकार हैं—आहारपर्याप्ति से यावत् भाषामनःपर्याप्ति तक।

विवेचन—चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्वप्राप्ति तक का वृत्तान्त—प्रस्तुत सात सूत्रों में चमरेन्द्र को प्राप्त हुई ऋद्धि आदि के सम्बन्ध में श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का भगवान् द्वारा चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्व प्राप्ति तक वृत्तान्त रूप में कथित समाधान प्रतिपादित है। इस वृत्तान्त का क्रम इस प्रकार है—

१. श्री गौतमस्वामी की चमरेन्द्र की ऋद्धि आदि के तिरोहित हो जाने के सम्बन्ध में जिज्ञासा।
२. श्री गौतमस्वामी द्वारा चमरेन्द्र को ऋद्धि आदि की प्राप्ति विषयक प्रश्न।
३. भगवान् द्वारा पूरण गृहपति का गृहस्थावस्था से दानामा-प्रव्रज्यावस्था तक का प्रायः तमाली तापस से मिलता जुलता वर्णन।
४. पूरण बालतपस्वी द्वारा प्रव्रज्यापालन, और संलेखना की आराधना।
५. उस समय भगवान् का सुंसुमारपुर में एकरात्रिकी महाभिक्षुप्रतिमा ग्रहण करके अवस्थान।
६. इन्द्रविहीन चमरचंचा राजधानी में संल्लेखना-अनशनपूर्वक मृत्यु-प्राप्त पूरण बालतपस्वी की इन्द्र के रूप में उत्पत्ति और पांच पर्याप्तियों से पर्याप्तता।

दाणामा पव्वज्जा—दानामा या दानमय्या प्रव्रज्या वह कहलाती है, जिसमें दान देने की क्रिया मुख्य हो। इसका रूपान्तर दानमयी अथवा दानिमा (दान से निर्वृत्त-निष्पन्न)। पूरण तापस की प्रवृत्ति में दान की ही वृत्ति मुख्य है।[1]

पूरण तापस और पूरण काश्यप—बौद्धग्रन्थ 'मज्झिमनिकाय' में 'चुल्लसारोपमसुत्त' और 'महासच्चकसुत्त' में उस समय बुद्धदेव के समकालीन छह धर्मोपदेशकों (तीर्थंकरों) का उल्लेख है—पूरणकाश्यप, मस्करी गोशालक, अजितकेशकम्बल, पकुद्धकात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त, निर्ग्रन्थ नातपुत्त (ज्ञातपुत्र)। उनमें से 'पूरण काश्यप' सम्भवतः तथागत बुद्ध और भगवान् महावीर का समसमयिक यही 'पूरण तापस' हो। 'बौद्ध पर्व' में भी 'पूरणकाश्यप' नामक प्रतिष्ठित गृहस्थ का

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १७४
(ख) श्रीमद् भगवतीसूत्र (टीकानुवाद, पं. बेचरदासजी) खण्ड २ पृ-६१

उल्लेख मिलता है जो अरण्य में चोरों द्वारा वस्त्रादि लूटे जाने से नग्न होकर विरक्त रहने लगा था। उसकी विरक्ति और निःस्पृहता देखकर कहते हैं, उसके ८० हजार अनुयायी हो गए थे।[1]

सुंसुमारपुर—सुंसुमारगिरि— बौद्धों के पिटक ग्रन्थों में सुंसुमारपुर के बदले सुंसुमारगिरि का उल्लेख मिलता है, जिसे वहाँ 'भग्ग' देशवर्ती बताया गया है। सम्भव है, सुंसुमारगिरि के पास ही कोई भग्गदेशवर्ती सुंसुमारपुर हो।[2]

कठिन शब्दों की व्याख्या—'दो वि पाए साहट्टु'—दोनों पैरों को इकट्ठे-संकुचित करके-जिनमुद्रापूर्वक स्थित होकर। वग्घारियपाणी—दोनों भुजाओं को नीचे की ओर लम्बी करके। ईसिपब्भारगएणं—ईषत् = थोड़ा सा, प्राग्भार = आगे मुख करके अवनत होना।[3]

चमरेन्द्र द्वारा सौधर्मकल्प में उत्पात एवं भगवदाश्रय से शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति—

२५. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गए समाणे उड्ढं वीससाए ओहिणा आभोएइ जाव सोहम्मो कप्पो। पासइ य तत्थ सक्कं देविंदं देवरायं मघवं पागसासणं सतक्कतुं सहस्सक्खं वज्जपाणिं पुरंदरं जाव[4] दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं। सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, २ इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—केस णं एस अपत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हिरि-सिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे जे णं ममं इमाए एयारूवाए दिव्वाए देविड्ढीए जाव दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते जाव अभिसमन्नागए उप्पिं अप्पुस्सुए दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ? एवं संपेहेइ, २ सामाणियपरिसोववन्नए देवे सद्दावेइ, २ एवं वयासी—केस णं एस देवाणुप्पिया! अपत्थियपत्थए जाव भुंजमाणे विहरइ।

[२५] जब असुरेन्द्र असुरराज चमर (उपर्युक्त) पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त हो गया, तब उसने स्वाभाविक (विस्रसा) रूप से ऊपर सौधर्मकल्प तक अवधिज्ञान का उपयोग किया। वहाँ उसने देवेन्द्र देवराज, मघवा, पाकशासन, शतक्रतु, सहस्राक्ष, वज्रपाणि, पुरन्दर शक्र को यावत् दसों दिशाओं को उद्योतित एवं प्रकाशित करते हुए देखा। (साथ ही उसने शक्रेन्द्र को) सौधर्मकल्प में सौधर्मावतंसक विमान में शक्र नामक सिंहासन पर बैठकर, यावत् दिव्य एवं भोग्य भोगों का

---

१. (क) श्रीमद् भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (पं. बेचरदास जी) खण्ड २ पृ-५५-५६

(ख) मज्झिमनिकाय में चुल्लसारोपमसुत्त ३०, पृ. १३९, महासच्चकसुत्त ३६, पृ. १७२, बौद्धपर्व प्र. १० पृ-१२७

२. (क) वही, खण्ड २, पृ-५६

(ख) मज्झिमनिकाय में अनुमानसुत्त १५ पृ-७०, और मारतज्जनियसुत्त ५०, पृ-२२४

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १७४

४. 'जाव' शब्द से यह पाठ ग्रहण करना चाहिए—"दाहिणड्ढलोगाहिवइं बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवइं एरावणवाहणं सुरिंदं अरयंबरवत्थधरं·······आलइयमालमउडं नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडं।"
—भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १७४

उपभोग करते हुए देखा। इसे देखकर चमरेन्द्र के मन में इस प्रकार का आध्यात्मिक (आन्तरिक) चिन्तित, प्रार्थित एवं मनोगत संकल्प समुत्पन्न हुआ कि—अरे! कौन यह अप्रार्थित-प्रार्थक (अनिष्ट वस्तु की प्रार्थना-अभिलाषा करने वाला, मृत्यु का इच्छुक), दूर तक निकृष्ट लक्षण वाला तथा लज्जा (ह्री) और शोभा (श्री) से रहित, हीनपुण्या (अपूर्ण) चतुर्दशी को जन्मा हुआ है, जो मुझे इस प्रकार की इस दिव्य देव-ऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (अभिमुख समानीत) होने पर भी मेरे ऊपर (सिर पर) उत्सुकता से रहित (लापरवाह) हो कर दिव्य एवं भोग्य भोगों का उपभोग करता हुआ विचर रहा है? इस प्रकार का सम्प्रेक्षण (आत्मस्फुरण) करके चमरेन्द्र ने अपनी सामानिकपरिषद् में उत्पन्न देवों को बुलाया और बुला कर उनसे इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो! यह बताओ कि यह कौन अनिष्ट—मृत्यु का इच्छुक है; यावत् दिव्य एवं भोग्य भोगों का उपभोग करता हुआ विचरता है?

२६. तए णं ते सामाणियपरिसोववन्नगा देवा चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव हयहियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जयेणं विजयेणं वद्धावेंति, २ एवं वयासी—एस णं देवाणुप्पिया! सक्के देविंदे देवराया जाव विहरइ।

[२६] असुरेन्द्र असुरराज चमर द्वारा सामानिक परिषद् में उत्पन्न देवों से इस प्रकार कहे (पूछे) जाने पर (आदेश प्राप्त होने के कारण) वे चित्त में अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए। यावत् हृदय से हृत-प्रभावित (आकर्पित) होकर उनका हृदय खिल उठा। दोनों हाथ जोड़कर दसों नखों को एकत्रित करके शिरसावर्त्तसहित मस्तक पर अंजलि करके उन्होंने चमरेन्द्र को जय-विजय शब्दों से बधाई दी। फिर वे इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय! यह तो देवेन्द्र देवराज शक्र है, जो यावत् दिव्य भोग्य भोगों का उपभोग करता हुआ विचरता है!'

२७. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं सामाणियपरिसोववन्नगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे ते सामाणियपरिसोववन्नए देवे एवं वयासी—'अन्ने खलु भो! से सक्के देविंदे देवराया, अन्ने खलु भो! से चमरे असुरिंदे असुरराया, महिड्ढीए खलु से सक्के देविंदे देवराया, अप्पिड्ढीए खलु भो! से चमरे असुरिंदे असुरराया। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादेत्तए' त्ति कट्टु उसिणे उसिणब्भूए याऽवि होत्था।

[२७] तत्पश्चात् उन सामानिक परिषद् में उत्पन्न देवों से इस बात (उत्तर) को सुनकर मन में अवधारण करके वह असुरेन्द्र असुरराज चमर शीघ्र ही क्रुद्ध (लालपीला), रुष्ट, कुपित एवं चण्ड—रौद्र आकृतियुक्त हुआ, और क्रोधावेश में आकर बड़बड़ाने लगा। फिर उसने सामानिकपरिषद् में उत्पन्न देवों से इस प्रकार कहा—"अरे! वह देवेन्द्र देवराज शक्र कोई दूसरा है, और यह असुरेन्द्र असुरराज चमर कोई दूसरा है! देवेन्द्र देवराज शक्र तो महाऋद्धि वाला है, जबकि असुरेन्द्र असुरराज चमर अल्पऋद्धि वाला ही है, (यह सब मैं जानता हूँ, फिर भी मैं इसे कैसे सहन कर सकता हूँ?) अतः हे देवानुप्रियो! मैं चाहता हूँ कि मैं स्वयमेव (अकेला ही) उस देवेन्द्र देवराज शक्र को उसके स्वरूप (पद या शोभा) से भ्रष्ट कर दूँ।' यों कह कर वह चमरेन्द्र (कोपवश) गर्म (उत्तप्त) हो गया, (अस्वाभाविक रूप से) गर्मागर्म (उत्तेजित) हो उठा।

२८. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं पउंजइ, २ ममं ओहिणा आभोएइ, २ इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुंसुमारपुरे नगरे असोगवणसंडे उज्जाणे असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हित्ता एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरति। ते सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादेत्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, २ त्ता देवदूसं परिहेइ, २ उववायसभाए पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छइ, २ जेणेव सभा सुहम्मा, जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता फलिहरयणं परामुसइ, २ एगे अबिइए फलिहरयणमायाए महया अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, २ जेणेव तिगिंछिकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं जाव उत्तरवेउव्वियं रूवं विकुव्वइ, २ त्ता ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छति, २ ममं तिक्खुत्तो आदाहिणपदाहिणं करेति, २ जाव नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादित्तए' त्ति कट्टु उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमइ, २ वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ एगं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासरं भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालड्ढरत्तमासरासिसंकासं जोयणसयसाहस्सीयं महाबोंदिं विउव्वइ, २ अप्फोडेइ, २ वग्गइ, २ गज्जइ, २ हयहेसियं करेइ, २ हत्थिगुलुगुलाइयं करेइ, २ रहघणघणाइयं करेइ, २ पायदद्दरगं करेइ, २ भूमिचवेडयं दलयइ, २ सीहणादं नदइ, २ उच्छोलेति, २ पच्छोलेति, २ तिवइं छिंदइ, २ वामं भुयं ऊसवेइ, २ दाहिणहत्थपदेसिणीए य अंगुट्ठनहेण य वितिरिच्छं मुहं विडंबेइ, २ महया महया सद्देणं कलकलरवं करेइ, एगे अबितिए फलिहरयणमायाए उड्ढं वेहासं उप्पतिए, खोभंते चेव अहेलोयं, कंपेमाणे व मेइणितलं, साकड्ढंते व तिरियलोयं, फोडेमाणे व अंबरतलं, कत्थइ गज्जंते, कत्थइ विज्जुयायंते, कत्थइ वासं वासमाणे, कत्थइ रयुग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुक्कायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे २, जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे २, आयरक्खे देवे विपलायमाणे २, फलिहरयणं अंबरतलंसि वियड्ढमाणे २, विउब्भावेमाणे २ ताए उक्किट्ठाए जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीयीवयमाणे २, जेणेव सोहम्मे कप्पे, जेणेव सोहम्मवडेंसए विमाणे, जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छइ, २ एगं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एगं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया २ सद्देणं तिक्खुत्तो इंदकीलं आउडेति, २ एवं वयासी—'कहिं णं भो ! सक्के देविंदे देवराया ? कहिं णं ताओ चउरासीइं सामाणियसाहस्सीओ ? जाव कहिं णं ताओ चत्तारि चउरासीईओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ ? कहिं णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ ? अज्ज हणामि, अज्ज महेमि, अज्ज वहेमि, अज्ज ममं अवसाओ अच्छराओ वसमुवणमंतु' त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ।

[२८] इसके पश्चात् उस असुरेन्द्र असुरराज चमर ने (अपने उत्कट क्रोध को सफल

करने के लिए) अवधिज्ञान का प्रयोग किया। अवधिज्ञान के प्रयोग से उसने मुझे (श्री महावीर स्वामी को) देखा। मुझे देख कर चमरेन्द्र को इस प्रकार आध्यात्मिक (आन्तरिक स्फुरणा) यावत् मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, सुंसुमारपुर नगर में, अशोकवनपण्ड नामक उद्यान में, श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक पर अट्ठमभत्त (तेले का) तप स्वीकार कर एकरात्रिकी महाप्रतिमा अंगीकार करके स्थित हैं। अतः मेरे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि मैं श्रमण भगवान् महावीर के निश्राय—आश्रय से देवेन्द्र देवराज शक्र को स्वयमेव (एकाकी ही) अत्याशादित (श्रीभ्रष्ट) करूं।' इस प्रकार (भलीभांति योजनाबद्ध) विचार करके वह चमरेन्द्र अपनी शय्या से उठा और उठकर उसने देवदूष्य वस्त्र पहना। फिर, उपपातसभा के पूर्वीद्वार से होकर निकला। और जहाँ सुधर्मासभा थी, तथा जहाँ चतुष्पाल (चौप्पाल) नामक शस्त्रभण्डार (प्रहरणकोप) था, वहाँ आया। शस्त्रभण्डार में से उसने एक परिघरत्न उठाया। फिर वह किसी को साथ लिये विना अकेला ही उस परिघरत्न को लेकर अत्यन्त रोषाविष्ट होता हुआ चमरचंचा राजधानी के बीचोंबीच होकर निकला और तिगिच्छकूट नामक उत्पातपर्वत के निकट आया। वहाँ उसने वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होकर संख्येय योजनपर्यन्त का उत्तरवैक्रियरूप बनाया। फिर वह उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से यावत् जहाँ पृथ्वीशिला-पट्टक था, वहाँ मेरे (भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के) पास आया। मेरे पास उसने दाहिनी ओर से मेरी तीन वार प्रदक्षिणा की, मुझे वन्दन-नमस्कार किया और तब यों बोला—"भगवन्! मैं आपके निश्राय (आश्रय) से स्वयमेव (अकेला ही) देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।"

इस प्रकार कह कर (मेरे उत्तर की अपेक्षा रखे विना ही) वह वहाँ से (सीधा) उत्तरपूर्वदिशा-विभाग (ईशानकोण) में चला गया। फिर उसने वैक्रियसमुद्घात किया; यावत् वह दूसरी वार भी वैक्रियसमुद्घात से समवहत हुआ। (इस वार) वैक्रिय समुद्घात से समवहत होकर उसने एक महाघोर, घोराकृतियुक्त, भयंकर, भयंकर आकार वाला, भास्वर, भयानक, गम्भीर, त्रासदायक, काली कृष्णपक्षीय अर्धरात्रि एवं काले उड़दों की राशि के समान काला, एक लाख योजन का ऊँचा, महाकाय शरीर बनाया। ऐसा करके वह (चमरेन्द्र) अपने हाथों को पछाड़ने लगा, पैर पछाड़ने लगा, (मेघ की तरह) गर्जना करने लगा, घोड़े की तरह हिनहिनाने (हेपारव करने) लगा, हाथी की तरह किलकिलाहट (चीत्कार) करने लगा, रथ की तरह घनघनाहट करने लगा, पैरों को जमीन पर जोर से पटकने लगा, भूमि पर जोर से (हथेली से) थप्पड़ मारने लगा, सिंहनाद करने लगा, उछलने लगा, पछाड़ मारने लगा, (मल्ल की तरह मैदान में) त्रिपदी को छेदने लगा; बांई भुजा ऊँची करने लगा, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली और अंगूठे के नख द्वारा अपने मुख को तिरछा फाड़ कर विडम्बित (टेढ़ामेढ़ा) करने लगा और बड़े जोर-जोर से कलकल शब्द करने लगा। यों करता हुआ वह चमरेन्द्र स्वयं अकेला, किसी को साथ में न ले कर परिघरत्न ले कर ऊपर आकाश में उड़ा। (उड़ते समय अपनी उड़ान से) वह मानो अधोलोक क्षुब्ध करता हुआ, पृथ्वीतल को मानो कंपाता हुआ, तिरछे लोक को खींचता हुआ-सा, गगनतल को मानो फोड़ता हुआ, कहीं गर्जना करता हुआ, कहीं विद्युत् की तरह चमकता हुआ, कहीं वर्षा के समान वरसता हुआ, कहीं धूल का ढेर उड़ाता (उछालता) हुआ, कहीं गाढान्धकार का दृश्य उपस्थित करता हुआ, तथा (जाते-जाते) वाणव्यन्तर देवों को त्रास पहुँचाता हुआ, ज्योतिषीदेवों को दो भागों में विभक्त करता हुआ एवं आत्मरक्षक देवों

को भगाता हुआ, परिघरत्न को आकाश में घुमाता हुआ, उसे विशेष रूप से चमकाता हुआ, उस उत्कृष्ट दिव्य देवगति से यावत् तिरछे असंख्येय द्वीपसमुद्रों के बीचोंबीच हो कर निकला। यों निकल कर जिस ओर सौधर्मकल्प (देवलोक) था, सौधर्मावतंसक विमान था, और जहाँ सुधर्मासभा थी, उसके निकट पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने एक पैर पद्मवरवेदिका पर रखा, और दूसरा पैर सुधर्मा सभा में रखा। फिर बड़े जोर से हुंकार (आवाज) करके उसने परिघरत्न से तीन वार इन्द्रकील (शक्रध्वज अथवा मुख्य द्वार के दोनों कपाटों के अर्गलास्थान) को पीटा (प्रताडित किया)। तत्पश्चात् उसने (जोर से चिल्ला कर) इस प्रकार कहा—'अरे! वह देवेन्द्र देवराज शक्र कहाँ है? कहाँ हैं उसके वे चौरासी हजार सामानिक देव? यावत् कहाँ है उसके वे तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव? कहाँ गई वे अनेक करोड़ अप्सराएँ? आज ही मैं उन सबको मार डालता हूँ, आज ही उनका मैं वध कर डालता हूँ। जो अप्सराएँ मेरे अधीन नहीं हैं, वे अभी मेरी वशवर्तिनी हो जाएँ।' ऐसा करके चमरेन्द्र ने वे अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनोहर और कठोर उद्गार निकाले।

२९. तए णं से सक्के देविंदे देवराया तं अणिट्ठं जाव अमणामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वदासी—'हं भो! चमरा! असुरिंदा! असुरराया! अपत्थियपत्थया! जाव हीणपुण्णचाउद्दसा! अज्जं न भवसि, नहि ते सुहमत्थि' त्ति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगते वज्जं परामुसइ, २ तं जलंतं फुडंतं तडतडंतं उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणं २, जालासहस्साइं पमुंचमाणं २, इंगालसहस्साइं पविक्खिरमाणं २, फुलिंगजालामालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेव-दिट्ठिपडिघातं पि पकरेमाणं हुतवहअतिरेगतेयदिप्पंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं भयकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जं निसिरइ।

[२९] तदनन्तर (चमरेन्द्र द्वारा पूर्वोक्तरूप से उत्पात मचाये जाने पर) देवेन्द्र देवराज शक्र (चमरेन्द्र के) इस (उपर्युक्त) अनिष्ट, यावत् अमनोज्ञ और अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुने हुए) कर्णकटु वचन सुन-समझ करके एकदम (तत्काल) कोपायमान हो गया। यावत् क्रोध से (होठों को चबाता हुआ) बड़बड़ाने लगा तथा ललाट पर तीन सल (रेखाएँ) पड़ें, इस प्रकार से भृकुटि चढ़ा कर शक्रेन्द्र असुरेन्द्र असुरराज चमर से यों बोला—हे! भो (अरे!) अप्रार्थित (अनिष्ट-मरण) के प्रार्थक (इच्छुक)! यावत् हीनपुण्या (अपूर्ण) चतुर्दशी के जन्मे हुए असुरेन्द्र! असुरराज! चमर! आज तू नहीं रहेगा; (तेरा अस्तित्व समाप्त हो जाएगा) आज तेरी खैर (सुख) नहीं है। (यह समझ ले) यों कह कर अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे-बैठे ही शक्रेन्द्र ने अपना वज्र उठाया और उस जाज्वल्यमान, विस्फोट करते हुए, तड़-तड़ शब्द करते हुए हजारों उल्काएँ छोड़ते हुए, हजारों अग्निज्वालाओं को छोड़ते हुए, हजारों अंगारों को बिखेरते हुए, हजारों स्फुलिंगों (चिनगारियों) की ज्वालाओं से उस पर दृष्टि फैंकते ही आँखों के आगे चकाचौंध के कारण रुकावट डालने वाले, अग्नि से अधिक तेज से देदीप्यमान, अत्यन्त वेगवान् खिले हुए टेसू (किंशुक) के फूल के समान लाल-लाल, महाभयावह एवं भयंकर वज्र को असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के वध के लिए छोड़ा।

३०. तते णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तं जलंतं जाव भयकरं वज्जमभिमुहं आवयमाणं पासइ, पासित्ता झियाति पिहाइ, पिहाइ झियाइ, झियायित्ता पिहायित्ता तहेव संभग्गमउडविडवे सालंबहत्थाभरणे उड्ढंपाए अहोसिरे कक्खागयसेयं पिव विणिम्मुयमाणे २ ताए उक्किट्ठाए जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीतीवयमाणे २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता भीए भयगग्गरसरे 'भगवं सरणं' इति बुयमाणे ममं दोण्ह वि पायाणं अंतरंसि झत्ति वेगेणं समोवतिते ।

[३०] तत्पश्चात् उस असुरेन्द्र असुरराज चमर ने जब उस जाज्वल्यमान, यावत् भयंकर वज्र को अपने सामने आता हुआ देखा, तब उसे देख कर ('यह क्या है ?' इस प्रकार मन में) चिन्तन करने लगा, फिर (अपने स्थान पर चले जाने की) इच्छा करने लगा, अथवा (वज्र को देखते ही उसने) अपनी दोनों आँखें मूंद लीं और (वहाँ से चले जाने का पुन:) पुन: विचार करने लगा। (कुछ क्षणों तक) चिन्तन करके वह ज्यों ही स्पृहा करने लगा (कि ऐसा अस्त्र मेरे पास होता तो कितना अच्छा होता।) त्यों ही उसके मुकुट का तुर्रा (छोगा) टूट गया, हाथों के आभूषण (भय के मारे शरीर सूख जाने से) नीचे लटक गए; तथा पैर ऊपर और सिर नीचा करके एवं कांखों में पसीना-सा टपकाता हुआ, वह असुरेन्द्र चमर उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से तिरछे असंख्य द्वीप समुद्रों के बीचोंबीच होता हुआ, जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ भारतवर्ष था, यावत् जहाँ श्रेष्ठ अशोकवृक्ष था, वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक पर जहाँ मैं (श्री महावीरस्वामी) था, वहाँ आया। मेरे निकट आकर भयभीत एवं भय से गद्गद स्वरयुक्त चमरेन्द्र—"भगवन् ! आप ही (अब) मेरे लिए शरण हैं" इस प्रकार बोलता हुआ मेरे दोनों पैरों के बीच में शीघ्रता से वेगपूर्वक (फुर्ती से) गिर पड़ा।

३१. तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था 'नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पतित्ता जाव सोहम्मो कप्पो, णऽन्नत्थ अरहंते वा, अरहंतचेइयाणि वा, अणगारे वा भावियप्पाणो नीसाए उड्ढं उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो। तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराण य अच्चासायणाए' त्ति कट्टु ओहिं पउंजति, २ ममं ओहिणा आभोएति, २ 'हा ! हा ! अहो ! हतो अहमंसि' त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवगतीए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे २ तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं जाव जेणेव असोगवरपादवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ ममं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ। अवियाऽऽइं मे गोतमा ! मुट्ठिवातेणं केसग्गे वीइत्था।

[३१] उसी समय देवेन्द्र शक्र को इस प्रकार का आध्यात्मिक (आन्तरिक अध्यवसाय) यावत् मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी शक्तिवाला नहीं है, न असुरेन्द्र असुरराज चमर इतना समर्थ है, और न ही असुरेन्द्र असुरराज चमर का इतना विषय है कि वह अरिहन्त भगवन्तों, अर्हन्त भगवान् के चैत्यों अथवा भावितात्मा अनगार का आश्रय (निश्राय) लिये विना स्वयं अपने आश्रय (निश्राय) से इतना ऊँचा (उठ) कर यावत् सौधर्मकल्प तक आ सके। अत:

वह असुरेन्द्र अवश्य अरहिन्त भगवन्तों यावत् अथवा किसी भावितात्मा अनगार के आश्रय (निश्राय) से ही इतना ऊपर यावत् सौधर्मकल्प तक आया है। यदि ऐसा है तो उन तथारूप अर्हन्त भगवन्तों एवं अनगारों की (मेरे द्वारा फेंके हुए वज्र से) अत्यन्त आशातना होने से मुझे महा:दुख होगा। ऐसा विचार करके शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और उस अवधिज्ञान के प्रयोग से उसने मुझे (श्री महावीर स्वामी को) देखा! मुझे देखते ही (उसके मुख से बरबस ये उद्गार निकल पड़े—) "हा! हा! अरे रे! मैं मारा गया!" इस प्रकार (पश्चात्ताप) करके (वह शक्रेन्द्र अपने वज्र को पकड़ लेने के लिए) उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से वज्र के पीछे-पीछे दौड़ा। वज्र का पीछा करता हुआ वह शक्रेन्द्र तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बीचोंबीच होता हुआ यावत् उस श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे जहाँ मैं था, वहाँ आया) और वहाँ मुझ से सिर्फ चार अंगुल दूर रहे हुए (असम्प्राप्त) उस वज्र को उसने पकड़ लिया (वापिस ले लिया)।

हे गौतम! (जिस समय शक्रेन्द्र ने वज्र को पकड़ा, उस समय उसने अपनी मुट्ठी इतनी जोर से बन्द की कि) उस मुट्ठी की हवा से मेरे केशाग्र हिलने लगे।

३२. तए णं से सक्के देविंदे देवराया वज्जं पडिसाहरति, पडिसाहरित्ता ममं तिक्खुत्तो आदाहिणपदाहिणं करेइ, २ वंदइ नमंसइ, २ एवं वयासी—'एवं खलु भंते! अहं तुब्भं नीसाए चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णा सयमेव अच्चासाइए। तए णं मए परिकुविएणं समाणेणं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जे निसट्ठे। तए णं मे इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तहेव जाव ओहिं पउंजामि, देवाणुप्पिए ओहिणा आभोएमि, 'हा! हा! अहो! हतो मी' ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुप्पियाणं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरामि, वज्जपडिसाहरणट्ठताए णं इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ताणं विहरामि। तं खामेमि णं देवाणुप्पिया!, खमंतु णं देवाणुप्पिया!, खमितुमरहंति णं देवाणुप्पिया!, णाइ भुज्जो एवं पकरणताए" त्ति कट्टु ममं वंदइ नमंसइ, २ उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, २ वामेणं पादेणं तिक्खुत्तो भूमिं दलेइ, २ चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वदासी—'मुक्को सि णं भो! चमरा! असुरिंदा! असुरराया! समणस्स भगवओ महावीरस्स पभावेणं, नहि ते दाणिं ममाओ भयमत्थि' त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[३२] तदनन्तर देवेन्द्र देवराज शक्र ने वज्र को ले कर दाहिनी ओर से मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की और मुझे वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके कहा—भगवन्! आपका ही आश्रय ले कर स्वयं असुरेन्द्र असुरराज चमर मुझे अपनी श्री से भ्रष्ट करने आया था। तब मैंने परिकुपित हो कर उस असुरेन्द्र असुरराज चमर के वध के लिए वज्र फेंका था। इसके पश्चात् मुझे तत्काल इस प्रकार का आन्तरिक यावत् मनोगत विचार उत्पन्न हुआ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर स्वयं इतना समर्थ नहीं है कि अपने ही आश्रय से इतना ऊँचा-सौधर्मकल्प तक आ सके, इत्यादि पूर्वोक्त सब बातें शक्रेन्द्र ने कह सुनाईं यावत् शक्रेन्द्र ने आगे कहा—भगवन्! फिर मैंने अवधिज्ञान का प्रयोग किया। अवधिज्ञान के द्वारा आपको देखा। आपको देखते ही—'हा हा! अरे रे! मैं मारा

गया ।' ये उद्‌गार मेरे मुख से निकल पड़े ! फिर मैं उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से जहाँ आप देवानुप्रिय विराजमान हैं, वहाँ आया; और आप देवानुप्रिय से सिर्फ चार अंगुल दूर रहे हुए वज्र को मैंने पकड़ लिया । (अन्यथा, घोर अनर्थ हो जाता !) मैं वज्र को वापस लेने के लिए ही यहाँ सुंसुमारपुर में और इस उद्यान में आया हूँ और अभी यहाँ हूँ । अतः भगवन् ! मैं (अपने अपराध के लिए) आप देवानुप्रिय से क्षमा मांगता हूँ । आप देवानुप्रिय मुझे क्षमा करें । आप देवानुप्रिय क्षमा करने योग्य (क्षमाशील) हैं । मैं ऐसा (अपराध) पुनः नहीं करूंगा ।' यों कह कर शक्रेन्द्र मुझे वन्दन-नमस्कार करके उत्तरपूर्वदिशाविभाग (ईशानकोण) में चला गया । वहाँ जा कर शक्रेन्द्र ने अपने बांयें पैर को तीन बार भूमि पर पछाड़ा (पटका) । यों करके फिर उसने असुरेन्द्र असुरराज चमर से इस प्रकार कहा—'हे असुरेन्द्र असुरराज चमर ! आज तो तू श्रमण भगवान् महावीर के ही प्रभाव से बच (मुक्त हो) गया है, (जा) अब तुझे मुझ से (किंचित् भी) भय नहीं है; यों कह कर वह शक्रेन्द्र जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापस चला गया ।

विवेचन—चमरेन्द्र द्वारा सौधर्म में उत्पात एवं भगवदाश्रय के कारण शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. २५ से ३२ तक) में चमरेन्द्र द्वारा सौधर्मदेवलोक में जा कर उपद्रव मचाने के विचार से लेकर, भगवान् की शरण स्वीकारने से शक्रेन्द्र द्वारा उस के वध के लिए किये गए वज्रपात से मुक्त होने तक का वृत्तान्त दिया गया है । इस वृत्तान्त का क्रम इस प्रकार है—

(१) पंचपर्याप्तियुक्त होते ही चमरेन्द्र द्वारा अवधिज्ञान से सौधर्मदेवलोक के शक्रेन्द्र की ऋद्धि सम्पदा आदि देख कर जातिगत द्वेष एवं ईर्ष्या के वश सामानिक देवों से पूछताछ ।

(२) सामानिक देवों द्वारा करबद्ध हो कर देवेन्द्र शक्र का सामान्य परिचय प्रदान ।

(३) चमरेन्द्र द्वारा कुपित एवं उत्तेजित होकर स्वयमेव शक्रेन्द्र को शोभाभ्रष्ट करने का विचार ।

(४) अवधिज्ञान से भगवान् का पता लगा कर परिघरत्न के साथ अकेले सुंसुमारपुर के अशोकवनखंड में पहुँच कर वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे विराजित भगवान् की शरण स्वीकार करके चमरेन्द्र ने उनके समक्ष शक्रेन्द्र को शोभाभ्रष्ट करने का दुःसंकल्प दोहराया ।

(५) फिर उत्तरवैक्रिय से विकराल रूपवाला महाकाय शरीर बनाकर भयंकर गर्जन-तर्जन, पादप्रहार आदि करते हुए सुधर्मासभा में चमरेन्द्र का सकोप प्रवेश । वहाँ शक्रेन्द्र और उनके परिवार को धमकीभरे अनिष्ट एवं अशुभ वचन कहे ।

(६) शक्रेन्द्र का चमरेन्द्र पर भयंकर कोप, और उसे मारने के लिए शक्रेन्द्र द्वारा अग्नि-ज्वालातुल्य वज्र-निक्षेप ।

(७) भयंकर जाज्वल्यमान वज्र को अपनी ओर आते देख भयभीत चमरेन्द्र द्वारा वज्र से रक्षा के लिए शीघ्रगति से आ कर भगवत् शरण-स्वीकार ।

(८) शक्रेन्द्र द्वारा चमरेन्द्र के ऊर्ध्वगमनसामर्थ्य का विचार । भगवदाश्रय लेकर किये गए चमरेन्द्रकृत उत्पात के कारण अपने द्वारा उस पर छोड़े गए वज्र से होने वाले अनर्थ का विचार करके पश्चात्ताप सहित तीव्रगति से वज्र का अनुगमन । (भगवान्) से ४ अंगुल दूर रहा, तभी वज्र को शक्रेन्द्र ने पकड़ लिया ।

(९) शक्रेन्द्र द्वारा भगवान् के समक्ष अपना अपराध निवेदन, क्षमायाचना एवं चमरेन्द्र को भगवदाश्रय के कारण प्राप्त अभयदान। शक्रेन्द्र द्वारा स्वगन्तव्यप्रस्थान।[1]

शक्रेन्द्र के विभिन्न विशेषणों की व्याख्या—**मघवं** (मघवा)=बड़े-बड़े मेघों को वश में रखने वाला। **पागसासणं** (पाकशासन)=पाक नाम बलवान् शत्रु पर शासन (दमन) करने वाला। **सयक्कउं** (शतक्रतु)=सौ क्रतुओं—अभिग्रहरूप सौ प्रतिमाओं अथवा श्रावक की पंचमप्रतिमारूप सौ प्रतिमाओं (क्रतुओं) का कार्तिक सेठ के भव में धारण करने वाला। **सहस्सक्खं** (सहस्राक्ष) सौ नेत्रों वाला—इन्द्र के ५०० मंत्री होते हैं, उनके १००० नेत्र इन्द्र के कार्य में प्रयुक्त होते हैं, इस अपेक्षा से सहस्राक्ष कहते हैं। **वज्जपाणि** (वज्रपाणि)=इन्द्र के हाथ में वज्र नामक विशिष्ट शस्त्र होता है, इसलिए वज्रपाणि। **पुरंदरं** (पुरन्दर)=असुरादि के पुरों=नगरों का विदारक=नाशक।[2]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**वीससाए**=स्वाभाविक रूप से। **आभोइए**=उपयोग लगाकर देखा। **दुरंतपंतलक्खणे**=दुष्परिणाम वाले अमनोज्ञ लक्षणों वाला। **हीणपुण्णचाउद्दसे** हीनपुण्या—अपूर्णा (टूटती-रिक्ता) चतुर्दशी का जन्मा हुआ। **अप्पुस्सुए**=उत्सुकता-चिन्ता से रहित-लापरवाह। **महाबोंदि**=महान् शरीर को। **अच्चासादेत्तए**=अत्यन्त आशातना=श्रीविहीन करने के लिए। **'पायदद्दरगं करेइ'**—भूमि पर पैर पछाड़ता है। **उच्छोलेति**=अगले भाग में लात मारता है अथवा उछलता है। **पच्छोलेति**=पिछले भाग में लात मारता है, या पछाड़ खाता है। **रयुग्घायं करेमाणे**—धूल को उछालता बरसाता हुआ। **वेहासं**=आकाश को। **वियड्ढमाणे**=घुमाता हुआ। **विउब्भावेमाणे**=चमकाता हुआ। **परामुसइ**=स्पर्श किया—उठाया। **झत्ति वेगेणं**=शीघ्रता से—झटपट, वेग से। **केसग्गे वीइत्था**=केशों के आगे का भाग हवा से हिलने लगा।[3]

फेंके हुए पुद्गल को पकड़ने की देवशक्ति और गमन-सामर्थ्य में अन्तर—

३३. भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति०, २ एवं वदासि-देवे णं भंते ! महिड्ढीए महज्जुतीए जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ताणं गिण्हित्तए ?

३३. [१] हंता, पभू।

[३३-१ प्र.] 'हे भगवन् !' यों कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन—नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा (पूछा) 'भगवन् ! महाऋद्धिसम्पन्न, महाद्युतियुक्त यावत् महाप्रभावशाली देव क्या पहले पुद्गल को फैंक कर, फिर उसके पीछे जा कर उसे पकड़ लेने में समर्थ है ?

[३३-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह (ऐसा करने में) समर्थ है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) (पं० बेचरदास जी) भा. १, पृ. १४६ से १५०

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १७४

३. वही, पत्रांक १७४, १७५

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव गिण्हित्तए ?

गोयमा ! पोग्गले णं खित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगती भवित्ता ततो पच्छा मंदगती भवति, देवे णं महिड्ढीए पुव्विं पि य पच्छा वि सीहे सीहगती चेव, तुरिते तुरितगती चेव। से तेणट्ठेणं जाव पभू गेण्हित्तए।

[३३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से देव, पहले फेंके हुए पुद्गल को, उसका पीछा करके यावत् ग्रहण करने में समर्थ है ?

[३३-२ उ.] गौतम ! जब पुद्गल फेंका जाता है, तब पहले उसकी गति शीघ्र (तीव्र) होती है, पश्चात् उसकी गति मन्द हो जाती है, जबकि महर्द्धिक देव तो पहले भी और पीछे (बाद में) भी शीघ्र और शीघ्रगति वाला तथा त्वरित और त्वरितगति वाला होता है। अतः इसी कारण से देव, फेंके हुए पुद्गल का पीछा करके यावत् उसे पकड़ सकता है।

३४. जति णं भंते ! देवे महिड्ढीए जाव अणुपरियट्टित्ताणं गेण्हित्तए। कम्हा णं भंते ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थिं गेण्हित्तए ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं अहेगतिविसए सीहे सीहे चेव, तुरिते तुरिते चेव। उड्ढंगतिविसए अप्पे अप्पे चेव, मंदे मंदे चेव। वेमाणियाणं देवाणं उड्ढंगतिविसए सीहे सीहे चेव, तुरिते तुरिते चेव। अहेगतिविसए अप्पे अप्पे चेव, मंदे मंदे चेव।

जावतियं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पतति एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं तं चमरे तीहिं, सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढलोयकंडए, अहेलोयकंडए संखेज्जगुणे।

जावतियं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया अहे ओवयति एक्केणं समएणं तं सक्के दोहिं, जं सक्के दोहिं तं वज्जे तीहिं, सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहेलोयकंडए, उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे।

एवं खलु गोयमा ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थिं गेण्हित्तए।

[३४-प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक देव यावत् पीछा करके फेंके हुए पुद्गल को पकड़ने में समर्थ है, तो देवेन्द्र देवराज शक्र अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को क्यों नहीं पकड़ सका ?

[३४ उ.] गौतम ! असुरकुमार देवों का नीचे गमन का विषय (शक्ति-सामर्थ्य) शीघ्र-शीघ्र और त्वरित-त्वरित होता है, और ऊर्ध्वगमन विषय अल्प-अल्प तथा मन्द-मन्द होता है, जबकि वैमानिक देवों का ऊँचे जाने का विषय शीघ्र-शीघ्र तथा त्वरित-त्वरित होता है और नीचे जाने का विषय अल्प-अल्प तथा मन्द-मन्द होता है।

एक समय में देवेन्द्र देवराज शक्र, जितना क्षेत्र (जितनी दूर) ऊपर जा सकता है, उतना क्षेत्र—उतनी दूर ऊपर जाने में वज्र को दो समय लगते हैं और उतना ही क्षेत्र ऊपर जाने में चमरेन्द्र

को तीन समय लगते हैं। (अर्थात्—) देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्व-लोककण्डक (ऊपर जाने में लगने वाला कालमान) सबसे थोड़ा है, और अधोलोककंडक उसकी अपेक्षा संख्येयगुणा है।

एक समय में असुरेन्द्र असुरराज चमर जितना क्षेत्र नीचा जा सकता है, उतना ही क्षेत्र नीचा जाने में शक्रेन्द्र को दो समय लगते हैं और उतना ही क्षेत्र नीचा जाने में वज्र को तीन समय लगते हैं। (अर्थात्—) असुरेन्द्र असुरराज चमर का अधोलोककण्डक (नीचे गमन का कालमान) सबसे थोड़ा है और ऊर्ध्वलोककण्डक (ऊँचा जाने का कालमान) उससे संख्येयगुणा है।

इस कारण से हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र, अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को पकड़ने में समर्थ न हो सका।

विवेचन—फेंकी हुई वस्तु को पकड़ने की देवशक्ति और गमनसामर्थ्य में अन्तर—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ३३-३४) में क्रमशः दो तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) फेंके हुए पुद्गल को पकड़ने की शक्ति महर्द्धिकदेव में है या नहीं ? है तो कैसे है ?, (२) यदि महर्द्धिक देवों में प्रक्षिप्त पुद्गल को पकड़ने की शक्ति है तो शक्रेन्द्र चमरेन्द्र को क्यों नहीं पकड़ सका ?'

निष्कर्ष—(१) मनुष्य की शक्ति नहीं है कि पत्थर, गेंद आदि को फेंक कर उसका पीछा करके उसे गन्तव्य स्थल तक पहुँचने से पहले ही पकड़ सके, किन्तु महर्द्धिक देवों में यह शक्ति इसलिए है कि क्षिप्त पुद्गल की गति पहले तीव्र होती है, फिर मन्द हो जाती है, जबकि महर्द्धिक देवों में पहले और बाद में एक-सी तीव्रगति होती है। (२) असुरकुमार देवों की नीचे जाने में तीव्र गति है, ऊपर जाने में मन्द; जबकि वैमानिक देवों की नीचे जाने में मन्दगति है, ऊपर जाने में तीव्र; इस कारण से शक्रेन्द्र नीचे जाते हुए चमरेन्द्र को पकड़ नहीं सका।[1]

इन्द्रद्वय एवं वज्र की ऊर्ध्वादिगति का क्षेत्रकाल की दृष्टि से अल्पबहुत्व—

३५. सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गतिविसयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे ओवयइ एक्केणं समएणं, तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, उड्ढं संखेज्जे भागे गच्छइ।

[३५ प्र.] हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्वगमन-विषय, अधोगमन विषय और तिर्यग्गमन विषय, इन तीनों में कौन-सा विषय किन-किन से अल्प है, बहुत (अधिक) है और तुल्य (समान) है, अथवा विशेषाधिक है ?

[३५ उ.] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र एक समय में सबसे कम क्षेत्र नीचे जाता है, तिरछा उससे संख्येय भाग जाता है और ऊपर भी संख्येय भाग जाता है।

३६. चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गतिविसयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति,

गोयमा ! सव्वत्थोवं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पयति एक्केणं समएणं, तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, अहे संखेज्जे भागे गच्छइ।

[३६ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के ऊर्ध्वगमन-विषय, अधोगमन विषय और तिर्यग्गमनविषय में से कौन-सा विषय किन-किन से अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य या विशेषाधिक है ?

[३६ उ.] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर, एक समय में सबसे कम क्षेत्र ऊपर जाता है; तिरछा, उससे संख्येय भाग अधिक (क्षेत्र) और नीचे उससे भी संख्येय भाग अधिक जाता है।

३७. वज्जं जहा सक्कस्स देविंदस्स तहेव, नवरं विसेसाहियं कायव्वं।

[३७] वज्र-सम्बन्धी गमन का विषय (क्षेत्र), जैसे देवेन्द्र शक्र का कहा है, उसी तरह जानना चाहिए। परन्तु विशेषता यह है कि गति का विषय (क्षेत्र) विशेषाधिक कहना चाहिए।

३८. सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो ओवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उप्पयणकाले, ओवयणकाले संखेज्जगुणे।

[३८ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र का नीचे जाने का (अवपतन-) काल और ऊपर जाने का (उत्पतन-)काल, इन दोनों कालों में कौन-सा काल, किस काल से अल्प है, बहुत है, तुल्य है अथवा विशेषाधिक है ?

[३८ उ.] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊपर जाने का काल सबसे थोड़ा है, और नीचे जाने का काल उससे संख्येयगुणा अधिक है।

३९. चमरस्स वि जहा सक्कस्स, णवरं सव्वत्थोवे ओवयणकाले, उप्पयणकाले संखेज्जगुणे।

[३९] चमरेन्द्र का गमनविषयक कथन भी शक्रेन्द्र के समान ही जानना चाहिए; किन्तु इतनी विशेषता है कि चमरेन्द्र का नीचे जाने का काल सबसे थोड़ा है, ऊपर जाने का काल उससे संख्येयगुणा अधिक है।

४०. वज्जस्स पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले, ओवयणकाले विसेसाहिए।

[४०] वज्र (के गमन के विषय में) पृच्छा की (तो भगवान् ने कहा—) गौतम ! वज्र का ऊपर जाने का काल सबसे थोड़ा है, नीचे जाने का काल उससे विशेषाधिक है।

४१. एयस्स णं भंते ! वज्जस्स, वज्जाहिवतिस्स, चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो ओवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा ४ ? गोयमा ! सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स य ओवयणकाले, एते णं विण्णि वि तुल्ला सव्वत्थोवा। सक्कस्स य ओवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले संखेज्जगुणे। चमरस्स य उप्पयणकाले वज्जस्स य ओवयणकाले, एस णं दोण्ण वि तुल्ले विसेसाहिए।

[४१ प्र.] भगवन् ! यह वज्र, वज्राधिपति—इन्द्र, और असुरेन्द्र असुरराज चमर, इन सब का नीचे जाने का काल और ऊपर जाने का काल; इन दोनों कालों में से कौन-सा काल किससे अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[४१ उ.] गौतम ! शक्रेन्द्र का ऊपर जाने का काल और चमरेन्द्र का नीचे जाने का काल, ये दोनों तुल्य हैं और सबसे कम हैं। शक्रेन्द्र का नीचे जाने का काल और वज्र का ऊपर जाने का काल, ये दोनों काल तुल्य हैं और (पूर्वोक्त काल से) संख्येयगुणा अधिक है। (इसी तरह) चमरेन्द्र का ऊपर जाने का काल और वज्र का नीचे जाने का काल, ये दोनों काल तुल्य हैं और (पूर्वोक्त काल से) विशेषाधिक हैं।

विवेचन—इन्द्रद्वय एवं वज्र की ऊर्ध्वादिगति का क्षेत्र-काल की दृष्टि से अल्प-बहुत्व—प्रस्तुत ७ सूत्रों (सू. ३५ से ४१ तक) में से प्रथम तीन सूत्रों में इन्द्रादि के ऊपर और नीचे गमन के क्षेत्र-विषयक अल्पत्व, बहुत्व, तुल्यत्व और विशेपाधिकत्व का, तथा इनसे आगे के तीन सूत्रों में इन्द्रादि के ऊपर-नीचे गमन के कालविषयक अल्पत्व, बहुत्व, तुल्यत्व और विशेपाधिकत्व का पृथक्-पृथक् एवं इन्द्रद्वय एवं वज्र इन तीनों के नीचे और ऊपर जाने के कालों में से एक काल से दूसरे के काल के विशेषाधिकत्व, अल्पत्व एवं बहुत्व का सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है।

संख्येय, तुल्य और विशेषाधिक का स्पष्टीकरण—शक्रेन्द्र के नीचे जाने का और ऊपर जाने का क्षेत्र-काल विषयक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शक्रेन्द्र जितना नीचा क्षेत्र दो समय में जाता है, उतना ही ऊँचा क्षेत्र एक समय में जाता है। अर्थात्—नीचे के क्षेत्र की अपेक्षा ऊपर का क्षेत्र दुगना है। चूर्णिकार ने स्पष्ट किया है कि शक्रेन्द्र एक समय में नीचे एक योजन तिरछा डेढ योजन और ऊपर दो योजन जाता है।

इसी प्रकार शक्रेन्द्र की ऊर्ध्वगति और चमरेन्द्र की अधोगति बराबर बतलाई गई है, उसका तात्पर्य यह है कि शक्रेन्द्र एक समय में दो योजन ऊपर जाता है तो चमरेन्द्र भी एक समय में दो योजन नीचे जाता है। किन्तु शक्रेन्द्र, चमरेन्द्र और वज्र के केवल ऊर्ध्वगति क्षेत्र-काल में तारतम्य है, वह इस प्रकार समझना चाहिए—शक्रेन्द्र एक समय में जितना क्षेत्र ऊपर जाता है, उतना क्षेत्र ऊपर जाने में वज्र को दो समय और चमरेन्द्र को तीन समय लगता है। अर्थात्—शक्रेन्द्र का जितना ऊर्ध्वगमन क्षेत्र है, उसका त्रिभाग जितना ऊर्ध्वगमन क्षेत्र चमरेन्द्र का है। इसीलिए नियत ऊर्ध्व-गमनक्षेत्र त्रिभाग न्यून तीन गाऊ बतलाया गया है।

वज्र की नीचे जाने में गति मन्द होती है, तिरछे जाने में शीघ्रतर और ऊपर जाने में शीघ्रतम होती है। इसलिए वज्र का अधोगमनक्षेत्र त्रिभागन्यून योजन, तिर्यग्गमन क्षेत्र विशेषाधिक दो भाग=त्रिभागसहित तीन गाऊ, और ऊर्ध्वगमनक्षेत्र विशेषाधिक दो भाग—तिर्यक्क्षेत्रकथित विशेषाधिक दो भाग—से कुछ विशेषाधिक होता है।

चमरेन्द्र एक समय में जितना नीचे जाता है, उतना ही नीचा जाने में शक्रेन्द्र को दो समय और वज्र को तीन समय लगते हैं। इस कथनानुसार शक्रेन्द्र के अधोगमन की अपेक्षा वज्र का अधोगमन त्रिभागन्यून है। शक्रेन्द्र का अधोगमन का समय और वज्र का ऊर्ध्वगमन का समय दोनों

समान कहे गये हैं, इसका अर्थ है—शक्रेन्द्र एक समय में नीचे एक योजन जाता है, तथैव वज्र एक समय में ऊपर एक योजन जाता है।[1]

वज्रभयमुक्त चिन्तित चमरेन्द्र द्वारा भगवत्सेवा में जाकर कृतज्ञताप्रदर्शन, क्षमायाचन और नाट्यप्रदर्शन—

४२. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्जभयविप्पमुक्के सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा महया अवमाणेणं अवमाणिते समाणे चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि ओहतमणसंकप्पे चितासोकसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगते भूमिगतदिट्ठीए झियाति।

[४२] इसके पश्चात् वज्र-(प्रहार) के भय से विमुक्त बना हुआ, देवेन्द्र देवराज शक्र के द्वारा महान् अपमान से अपमानित हुआ, चिन्ता और शोक के समुद्र में प्रविष्ट असुरेन्द्र असुरराज चमर, मानसिक संकल्प नष्ट हो जाने से मुख को हथेली पर रखे, दृष्टि को भूमि में गड़ाए हुए आर्तध्यान करता हुआ, चमरचंचा नामक राजधानी में सुधर्मासभा में, चमर नामक सिंहासन पर (चिन्तितमुद्रा में बैठा-बैठा) विचार करने लगा।

४३. तते णं तं चमरं असुरिंदं असुररायं सामाणियपरिसोववन्नया देवा ओहयमणसंकप्पं जाव झियायमाणं पासंति, २ करतल जाव एवं वयासि— किं णं देवाणुप्पिया! ओहयमणसंकप्पा जाव झियायंति? तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ते सामाणियपरिसोववन्नए देवे एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! मए समणं भगवं महावीरं नीसाए कट्टु सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासादिए। तए णं तेणं परिकुवितेणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसिट्ठे। तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स जस्सम्हि पभावेण अकिट्ठे अव्वहिए अपरिताविए इहमागते, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ताणं विहरामि। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो' त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव सव्विड्ढीए जाव जेणेव असोगवरपादवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ ममं तिक्खुत्तो आदाहिणपदाहिणं जाव

---

१. (क) एगेणं समएणं उवयइ अहे णं जोयणं, एगेणेव समएणं तिरियं दिवड्ढं गच्छइ, उड्ढं दो जोयणाणि सक्को। —चूर्णिकार, भगवती. अ. वृत्ति, प. १७८

(ख) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १७८–१७९

इन्द्रादि के गमन का यंत्र—

गमनकर्त्ता	गमनकाल	ऊर्ध्व	तिर्यक्	अधः
शक्रेन्द्र	१ समय	८ कोश (दो योजन)	६ कोश = १॥ योजन	४ कोश (१ योजन)
चमरेन्द्र	१ समय	त्रिभागन्यून ३ कोश	त्रिभागन्यून ६ कोश = १॥ योजन	८ कोश (२ योजन)
वज्र	१ समय	४ कोश (१ योजन)	त्रिभागसहित ३ कोश	त्रिभागन्यून ४ कोश = १ योजन

नमंसित्ता एवं वदासि—'एवं खलु भंते ! मए तुब्भं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासादिए जाव तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पियाणं जस्स म्हि पभावेणं अक्किट्ठे जाव विहरामि। तं खामेमि णं देवाणुप्पिया !' जाव उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, २ त्ता जाव बत्तीसइबद्धं नट्टविहिं उवदंसेइ, २ जामेव दिसिं पादुब्भूए तामेव दिसिं पडिगते।

[४३] उस समय नष्ट मानसिक संकल्प वाले यावत् आर्तध्यान करते हुए असुरेन्द्र असुरराज चमर को, सामानिक परिषद् में उत्पन्न देवों ने देखा तो वे हाथ जोड़ कर यावत् इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! आज आपका मानसिक संकल्प नष्ट हो गया हो, (इस तरह) यावत् क्यों चिन्ता में डूबे हैं ?' इस पर असुरेन्द्र असुरराज चमर ने, उन सामानिक परिषद् में उत्पन्न देवों से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! मैंने स्वयमेव (अकेले ही) श्रमण भगवान् महावीर का आश्रय (निश्राय) ले कर, देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से नष्टभ्रष्ट करने का मनोगत संकल्प किया था। (तदनुसार मैंने सुधर्मा सभा में जा कर उपद्रव किया था।) उससे अत्यन्त कुपित हो कर मुझे मारने के लिए शक्रेन्द्र ने मुझ पर वज्र फेंका था। परन्तु देवानुप्रियो ! भला हो, श्रमण भगवान् महावीर का, जिनके प्रभाव से मैं अक्लिष्ट (क्लेशरहित), अव्यथित (व्यथा—पीड़ा से रहित) तथा अपरितापित (परिताप-रहित) रहा; और असंतप्त (सुखशान्ति से युक्त) हो कर यहाँ आ पाया हूँ, यहाँ समवसृत हुआ हूँ, यहाँ पहुँचा (सम्प्राप्त हुआ) हूँ और आज यहाँ मौजूद हूँ।'

'अतः हे देवानुप्रियो ! हम सब चलें और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करें, यावत् उनकी पर्युपासना करें।' (भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—हे गौतम !) यों विचार करके वह चमरेन्द्र अपने चौसठ हजार सामानिक देवों के साथ, यावत् सर्व-ऋद्धि-पूर्वक यावत् उस श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, जहाँ मैं था, वहाँ मेरे समीप आया। मेरे निकट आकर तीन वार दाहिनी ओर से मेरी प्रदक्षिणा की। यावत् वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—'हे भगवन् ! आपका आश्रय ले कर मैं स्वयमेव (अकेला ही) देवेन्द्र देवराज शक्र को, उसकी शोभा से नष्टभ्रष्ट करने के लिए गया था, यावत् (पूर्वोक्त सारा वर्णन कहना) आप देवानुप्रिय का भला हो, कि जिनके प्रभाव से मैं क्लेशरहित होकर यावत् विचरण कर रहा हूँ। अतः हे देवानुप्रिय ! मैं (इसके लिए) आपसे क्षमा मांगता हूँ।' यावत् (यों कह कर वह) उत्तरपूर्वदिशाभाग (ईशानकोण) में चला गया। फिर यावत् उसने बत्तीस-विधा से सम्बद्ध नाट्यविधि (नाटक की कला) दिखलाई। फिर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापस लौट गया।

४४. एवं खलु गोयमा ! चमरेणं असुरिंदेण असुररण्णा सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया। ठिती सागरोवमं। महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

[४४] हे गौतम ! इस प्रकार से असुरेन्द्र असुरराज चमर को वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति एवं दिव्य देवप्रभाव उपलब्ध हुआ है, प्राप्त हुआ है और अभिसमन्वागत हुआ है। चमरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम की है और वह वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् समस्त दुःखों का अन्त करेगा।

विवेचन—चिन्तित चमरेन्द्र द्वारा भगवान् की सेवा में जाकर कृतज्ञता-प्रदर्शन, क्षमायाचन और नाट्यप्रदर्शन—प्रस्तुत सूत्रत्रय में शास्त्रकार ने चार तथ्यों का निरूपण किया है—

(१) वज्रभयमुक्त, किन्तु अपमानित हतप्रभ चमरेन्द्र की चिन्तित दशा।

(२) चिन्ता का कारण पूछे जाने पर चमरेन्द्र द्वारा सामानिकों को आपवीती कहना।

(३) भगवान् महावीर की सेवा में सदलबल पहुँचकर चमरेन्द्र द्वारा कृतज्ञताप्रदर्शन, क्षमायाचन एवं अन्त में नाट्य-प्रदर्शन करके पुनः गमन।

(४) चमरेन्द्र की दिव्यऋद्धि आदि से सम्बन्धित कथन का भगवान् द्वारा उपसंहार; अन्त में, मोक्षप्राप्तिरूप उज्ज्वल भविष्यकथन।[1]

असुरकुमारों के सौधर्मकल्प पर्यन्त गमन का कारणान्तर निरूपण—

४५. किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ?

गोयमा ! तेसि णं देवाणं अहुणोववन्नगाण वा चरिमभवत्थाण वा इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जति—अहो ! णं अम्हेहिं दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया। जारिसिया णं अम्हेहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया तारिसिया णं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया, जारिसिया णं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा जाव अभिसमन्नागया तारिसिया णं अम्हेहिं वि जाव अभिसमन्नागया। तं गच्छामो णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवामो, पासामो ता सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमन्नागयं। पासतु ताव अम्ह वि सक्के देविंदे देवराया दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमण्णागयं, तं जाणामो ताव सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमन्नागयं, जाणउ ताव अम्ह वि सक्के देविंदे देवराया दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमण्णागयं। एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चमरो समत्तो ॥

॥ तइए सए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

[४५ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देव यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर किस कारण से जाते हैं ?

[४५ उ.] गौतम ! (देवलोक में) अधुनोत्पन्न (तत्काल उत्पन्न) तथा चरमभवस्थ (च्यवन के लिए तैयार) उन देवों को इस प्रकार का, इस रूप का आध्यात्मिक (आन्तरिक अध्यवसाय) यावत् मनोगत संकल्प उत्पन्न होता है—अहो ! हमने दिव्य देवऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है, अभिसमन्वागत की है। जैसी दिव्य देवऋद्धि हमने यावत् उपलब्ध की है, यावत् अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देव-ऋद्धि यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है यावत् अभिसमन्वागत की है, (इसी प्रकार) जैसी दिव्य देवऋद्धि यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है यावत्

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) (पं. बेचरदासजी) भा. १ पृ. १५३–१५४

अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि यावत् हमने भी उपलब्ध यावत् अभिसमन्वागत की है। अतः हम जाएँ और देवेन्द्र देवराज शक्र के निकट (सम्मुख) प्रकट हों एवं देवेन्द्र देवराज शक्र द्वारा प्राप्त यावत् अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को देखें; तथा हमारे द्वारा लब्ध, प्राप्त एवं अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को देवेन्द्र देवराज शक्र देखें। देवेन्द्र देवराज शक्र द्वारा लब्ध यावत् अभिसमन्वागत दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को हम जानें, और हमारे द्वारा उपलब्ध यावत् अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् देवप्रभाव को देवेन्द्र देवराज शक्र जानें। हे गौतम ! इस कारण (प्रयोजन) से असुरकुमार देव यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' ऐसा कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करने लगे।

चमरेन्द्र-सम्बन्धी वृत्तान्त पूर्ण हुआ।

विवेचन— असुरकुमार देवों के सौधर्मकल्पपर्यन्त गमन का प्रयोजन—प्रस्तुत सूत्र में असुरकुमार देवों द्वारा ऊपर सौधर्म देवलोक तक जाने का कारण प्रस्तुत किया गया है। वे शक्रेन्द्र की देवऋद्धि आदि से चकित होकर उसकी देवऋद्धि आदि देखने-जानने और अपनी देवऋद्धि दिखाने-बताने हेतु सौधर्मकल्पपर्यन्त जाते हैं।

तब और अब के ऊर्ध्वगमन और गमनकर्त्ता में अन्तर—पूर्वप्रकरण में असुरकुमार देवों के ऊर्ध्वगमन का कारण भव-प्रत्ययिक वैरानुबन्ध (जन्मजात शत्रुता) बताया गया था; जबकि इस प्रकरण में ऊर्ध्वगमन का कारण बताया गया है—शक्रेन्द्र की देवऋद्धि आदि को देखना-जानना तथा अपनी दिव्यऋद्धि आदि को दिखाना-बताना। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वगमनकर्त्ता भी यहाँ दो प्रकार के असुरकुमार देव बताये गए हैं—या तो वे अधुना (तत्काल) उत्पन्न होते हैं, या वे देवभव से च्यवन करने की तैयारी वाले होते हैं।[1]

॥ तृतीयशतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८१

(ख) भगवतीसूत्र विवेचनयुक्त (पं. घेवरचन्दजी), भा. २, पृ. ६५०

तइओ उद्देसओ : 'किरिया'

तृतीय उद्देशक : 'क्रिया'

क्रियाएँ : प्रकार और तत्सम्बन्धित चर्चा—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव अंतेवासी मंडियपुत्ते णामं अणगारे पगतिभद्दए जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[१] उस काल और उस समय में 'राजगृह' नामक नगर था; यावत् परिषद् (धर्मकथा सुन) वापस चली गई।

उस काल और उस समय में भगवान् के अन्तेवासी (शिष्य—भगवान् महावीर स्वामी के छठे गणधर) प्रकृति (स्वभाव) से भद्र मण्डितपुत्र नामक अनगार यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

२. कति णं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ?

मंडियपुत्ता! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काइया अहिगरणिया पाओसिया पारियावणिया पाणातिवातकिरिया।

[२ प्र.] भगवन्! क्रियाएँ कितनी कही गई हैं?

[२ उ.] हे मण्डितपुत्र! क्रियाएं पांच कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया।

३. काइया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता?

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अणुवरयकायकिरिया य दुप्पउत्तकायकिरिया य।

[३ प्र.] भगवन्! कायिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है?

[३ उ.] मण्डितपुत्र! कायिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—अनुपरतकाय-क्रिया और दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया।

४. अधिगरणिया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता?

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजोयणाहिगरणकिरिया य निव्वत्तणाहिगरण-किरिया य।

[४ प्र.] भगवन्! आधिकरणिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है?

[४ उ.] मण्डितपुत्र! आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—संयोजनाधिकरण-क्रिया और निर्वर्तनाधिकरण-क्रिया।

५. पादोसिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीवपादोसिया य अजीवपादोसिया य ।

[५ प्र.] भगवन् ! प्राद्वेषिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[५ उ.] मण्डितपुत्र ! प्राद्वेषिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार—जीव-प्राद्वेषिकी क्रिया और अजीव-प्राद्वेषिकी क्रिया ।

६. पारितावणिया णं भंते ! किरिया कइविहा पण्णत्ता ?

मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सहत्थपारितावणिगा य परहत्थपारितावणिगा य ।

[६ प्र.] भगवन् ! पारितापनिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[६ उ.] मण्डितपुत्र ! पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार—स्वहस्तपारितापनिकी और परहस्तपारितापनिकी ।

७. पाणातिवातकिरिया णं भंते ! ० पुच्छा ।

मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सहत्थपाणातिवातकिरिया य परहत्थपाणातिवातकिरिया य ।

[७ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात-क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[७ उ.] मण्डितपुत्र ! प्राणातिपात-क्रिया दो प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार—स्वहस्त-प्राणातिपात-क्रिया और परहस्त-प्राणातिपात-क्रिया ।

८. पुव्वि भंते ! किरिया पच्छा वेदणा ? पुव्वि वेदणा पच्छा किरिया ।

मंडियपुत्ता ! पुव्वि किरिया, पच्छा वेदणा; णो पुव्वि वेदणा, पच्छा किरिया ।

[८ प्र.] भगवन् ! पहले क्रिया होती है, और पीछे वेदना होती है ? अथवा पहले वेदना होती है, पीछे क्रिया होती है ?

[८ उ.] मण्डितपुत्र ! पहले क्रिया होती है, वाद में वेदना होती है; परन्तु पहले वेदना हो और पीछे क्रिया हो, ऐसा नहीं होता ।

९. अत्थि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?

हंता, अत्थि ।

[९ प्र.] भगवन् ! क्या श्रमण-निर्ग्रन्थों के (भी) क्रिया होती (लगती) है ?

[९ उ.] हाँ, (मण्डितपुत्र ! उनके भी क्रिया) होती (लगती) है ।

१०. कहं णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?

मंडियपुत्ता ! पमायपच्चया जोगनिमित्तं च, एवं खलु समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जति ।

[१० प्र.] भगवन् ! श्रमण निर्ग्रन्थों के क्रिया कैसे (किस निमित्त से) हो (लग) जाती है ?

[१० उ.] मण्डितपुत्र ! प्रमाद के कारण और योग (मन-वचन-काया के व्यापार=प्रवृत्ति) के निमित्त से (उनके क्रिया होती है)। इन्हीं दो कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थों को क्रिया होती (लगती) है।

विवेचन—क्रियाएँ : प्रकार और तत्सम्बन्धित चर्चा—प्रस्तुत १० सूत्रों (१ से १० सू. तक) में भगवान् और मण्डितपुत्र गणधर के बीच हुआ क्रिया-विषयक संवाद प्रस्तुत किया गया है। इसमें क्रमशः निम्नोक्त तथ्यों का निरूपण किया गया है—

(१) क्रियाएँ मूलतः पांच हैं।

(२) पांचों क्रियाओं के प्रत्येक के अवान्तर भेद दो-दो हैं।

(३) पहले क्रिया होती है और तत्पश्चात् वेदना; यह जैनसिद्धान्त है।

(४) श्रमणनिर्ग्रन्थों के भी क्रिया होती है और वह दो कारणों से होती है—प्रमाद से और योग के निमित्त से।

क्रिया—क्रिया के सम्बन्ध में भगवती, प्रज्ञापना, और स्थानांग आदि कई शास्त्रों में यत्र-तत्र प्रचुर चर्चाएँ हैं। भगवतीसूत्र के प्रथमशतक में भी दो जगह इसके सम्बन्ध में विविध पहलुओं से चर्चा की गई है। और वहाँ प्रज्ञापनासूत्र का अतिदेश भी किया गया है[1], तथापि यहाँ क्रियासम्बन्धी मौलिक चर्चाएँ हैं। क्रिया का अर्थ जैनदृष्टि से केवल करना ही नहीं है, अपितु उसका अर्थ है—कर्मबन्ध होने में कारणरूप चेष्टा; फिर वह चेष्टा चाहे कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो, जब तक जीव क्रियारहित नहीं हो जाता, तब तक कुछ न कुछ[2] कर्मबन्धनकारिणी है ही।

पांच क्रियाओं का अर्थ—**कायिकी**=काया में या काया से होने वाली। **आधिकरणिकी**= जिससे आत्मा नरकादिदुर्गतियों में जाने का अधिकारी बनता है, ऐसा कोई अनुष्ठान-कार्य, अथवा तलवार, चक्रादि शस्त्र वगैरह अधिकरण कहलाता है। ऐसे अधिकरण में या अधिकरण से होनेवाली क्रिया। **प्राद्वेषिकी**—प्रद्वेष (या मत्सर) में या प्रद्वेष के निमित्त से हुई अथवा प्रद्वेषरूप क्रिया। **पारितापनिकी**—परिताप—पीड़ा पहुँचाने से होने वाली क्रिया। **प्राणातिपातिकी**=प्राणियों के प्राणों के अतिपात (वियोग या नाश) से हुई क्रिया।[3]

क्रियाओं के प्रकार की व्याख्या—**अनुपरतकायक्रिया**—प्राणातिपात आदि से सर्वथा अविरत—त्यागवृत्तिरहित प्राणी की शारीरिकक्रिया। यह क्रिया अविरत जीवों को लगती है। **दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया**—दुष्टरूप (बुरी तरह) से प्रयुक्त शरीर द्वारा अथवा दुष्टप्रयोग वाले मनुष्यशरीर द्वारा हुई क्रिया।

---

१. (क) इसी से मिलता जुलता पाठ—प्रज्ञापनासूत्र २२ एवं ३१वें क्रियापद में देखिये।
—प्रज्ञापना म. वृत्ति, आगमोदय० पृ. ४३५-४५३

(ख) भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ८

(ग) स्थानांगसूत्र, स्थान ३

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८१

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८१

यह क्रिया प्रमत्त संयत को भी प्रमादवश शरीर दुष्प्रयुक्त होने से लगती है। **संयोजनाधिकरणक्रिया**= संयोजन का अर्थ है—जोड़ना। जैसे—पक्षियों और मृगादि पशुओं को पकड़ने के लिए पृथक्-पृथक् अवयवों को जोड़कर एक यंत्र तैयार करना, अथवा किसी भी पदार्थ में विष मिलाकर एक मिश्रित पदार्थ तैयार करना संयोजन है। ऐसी संयोजनरूप अधिकरणक्रिया। **निर्वर्तनाधिकरणक्रिया**=तलवार, बर्छी, भाला आदि शस्त्रों का निर्माण निर्वर्तन है। ऐसी निर्वर्तनरूप अधिकरण क्रिया। **जीवप्राद्वेषिकी**—अपने या दूसरे के जीव पर द्वेष करना या द्वेष करने से लगने वाली क्रिया। **अजीव प्राद्वेषिकी**—अजीव (चेतनारहित) पदार्थ पर द्वेष करना अथवा द्वेष करने से होने वाली क्रिया। **स्वहस्तपारितापनिकी**= अपने हाथ से अपने को, दूसरे को अथवा दोनों को परिताप देना—पीड़ा पहुँचाना। **परहस्तपारितापनिकी**—दूसरे को प्रेरणा देकर या दूसरे के निमित्त से परिताप—पीड़ा पहुँचाना। **स्वहस्तप्राणातिपातिकी**—अपने हाथ से—स्वयं अपने प्राणों का, दूसरे के प्राणों का अथवा दोनों के प्राणों का अतिपात—विनाश करना। **परहस्तप्राणातिपातिकी**=दूसरे के द्वारा या दूसरे के प्राणों का अथवा दोनों के प्राणों का अतिपात करना।[1]

क्रिया और वेदना में क्रिया प्रथम क्यों?—क्रिया कर्म की जननी है, क्योंकि कर्म क्रिया से ही बद्ध होते हैं, अथवा जन्य और जनक में अभेद की कल्पना करने से क्रिया ही कर्म है; या जो की जाती है, वह क्रिया—एक प्रकार का कर्म ही है। तथा वेदना का अर्थ होता है—कर्म का अनुभव करना। पहले कर्म होगा, तभी उसकी वेदना—अनुभव (कर्मफल भोग) होगा। अतः वेदन कर्म (क्रिया) पूर्वक होने से न्यायतः क्रिया ही पहले होती है, वेदना उसके बाद।[2]

श्रमणनिर्ग्रन्थ की क्रिया : प्रमाद और योग से—सर्वथा विरत श्रमणों को भी प्रमाद और योग के निमित्त से क्रिया लगती है; इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण जब उपयोगरहित (यतनारहित अथवा दूसरे शब्दों में, मद, विषयासक्ति, कषाय, निद्रा, विकथा आदि के वश) हो कर गमनादि क्रिया करता है, तब वह क्रिया प्रमादजन्य कहलाती है। तथा जब कोई श्रमण उपयोगयुक्त हो कर गमनादि क्रिया मन-वचन-काय (योग) से करता है तब वह ऐर्यापथिकी क्रिया योगजन्य कहलाती है।[3]

सक्रिय-अक्रिय जीवों की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण—

११. जीवे णं भंते! सया समियं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरति तं तं भावं परिणमति?

हंता, मंडियपुत्ता! जीवे णं सया समितं एयति जाव तं तं भावं परिणमति।

[११ प्र.] भगवन्! क्या जीव सदा समित (मर्यादित) रूप में कांपता है, विविध रूप में कांपता है, चलता है (एक स्थान से दूसरे स्थान जाता है), स्पन्दन क्रिया करता (थोड़ा या धीमा चलता) है, घट्टित होता (सर्व दिशाओं में जाता—घूमता) है, क्षुब्ध (चंचल) होता है, उदीरित (प्रबलरूप से प्रेरित) होता या करता है; और उन-उन भावों में परिणत होता है?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८१-१८२

२. वही, अ. वृत्ति, पत्रांक १८२

३. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८२

(ख) भगवती० विवेचन (पं० घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ६५६

[११ उ.] हाँ, मण्डितपुत्र ! जीव सदा समित—(परिमित) रूप से कांपता है, यावत् उन-उन भावों में परिणत होता है।

१२. [१] जावं च णं भंते ! से जीवे सया समितं जाव परिणमति तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवति ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सदा समितं जाव अंते अंतकिरिया न भवति ?

मंडियपुत्ता ! जावं च णं से जीवे सया समितं जाव परिणमति तावं च णं से जीवे आरभति सारभति समारभति, आरंभे वट्टति, सारंभे वट्टति, समारंभे वट्टति, आरभमाणे सारभमाणे समारभमाणे, आरंभे वट्टमाणे, सारंभे वट्टमाणे, समारंभे वट्टमाणे बहूणं पाणाणं भूताणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खावणताए सोयावणताए जूरावणताए तिप्पावणताए पिट्टावणताए परितावणताए[1] वट्टति, से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता ! एवं वुच्चति—जावं च णं से जीवे सया समितं एयति जाव परिणमति तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवति।

[१२-प्र.] भगवन् ! जब तक जीव समित—परिमित रूप से कांपता है, यावत् उन-उन भावों में परिणत (परिवर्तित) होता है, तब तक क्या उस जीव की अन्तिम-(मरण) समय में अन्तक्रिया (मुक्ति) होती है ?

[१२-१ उ.] मण्डितपुत्र ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है; (क्योंकि जीव जब तक क्रियायुक्त है, तब तक अन्तक्रिया (क्रिया का अन्तरूप मुक्ति नहीं हो सकती।)

[१२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जब तक जीव समितरूप से सदा कांपता है, यावत् उन-उन भावों में परिणत होता है, तब तक उसकी अन्तिम समय में अन्तक्रिया नहीं होती ?

[१२-२ उ.] हे मण्डितपुत्र ! जीव जब तक सदा समित रूप से कांपता है, यावत् उन-उन भावों में परिणत होता है, तब तक वह (जीव) आरम्भ करता है, संरम्भ में रहता है, समारम्भ करता है; आरम्भ में रहता (वर्तता) है, संरम्भ में रहता (वर्तता) है, और समारम्भ में रहता (वर्तता) है। आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ करता हुआ तथा आरम्भ में, संरम्भ में, और समारम्भ में, प्रवर्त्तमान जीव, बहुत-से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख पहुँचाने में, शोक कराने में, झूराने (विलाप कराने) में, रुलाने अथवा आँसू गिरवाने में, पिटवाने में, (थकाने-हैरान करने में, डराने-धमकाने या त्रास पहुँचाने में) और परिताप (पीड़ा) देने (संतप्त करने) में प्रवृत्त होता (निमित्त बनता) है। इसलिए हे मण्डितपुत्र ! इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि जब तक जीव सदा

१. यहाँ 'किलामणयाए उद्दवणयाए' इस प्रकार का अधिक पाठ मिलता है। इनका अर्थ मूलार्थ में कोष्ठक में दे दिया है।—सं०

समितरूप से कम्पित होता है, यावत् उन-उन भावों में परिणत होता है, तब तक वह जीव, अन्तिम समय (मरणकाल) में अन्तक्रिया नहीं कर सकता।

१३. जीवे णं भंते ! सया समियं नो एयति जाव नो तं तं भावं परिणमति ?

हंता, मंडियपुत्ता ! जीवे णं सया समियं जाव नो परिणमति।

[१३-प्र.] भगवन् ! जीव, सदैव (शाश्वतरूप से) समितरूप से ही कम्पित नहीं होता, यावत् उन-उन भावों में परिणत नहीं होता ?

[१३-उ.] हाँ, मण्डितपुत्र ! जीव सदा के लिए समितरूप से ही कम्पित नहीं होता, यावत् उन-उन भावों में परिणत नहीं होता। (अर्थात्—जीव एकदिन क्रियारहित हो सकता है।)

१४. [१] जावं च णं भंते ! से जीवे नो एयति जाव नो तं तं भावं परिणमति तावं च णं तस्स जीवस्स अते अंतकिरिया भवति ?

हंता, जाव भवति।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! जब वह जीव सदा के लिए समितरूप से कम्पित नहीं होता, यावत् उन-उन भावों में परिणत नहीं होता; तब क्या उस जीव की अन्तिम समय में अन्तक्रिया (मुक्ति) नहीं हो जाती ?

[१४-१ उ.] हाँ, (मण्डितपुत्र !) ऐसे यावत् जीव की अन्तिम समय में अन्तक्रिया (मुक्ति) हो जाती है।

[२] से केणट्ठे णं भंते ! जाव भवति ?

मंडियपुत्ता ! जावं च णं से जीवे सया समियं णो एयति जाव णो परिणमइ तावं च णं से जीवे नो आरभति, नो सारभति, नो समारभति, नो आरंभे वट्टइ, णो सारंभे वट्टइ, णो समारंभे वट्टइ, अणारभमाणे असारभमाणे असमारभमाणे, आरंभे अवट्टमाणे, सारंभे अवट्टमाणे, समारंभे अवट्टमाणे बहूणं पाणाणं ४ अदुक्खावणयाए जाव अपरियावणयाए वट्टइ।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि ऐसे जीव की यावत् अन्तक्रिया—मुक्ति हो जाती है ?

[१४-२ उ.] मण्डितपुत्र ! जब वह जीव सदा (के लिए) समितरूप से (भी) कम्पित नहीं होता, यावत् उन-उन भावों में परिणत नहीं होता, तब वह जीव आरम्भ नहीं करता, संरम्भ नहीं करता एवं समारम्भ भी नहीं करता, और न ही वह जीव आरम्भ में, संरम्भ में एवं समारम्भ में प्रवृत्त होता है। आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ नहीं करता हुआ तथा आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ में प्रवृत्त न होता हुआ जीव, बहुत-से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख पहुँचाने में यावत् परिताप उत्पन्न करने में प्रवृत्त (या निमित्त) नहीं होता।

[३] से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जाततेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ ? हंता,मसमसाविज्जइ ।

[१४-३] (भगवान्—) 'जैसे, (कल्पना करो,) कोई पुरुष सूखे घास के पूले (तृण के मुट्ठे) को अग्नि में डाले तो क्या मण्डितपुत्र ! वह सूखे घास का पूला अग्नि में डालते ही शीघ्र जल जाता है ? (मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! वह शीघ्र ही जल जाता है ।

[४] से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदयबिंदु पक्खिवेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! से उदयबिंदू तत्तंसि अयकवल्लंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ ? हंता, विद्धंसमागच्छइ ।

[१४-४] (भगवान्—) (कल्पना करो) जैसे कोई पुरुष तपे हुए लोहे के कड़ाह पर पानी की बूंद डाले तो क्या मण्डितपुत्र ! तपे हुए लोहे के कड़ाह पर डाली हुई वह जलबिन्दु अवश्य ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ? (मण्डितपुत्र—) हां, भगवन् ! वह जलबिन्दु शीघ्र नष्ट हो जाती है ।

[५] से जहानामए हरए सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठति ? हंता चिट्ठति । अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरयंसि एगं महं नावं सतासवं सयच्छिद्दं ओगाहेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! सा नावा तेहिं आसवद्दारेहिं आपूरेमाणी २ पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति ? हंता, चिट्ठति । अहे णं केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वतो समंता आसवद्दाराइं पिहेइ, २ नावाउस्सिंचणएणं उदयं उस्सिंचिज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! सा नावा तंसि उदयंसि उस्सित्तंसि समाणंसि खिप्पामेव उड्ढं उद्दाति ? हंता, उद्दाति । एवामेव मंडियपुत्ता ! अत्तत्तासंवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स जाव गुत्तबंभयारिस्स, आउत्तं गच्छमाणस्स चिट्ठमाणस्स निसीयमाणस्स तुयट्टमाणस्स, आउत्तं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पादपुछणं गेण्हमाणस्स, निक्खिवमाणस्स जाव चक्खुपम्हनिवायमवि वेमाया[1] सुहुमा इरियावहिया किरिया कज्जइ । सा पढमसमयबद्धपुट्ठा बितियसमयवेतिता ततियसमयनिज्जरिया, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेदिया निज्जिण्णा सेयकाले अकम्मं चावि भवति । से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता ! एवं वुच्चति—जावं च णं से जीवे सया समितं नो एयति जाव अंते अंतकिरिया भवति ।

[१४-५] (भगवान्—) (मान लो,) 'कोई एक सरोवर है, जो जल से पूर्ण हो, पूर्णमात्रा में पानी से भरा हो, पानी से लबालब भरा हो, बढ़ते हुए पानी के कारण उसमें से पानी छलक रहा हो, पानी से भरे हुए घड़े के समान क्या उसमें पानी व्याप्त हो कर रहता है ?'

(मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! उसमें पानी व्याप्त हो कर रहता है ।

(भगवान्—) अब उस सरोवर में कोई पुरुष, सैकड़ों छोटे छिद्रों वाली तथा सैकड़ों बड़े छिद्रों वाली एक बड़ी नौका को उतार दे, तो क्या मण्डितपुत्र ! वह नौका उन छिद्रों (पानी आने के

---

१. पाठान्तर—वेमाया के स्थान में कहीं 'संपेहाए' पाठ है । जिसका अर्थ है—स्वेच्छा से ।

द्वारों) द्वारा पानी से भरती-भरती जल से परिपूर्ण हो जाती है ? पूर्णमात्रा में उसमें पानी भर जाता है ? पानी से वह लबालब भर जाती है ? उसमें पानी बढ़ने से छलकने लगता है ? (और अन्त में) वह (नौका) पानी से भरे घड़े की तरह सर्वत्र पानी से व्याप्त हो कर रहती है ?

(मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! वह पूर्वोक्त प्रकार से जल से व्याप्त होकर रहती है। यदि कोई पुरुष उस नौका के समस्त छिद्रों को चारों ओर से बन्द कर (ढक) दे, और वैसा करके नौका की उलीचनी (पानी उलीचने के उपकरणविशेष) से पानी को उलीच दे (जल के उदय—ऊपर उठने को रोक दे,) तो हे मण्डितपुत्र ! नौका के पानी को उलीच कर खाली करते ही क्या वह शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है ?

(मण्डितपुत्र—) हाँ भगवन् ! (वैसा करने से, वह तुरन्त) पानी के ऊपर आ जाती है।

(भगवान्—) हे मण्डितपुत्र ! इसी तरह अपनी आत्मा द्वारा आत्मा में संवृत हुए, ईर्यासमिति आदि पांच समितियों से समित तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से गुप्त, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों से गुप्त (सुरक्षित), उपयोगपूर्वक गमन करने वाले, ठहरने वाले, बैठने वाले, करवट बदलने वाले तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन रजोहरण (आदि धर्मोपकरणों को सावधानी (उपयोग) के साथ उठाने और रखने वाले अनगार को भी अक्षिनिमेष-(आँख की पलक झपकाने) मात्र समय में विमात्रापूर्वक सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया लगती है। वह (क्रिया) प्रथम समय में बद्ध-स्पष्ट द्वितीय समय में वेदित और तृतीय समय में निर्जीर्ण (क्षीण) हो जाती है। (अर्थात्—) वह बद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण क्रिया भविष्यत्काल में अकर्मरूप भी हो जाती है। इसी कारण से, हे मण्डितपुत्र ! ऐसा कहा जाता है कि जब वह जीव सदा (के लिए) समितरूप से भी कम्पित नहीं होता, यावत् उन-उन भावों में परिणत नहीं होता, तब अन्तिम समय में (जीवन के अन्त में) उसकी अन्तक्रिया (मुक्ति) हो जाती है।

विवेचन—सक्रिय-अक्रिय जीवों की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ११ से १४ तक) में प्रतिपादित किया गया है, कि जब तक जीव में किसी न किसी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल क्रिया है, तब तक उसकी अन्तक्रिया नहीं हो सकती। सूक्ष्मक्रिया से भी रहित होने पर जीव की अन्तिम समय में अन्तक्रिया (मुक्ति) होती है। अन्तक्रिया के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने क्रमशः निम्नोक्त तथ्यों का प्ररूपण किया है—(१) जब तक जीव कम्पन, चलन, स्पन्दन, भ्रमण, क्षोभन, उदीरण आदि विविध क्रियाएँ करता है, तब तक उस जीव की अन्तक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि इन क्रियाओं के कारण जीव आरम्भ, संरम्भ, समारम्भ में प्रवर्तमान होकर नाना जीवों को दुःख पहुँचाता एवं पीड़ित करता है। अतः क्रिया से कर्मबन्ध होते रहने के कारण वह अकर्मरूप (क्रियारहित) नहीं हो सकता।

(२) जीव सदा के लिए क्रिया न करे, ऐसी स्थिति आ सकती है, और जब ऐसी स्थिति आती है, तब वह सर्वथा क्रियारहित होकर अन्तक्रिया (मुक्ति) प्राप्त कर सकता है।

(३) जब क्रिया नहीं होगी तब क्रियाजनित आरंभादि नहीं होगा, और न ही उसके फलस्वरूप कर्मबन्ध होगा, ऐसी अकर्मस्थिति में अन्तक्रिया होगी ही।

(४) इसे स्पष्टता से समझाने के लिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं—(१) सूखे घास के पूले को अग्नि में डालते ही वह जल कर भस्म हो जाता है (२) तपे हुए लोहे के कड़ाह पर डाली गई जल की बूंद

तुरन्त सूख कर नष्ट हो जाती है; इसी प्रकार कम्पनादिक्रियारहित मनुष्य के कर्मरूप ईन्धन शुक्ल-ध्यान के चतुर्थभेदरूप अग्नि में जल कर भस्म हो जाते हैं, सूखकर नष्ट हो जाते हैं।

(५) **तीसरा दृष्टान्त**—जैसे सैकड़ों छिद्रों वाली नौका छिद्रों द्वारा पानी से लबालब भर जाती है, किन्तु कोई व्यक्ति नौका के समस्त छिद्रों को बन्द करके नौका में भरे हुए सारे पानी को उलीच कर बाहर निकाल दे तो वह नौका तुरन्त पानी के ऊपर आ जाती है; इसी प्रकार आश्रवरूप छिद्रों द्वारा कर्मरूपी पानी से भरी हुई जीवरूपी नौका को, कोई आत्म-संवृत एवं उपयोग-पूर्वक समस्त क्रिया करने वाला अनगार आश्रवद्वारों (छिद्रों) को बन्द कर देता है और निर्जरा द्वारा संचित कर्मों को रिक्त कर देता है, ऐसी स्थिति में केवल ऐर्यापथिकी क्रिया उसे लगती है, वह भी प्रथम समय में बद्ध-स्पृष्ट होती है, द्वितीय समय में उदीरित एवं वेदित हो जाती है और तृतीय समय में वह जीव-प्रदेशों से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाती है। इस प्रकार की अक्रिय—आश्रवरहित अकर्म-रूप स्थिति में जीवरूपी नौका ऊपर आकर तैरती है। वह क्रियारहित व्यक्ति संसारसमुद्र से तिर कर अन्तक्रियारूप मुक्ति पा लेता है।[1]

विविध क्रियाओं का अर्थ—एयति—कम्पित होता है। **वेयति**=विविध प्रकार से कांपता है। **चलति**=स्थानान्तर करता है, गमनागमन करता है। **फंदइ**=थोड़ी-सी, धीमी-सी हल-चल करता है। **घट्टइ**=सब दिशाओं में चलता है। **खुब्भइ**=क्षुब्ध—चंचल होता है या पृथ्वी को क्षुब्ध कर देता है अथवा दूसरे पदार्थ को स्पर्श करता है, डरता है। **उदीरति**=प्रबलता से प्रेरित करता है, दूसरे पदार्थों को हिलाता है। तं तं भावं **परिणमति**=उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण आदि उस-उस भाव=क्रिया-पर्याय (परिणाम) को प्राप्त होता है। एजन (कम्पन) आदि क्रियाएँ क्रमपूर्वक और सामान्य रूप से सदैव होती हैं।

आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ—क्रम यों है—**संरम्भ**=पृथ्वीकायादि जीवों की हिंसा करने का संकल्प करना, **समारम्भ**=उन्हें परिताप-संताप देना, तथा **आरम्भ**=उन जीवों की हिंसा करना।

'दुक्खावणताए' आदि पदों की व्याख्या—**दुक्खावणयाए**=मरणरूप या इष्टवियोगादिरूप दुःख पहुँचाने में। **सोयावणताए**=शोक, चिन्ता या दैन्य में डाल देने में। **जूरावणताए**=झूराने, अत्यन्त शोक के बढ़ जाने से शरीर को जीर्णता-क्षीणता में पहुँचा देने में। **तिप्पावणताए**=रुलाने या आँसू गिरवाने में। **पिट्टावणताए**=पिटवाने में। **अंतकिरिया**=समस्त कर्मध्वंसरूप स्थिति, मुक्ति। **तणहत्थयं**=घास का पूला। **मसमसाविज्जइ**=जल जाता है। **जायतेयंसि**=अग्नि में। **तत्तंसि अयक-वल्लंसि**=तपे हुए लोहे के कड़ाह में। **वोलट्टमाणा**=लबालब भरी हो। **वोसट्टमाणा**=पानी छलक रहा हो। **उड्ढं उद्दाति**=ऊपर आ जाती है। **अत्तत्तासंवुडस्स**=आत्मा द्वारा आत्मा में संवृत हुए।

आउत्तं=उपयोगयुक्त। **तुयट्टमाणस्स**=करवट बदलते हुए। **वेमाया**=विमात्रा से—थोड़ी-सी मात्रा से भी। **सपेहाय**=स्वेच्छा से। **सुहुमा**=सूक्ष्मबंधादिरूप काल वाली। **ईरियावहिया**=केवल योगों से जनित ईर्यापथिकी क्रिया। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) (पं. बेचरदासजी) भा. १, पृ. १५६ से १५८ तक
(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) पं. बेचरदासजी खण्ड २, पृ. ७६ से ८० तक

वीतरागों में जब तक ऐसी सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया रहती है, तब तक उनके सातावेदनीय कर्मबन्ध होता है।[1]

प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमी के प्रमत्तसंयम और अप्रमत्तसंयम के सर्वकाल का प्ररूपण—

१५. पमत्तसंजयस्स णं भंते ! पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं पमत्तद्धा कालतो केवच्चिरं होति ?

मंडियपुत्ता ! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धा।

[१५ प्र.] भगवन् ! प्रमत्त-संयम में प्रवर्त्तमान प्रमत्तसंयत का सब मिला कर प्रमत्तसंयम-काल कितना होता है ?

[१५ उ.] मण्डितपुत्र ! एक जीव की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-(काल प्रमत्तसंयम का काल) होता है। अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल (सर्वाद्धा) (प्रमत्तसंयम का काल) होता है।

१६. अप्पमत्तसंजयस्स णं भंते ! अप्पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं अप्पमत्तद्धा कालतो केवच्चिरं[2] होति ?

मंडियपुत्ता ! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी देसूणा। णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धं।

सेवं भंते ! २ त्ति भगवं मंडियपुत्ते अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

[१६ प्र.] भगवन् ! अप्रमत्तसंयम में प्रवर्त्तमान अप्रमत्तसंयम का सब मिला कर अप्रमत्त-संयमकाल कितना होता है ?

[१६ उ.] मण्डितपुत्र ! एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-(काल अप्रमत्तसंयम का काल) होता है। अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल होता है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८३ से १८५ तक

(ख) भगवती विवेचन (पं घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ६५९ से ६६५ तक

(ग) **संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो।**
आरंभो उद्दवओ, सव्वनयाणं विसुद्धाणं॥

२. **'कालओ'** और **'केवच्चिरं'** ये दो एकार्थक पद देने का तात्पर्य है—**कालओ**=काल की अपेक्षा, **केवच्चिरं**= कितने काल तक।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !' यों कह कर भगवान् मण्डितपुत्र अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार करके वे संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमी के प्रमत्तसंयम एवं अप्रमत्तसंयम के सर्वकाल का प्ररूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों में क्रमशः प्रमत्तसंयमी के प्रमत्तसंयम के समग्रकाल का, तथा अप्रमत्तसंयमी के अप्रमत्तसंयम के समग्र काल का, एक जीव और अनेक जीवों की अपेक्षा से कथन किया गया है।[1]

प्रमत्तसंयम का काल एक समय कैसे ?—प्रमत्तसंयम प्राप्त करने के पश्चात् यदि तुरन्त एक समय बीतने पर ही प्रमत्तसंयमी की मृत्यु हो जाए, इस अपेक्षा से प्रमत्तसंयमी का जघन्यकाल एक समय कहा है।

अप्रमत्तसंयम का काल एक अन्तर्मुहूर्त्त क्यों ?—अप्रमत्तसंयम का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त इसलिए बताया गया है कि अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त्त के बीच में मरता नहीं है। उपशम श्रेणी करता हुआ जीव बीच में ही काल कर जाए इसके लिए जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त का बताया है। इसका उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-काल केवलज्ञानी की अपेक्षा से बताया गया है।[2] क्योंकि केवली भी अप्रमत्तसंयत की गणना में आते हैं। छठे गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान अप्रमत्त हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतगुणस्थान का अलग-अलग काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है, अर्थात् प्रमत्तसंयत अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् अप्रमत्तदशा में अवश्य आता है और सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत प्रमत्त-अवस्था में अवश्य आता है। किन्तु दोनों गुणस्थानों का मिलाकर देशोनपूर्व कोटि काल बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि संयमी का उत्कृष्ट आयुष्य देशोनपूर्वकोटि का ही है।

चतुर्दशी आदि तिथियों को लवणसमुद्रीय वृद्धि-हानि के कारण का प्ररूपण—

१७. 'भंते ! त्ति भगवं गोतमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ त्ता एवं वदासि—कम्हा णं भंते ! लवणसमुद्दे चाउद्दस-ऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु अतिरेयं वड्ढति वा हायति वा ?

लवणसमुद्दवत्तव्वया नेयव्वा जाव[3] लोयट्ठिती। जाव लोयाणुभावे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ ततिए सए : तइओ उद्देसो समत्तो ॥

[१७ प्र.] 'हे भगवन् !' यों कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'भगवन् ! लवणसमुद्र; चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी; इन चार तिथियों में क्यों अधिक बढ़ता या घटता है ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १५८

२. भगवतीसूत्र अ. वृ, पत्रांक १८३

३. 'जाव' शब्द सूचक पाठ—लोयट्ठिती। जं णं लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं दीवं णो उप्पीलेति। णो चेव णं एगोदगं करेइ। लोयाणुभावे। सेवं भंते !

[१७ उ.] हे गौतम ! जीवाभिगमसूत्र में लवणसमुद्र के सम्बन्ध में जैसा कहा है, वैसा यहाँ भी जान लेना चाहिए; यावत् 'लोकस्थिति' से 'लोकानुभाव' शब्द तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—चतुर्दशी आदि तिथियों में लवणसमुद्र की वृद्धि-हानि के कारण—प्रस्तुत सूत्र में गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए लवणसमुद्रीय वृद्धि-हानि के कारण-विषयक प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

वृद्धि-हानि का कारण—जीवाभिगम सूत्रानुसार चतुर्दशी आदि तिथियों में वायु के विक्षोभ से लवणसमुद्रीय जल में वृद्धि-हानि होती है, क्योंकि लवणसमुद्र के बीच में चारों दिशाओं में चार महापातालकलश हैं, जिनका प्रत्येक का परिमाण १ लाख योजन है। उसके नीचे के विभाग में वायु है, बीच के विभाग में जल और वायु है और ऊपर के भाग में केवल जल है। इन चार महापातालकलशों के अतिरिक्त और भी ७८८४ छोटे-छोटे पातालकलश हैं, जिनका परिमाण एक-एक हजार योजन का है, और उनमें भी क्रमशः वायु, जल-वायु और जल हैं। इनमें वायु-विक्षोभ के कारण इन तिथियों में जल में बढ़-घट होती है। दश हजार योजन चौड़ा लवणसमुद्र की शिखा है, तथा उसकी ऊँचाई १६ हजार योजन है, उसके ऊपर आधे योजन में जल की वृद्धि-हानि होती है। अरिहन्त आदि महापुरुषों के प्रभाव से लवणसमुद्र, जम्बूद्वीप को नहीं डुबा पाता। तथा लोकस्थिति या लोकप्रभाव ही ऐसा है।[1]

॥ तृतीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक

(ख) जीवाभिगम. सू. ३२४-३२५, पत्रांक ३०४-३०५

चउत्थो उद्देसओ : जाणं

चतुर्थ उद्देशक : यान

भावितात्मा अनगार की, वैक्रियकृत देवी-देव-यानादि-गमन तथा वृक्ष-मूलादि को जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—

१. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगइए देवं पासइ, णो जाणं पासइ १; अत्थेगइए जाणं पासइ, नो देवं पासइ २; अत्थेगइए देवं पि पासइ, जाणं पि पासइ ३; अत्थेगइए नो देवं पासइ, नो जाणं पासइ ४।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत हुए और यानरूप से जाते हुए देव को जानता देखता है ?

[१ उ.] गौतम ! (१) कोई (भावितात्मा अनगार) देव को तो देखता है, किन्तु यान को नहीं देखता; (२) कोई यान को देखता है, किन्तु देव को नहीं देखता; (३) कोई देव को भी देखता है और यान को भी देखता है; (४) कोई न देव को देखता है और न यान को देखता है।

२. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देविं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणिं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत हुई और यानरूप से जाती हुई देवी को जानता-देखता है ?

[२ उ.] गौतम ! जैसा देव के विषय में कहा, वैसा ही देवी के विषय में भी जानना चाहिए।

३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं सदेवीयं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगइए देवं सदेवीयं पासइ, नो जाणं पासइ। एएणं अभिलावेणं चत्तारि भंगा।

[३ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत तथा यानरूप से जाते हुए, देवीसहित देव को जानता-देखता है ?

[३ उ.] गौतम ! कोई (भावितात्मा अनगार) देवीसहित देव को तो देखता है, किन्तु यान को नहीं देखता; इत्यादि चार भंग पूर्ववत् कहने चाहिए।

४. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ, बाहिं पासइ ?

चउभंगो ।

[४-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के आन्तरिक भाग को (भी) देखता है अथवा (केवल) बाह्य भाग को देखता है ?

[४-१ उ.] (हे गौतम !) यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से चार भंग कहने चाहिए ।

[२] एवं किं मूलं पासइ, कंदं पा० ?

चउभंगो । मूलं पा० खंधं पा० ? चउभंगो ।

[४-२ प्र.] इसी तरह पृच्छा की—क्या वह (केवल) मूल को देखता है, (अथवा) कन्द को (भी) देखता है ? तथा क्या वह (केवल) मूल को देखता है, अथवा स्कन्ध को (भी) देखता है ?

[४-२ उ.] हे गौतम ! (दोनों पृच्छाओं के उत्तर में) चार-चार भंग पूर्ववत् कहने चाहिए ।

[३] एवं मूलेणं बीजं संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं संजोएयव्वं जाव बीयं । एवं जाव पुप्फेण समं बीयं संजोएयव्वं ।

[४-३] इसी प्रकार मूल के साथ बीज का संयोजन करके (पूर्ववत् पृच्छा करके उत्तर के रूप में) चार भंग कहने चाहिए । तथा कन्द के साथ यावत् बीज तक (के संयोगी चतुर्भंग) का संयोजन कर लेना चाहिए । इसी तरह यावत् पुष्प के साथ बीज (के संयोगी-असंयोगी चतुर्भंग) का संयोजन कर लेना चाहिए ।

५. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पा० बीयं पा० ?

चउभंगो ।

[५ प्र.] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार वृक्ष के (केवल) फल को देखता है, अथवा बीज को (भी) देखता है ?

[५ उ.] गौतम ! (यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से) चार भंग कहने चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार की जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—प्रस्तुत ५ सूत्रों (१ से ५ सू. तक) में भावितात्मा अनगार की देवादि तथा वृक्षादि विविध पदार्थों को जानने-देखने की शक्ति का चतुर्भंगी के रूप में निरूपण किया है ।

प्रश्नों का क्रम—इस प्रकार है—(१) वैक्रियकृत एवं यानरूप से जाते हुए देव को देखता है ? (२) वैक्रियकृत एवं यानरूप से जाती हुए देवी को देखता है ? (३) वैक्रियकृत एवं यानरूप से जाते हुए देवीसहित देव को देखता है ? (४) वृक्ष के आन्तरिक भाग को देखता है या बाह्य को भी ? (६) मूल को देखता है या कन्द को भी, (६) मूल को देखता है या स्कन्ध को भी ? (७) इसी तरह क्रमशः मूल के साथ बीज तक का एवं यावत् कन्द के साथ बीज तक का तथा यावत् पुष्प के

साथ बीज को देखता है ? इत्यादि प्रश्न हैं। सभी के उत्तर में दो-दो पदार्थों के संयोगी चार-चार भंग का संयोजन कर लेना चाहिए।[1]

मूल आदि दस पदों के द्विकसंयोगी ४५ भंग—मूल आदि १० पद इस प्रकार हैं—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल (अंकुर), पत्र, पुष्प, फल और बीज। इन दस ही पदों के द्विकसंयोगी ४५ भंग इस प्रकार होते हैं—मूल के साथ शेष ९ का संयोजन करने से ९ भंग, फिर कन्द के साथ शेष (आगे के) ८ का संयोजन करने से ८ भंग, फिर स्कन्ध के साथ आगे के त्वचा आदि ७ का संयोग करने से ७ भंग, त्वचा के साथ शाखादि ६ का संयोग करने से ६ भंग, शाखा के साथ प्रवाल आदि ५ का संयोग करने से ५ भंग, प्रवाल के साथ पुष्पादि ४ का संयोग करने से ४ भंग, पत्र के साथ पुष्पादि तीन के संयोग से ३ भंग, पुष्प के साथ फलादि दो के संयोग से दो भंग और फल एवं बीज के संयोग से १ भंग; यों कुल ४५ भंग हुए। इन ४५ ही भंगों का उत्तर चौभंगी के रूप में दिया गया है।[2]

भावितात्मा अनगार—संयम और तप से जिसकी आत्मा भावित (वासित) है, प्राय: ऐसे अनगार को अवधिज्ञान आदि लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

'जाणइ-पासइ' का रहस्य—यहाँ प्रत्येक सूत्रपाठ के प्रश्न में दोनों क्रियाओं—(जानता है, देखता है) का प्रयोग किया गया है, जबकि उत्तर में 'पासइ' (देखता है) क्रिया का ही प्रयोग है, इसका रहस्य यह है, कि पासइ पद का अर्थ यहाँ सामान्य निराकार ज्ञान (दर्शन) से है, और जाणइ का अर्थ—विशेष साकार ज्ञान से है। सामान्यत. 'जानना' दोनों में उपयोग रूप से समान है अत: उत्तर में दोनों का 'पासइ' क्रिया से ग्रहण कर लेना चाहिए।

चौभंगी क्यों?—क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। अत:—कोई अवधिज्ञानी सिर्फ विमान (यान) को और कोई सिर्फ देव को, कोई दोनों को और कोई दोनों को नहीं जानता-देखता। इसी कारण सर्वत्र चौभंगी द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों का समाधान किया गया है।[3]

वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप-परिणमन एवं गमन सम्बन्धी प्ररूपणा—

६. पभू णं भंते ! वाउकाए एगं महं इत्थिरूवं वा पुरिसरूवं वा हत्थिरूवं वा जाणरूवं वा एवं जुग्ग[4]-गिल्लि-थिल्लि[5]-सीय-संदमाणियरूवं वा विउव्वित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। वाउक्काए णं विकुव्वमाणे एगं महं पडागासंठियं रूवं विकुव्वइ।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) भा. १ पृ. १५९
 (ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८६

२. भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (पं. बेचरदासजी (खण्ड २), पृ. ८६

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८६

४. वर्तमान में सिंहल द्वीप (सिलोन-कोलम्बो) में 'गोल' (गोल्ल) नामक एक तालुका (तहसील है, जहाँ इस जुग्ग (युग्य-रिक्सा गाड़ी) का ही विशेष प्रचलन है। —सं०

५. लाट देश प्रसिद्ध अश्व के पलान को अन्य प्रदेशों में 'थिल्लि' कहते हैं। —सं०

[६ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय एक वड़ा स्त्रीरूप या पुरुषरूप, हस्तिरूप अथवा यानरूप, तथा युग्य (रिक्शागाड़ी, अथवा तांगा जैसो सवारी), गिल्ली (हाथी की अम्बाड़ी), थिल्ली (घोड़े का पलान), शिविका (डोली), स्यन्दमानिका (म्याना), इन सबके रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?

[६ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। (अर्थात्—वायुकाय उपर्युक्त रूपों की विकुर्वणा नहीं कर सकता), किन्तु वायुकाय यदि विकुर्वणा करे तो एक बड़ी पताका के आकार के रूप की विकुर्वणा कर सकता है।

७. [१] पभू णं भंते ! वाउकाए एगं महं पडागासंठियं रूवं विउव्वित्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?

हंता, पभू ।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय एक बड़ी पताका के आकार (संस्थान) जैसे रूप की विकुर्वणा करके अनेक योजन तक गमन करने में समर्थ है ?

[७-१ उ.] हाँ (गौतम ! वायुकाय ऐमा करने में) समर्थ है।

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?

गोयमा ! आतड्ढीए गच्छइ, णो परिड्ढीए गच्छइ ।

[७-२ प्र.] भगवन् ! क्या वह (वायुकाय) अपनी ही ऋद्धि से गति करता है अथवा पर की ऋद्धि से गति करता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! वह अपनी ऋद्धि से गति करता है, पर की ऋद्धि से गति नहीं करता।

[३] जहा आयड्ढीए एवं चेव आयकम्मुणा वि, आयप्पओगेण वि भाणियव्वं ।

[७-३] जैसे वायुकाय आत्मऋद्धि से गति करता है, वैसे वह आत्मकर्म से एवं आत्मप्रयोग से भी गति करता है, यह कहना चाहिए।

[४] से भंते ! किं ऊसिओदयं गच्छइ, पतोदयं गच्छइ ?

गोयमा ! ऊसिओदयं पि गच्छइ, पतोदयं पि गच्छइ ।

[७-४ प्र.] भगवन् ! क्या वह वायुकाय उच्छ्रितपताका (ऊँची—उठी हुई ध्वजा) के आकार से गति करता है, या पतित—(पड़ी हुई) पताका के आकार से गति करता है ?

[७-४ उ.] गौतम ! वह उच्छ्रितपताका और पतित-पताका, इन दोनों के आकार से गति करता है।

[५] से भंते ! किं एगओपडागं गच्छइ, दुहओपडागं गच्छइ ?

गोयमा ! एगओपडागं गच्छइ, नो दुहओपडागं गच्छइ ।

[७-५ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय एक दिशा में एक पताका के समान रूप बना कर गति करता है अथवा दो दिशाओं में (एक साथ) दो पताकाओं के समान रूप बना कर गति करता है ?

[७-५ उ.] गौतम ! वह (वायुकाय), एक पताका समान रूप बना कर गति करता है, किन्तु दो दिशाओं में (एक साथ) दो पताकाओं के समान रूप बना कर गति नहीं करता।

[६] से णं भंते ! किं वाउकाए, पडागा ?

गोयमा ! वाउकाए णं से, नो खलु सा पडागा।

[७-६ प्र.] भगवन् ! उस समय क्या वह वायुकाय, पताका है ?

[७-६ उ.] गौतम ! वह वायुकाय है, किन्तु पताका नहीं है।

विवेचन—वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप—परिणमन एवं गमन सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ६-७) में विविध प्रश्नों द्वारा वायुकाय के वैक्रियकृत रूप तथा उस रूप में गमन करने के सम्बन्ध में निश्चय किया गया है।

निष्कर्ष—वायुकाय, एक दिशा में, उच्छ्रितपताका या पतितपताका इन दोनों में से एक बड़ी पताका की आकृति-सा रूप वैक्रिय-शक्ति से बना कर आत्मऋद्धि से, आत्मकर्म से तथा आत्म-प्रयोग से अनेक योजन तक गति करता है। वह वास्तव में वायुकाय होता है, पताका नहीं।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—आयड्ढीए=अपनी ऋद्धि—लब्धि—शक्ति से। **आयकम्मुणा**—अपने कर्म या अपनी क्रिया से। **ऊसिओदयं**=ऊँची ध्वजा के आकार की-सी गति। **पततोदयं**=नीचे गिरी (पड़ी) हुई ध्वजा के आकार की-सी गति। **एगओ पडागं**=एक दिशा में एक पताका के समान। **दुहओ पडागं**=दो दिशाओं में (एकसाथ) दो पताकाओं के समान।[2]

वलाहक के रूप-परिणमन एवं गमन की प्ररूपणा—

८. पभू णं भंते ! वलाहगे एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा परिणामेत्तए ?

हंता, पभू।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या वलाहक (मेघ) एक बड़ा स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका (म्याने) रूप में परिणत होने में समर्थ है ?

[८ उ.] हाँ गौतम ! (वलाहक ऐसा होने में) समर्थ है।

९. [१] पभू णं भंते ! वलाहए एगं महं इत्थिरूवं परिणामेत्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?

हंता, पभू।

[९-१ प्र.] भगवन् ! क्या वलाहक एक बड़े स्त्रीरूप में परिणत हो कर अनेक योजन तक जाने में समर्थ है ?

[९-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह वैसा करने में समर्थ है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भाग १, पृ. १५९-१६०

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८७

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?

गोयमा ! नो आतिड्ढीए गच्छति, परिड्ढीए गच्छइ ।

[९-२ प्र.] भगवन् ! क्या वह बलाहक आत्मऋद्धि से गति करता है या परऋद्धि से गति करता है ?

[९-२ उ.] गौतम ! वह आत्मऋद्धि से गति नहीं करता, परऋद्धि से गति करता है ।

[३] एवं नो आयकम्मुणा, परकम्मुणा । नो आयपयोगेणं, परप्पयोगेणं ।

[९-३] उसी तरह वह आत्मकर्म (स्वक्रिया) से और आत्मप्रयोग से गति नहीं करता, किन्तु परकर्म से और परप्रयोग से गति करता है ।

[४] ऊसितोदयं वा गच्छइ पतोदयं वा गच्छइ ।

[९-४] वह उच्छ्रितपताका अथवा पतित-पताका दोनों में से किसी एक के आकार रूप से गति करता है ।

१०. से भंते किं बलाहए, इत्थी ?

गोयमा ! बलाहए णं से, णो खलु सा इत्थी । एवं पुरिसे, आसे हत्थी ।

[१० प्र.] भगवन् ! उस समय क्या वह बलाहक स्त्री है ?

[१० उ.] हे गौतम ! वह बलाहक (मेघ) है, वह स्त्री नहीं है । इसी तरह बलाहक पुरुष, अश्व या हाथी नहीं है; (किन्तु बलाहक है ।)

११. [१] पभू णं भंते ! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?
जहा इत्थिरूवं तहा भाणियव्वं । णवरं एगओचक्कवालं पि, दुहओचक्कवालं पि भाणियव्वं ।

[११-१ प्र.] भगवन् ! क्या वह बलाहक, एक बड़े यान (शकट—गाड़ी) के रूप में परिणत होकर अनेक योजन तक जा सकता है ?

[११-१ उ.] हे गौतम ! जैसे स्त्री के सम्बन्ध में कहा, उसी तरह यान के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए । परन्तु इतनी विशेषता है कि वह, यान के एक ओर चक्र (पहिया) वाला होकर भी चल सकता है और दोनों ओर चक्र वाला होकर भी चल सकता है ।

[२] जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीया-संदमाणियाणं तहेव ।

[११-२ प्र.] इसी तरह युग्य, गिल्ली, थिल्लि, शिविका और स्यन्दमानिका के रूपों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए ।

विवेचन—बलाहक के रूप-परिणमन एवं गमन की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ८ से ११ तक) में आकाश में अनेक रूपों में दृश्यमान मेघों के रूपपरिणमन तथा गमन के सम्बन्ध में चर्चा की गई है ।

निष्कर्ष—मेघ (वलाहक) अजीव होने से उनमें विकुर्वणाशक्ति नहीं है, किन्तु स्वभावत: (विस्रसा) रूप-परिणमन मेघों में भी होता है, इसीलिए यहाँ **'विउव्वित्तए'** शब्द के वदले **'परिणामेत्तए'** शब्द दिया है। मेघ स्त्री आदि अनेक रूपों में परिणत होकर, अचेतन होने से आत्म-ऋद्धि आत्मकर्म और आत्मप्रयोग से गति न करके, वायु, देव आदि से प्रेरित होकर (परऋद्धि, परकर्म और परप्रयोग से) अनेक योजन तक गति कर सकता है। विशेष वात यह है कि वलाहक जव यान के रूप में परिणत होकर गति करता है, तव उसके एक ओर भी चक्र रह सकता है, दोनों ओर भी।[1]

चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों की लेश्या-सम्वन्धी प्ररूपणा—

१२. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किलेसेसु उववज्जति ?

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं०-कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा।

[१२ प्र.] भगवन् ! जो जीव, नैरयिकों में उत्पन्न होने वाला है, वह कौन-सी लेश्या वालों में उत्पन्न होता है ?

[१२ उ.] गौतम ! वह जीव जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता है, उसी लेश्या वाले नारकों में उत्पन्न होता है। यथा—कृष्णलेश्यावालों में, नीललेश्या वालों में, अथवा कापोतलेश्यावालों में।

१३. एवं जस्स जा लेस्सा सा तस्स भाणियव्वा जाव जीवे णं भंते ! जे भविए जोतिसिएसु उववज्जित्तए० पुच्छा।

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं०-तेउलेस्सेसु।

[१३] इस प्रकार जो जिसकी लेश्या हो, उसकी वह लेश्या कहनी चाहिए। यावत् व्यन्तर-देवों तक कहना चाहिए।

[प्र.] भगवन् ! जो जीव ज्योतिष्कों में उत्पन्न होने योग्य है, वह किन लेश्याओं में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके जीव काल करता है, वैसी लेश्यावालों में वह उत्पन्न होता है। जैसे कि—तेजोलेश्यावालों में।

१४. जीवे णं भंते ! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किलेस्सेसु उववज्जइ ?

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं०-तेउलेस्सेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा।

---

१. (क) भगवती-सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १८६-१८७

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १६०-१६१

[१४ प्र.] भगवन् ! जो जीव वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह किस लेश्या वालों में उत्पन्न होता है ?

[१४ उ.] गौतम ! जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके जीव काल करता है, उसी लेश्या वालों में वह उत्पन्न होता है। जैसे कि—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या अथवा शुक्ललेश्या वालों में।

विवेचन—नारकों से लेकर वैमानिक देवों तक में उत्पन्न होने योग्य जीवों की लेश्या का प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्र-त्रय में नैरयिकों से लेकर वैमानिक देवों तक (२४ दण्डकों) में से कहीं भी-उत्पन्न होने वाले जीव की लेश्या के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

एक निश्चित सिद्धान्त—जैन दर्शन का एक निश्चित सिद्धान्त है कि अन्तिम समय में जिस लेश्या में जीव मरता है, उसी लेश्या वाले जीवों में वह उत्पन्न होता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर तीनों सूत्रों में नारक, ज्योतिष्क एवं वैमानिक पर्याय में उत्पन्न होने वाले जीवों की लेश्या के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया तो शास्त्रकार ने उसी सिद्धान्तवाक्य को पुनः पुनः दोहराया है—**"जल्लेसाइं दव्वाइं परिश्राइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ"**—जिस लेश्या से सम्बद्ध द्रव्यों को, ग्रहण करके जीव मृत्यु प्राप्त करता है, उसी लेश्या वाले जीवों में उत्पन्न होता है।

तीन सूत्र क्यों ?—इस दृष्टि से पूर्वोक्त सिद्धान्त सिर्फ एक (१२ वें) सूत्र में बतलाने से ही काम चल जाता, शेष दो सूत्रों की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु इतना बतलाने मात्र से काम नहीं चलता; यह भी बतलाना आवश्यक था कि किन जीवों में कौन-कौन-सी लेश्याएँ होती हैं ? यथा—नैरयिकों में कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं, ज्योतिष्कों में एकमात्र तेजोलेश्या और वैमानिकों में तेजो, पद्म एवं शुक्ल, ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं।[1]

अन्तिम समय की लेश्या कौन-सी ?—जो देहधारी मरणोन्मुख (म्रियमाण) है, उसका मरण बिलकुल अन्तिम उसी लेश्या में हो सकता है, जिस लेश्या के साथ उसका सम्बन्ध कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त तक रहा हो। इसका अर्थ है—कोई भी मरणोन्मुख प्राणी लेश्या के साथ सम्पर्क के प्रथम पल में ही मर नहीं सकता, अपितु जब इसकी कोई अमुक लेश्या निश्चित हो जाती है, तभी वह पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करने जा सकता है। और लेश्या के निश्चित होने में कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त लगता है। निम्नोक्त तीन गाथाओं द्वारा आचार्य ने इस तथ्य का समर्थन किया है—[2]'समस्त लेश्याओं के परिणत होने के प्रथम समय में किसी भी जीव का परभव में उपपात (जन्म) नहीं होता,

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) भा. १, पृ. १६१

(ख) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८८

२. सव्वाहिं लेस्साहिं पढमे समयंमि परिणयाहिं तु।
नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥१॥
सव्वाहिं लेस्साहिं चरमे समयंमि परिणयाहिं तु।
नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥२॥
अंतमुहुत्तंमि गए, अंतमुहुत्तंमि सेसए चेव।
लेस्साहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥३॥

—भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १८८ में उद्धृत

इसी प्रकार सर्वलेश्याओंके परिणत होने के अन्तिम समय में भी किसी भी जीव का परभव में उपपात (जन्म) नहीं होता, अपितु लेश्याओं के परिणाम को अन्तर्मुहूर्त्त वीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त शेप रहने पर जीव परलोक में जाते हैं।' उपर्युक्त तथ्य मनुष्यों और तिर्यञ्चों के लिए समझना चाहिए क्योंकि उनकी लेश्याएँ वदलती रहती हैं। देवों और नारकों की लेश्या जीवन-पर्यन्त वदलती नहीं, वह एक सी रहती है। अत: कोई भी देव या नारक अपनी लेश्या का अन्त आने में अन्तर्मुहूर्त शेप रहता है, तभी वह काल करता है, उससे पहले नहीं।[1]

लेश्या और उसके द्रव्य—जिसके द्वारा आत्मा कर्म के साथ श्लिष्ट होती है, उसे लेश्या कहते हैं। प्रज्ञापना सूत्र (१७वें लेश्यापद) तथा उत्तराध्ययन सूत्र (३४वें लेश्याध्ययन) में लेश्याओं के प्रकार, अधिकारी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, परिणाम, स्थान, लक्षण, स्थिति, गति आदि तथ्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रज्ञापना (मलयगिरि) वृत्ति के अनुसार लेश्या परमाणुपुद्‌गलसमूह—(वर्गणा) रूप हैं। ये लेश्या के परमाणु जीव में उद्‌भूत हुए कपाय को उत्तेजित करते हैं। कषाय वृत्ति का समूल नाश होते ही ये लेश्या के अणु अकिंचित्कर हो जाते हैं।[2] कपाय के प्रादुर्भाव के अनुसार लेश्या प्रशस्त हो जाती है। इसीलिए लेश्या को द्रव्य कहा है।

भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एवं शक्य विकुर्वणाशक्ति—

१५. अणगारे णं भंते! भावियप्पा वाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू वेभारं पव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१५ प्र.] भगवन्! क्या भावितात्मा अनगार, वाहर के पुद्‌गलों को ग्रहण किये विना वैभारगिरि को उल्लंघ (लांघ) सकता है, अथवा प्रलंघ (विशेपरूप से या वार-वार लांघ) सकता है?

[१५ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

१६. अणगारे णं भंते! भावियप्पा वाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू वेभारं पव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा?

हंता, पभू।

[१६ प्र.] भगवन्! भावितात्मा अनगार वाह्य पुद्‌गलों को ग्रहण करके क्या वैभारगिरि को उल्लंघन या प्रलंघन करने में समर्थ है?

[१६ उ.] हाँ गौतम! वह वैसा करने में समर्थ है।

---

१. (क) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, (पं. वेचरदासजी), पृ. ९२
   (ख) भगवती अ. वृत्ति., पत्रांक १८८

२. (क) भगवती. (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खं. २, (पं. वेचर.), पृ. ९०. (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १८८

१७. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं एवइयाइं विकुव्वित्ता वेभारं पव्वयं अंतो अणुप्पविसित्ता पभू समं वा विसमं करेत्तए, विसमं वा समं करेत्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१७ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये बिना राजगृह नगर में जितने भी (पशु पुरुषादि) रूप हैं, उतने रूपों की विकुर्वणा करके तथा वैभारपर्वत में प्रवेश करके क्या सम पर्वत को विषम कर सकता है ? अथवा विषमपर्वत को सम कर सकता है ?

[१७ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है । (अर्थात्-बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना भावितात्मा अनगार वैसा नहीं कर सकता ।)

१८. एवं चेव बितिओ वि आलावगो; णवरं परियातित्ता पभू ।

[१८] इसी तरह दूसरा (इससे विपरीत) आलापक भी कहना चाहिए । किन्तु इतनी विशेषता है कि वह (भावितात्मा अनगार) बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके पूर्वोक्त प्रकार से (रूपों की विकुर्वणा आदि) करने में समर्थ है ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एवं शक्य विकुर्वणा शक्ति—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १५ से १८ तक) द्वारा शास्त्रकार ने भावितात्मा अनगार की विक्रियाशक्ति के चमत्कार के सम्बन्ध में निषेध-विधिपूर्वक दो तथ्यों का प्रतिपादन किया है । वह क्रमशः इस प्रकार है—

(१) वह बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना वैभारगिरि का उल्लंघन-प्रलंघन करने में समर्थ नहीं है ।

(२) वह बाह्य पुद्गलों (औदारिक शरीर से भिन्न वैक्रिय पुद्गलों) को ग्रहण करके वैभारगिरि (राजगृहस्थित क्रीड़ापर्वत) का (वैक्रिय प्रयोग से) उल्लंघन-प्रलंघन कर सकता है ।

(३) वह बाह्य पुद्गलों (वैक्रिय-पुद्गलों) को ग्रहण किये बिना राजगृह स्थित जितने भी पशु-पुरुषादि रूप हैं, उन की विकुर्वणा करके वैभारगिरि में प्रविष्ट होकर उसे, सम को विषम या विषम को सम नहीं कर सकता ।

(४) बाह्यपुद्गलों को ग्रहण करके वह वैसा करने में समर्थ है ।[1]

बाह्यपुद्गलों का ग्रहण आवश्यक क्यों ?—निष्कर्ष यह है कि वैक्रिय—(बाह्य) पुद्गलों के ग्रहण किये बिना वैक्रिय शरीर की रचना हो नहीं सकती और पर्वत का उल्लंघन करने वाला मनुष्य ऐसे विशाल एवं पर्वतातिक्रामी वैक्रियशरीर के बिना पर्वत को लांघ नहीं सकता । और वैक्रियशरीर बाहर के वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण किये बिना बन नहीं सकता । इसीलिए कहा गया है कि बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके ही वैभारपर्वतोल्लंघन, विविधरूपों की विकुर्वणा, तथा वैक्रिय करके पर्वत में प्रविष्ट होकर समपर्वत को विषम और विषम को सम करने में वह समर्थ हो सकता है ।[2]

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. १६२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १८९

विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना—

१९. [१] से भंते ! किं मायी विकुव्वति, अमायी विकुव्वइ ?

गोयमा ! मायी विकुव्वइ, नो अमाई विकुव्वति ।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! क्या मायी (सकषाय प्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा करता है, अथवा अमायी (अप्रमत्त—कषायहीन) मनुष्य विकुर्वणा करता है ?

[१९-१ उ.] गौतम ! मायी (प्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा करता है, अमायी (अप्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा नहीं करता ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ?

गोयमा ! मायी णं पणीयं पाण-भोयणं भोच्चा भोच्चा वामेति, तस्स णं तेणं पणीएणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिजा बहलीभवंति, पयणुए मंस-सोणिए भवति, जे वि य से अहाबादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति, तं जहा—सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए, अट्ठि-अट्ठिमिज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए सुक्कत्ताए सोणियत्ताए । अमायी णं लूहं पाण-भोयणं भोच्चा भोच्चा णो वामेइ, तस्स णं तेणं लूहेणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिजा० पतणूभवति, बहले मंस-सोणिए, जे वि य से अहाबादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति; तं जहा—उच्चारत्ताए पासवणत्ताए जाव[1] सोणियत्ताए । से तेणट्ठेणं जाव नो अमायी विकुव्वइ ।

१९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि मायी अनगार विकुर्वणा करता है, अमायी विकुर्वणा नहीं करता ?

[१९-२ उ.] गौतम ! मायी (प्रमत्त) अनगार प्रणीत (घृतादि रस से सरस-स्निग्ध) पान और भोजन करता है। इस प्रकार बार-बार प्रणीत पान-भोजन करके वह वमन करता है। उस प्रणीत पान-भोजन से उसकी हड्डियाँ और हड्डियों में रही हुई मज्जा सघन (ठोस या गाढ) हो जाती है; उसका रक्त और मांस प्रतनु (पतला—अगाढ़) हो जाता है। उस भोजन के जो यथाबादर (यथोचित स्थूल) पुद्गल होते हैं, उनका उस-उस रूप में परिणमन होता है। यथा—श्रोत्रेन्द्रिय रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रियरूप में (उनका परिणमन होता है।); तथा हड्डियों, हड्डियों की मज्जा, केश, श्मश्रु (दाढी-मूंछ), रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप में वे परिणत होते हैं।

अमायी (अप्रमत्त) मनुष्य तो रूक्ष (रूखा-सूखा) पान-भोजन का सेवन करता है और ऐसे रूक्ष पान-भोजन का उपभोग करके वह वमन नहीं करता। उस रूक्ष पान-भोजन (के सेवन) से उसकी हड्डियाँ तथा हड्डियों की मज्जा प्रतनु (पतली—अगाढ) होती है और उसका मांस और रक्त गाढ़ा (घन) हो जाता है। उस पान-भोजन के जो यथाबादर (यथोचित स्थूल) पुद्गल होते हैं, उनका परिणमन उस-उस रूप में होता है। यथा—उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), यावत् रक्तरूप में (उनका परिणमन हो जाता है।) अतः इस कारण से अमायी मनुष्य, विकुर्वणा नहीं करता; (मायी मनुष्य ही करता है।)

---

१. 'जाव' शब्द सूचक पाठ इस प्रकार है—'.....खेलत्ताए, सिंघाणत्ताए, वंतत्ताए, पित्तत्ताए, पूअत्ताए'।

[३] मायी णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा ।

[१९-३] मायी मनुष्य उस स्थान (अपने द्वारा किये गए वैक्रियकरणरूप प्रवृत्तिप्रयोग) की आलोचना और प्रतिक्रमण किये विना (यदि) काल करता है, तो उसके आराधना नहीं होती ।

(४) अमायी णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा ।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति"० ।

।। तइय सए : चउत्थो उद्देसो समत्तो ।।

[१९-४] (किन्तु पूर्व मायी जीवन में अपने द्वारा किये गए वैक्रियकरणरूप) उस (विराधना-) स्थान के विषय में पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा) करके अमायी (वना हुआ) मनुष्य (यदि) आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं ।

विवेचन—विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना—प्रस्तुत सूत्र में वताया गया है कि मायी अर्थात् कषाययुक्त प्रमादी विकुर्वणा करके और उक्त वैक्रियकरणरूप दोष की आलोचना-प्रतिक्रमण न करके विराधक होता है; इसके विपरीत वर्तमान में विकुर्वणा न करके पूर्वविकुर्वित स्थान का आलोचन-प्रतिक्रमण करके आराधक हो जाता है ।

मायी द्वारा विक्रिया—जो मनुष्य सरस-स्निग्ध आहार-पानी करके वार-वार वमन-विरेचन करता है, वह मायी—प्रमादी है; क्योंकि वह वर्ण (रूपरंग) तथा वल आदि के लिए प्रणीत भोजन-पान तथा वमन करता है । आशय यह है कि इस प्रकार इसके द्वारा वैक्रियकरण भी होता है ।

अमायी विक्रिया नहीं करता—अमायी अकषायित्व के कारण विक्रिया का इच्छुक नहीं होता, इसलिए वह प्रथम तो रूखा सूखा आहार करता है, तथा वह वमन नहीं करता । यदि उसने पूर्व जीवन में मायी होने से वैक्रियरूप किया था तो उसका आलोचन-प्रतिक्रमण करके अमायी वन गया । इसलिए वह आराधक हो जाता है ।[1]

।। तृतीय शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८९

पंचमो उद्देसओ : 'इत्थी' अहवा अणगारविकुव्वणा'

पंचम उद्देशक : 'स्त्री' अथवा 'अनगार-विकुर्वणा'

१. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१प्र.] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये बिना एक बड़े स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[१ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्-वह ऐसा नहीं कर सकता।)

२. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?

हंता, पभू ।

[२ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके क्या एक बड़े स्त्रीरूप की यावत् स्यन्दमानिका (डोली) रूप की विकुर्वणा कर सकता है ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! (बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके) वह वैसा कर सकता है।

३. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू इत्थिरूवाइं विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवई जुवाणे हत्थेणं हत्थंसि गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ जाव पभू णं गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं इत्थीरूवेहिं आइण्णं वितिकिण्णं जाव एस णं गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विंसु वा ३ ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, कितने स्त्रीरूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[३-१ उ.] हे गौतम ! जैसे कोई युवक, अपने हाथ से युवती के हाथ को (भय या काम की विह्वलता के समय दृढ़तापूर्वक) पकड़ लेता है, अथवा जैसे चक्र (पहिये) की धुरी (नाभि) आरों से व्याप्त होती है, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी वैक्रिय समुद्घात से समवहत होकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप नामक द्वीप को, बहुत-से स्त्रीरूपों से आकीर्ण (व्याप्त), व्यतिकीर्ण (विशेषरूप से परिपूर्ण) यावत् कर सकता है; (अर्थात्-ठसाठस भर सकता है।) हे गौतम ! भावितात्मा अनगार का यह विषय है, विषयमात्र कहा गया है; उसने इतनी वैक्रिय शक्ति सम्प्राप्त होने पर भी कभी इतनी विक्रिया की नहीं, करता नहीं और करेगा भी नहीं ।

[२] एवं परिवाडीए नेयव्वं जाव संदमाणिया।

[३-२] इस प्रकार परिपाटी से (क्रमशः) यावत् स्यन्दमानिका-सम्बन्धी रूपविकुर्वणा करने तक कहना चाहिए।

४. से जहानामए केइ पुरिसे असिचम्मपायं गहाय गच्छेज्जा एवामेव अणगारे णं भावियप्पा असिचम्मपायहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पइज्जा ? हंता, उप्पइज्जा।

[४ प्र.] (हे भगवन् !) जैसे कोई पुरुष (किसी कार्यवश) तलवार और चर्मपात्र (ढाल अथवा म्यान) (हाथ में) ले कर जाता है, क्या उसी प्रकार कोई भावितात्मा अनगार भी तलवार और ढाल (अथवा म्यान) हाथ में लिये हुए किसी कार्यवश (संघ आदि के प्रयोजन से) स्वयं आकाश में ऊपर उड़ सकता है ?

[४ उ.] हाँ, (गौतम !) वह ऊपर उड़ सकता है।

५. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू असिचम्मपायहत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवती जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा तं चेव जाव विउव्विसु वा ३।

[५ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार (संघादि) कार्यवश तलवार एवं ढाल हाथ में लिये हुए पुरुष के जैसे कितने रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?

[५ उ.] गौतम ! जैसे कोई युवक अपने हाथ से युवती के हाथ को (दृढ़तापूर्वक) पकड़ लेता है, यावत् (यहाँ सब पूर्ववत् कहना) (वैक्रियकृत रूपों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है;) किन्तु कभी इतने वैक्रियकृत रूप बनाये नहीं, बनाता नहीं और बनायेगा भी नहीं।

६. से जहानामए केइ पुरिसे एगओपडागं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओपडागहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पतेज्जा ?

हंता, गोयमा ! उप्पतेज्जा।

[६ प्र.] जैसे कोई पुरुष (हाथ में) एक (एक ओर ध्वजा वाली) पताका लेकर गमन करता है, इसी प्रकार क्या भावितात्मा अनगार भी (संघादि) कार्यवश हाथ में एक (एक ओर ध्वजा वाली) पताका लेकर स्वयं ऊपर आकाश में उड़ सकता है ?

[६ उ.] हाँ, गौतम ! वह आकाश में उड़ सकता है।

७. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू एगओपडागहत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विकुव्वित्तए ?

एवं चेव जाव विकुव्विसु वा ३।

[७-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, [संघादि) कार्यवश हाथ में एक (एक तरफ ध्वजा वाली) पताका लेकर चलने वाले पुरुष के जैसे कितने रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?

[७-१ उ.] गौतम ! यहाँ सब पहले की तरह कहना चाहिए, (अर्थात्—वह ऐसे वैक्रियकृत रूपों से समग्र जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है) परन्तु कदापि इतने रूपों की विकुर्वणा की नहीं, करता नहीं और करेगा भी नहीं ।

[२] एवं दुहओपडागं पि ।

[७-२] इसी तरह दोनों ओर पताका लिये हुए पुरुष के जैसे रूपों की विकुर्वणा के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

८. से जहानामए केइ पुरिसे एगओजण्णोवइतं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भा० एगओजण्णोवइतकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पतेज्जा ?

हंता, उप्पतेज्जा ।

[८ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करके चलता है, उसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी कार्यवश एक तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह स्वयं ऊपर आकाश में उड़ सकता है ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! उड़ सकता है ।

९. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू एगतोजण्णोवतितकिच्चगयाइं रूवाइं विकुव्वित्तए ?

तं चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार कार्यवश एक तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष के जैसे कितने रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?

[९-१ उ.] गौतम ! पहले कहे अनुसार जान लेना चाहिए । (अर्थात् ऐसे वैक्रियकृत रूपों से वह सारे जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है ।) परन्तु इतने रूपों की विकुर्वणा कभी की नहीं, करता नहीं और करेगा भी नहीं ।

[२] एवं दुहओजण्णोवइयं पि ।

[९-२] इसी तरह दोनों ओर यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह रूपों की विकुर्वणा करने के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए ।

१०. [१] से जहानामए केइ पुरिसे एगओपल्हत्थियं काउं चिट्ठेज्जा एवामेव अणगारे वि भावियप्पा ?

तं चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष, एक तरफ पल्हथी (पालथी) मार कर बैठे, इसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी (पल्हथी मार कर बैठे हुए पुरुष के समान) रूप बना कर स्वयं आकाश में उड़ सकता है ?

[१०-१ उ.] हे गौतम ! पहले कहे अनुसार जानना चाहिए; यावत्—इतने विकुर्वितरूप कभी बनाए नहीं, बनाता नहीं और बनायेगा भी नहीं ।

[२] एवं दुहओपल्हत्थियं पि ।

[१०-२] इसी तरह दोनों तरफ पल्हथी लगाने वाले पुरुष के समान रूपविकुर्वणा के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ।

११. [१] से जहानामए केइ पुरिसे एगओपलियंकं काउं चिट्ठेज्जा० ?
तं चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[११-१ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ पर्यंकासन करके बैठे, उसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी उस पुरुष के समान रूप-विकुर्वणा करके आकाश में उड़ सकता है ?

[११-१ उ.] (गौतम !) पहले कहे अनुसार जानना चाहिए । यावत्—इतने रूप कभी विकुर्वित किये नहीं, करता नहीं, और करेगा भी नहीं ।

[२] एवं दुहओपलियंकं पि ।

[११-२] इसी तरह दोनों तरफ पर्यंकासन करके बैठे हुए पुरुष के समान रूप-विकुर्वणा करने के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार के द्वारा स्त्री आदि के रूपों की विकुर्वणा—प्रस्तुत ११ सूत्रों (सू. १ से ११ तक) में विविध पहलुओं से भावितात्मा अनगार द्वारा स्त्री आदि विविधरूपों की विकुर्वणा करने के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है । इन ग्यारह सूत्रों में निम्नोक्त तथ्यों का क्रमशः प्रतिपादन किया गया है—

१. भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना स्त्री आदि के रूपों की विकुर्वणा नहीं कर सकता ।

२. वह बाह्यपुद्गलों को ग्रहण करके ऐसा कर सकता है ।

३. वह इतने स्त्रीरूपों की विकुर्वणा कर सकता है, जिनसे सारा जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह ऐसा कभी करता नहीं, किया नहीं, करेगा भी नहीं ।

४. इसी प्रकार स्त्री के अतिरिक्त स्यन्दमानिका तक के रूपों की विकुर्वणा के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए ।

५. भावितात्मा अनगार (वैक्रियशक्ति से) संघादिकार्यवश तलवार एवं ढाल लेकर स्वयं आकाश में ऊँचा उड़ सकता है ।

६. वह वैक्रियशक्ति से तलवार एवं ढाल हाथ में लिए पुरुष जैसे इतने रूप बना सकता है कि सारा जम्बूद्वीप उनसे ठसाठस भर जाए, किन्तु वह त्रिकाल में ऐसा करता नहीं ।

७. वह एक तरफ पताका लेकर चलने वाले पुरुष की तरह एक तरफ पताका हाथ में लेकर

स्वयं आकाश में उड़ सकता है, दो तरफ पताका लेकर भी इसी तरह उड़ सकता है, तथा एक तरफ या दो तरफ पताका लिये हुए पुरुष के जैसे इतने रूप बना सकता है, कि जिनसे सम्पूर्ण जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह ऐसा तीन काल में भी करता नहीं।

८. एक या दोनों तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह यज्ञोपवीत धारण करके वह वैक्रियशक्ति से ऊँचे आकाश में उड़ सकता है। ऐसे एक तरफ या दोनों तरफ यज्ञोपवीतधारी पुरुष के जैसे इतने रूप बना सकता है कि सारा जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह कदापि ऐसा करता नहीं, किया नहीं, करेगा भी नहीं।

९. एक ओर या दोनों ओर पल्हथी मार कर बैठे हुए पुरुष की तरह वह कार्यवश पल्हथी मार कर बैठा-बैठा वैक्रियशक्ति से ऊपर आकाश में उड़ सकता है, वह ऐसे इतने रूप वैक्रियशक्ति से बना सकता है कि पूरा जम्बूद्वीप उनसे ठसाठस भर जाए।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—'असिचम्मपाय हत्थकिच्चगएणं'=जिसके हाथ में असि (तलवार) और चर्मपात्र (ढाल या म्यान) हो, वह असिचर्मपात्रहस्त है, तथा किच्चगय—संघ आदि के किसी कार्य=प्रयोजनवश गया हुआ—कृत्यगत है। पलिअंकं=पर्यंकासन। जण्णोवइयं= यज्ञोपवीत।[2]

भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादि रूपों के अभियोग-सम्बन्धी प्ररूपणा—

१२. अणगारे णं भंते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीह-वग्ध-वग-दीविय-अच्छ-तरच्छ-परासररूवं[3] वा अभिजुंजित्तए?

णो इणट्ठे समट्ठे, अणगारे णं एवं बाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू।

[१२ प्र.] भगवन्! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये बिना एक बड़े अश्व के रूप को, हाथी के रूप को, सिंह, बाघ, भेड़िये (वृक), चीते (द्वीपिक), रींछ (भालू), छोटे व्याघ्र (तरक्ष) अथवा पराशर (शरभ=अष्टापद) के रूप का अभियोग (अश्वादि के रूप में प्रविष्ट होकर उसके द्वारा क्रिया) करने में समर्थ है?

[१२ उ.] गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। (अर्थात्—विद्या, मन्त्र आदि के बल से ग्रहण किये हुए बाह्य पुद्गलों के बिना वह पूर्वोक्त रूपों का अभियोग नहीं कर सकता।) वह भावितात्मा अनगार बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके (पूर्वोक्त रूपों का अभियोग करने में) समर्थ है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. १६३-१६४
२. भगवती-सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक
३. दीविय=चीता (पाइअसद्दमहण्णवो पृ. ४६५)
अच्छ=रींछ-भालू (पाइअसद्दमहण्णवो पृ. २१)
तरच्छ=व्याघ्र विशेष (पाइअसद्दमहण्णवो पृ. ४२९)
परासर=सरभ या अष्टापद (भगवती, टीकानुवाद खं. २ पृ. ९९)

१३. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा एगं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्ता [? पभू] अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?

हंता, पभू ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, एक बड़े अश्व के रूप का अभियोजन करके अनेक योजन तक जा सकता है ?

[१३-१ उ.] हां, गौतम ! वह वैसा करने में समर्थ है।

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छति, परिड्ढीए गच्छति ?

गोयमा ! आयड्ढीए गच्छइ, नो परिड्ढीए गच्छइ ।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! क्या वह (इतने योजन तक) आत्मऋद्धि से जाता है या पर-ऋद्धि से जाता है ?

[१३-२ उ.] गौतम ! वह आत्म-ऋद्धि से जाता है, परऋद्धि से नहीं जाता ।

[३] एवं आयकम्मुणा, नो परकम्मुणा । आयप्पयोगेणं, नो परप्पयोगेणं ।

[१३-३] इसी प्रकार वह अपनी क्रिया (स्वकर्म) से जाता है, परकर्म से नहीं; आत्मप्रयोग से जाता है, किन्तु परप्रयोग से नहीं ।

[४] उस्सिओदगं वा गच्छइ पतोदगं वा गच्छइ ।

[१३-४] वह उच्छ्रितोदय (सीधे खड़े) रूप भी जा सकता है और पतितोदय (पड़े हुए) रूप में भी जा सकता है ।

१४. [१] से णं भंते ! किं अणगारे आसे ?

गोयमा ! अणगारे णं से, नो खलु से आसे ।

[१४-१ प्र.] वह अश्वरूपधारी भावितात्मा अनगार, क्या (अश्व की विक्रिया के समय) अश्व है ?

[१४-१ उ.] गौतम ! (वास्तव में) वह अनगार है, अश्व नहीं ।

[२] एवं जाव परासररूवं वा ।

[१४-२] इसी प्रकार पराशर (शरभ या अष्टापद) तक के रूपों के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादिरूपों के अभियोगीकरण से सम्बन्धित प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १२ से १४ तक) में भावितात्मा अनगार द्वारा विविध रूपों के अभियोजन के सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य प्रकट किये गए हैं—

(१) भावितात्मा अनगार विद्या आदि के बल से बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये विना अश्वादिरूपों का अभियोजन नहीं कर सकता।

(२) अश्वादिरूपों का अभियोजन करके वह अनेकों योजन जा सकता है, पर वह जाता है अपनी लब्धि, अपनी क्रिया या अपने प्रयोग से। वह सीधा खड़ा भी जा सकता है, पड़ा हुआ भी जा सकता है।

(३) अश्वादि का रूप बनाया हुआ वह अनगार अश्व आदि नहीं होता, वह वास्तव में अनगार ही होता है। क्योंकि अश्वादि के रूप में वह साधु ही प्रविष्ट है, इसलिए वह साधु है।

अभियोग और वैक्रिय में अन्तर—वैक्रिय रूप किया जाता है—वैक्रिय लब्धि वा वैक्रियसमुद्घात द्वारा; जबकि अभियोग किया जाता है—विद्या, मन्त्र, तन्त्र आदि के बल से। अभियोग में मन्त्रादि के जोर से अश्वादि के रूप में प्रवेश करके उसके द्वारा क्रिया कराई जाती है। दोनों के द्वारा रूप-परिवर्तन या विविधरूप निर्माण में समानता दिखलाई देती है, परन्तु दोनों की प्रक्रिया में अन्तर है।[1]

मायी द्वारा विकुर्वणा और अमायी द्वारा अविकुर्वणा का फल—

१५. [१] से भंते ! किं मायी विकुव्वति ? अमायी विकुव्वति ?

गोयमा ! मायी विकुव्वति, नो अमायी विकुव्वति।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! क्या मायी अनगार, विकुर्वणा करता है, या अमायी अनगार करता है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! मायी अनगार विकुर्वणा करता है, अमायी अनगार विकुर्वणा नहीं करता।

[२] माई णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ अन्नयरेसु आभिओगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ।

[१५-२] मायी अनगार उस-उस प्रकार का विकुर्वण करने के पश्चात् उस (प्रमादरूप दोष) स्थान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये विना ही काल करता है, इस प्रकार वह मृत्यु पाकर आभियोगिक देवलोकों में से किसी एक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होता है।

[३] अमाई णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अन्नयरेसु अणाभिओगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ। सेवं भंते २ त्ति०।

[१५-३] किन्तु अमायी (अप्रमत्त) अनगार उस प्रकार की विकुर्वणाक्रिया करने के पश्चात् पश्चात्तापपूर्वक उक्त प्रमादरूप दोष—स्थान का आलोचन-प्रतिक्रमण करके काल करता है, और वह मर कर अनाभियोगिकदेवलोकों में से किसी देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होता है।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठटिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. १६४-१६५

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १९१

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है ।

विवेचन—मायी अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा का और अमायी द्वारा कृत अविकुर्वणा का फल—प्रस्तुत पन्द्रहवें सूत्र में मायी अनगार द्वारा कृत विकुर्वणारूप दोष का कुफल और अमायी अनगार द्वारा विकुर्वणा न करने का सुफल प्रतिपादित किया है ।

विकुर्वणा और अभियोग दोनों के प्रयोक्ता मायी—यद्यपि इससे पूर्वसूत्रों में 'विकुव्वइ' के बदले 'अभिजुंजइ' का प्रयोग किया गया है, और इन दोनों क्रियापदों का अर्थ भिन्न है, किन्तु यहाँ मूलपाठ में विकुर्वणा के सम्बन्ध में प्रश्न करके उत्तर में जो 'फल' बताया गया है, वह अभियोग क्रिया का भी समझना चाहिए, क्योंकि अभियोग भी एक प्रकार की विक्रिया ही है । दोनों के कर्त्ता मायी (प्रमादी एवं कषायवान्) साधु होते हैं ।[1]

आभियोगिक अनगार का लक्षण—उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार "जो साधक केवल वैषयिक सुख (साता), स्वादिष्ट भोजन (रस) एवं ऋद्धि को प्राप्त करने हेतु मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र साधना या विद्या आदि की सिद्धि से उपजीविका करता है, जो औषधिसंयोग (योग) करता है, तथा भूति (भस्म) डोरा, धागा, धूल आदि मंत्रित करके प्रयोग करता है, वह आभियोगिकी भावना करता है।" ऐसी आभियोगिकी भावना वाला साधु आभियोगिक (देवलोक में महर्द्धिक देवों की आज्ञा एवं अधीनता में रहने वाले दास या भृत्यवर्ग के समान) देवों में उत्पन्न होता है । ये आभियोगिक देव अच्युत देवलोक तक होते हैं । इसलिए यहाँ 'अण्णयरेसु' (आभियोगिक देवलोकों में से किसी एक में) शब्द प्रयोग किया गया है ।[2]

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १९१

२. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. ९९

(ख) मंताजोगं काउं, भूइकम्मं च जे पउंजंति ।
साय-रस-इड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ ॥

—उत्तराध्ययन. अ. ३६, गा. २६२, क. आ. पृ. ११०३

—प्रज्ञापनासूत्र पद २०, पृ. ४००-४०६

(ग) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १९१

(घ) गच्छाचारपइन्ना और बृहत्कल्प वृत्ति में भी इसी प्रकार की गाथा मिलती है ।

(ङ) "एआणि गारवट्ठा कुणमाणो आभियोगिअं बंधइ ।
बीअं गारवरहिओ कुव्वं आराहगत्तं च ॥"

इन मन्त्र, आयोग और कौतुक आदि का उपयोग, जो गौरव (साता-रस-ऋद्धि) के लिए करता है, वह आभियोगिक देवायुरूप कर्म बांध लेता है । दूसरा—अपवादपद भी है, कि जो निःस्पृह, अतिशय ज्ञानी गौरवहेतु से रहित सिर्फ प्रवचन-प्रभावना के लिए इन कौतुकादि का प्रयोग करता है, वह आराधकभाव को प्राप्त होता है, उच्चगोत्र कर्म बांधता है ।

—अभिधानराजेन्द्रकोष, भा. १

पंचम उद्देशक की संग्रहणी गाथाएँ—

१६. गाहा—इत्थी असी पडागा जण्णोवइते य होइ बोद्धव्वे ।
पल्हत्थिय पलियंके अभियोगविकुव्वणा मायी ।।१।।

।। तइए सए : पंचमो उद्देसो समत्तो ।।

(१६) संग्रहणीगाथा का अर्थ—स्त्री, असि (तलवार), पताका, यज्ञोपवीत (जनेऊ), पल्हथी, पर्यंकासन, इन सब रूपों के अभियोग और विकुर्वणा-सम्बन्धी वर्णन इस (पंचम) उद्देशक में है। तथा ऐसा कार्य (अभियोग तथा विकुर्वणा का प्रयोग) मायी करता है, यह भी बताया गया है।

।। तृतीय शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ।।

छट्ठो उद्देसओ : 'नगरं' अहवा 'अणगारवीरियलद्धी'

छठा उद्देशक : 'नगर' अथवा 'अनगारवीर्यलब्धि'

वीर्यलब्धि आदि के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि अनगार का नगरान्तर के रूपों को जानने-देखने की प्ररूपणा—

१. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए, समोहण्णित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणति पासति ?

हंता, जाणइ पासइ ।

[१ प्र०] भगवन् ! राजगृह नगर में रहा हुआ मिथ्यादृष्टि और मायी (कषायवान्) भावितात्मा अनगार वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभंगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके क्या तद्गत रूपों को जानता-देखता है ?

[१ उ०] हाँ, गौतम ! वह (पूर्वोक्त अनगार) उन पूर्वोक्त रूपों को जानता और देखता है।

२. [२] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ।

[२-१ प्र०] भगवन् ! क्या वह (उन रूपों को) तथाभाव (यथार्थरूप) से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव (अयथार्थ रूप) से जानता-देखता है ?

[२-१ उ०] गौतम ! वह तथाभाव से नहीं जानता-देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नो तहाभावं जाणइ पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?'

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव पासति ।

[२-२ प्र०] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि वह तथाभाव से नहीं जानता देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[२-२ उ०] गौतम ! उस (तथाकथित अनगार) के मन में इस प्रकार का विचार होता है कि वाराणसी नगरी में रहे हुए मैंने राजगृहनगर की विकुर्वणा की है और विकुर्वणा करके मैं तद्गत (वाराणसी के) रूपों को जानता-देखता हूँ। इस प्रकार उसका दर्शन विपरीत होता है। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह तथाभाव से नहीं जानता-देखता, किन्तु अन्यथा भाव से जानता-देखता है।'

३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणइ पासइ । तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ—एवं खलु अहं वाणारसीए नगरीए समोहए, २ रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव अन्नहाभावं जाणइ पासइ ।

[३ प्र०] भगवन् ! वाराणसी में रहा हुआ मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार, यावत् राजगृहनगर की विकुर्वणा करके वाराणसी के रूपों को जानता और देखता है ?

[३ उ०] हाँ, गौतम ! वह उन रूपों को जानता और देखता है । यावत्—उस साधु के मन में इस प्रकार का विचार होता है कि राजगृह नगर में रहा हुआ मैं वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गत (राजगृह नगर के) रूपों को जानता और देखता हूँ । इस प्रकार उसका दर्शन विपरीत होता है । इस कारण से, यावत्—वह अन्यथाभाव से जानता-देखता है ।

४. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगणाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतरा य एगं महं जणवयवग्गं समोहए, २ वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं तं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति ।

[४ प्र.] भगवन् ! मायी, मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभंगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी और राजगृह नगर के बीच में एक बड़े जनपद-वर्ग (देश-समूह) की विकुर्वणा करे और वैसा करके क्या उस (वाराणसी और राजगृह के बीच विकुर्वित) बड़े जनपद वर्ग को जानता और देखता है ?

[४ उ.] हाँ, गौतम ! वह (उस विकुर्वित बड़े जनपद-वर्ग को) जानता और देखता है ।

५. [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो तहाभावं जाणति पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से नहीं जानता-देखता; किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है ।

[२] से केणट्ठेणं जाव पासइ ?

गोयमा ! तस्स खलु एवं भवति—एस खलु वाणारसी नगरी, एस खलु रायगिहे नगरे, एस खलु अंतरा एगे महं जणवयवग्गे, नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इड्ढी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव पासति ।

[५-२ प्र.] भगवन् ! वह उस जनपदवर्ग को अन्यथाभाव से यावत् जानता-देखता है, इसका क्या कारण है ?

[५-२ उ.] गौतम ! उस अनगार के मन में ऐसा विचार होता है कि यह वाराणसी नगरी है, यह राजगृह नगर है। तथा इन दोनों के बीच में यह एक बड़ा जनपदवर्ग है। परन्तु यह मेरी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि या विभंगज्ञानलब्धि नहीं है; और न ही मेरे द्वारा उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (सम्मुख लायी हुई) यह ऋद्धि, द्युति, यश, बल और पुरुषकार पराक्रम है। इस प्रकार का उक्त अनगार का दर्शन विपरीत होता है। इस कारण से, यावत् वह अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

विवेचन—मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १ से ५ तक) में मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार द्वारा वीर्य आदि तीन लब्धियों से एक स्थान में रह कर दूसरे स्थान की विकुर्वणा करने और तद्गतरूपों को जानने-देखने के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

निष्कर्ष—राजगृह नगर में स्थित मायी मिथ्यादृष्टि अनगार, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा, अथवा वाराणसीस्थित तथाकथित अनगार राजगृह नगर की विकुर्वणा या वाराणसी और राजगृह के बीच में विशाल जनपदवर्ग की विकुर्वणा करके, तद्गतरूपों को जान-देख सकता है, किन्तु वह जानता-देखता है—अन्यथाभाव से, यथार्थभाव से नहीं; क्योंकि उसके मन में ऐसा विपरीत दर्शन होता है कि (१) वाराणसी में रहे हुए मैंने राजगृह की विकुर्वणा की है और मैं तद्गतरूपों को जान देख रहा हूँ, (२) अथवा राजगृह में रहा हुआ मैं वाराणसी की विकुर्वणा करके तद्गतरूपों को जान-देख रहा हूँ, (३) अथवा यह वाराणसी है, यह राजगृह है, इन दोनों के बीच में यह एक बड़ा जनपदवर्ग है, यह मेरी वीर्यादिलब्धि नहीं, न ऋद्धि आदि हैं।[1]

मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार की व्याख्या—अनगार = गृहवासत्यागी, भावितात्मा = स्वसिद्धान्त (शास्त्र) में उक्त शम, दम आदि नियमों का धारक। मायी का अर्थ यहाँ उपलक्षण से क्रोधादि कषायोंवाला है। इस विशेषण वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिए यहाँ 'मिथ्यादृष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है—अन्यतीर्थिक मिथ्यात्वी साधु। यही कारण है कि मिथ्यात्वी होने से उसका दर्शन विपरीत होता है, और वह अपने द्वारा विकुर्वित रूपों को विपरीत रूप में देखता है। उसका दर्शन विपरीत यों भी है कि वह वैक्रियकृत रूपों को स्वाभाविक रूप मान लेता है, तथा जैसे दिङ्मूढ़ मनुष्य पूर्व दिशा को भी पश्चिम दिशा मान लेता है, उसी तरह मिथ्यादृष्टि अनगार भी दूसरे रूपों की अन्यथा कल्पना कर लेता है। इसलिए उसका अनुभव, दर्शन और क्षेत्र सम्बन्धी विचार विपरीत होता है।[2]

लब्धित्रय का स्वरूप—यहाँ जो तीन लब्धियाँ बताई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि। वीर्यादि तीनों लब्धियाँ विकुर्वणा करने की मुख्य साधन हैं। इनसे

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १ पृ. १६५ से १६७ तक

२. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) खण्ड-2, पृ. १०४

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १९३

तथाकथित मिथ्यादृष्टि अनगार विकुर्वणा करता है। वीर्यलब्धि से शक्तिस्फुरण करता है, वैक्रियलब्धि से वैक्रिय समुद्घात करके विविधरूपों की विकुर्वणा करता है और विभंगज्ञानलब्धि से राजगृहादिक पशु, पुरुष, प्रासाद आदि विविध रूपों को जानता-देखता है। मिथ्यादृष्टि होने के कारण इसका दर्शन और ज्ञान मिथ्या होता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—समोहए=विकुर्वणा की। विवच्चासे=विपरीत। जणवयवग्गं=जनपद=देश का समूह। तहाभावं—जिस प्रकार वस्तु है, उसकी उसी रूप में ज्ञान में अभिसन्धि—प्रतीति होना तथाभाव है; अथवा जैसा संवेदन प्रतीत होता है, वैसे ही भाव (बाह्य अनुभव) वाला ज्ञान तथाभाव है।[1]

अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—

६. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए, २ वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणति पासति।

[६ प्र.] भगवन् ! वाराणसी नगरी में रहा हुआ अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृह नगर की विकुर्वणा करके (तद्गत) रूपों को जानता-देखता है ?

[६] हां (गौतम ! वह उन रूपों को) जानता-देखता है।

७. [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणति पासति ?

गोयमा ! तहाभावं जाणति पासति, नो अन्नहाभावं जाणति पासति।

[७-१ प्र] भगवन् ! वह उन रूपों को तथाभाव से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

[७-१ उ.] गौतम ! वह उन रूपों को तथाभाव से जानता-देखता है, किन्तु अन्यथाभाव से नहीं जानता-देखता।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे अविवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति।

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह तथाभाव से उन रूपों को जानता-देखता है, अन्यथाभाव से नहीं।

[७-२ उ] गौतम ! उस अनगार के मन में इस प्रकार का विचार होता है कि 'वाराणसी

---

१. भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्रांक १९३

नगरी में रहा हुआ मैं राजगृहनगर की विकुर्वणा करके वाराणसी के रूपों को जानता-देखता हूँ।' इस प्रकार उसका दर्शन अविपरीत (सम्यक्) होता है। हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है (कि वह तथाभाव से जानता-देखता है।)

८. बीओ वि आलावगो एवं चेव, नवरं वाणारसीए नगरीए समोहणावेयव्वो, रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ पासइ।

[८] दूसरा आलापक भी इसी तरह कहना चाहिए। किन्तु विशेष यह है कि विकुर्वणा वाराणसी नगरी की समझनी चाहिए, और राजगृह नगर में रहकर रूपों को जानता-देखता है, (ऐसा जानना चाहिए।)

९. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धीए रायगिहं नगरं वाणारसिं च नगरिं अंतरा य एगं महं जणवयवग्गं समोहए, २ रायगिहं नगरं वाणारसिं च नगरिं तं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणइ पासइ।

[९ प्र.] भगवन् ! अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से, राजगृहनगर और वाराणसी नगरी के बीच में एक बड़े जनपदवर्ग को जानता-देखता है ?

[९ उ.] हाँ (गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को) जानता-देखता है।

१०. [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! तहाभावं जाणइ पासइ, णो अन्नहाभावं जाणइ पासइ।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! क्या वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता और देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[१०-१ उ.] गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता और देखता है, परन्तु अन्यथा भाव से जानता-देखता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—नो खलु एस रायगिहे णगरे, णो खलु एस वाणारसी नगरी, नो खलु एस अंतरा एगे जणवयवग्गे, एस खलु ममं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिणाणलद्धी इड्ढी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, से से दंसणे अविवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति—तहाभावं जाणति पासति, नो अन्नहाभावं जाणति पासति।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[१०-२ उ.] गौतम ! उस अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार के मन में ऐसा विचार

होता है कि न तो यह राजगृह नगर है, और न यह वाराणसी नगरी है, तथा न ही इन दोनों के बीच में यह एक वड़ा जनपदवर्ग है, किन्तु यह मेरी ही वीर्यलब्धि है, वैक्रियलब्धि है और अवधिज्ञान-लब्धि है; तथा यह मेरे द्वारा उपलब्ध, प्राप्त एवं अभिमुखसमागत ऋद्धि, द्युति, यश, वल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम है। उसका वह दर्शन अविपरीत होता है। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि वह अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार तथाभाव से जानता-देखता है, किन्तु अन्यथाभाव से नहीं जानता-देखता।

विवेचन—अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ६ से १० तक) में मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा सम्वन्धी सूत्रों की तरह अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा और उसके द्वारा कृत रूपों को जानने-देखने के सम्वन्ध में प्ररूपण किया गया है।

निष्कर्ष—वाराणसी नगरी में स्थित अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्य-लब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृहनगर की विकुर्वणा, अथवा राजगृहस्थित तथा-रूप अनगार वाराणसी नगरी की विकुर्वणा, या राजगृह और वाराणसी के वीच में एक महान् जनपदसमूह की विकुर्वणा करके तद्गत रूपों को तथाभाव (यथार्थभाव) से जान-देख सकता है, क्योंकि उसके मन में ऐसा अविपरीत (सम्यग्) ज्ञान होता है कि—(१)वाराणसी में रहा हुआ मैं राजगृह की विकुर्वणा करके तद्गतरूपों को जान-देख रहा हूँ; (२) राजगृह में रहा हुआ मैं वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गतरूपों को देख रहा हूँ, (३) तथा न तो यह राजगृह है, और न यह वाराणसी है, और न ही इन दोनों के वीच में यह एक वड़ा जनपदवर्ग है; अपितु मेरी ही वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि है। और हैं—मेरे ही द्वारा अर्जित, प्राप्त, सम्मुख-समानीत ऋद्धि[1] आदि।

भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपों का विकुर्वण-सामर्थ्य—

११. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा वाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव[2] सन्निवेसरूवं वा विकुव्वित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[११ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार वाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये विना, एक वड़े ग्रामरूप की, नगररूप की, यावत्-सन्निवेश के रूप की विकुर्वणा कर सकता है ?

[११ उ.] गौतम ! यह अर्थ (वात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

१२. एवं वितिओ वि आलावगो, णवरं वाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू।

[१२] इसी प्रकार दूसरा आलापक भी कहना चाहिए, किन्तु इसमें विशेष यह है कि वाहर के (वैक्रियक) पुद्गलों को ग्रहण करके वह अनगार, उस प्रकार के रूपों की विकुर्वणा कर सकता है।

---

१. (क) 'वियाह पण्णत्तिसुत्तं' (मूल-पाठ-टिप्पण युक्त) भा. १ पृ. १६७-१६८
   (ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणसहित) खण्ड-२ पृ. १०३ से १०६ तक

२. 'जाव' शब्द यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—
   "निगमरूवं वा, रायहाणिरूवं वा, खेडरूवं वा, कव्वडरूवं वा, मडंवरूवं वा, दोणमुहरूवं वा पट्टणरूवं वा, आगररूवं वा, आसमरूवं वा, संवाहरूवं वा" —भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक१९३।

१३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू गामरूवाइं विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवीत जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा तं चेव जाव विकुव्विसु वा ३ । एवं जाव सन्निवेसरूवं वा ।

[१३ प्र.] 'भगवन् ! भावितात्मा अनगार, कितने ग्रामरूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?'

[१३ उ.] गौतम ! जैसे युवक युवती का हाथ अपने हाथ से दृढ़तापूर्वक पकड़ कर चलता है, इस पूर्वोक्त दृष्टान्तपूर्वक समग्र वर्णन को कहना चाहिए; (अर्थात्—वह इस प्रकार के रूपों से सारे जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है) यावत्—यह उसका केवल विकुर्वण-सामर्थ्य है, मात्र विषय-सामर्थ्य है, किन्तु इतने रूपों की विकुर्वणा कभी की नहीं, (करता नहीं और करेगा भी नहीं ।) इसी तरह से यावत् सन्निवेशरूपों (की विकुर्वणा) पर्यन्त कहना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपों का विकुर्वणसामर्थ्य—प्रस्तुत तीनों सूत्रों में भावितात्मा अनगार द्वारा ग्राम, नगर आदि से लेकर सन्निवेश तक के रूपों की विकुर्वणा करने के सामर्थ्य के सम्वन्ध में प्ररूपण है ।

चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के आत्मरक्षक देवों की संख्या का निरूपण—

१४. चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो कति आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । ते णं आयरक्खा० वण्णओ[1] जहा रायप्पसेणइज्जे ।

[१४ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के कितने हजार आत्मरक्षक देव हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के चौसठ हजार के चार गुने अर्थात्—दो लाख छप्पन हजार आत्मरक्षक देव हैं । यहाँ आत्मरक्षक देवों का वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए ।

१५. एवं सव्वेसिं इंदाणं जस्स जत्तिया आयरक्खा ते भाणियव्वा । सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। तइयसए छट्ठो उद्देसो समत्तो ।।

---

१. चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के आत्मरक्षक देवों का वर्णन इस प्रकार है—"सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियस-रासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधियाइं वयरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परिमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एवं चारुचाव-चम्म-दंड-खग्ग-पासपाणिणो नील पीय-रत्त-चारुचाव-चम्म-दंड-खग्ग-पासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिट्ठंति ।"

—भगवती सूत्र अ. वृत्ति—पत्रांक १९३ में समुद्धृत ।

[१५] सभी इन्द्रों में से जिस इन्द्र के जितने आत्मरक्षक देव हैं, उन सबका वर्णन यहाँ करना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के आत्मरक्षक देवों की संख्या का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में चमरेन्द्र एवं अन्य सभी इन्द्रों के आत्मरक्षक देवों का निरूपण किया गया है।

आत्मरक्षक और उनकी संख्या—स्वामी की रक्षा के लिए सेवक की तरह, इन्द्र की रक्षा में, उसके पीछे, जो शस्त्रादि से सुसज्ज होकर तत्पर रहते हैं, वे 'आत्मरक्षक देव' कहलाते हैं। प्रत्येक इन्द्र के सामानिक देवों से आत्मरक्षक देवों की संख्या चौगुनी होती है। सामानिक देवों की संख्या इस प्रकार है—चमरेन्द्र के ६४ हजार, बलीन्द्र के ६० हजार तथा शेष नागकुमार आदि भवनपति-देवों के प्रत्येक इन्द्र के ६-६ हजार सामानिकदेव, शक्रेन्द्र के ८४ हजार, ईशानेन्द्र के ८० हजार सनत्कुमारेन्द्र के ७२ हजार, माहेन्द्र के ७० हजार, ब्रह्मेन्द्र के ६० हजार, लान्तकेन्द्र के ५० हजार, शक्रेन्द्र के ४० हजार, सहस्रारेन्द्र के ३० हजार, प्राणतेन्द्र के २० हजार और अच्युतेन्द्र के १० हजार सामानिक देव होते हैं।[1]

॥ तृतीय शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१. "चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं।
सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खाओ ॥ १ ॥
चउरासीई असीई बावत्तरि सत्तरि य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दस सहस्सेत्ति ॥ २ ॥ —भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १९४

सत्तमो उद्देसओ : 'लोगपाला'

सप्तम उद्देशक : लोकपाल

शक्रेन्द्र के लोकपाल और उनके विमानों के नाम—

१. रायगिहे नगरे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा (पूछा—)

२. सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे जमे वरुणे वेसमणे।

[२ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के कितने लोकपाल कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! चार लोकपाल कहे गए हैं; वे इस प्रकार हैं—सोम, यम वरुण और वैश्रमण।

३. एतेसि णं भंते ! चउण्हं लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—संझप्पभे वरसिट्ठे सतंजले वग्गू।

[३ प्र.] भगवन् ! इन चारों लोकपालों के कितने विमान कहे गए हैं ?

[३ उ.] 'गौतम ! इन चार लोकपालों के चार विमान कहे गए हैं; जैसे कि—सन्ध्याप्रभ, वरशिष्ट, स्वयंज्वल और वल्गु।'

विवेचन—शक्रेन्द्र के लोकपाल एवं उनके विमानों के नाम—प्रस्तुत तीन सूत्रों में से प्रथम सूत्र में राजगृह नगर में गौतम स्वामी द्वारा पूछा गया प्रश्न है। उसके उत्तर में शक्रेन्द्र के चार लोकपालों तथा उनके चार विमानों का नामोल्लेख किया गया है।

सोम-लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

४. [१] कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो संझप्पभे णामं महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवाणं बहूइं जोयणाइं जाव पंच वडिंसया पण्णत्ता, तं जहा—असोयवडेंसए सत्तवण्णवडिंसए चंपयवडिंसए चूयवडिंसए मज्झे सोहम्मवडिंसए। तस्स णं सोहम्मवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणाइं वीतीवइत्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो संझप्पभे नामं महाविमाणे पण्णत्ते

अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, ऊयालीयं जोयणसयसहस्साइं बावण्णं च सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं प०। जा सूरियाभविमाणस्स वत्तव्वया सा अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अभिसेयो नवरं सोमे देवे।

[४-१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम नामक महाराज का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान कहाँ है ?

[४-१ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा में इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहु सम भूमि भाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप (तारे) आते हैं। उनसे बहुत योजन ऊपर यावत् पांच अवतंसक कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अशोकावतंसक, सप्तपर्णावतंसक, चम्पकावतंसक, चूतावतंसक और मध्य में सौधर्मावतंसक है। उस सौधर्मावतंसक महाविमान से पूर्व में, सौधर्मकल्प से असंख्य योजन दूर जाने के बाद, वहाँ पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम नामक महाराज का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान आता है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई साढ़े बारह लाख योजन है। उसका परिक्षेप (परिधि) उनचालीस लाख बावन हजार आठ सौ अड़तालीस (३९५२८४८) योजन से कुछ अधिक है। इस विषय में सूर्याभदेव के विमान की जो वक्तव्यता है, वह सारी वक्तव्यता (राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित) 'अभिषेक' तक कह लेनी चाहिए। इतना विशेष है कि यहाँ सूर्याभदेव के स्थान में 'सोमदेव' कहना चाहिए।

[२] संझप्पभस्स णं महाविमाणस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता, एगं जोयणसयसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबुद्दीवपमाणा।

[४-२] सन्ध्याप्रभ महाविमान के सपक्ष-सप्रतिदेश, अर्थात्—ठीक नीचे, असंख्य लाख योजन आगे (दूर) जाने पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम महाराज की सोमा नाम की राजधानी है, जो एक लाख योजन लम्बी-चौड़ी है, और जम्बूद्वीप जितनी है।

[३] वेमाणियाणं पमाणस्स अद्धं नेयव्वं जाव उवरियलेणं सोलस जोयणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, पण्णासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते। पासायाणं चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ सेसा नत्थि।

[४-३] इस राजधानी में जो किले आदि हैं, उनका परिमाण वैमानिक देवों के किले आदि के परिमाण से आधा कहना चाहिए। इस तरह यावत् घर के ऊपर के पीठबन्ध तक कहना चाहिए। घर के पीठबन्ध का आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौड़ाई) सोलह हजार योजन है। उसका परिक्षेप (परिधि) पचास हजार पांच सौ सत्तानवे योजन से कुछ अधिक कहा गया है। प्रासादों की चार परिपाटियाँ कहनी चाहिए, शेष नहीं।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति, तं जहा—सोमकाइया ति वा, सोमदेवयकाइया ति वा, विज्जुकुमारा विज्जुकुमारीओ, अग्गिकुमारा अग्गिकुमारीओ, वाउकुमारा वाउकुमारीओ, चंदा सूरा गहा नक्खत्ता तारारूवा, जे

यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया तप्पक्खिया तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्दे से चिट्ठंति।

[४-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज की आज्ञा में, सेवा (उपपात=समीप) में, वचन-पालन में, और निर्देश में ये देव रहते हैं, यथा—सोमकायिक, अथवा सोमदेवकायिक, विद्युत्कुमार-विद्युत्कुमारियाँ, अग्निकुमार-अग्निकुमारियाँ, वायुकुमार-वायुकुमारियाँ, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारारूप; ये तथा इसी प्रकार के दूसरे सब उसकी भक्ति वाले, उसके पक्ष वाले, उससे भरण-पोषण पाने वाले (भृत्य या उसकी अधीनता में रहने वाले) देव उसकी आज्ञा, सेवा, वचनपालन और निर्देश में रहते हैं।

[५] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—गहदंडा ति वा, गहमुसला ति वा, गहगज्जिया ति वा, एवं गहजुद्धा ति वा, गहसिंघाडगा ति वा, गहावसव्वा इ वा, अब्भा ति वा, अब्भरुक्खा ति वा, संझा इ वा, गंधव्वनगरा ति वा, उक्कापाया ति वा, दिसीदाहा ति वा, गज्जिया ति वा, विज्जुया ति वा, पंसुवुट्ठी ति वा, जूवेति वा, जक्खालित्ते त्ति वा, धूमिया इ वा, महिया इ वा, रयुग्घाया इ वा, चंदोवरागा ति वा, सूरोवरागा ति वा, चंदपरिवेसा ति वा, सूरपरिवेसा ति वा, पडिचंदा इ वा, पडिसूरा ति वा, इंदधणू ति वा, उदगमच्छ-कपिहसिय-अमोह-पाईणवाया ति वा, पडीणवाता ति वा, जाव संवट्टयवाता ति वा, गामदाहा इ वा, जाव सन्निवेसदाहा ति वा पाणक्खया जणक्खया धणक्खया कुलक्खया वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा ण ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो अण्णाया अदिट्ठा असुया अमुया अविण्णाया, तेसिं वा सोमकाइयाणं देवाणं।

[४-५] इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण में जो ये कार्य होते हैं यथा—ग्रहदण्ड, ग्रहमूसल, ग्रहगर्जित, ग्रहयुद्ध, ग्रह-शृंगाटक, ग्रहापसव्य, अभ्र, अभ्रवृक्ष, सन्ध्या, गन्धर्वनगर, उल्कापात, दिग्दाह, गर्जित, विद्युत् (बिजली चमकना), धूल की वृष्टि, यूप, यक्षादीप्त, धूमिका, महिका, रज-उद्घात, चन्द्रग्रहण (चन्द्रोपराग), सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, (सूर्य मण्डल), प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, अथवा उदकमत्स्य, कपिहसित, अमोघ, पूर्वदिशा का वात और पश्चिम-दिशा का वात, यावत् संवर्त्तक वात, ग्रामदाह यावत् सन्निवेशदाह, प्राणक्षय, जनक्षय, धनक्षय, कुलक्षय यावत् व्यसनभूत अनार्य (पापरूप) तथा उस प्रकार के दूसरे सभी कार्य देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज से (अनुमान की अपेक्षा) अज्ञात (न जाने हुए), अदृष्ट (न देखे हुए), अश्रुत (न सुने हुए), अस्मृत (स्मरण न किये हुए) तथा अविज्ञात (विशेषरूप से न जाने हुए) नहीं होते। अथवा ये सब कार्य सोमकायिक देवों से भी अज्ञात नहीं होते। अर्थात् उनकी जानकारी में ही होते हैं।

[६] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—इंगालए वियालए लोहियक्खे सणिच्छरे चंदे सूरे सुक्के बुहे बहस्सती राहू।

(४-६) देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभिज्ञात

(जाने-माने) होते हैं जैसे—अंगारक (मंगल), विकालिक, लोहिताक्ष, शनैश्चर, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति और, राहु।

[७] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सत्तिभागं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता। एमहिड्ढीए जाव एमहाणुभागे सोमे महाराया।

[४-७] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज की स्थिति तीन भाग सहित एक पल्योपम की होती है, और उसके द्वारा अपत्यरूप से अभिमत देवों की स्थिति एक पल्योपम की होती है।

इस प्रकार सोम महाराज, महाऋद्धि और यावत् महाप्रभाव वाला है।

विवेचन—सोम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र में शक्रेन्द्र के लोकपाल सोम महाराज के विमान का स्थान, उसके आयाम, विष्कम्भ, परिक्षेप तथा उसकी राजधानी, दुर्ग, पीठबन्ध, प्रासाद आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही उसके आज्ञानुवर्ती देववर्ग, जम्बूद्वीपवर्ती मेरुगिरि के दक्षिण में होने वाले कार्यों से सुपरिचित, एवं उसके अपत्य रूप से अभिमत अंगारक आदि देवों, तथा सोम महाराज की स्थिति, ऋद्धि आदि का निरूपण भी अंकित है।

कठिन शब्दों के अर्थ—**वडेंसिया**=अवतंसक—श्रेष्ठ। **वेमाणियाणं पमाणस्स॰**=वैमानिकों के सौधर्म विमान में रहे हुए किले, महल और द्वार आदि के प्रमाण (माप) से सोम लोकपाल की नगरी के किलों आदि का प्रमाण आधा जानना। **सोमकाइया**=सोम लोकपाल के निकाय के परिवार-रूप देव। **तारारूवा**=तारक रूपदेव। **तब्भत्तिय**=सोम की भक्ति—बहुमान करने वाले। **तपक्खिय**=कार्य आ पड़ने पर सोम के पक्ष में सहायक। **तब्भारिय**=सोम से भरण-पोषण पाने वाले अथवा सोमदेव का कार्यभार वहन करने वाले तद्भारिक देव। **गहदंडा**=दण्ड की तरह सीधी पंक्ति-बद्ध ग्रहमाला। **गह मूसला**=मूसल की तरह आकृति में बद्ध ग्रह। **गहगज्जिया**—ग्रह के गति (गमन) करते समय होने वाली गर्जना। **गहयुद्धा**=ग्रहों का आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण में) पंक्तिबद्ध रहना। **गहसिंघाडगा**=सिंघाड़े के आकार में ग्रहों का रहना। **गहावसव्वा**=ग्रहों की वाईं=प्रतिकूल वक्र चाल। **अब्भ**=बादल। **अब्भरुक्खा**=आकाश में बादलों की वृक्ष रूप बनी आकृतियाँ। **धूमिका**=धुम्मस। **महिका**=ओस। **चंदोवरागा**=चन्द्रग्रहण। **सूरोवरागा**=सूर्यग्रहण। **उदगमच्छा**=उदक-मत्स्य—इन्द्रधनुष के खण्ड-भाग। **कपिहसिय**=बिना बादलों के सहसा बिजली चमकना अथवा वानर जैसी विकृत मुखाकृति का हास्य। **अमोह**=सूर्य के उदयास्त के समय आकाश में खिंच जाने वाली लाल-काली लकीरें अथवा ऊँचे किये हुए गाड़े के आकार जैसी आकाशस्थ सूर्य किरण के विकार से हुई बड़ी-बड़ी लकीरें। **पाइणवाया**=पूर्वदिशा की हवाएँ, **पडीण-वायाइ**=पश्चिमादि अन्य दिशाओं की हवाएँ। **पाणक्खया**=बल का क्षय। **जणक्खया**—लोक-मरण। **वसणब्भूया**=आपदारूप; (व्यसनभूत) आफतें। **अणारिया**=पापमय। **अहावच्चा अभिण्णाया**=पुत्र के जैसे देव, जो अभिमत वस्तु करने वाले होने से अभिज्ञात होते हैं। अथवा पुत्र की तरह माने हुए

सोमदेव=सोम लोकपाल के सामानिक देव। **सोमदेवकायिक**=सोमदेवों के पारिवाररूप देव।[1]

सूर्य और चन्द्र की स्थिति—यद्यपि अपत्यरूप से अभिमत सूर्य की स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम और चन्द्र की स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है, तथापि यहाँ ऊपर की बढ़ी हुई स्थिति की विवक्षा न करके एक पल्योपम कही गई है।[2]

यम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

५. [१] कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिट्ठे णामं महाविमाणे पण्णत्ते।

गोयमा ! सोहम्मवडिंयस्स महाविमाणस्स दाहिणेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं वीईवइत्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिट्ठे णामं महाविमाणे पण्णत्ते अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं जहा सोमस्स विमाणं तहा जाव अभिसेओ। रायहाणी तहेव जाव पासायपंतीओ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज का वरशिष्ट नामक महाविमान कहाँ है ?

[५-१ उ.] 'गौतम ! सौधर्मावतंसक नाम के महाविमान से दक्षिण में, सौधर्मकल्प से असंख्य हजार योजन आगे चलने पर, देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल यम महाराज का वरशिष्ट नामक महाविमान बताया गया है, जो साढ़े बारह लाख योजन लम्बा-चौड़ा है; इत्यादि सारा वर्णन सोम महाराज के (सन्ध्याप्रभ) विमान की तरह, यावत् (रायपसेणिय में वर्णित) 'अभिषेक' तक कहना चाहिए। इसी प्रकार राजधानी और यावत् प्रासादों की पंक्तियों के विषय में कहना चाहिए।

[२] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा आणा० जाव चिट्ठंति, तं जहा—जमकाइया ति वा, जमदेवयकाइया इ वा, पेयकाइया इ वा, पेयदेवयकाइया ति वा, असुरकुमारा असुरकुमारीओ, कंदप्पा निरयवाला आभिओगा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिगा, तप्पक्खिता तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो आणा जाव चिट्ठंति।

[५-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल यम महाराज की आज्ञा, सेवा (उपपात), वचन-पालन और निर्देश में रहते हैं, यथा—यमकायिक, यमदेवकायिक, प्रेतकायिक प्रेतदेवकायिक, असुरकुमार-असुरकुमारियाँ, कन्दर्प, निरयपाल (नरकपाल), आभियोग; ये और इसी प्रकार के वे सब देव, जो उस (यम) की भक्ति में तत्पर हैं, उसके पक्ष के तथा उससे भरण-पोषण पाने वाले तदधीन भृत्य (भार्य) या उसके कार्यभारवाहक (भारिक) हैं। ये सब यम महाराज की आज्ञा में यावत् रहते हैं।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १९६-१९७

२. (क) भगवतीसूत्र (विवेचनयुक्त) भा. २ (पं. घेवरचंदजी), पृ. ७१४

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक १९७

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—डिंवा ति वा, डमरा ति वा, कलहा ति वा, बोला ति वा, खारा ति वा, महाजुद्धा ति वा, महासंगामा ति वा, महासत्थनिवडणा ति वा, एवं महापुरिसनिवडणा ति वा, महारुधिरनिवडणा इ वा, दुब्भूया ति वा, कुलरोगा ति वा, गामरोगा ति वा, मंडलरोगा ति वा, नगररोगा ति वा, सीसवेयणा इ वा, अच्छिवेयणा इ वा, कण्ण-नह-दंतवेयणा इ वा, इंदग्गहा इ वा, खंदग्गहा इ वा, कुमारग्गहा०, जक्खग्ग०, भूयग्ग०, एगाहिया ति वा, वेहिया ति वा, तेहिया ति वा, चाउत्थया ति वा, उव्वेयगा ति वा, कासा०, खासा इ वा, सासा ति वा, सोसा ति वा, जरा इ वा, दाहा० कच्छकोहा ति वा, अजीरया, पंडुरोया, अरिसा इ वा, भगंदला इ वा, हितयसूला ति वा मत्थयसू०, जोणिसू०, पाससू०, कुच्छिसू०, गाममारीति वा, नगर०, खेड०, कव्वड०, दोणमुह०, मडंब०, पट्टण०, आसम०, संवाह० सन्निवेसमारीति वा, पाणक्खया, धणक्खया, जणक्खया, कुलक्खया, वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा न ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो अण्णाया० ५, तेसिं वा जमकाइयाणं देवाणं।

[५-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मेरुपर्वत से दक्षिण में जो ये कार्य समुत्पन्न होते हैं। यथा—डिम्ब (विघ्न), डमर (राज्य में राजकुमारादि द्वारा कृत उपद्रव), कलह (जोर से चिल्ला-चिल्लाकर झगड़ा करना), वोल (अव्यक्त अक्षरों की ध्वनियाँ), खार (परस्पर मत्सर), महायुद्ध, (अव्यवस्थित महारण), महासंग्राम (चक्रव्यूहादि से युक्त व्यवस्थित युद्ध), महाशस्त्रनिपात अथवा इसी प्रकार महापुरुषों की मृत्यु, महारक्तपात, दुर्भूत (मनुष्यों और अनाज आदि को हानि पहुँचाने वाले दुष्ट जीव), कुलरोग (वंश-परम्परागत पैतृक रोग), ग्राम-रोग, मण्डलरोग (एक मण्डल में फैलने वाली बीमारी), नगररोग, शिरोवेदना (सिरदर्द), नेत्रपीड़ा, कान, नख और दांत की पीड़ा, इन्द्रग्रह स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, एकान्तर ज्वर (एकाहिक), द्वि-अन्तर (दूसरे दिन आने वाला बुखार) तिजारा (तीसरे दिन आने वाला ज्वर), चौथिया (चौथे दिन आने वाला ज्वर), उद्वेजक (इष्टवियोगादि जन्य उद्वेग दिलाने वाले काण्ड, अथवा लोकोद्वेगकारी चोरी आदि काण्ड), कास (खांसी), श्वास, दमा, बलनाशक ज्वर, (शोप), जरा (बुढ़ापा), दाहज्वर, कच्छ-कोह (शरीर के कक्षादि भागों में सड़ांध), अजीर्ण, पाण्डुरोग (पीलिया), अर्शरोग (मस्सा-बवासीर), भगंदर, हृदयशूल (हृदय-गति-अवरोधक पीड़ा), मस्तकपीड़ा, योनिशूल, पार्श्वशूल (कांख या बगल की पीड़ा), कुक्षि (उदर) शूल, ग्राममारी, नगरमारी, खेट, कर्वट, द्रोणमुख, मडम्ब, पट्टण, आश्रम, सम्बाध और सन्निवेश, इन सबकी मारी (मृगीरोग-महामारी), प्राणक्षय, धनक्षय, जनक्षय, कुलक्षय, व्यसनभूत (विपत्तिरूप) अनार्य (पापरूप), ये और इसी प्रकार के दूसरे सब कार्य देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज से अथवा उसके यमकायिक देवों से अज्ञात (अनुमान से अज्ञात), अदृष्ट, अश्रुत, अविस्मृत, (या अचिन्त्य) और अविज्ञात (अवधि आदि की अपेक्षा) नहीं हैं।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—

अंबे १ अंबरिसे चेव २ सामे ३ सबले त्ति यावरे ४ ।
रुद्दोवरुद्दे ५-६ काले य ७ महाकाले त्ति यावरे ८ ॥ १ ॥
असी य ६ असिपत्ते १० कुंभे ११ वालू १२ वेतरणी ति य १३ ।
खरस्सरे १४ महाघोसे १५ एए पन्नरसाऽऽहिया ॥ २॥

[५-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज के देव अपत्यरूप से अभिमत (पुत्रस्थानीय) हैं—'अम्ब, अम्बरिष, श्याम, शवल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष, कुम्भ, वालू, वैतरणी, खरस्वर, और महाघोष, ये पन्द्रह विख्यात हैं ।

[५] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो सत्तिभागं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता । अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता । एमहिड्ढिए जाव जमे महाराया ।

[५-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज की स्थिति तीन भाग सहित एक पल्योपम की है और उसके अपत्यरूप से अभिमत देवों की स्थिति एक पल्योपम की है। ऐसी महाऋद्धि वाला यावत् यममहाराज है ।

विवेचन—यम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत पांचवें सूत्र द्वारा शक्रेन्द्र के द्वितीय लोकपाल यम महाराज के विमान-स्थान, उसका परिमाण, आज्ञानुवर्ती देव, उसके द्वारा ज्ञात, श्रुत आदि कार्य, उसके अपत्य रूप से अभिमत देव तथा यम महाराज एवं उसके अपत्य रूप से अभिमत देवों की स्थिति का निरूपण किया गया है ।

यमकायिक आदि की व्याख्या—यमलोकपाल के परिवाररूप देव **'यमकायिक'**, यमलोकपाल के सामानिक देव **'यमदेव'** तथा यमदेवों के परिवाररूप देव **'यमदेवकायिक'** कहलाते हैं । **प्रेतकायिक**= व्यन्तरविशेष । **प्रेतदेवकायिक**=प्रेतदेवों के सम्बन्धी देव । **कंदप्प**=अतिक्रीड़ाशील देव (कन्दर्प) **आभियोगा**=अभियोग—आदेशवर्ती अथवा आभियोगिक भावनाओं के कारण आभियोगिक देवों में उत्पन्न ।[1]

अपत्यरूप से अभिमत पन्द्रह देवों की व्याख्या—पूर्वजन्म में क्रूर क्रिया करने वाले, क्रूर परिणामों वाले, सतत पापरत कुछ जीव पंचाग्नि तप आदि अज्ञानतप से किये गए निरर्थक देहदमन से आसुरीगति को प्राप्त, ये पन्द्रह परमाधार्मिक असुर कहलाते हैं । ये तीसरी नरकभूमि तक जा कर नारकी जीवों को कष्ट देकर प्रसन्न होते हैं, यातना पाते हुए नारकों को देखकर ये आनन्द मानते हैं । (१) **अम्ब**=जो नारकों को ऊपर आकाश में ले जा कर छोड़ते हैं, (२) **अम्बरीष**='जो छुरी आदि से नारकों के छोटे-छोटे, भाड़ में पकने योग्य टुकड़े करते हैं; (३) **श्याम**=ये काले रंग के व भयंकर स्थानों में नारकों को पटकते एवं पीटते हैं; (४) **शबल**=जो चितकवरे रंग के व नारकों की आंतें-नसें एवं कलेजे को बाहर खींच लेते हैं । (५) **रुद्र**=नारकों को भाला, बर्छी आदि शस्त्रों में पिरो देने वाले रौद्र—भयंकर असुर (६) **उपरुद्र**=नारकों के अंगोपांगों को फाड़ने वाले अतिभयंकर असुर । (७) **काल**=नारकों को कड़ाही में पकाने वाले, काले रंग के असुर, (८) **महाकाल**=

१. (क) भगवती, (टीकानुवाद पं. बेचरदासजी) खण्ड-२, पृ. ११६-११७
(ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १९८

नारकों के चिकने मांस के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें खिलाने वाले, अत्यन्त काले रंग के असुर; (९) असिपत्र=जो तलवार के आकार के पत्ते वैक्रिय से बना कर नारकों पर गिराते हैं। (१०) धनुष=जो धनुष द्वारा अर्धचन्द्रादि वाण फेंक कर नारकों के नाक कान आदि वींध डालते हैं, (११) कुम्भ-जो नारकों को कुम्भ या कुम्भी में पकाते हैं, (१२) वालू=वैक्रिय द्वारा निर्मित वज्राकार या कदम्ब पुष्पाकार रेत में नारकों को डाल कर चने की तरह भूनते हैं। (१३) वैतरणी=जो रक्त, मांस, मवाद, ताम्वा, शीशा आदि गर्म पदार्थों से उवलती हुई नदी में नारकों को फेंक कर तैरने के लिए वाध्य करते हैं, (१४) खरस्वर=जो वज्रकण्टकों के भरे शाल्मलि वृक्ष पर नारकों को चढ़ाकर, करुणक्रन्दन करते हुए नारकों को कठोरस्वरपूर्वक खींचते हैं, (१५) महाघोष=डर से भागते हुए नारकों को पकड़ कर वाड़े में वन्द कर देते हैं, जोर से चिल्लाते हैं।[1]

वरुणलोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्वन्धित वर्णन—

६. [१] कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो सयंजले नामं महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स पच्चत्थिमेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जहा सोमस्स तहा विमाण-रायहाणीओ भाणियव्वा जाव पासायवडिंसया नवरं नामनाणत्तं।

[६-१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल-वरुण महाराज का स्वयंज्वल नामक महाविमान कहाँ है ?

[६-१ उ.] गौतम ! उस सौधर्मावतंसक महाविमान से पश्चिम में सौधर्मकल्प से असंख्येय हजार योजन पार करने के वाद, वहीं वरुणमहाराज का स्वयंज्वल नाम का महाविमान आता है; इससे सम्वन्धित सारा वर्णन सोममहाराज के महाविमान की तरह जान लेना चाहिए, राजधानी यावत् प्रासादावतंसकों के सम्वन्ध में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। केवल नामों में अन्तर है।

[२] सक्कस्स णं० वरुणस्स महारण्णो इमे देवा आणा० जाव चिट्ठंति, तं०—वरुणकाइया ति वा, वरुणदेवयकाइया इ वा, नागकुमारा नागकुमारीओ, उदहिकुमारा उदहिकुमारीओ, थणियकुमारा थणियकुमारीओ, जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया जाव चिट्ठंति।

[६-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वरुण महाराज के ये देव आज्ञा में यावत् रहते हैं—वरुणकायिक, वरुणदेवकायिक, नागकुमार-नागकुमारियाँ; उदधिकुमार-उदधिकुमारियाँ स्तनित-कुमार-स्तनितकुमारियाँ; ये और दूसरे सव इस प्रकार के देव, उनकी भक्तिवाले यावत् रहते हैं।

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—अतिवासा ति वा, मंदवासा ति वा, सुवुट्ठी ति वा, दुव्वुट्ठी ति वा, उदब्भेया ति वा, उदप्पीला इ वा, उदवाहा ति वा, पवाहा ति वा, गामवाहा ति वा, जाव सन्निवेसवाहा ति वा, पाणक्खया जाव तेसिं वा वरुणकाइयाणं देवाणं।

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति पत्रांक १९८ (ख) भगवती, (विवेचनयुक्त) (पं-घेवरचन्दजी) भा-२, पृ-७२०

[६-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दरपर्वत से दक्षिण दिशा में जो कार्य समुत्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार हैं—अतिवर्षा, मन्दवर्षा, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, उदकोद्भेद (पर्वत आदि से निकलने वाला झरना), उदकोत्पील (सरोवर आदि में जमा हुई जलराशि), उदवाह (पानी का अल्प प्रवाह), प्रवाह, ग्रामवाह (ग्राम का बह जाना) यावत् सन्निवेशवाह, प्राणक्षय यावत् इसी प्रकार के दूसरे सभी कार्य वरुणमहाराज से अथवा वरुणकायिक देवों से अज्ञात आदि नहीं हैं।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो जाव अहावच्चाभिण्णाया होत्था, तं जहा—कक्कोडए कद्दमए अंजणे संखवालए पुंडे पलासे मोएज्जए दहिमुहे अयंपुले कायरिए।

[६-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के (तृतीय) लोकपाल—वरुण महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभिमत हैं। यथा—कर्कोटक (कर्कोटक नामक पर्वत निवासी नागराज), कर्दमक (अग्निकोण में विद्युत्प्रभ नामक पर्वतवासी नागराज), अंजन (वेलम्ब नामक वायुकुमारेन्द्र का लोकपाल), शंखपाल (धरणेन्द्र नामक नागराज का लोकपाल), पुण्ड्र, पलाश, मोद, जय, दधि-मुख अयंपुल और कातरिक।

[५] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता। एमहिड्ढीए जाव वरुणे महाराया।

[६-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के तृतीय लोकपाल वरुण महाराज की स्थिति देशोन दो पल्योपम की कही गई है और वरुण महाराज के अपत्यरूप से अभिमत देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही गई है।

वरुण महाराज ऐसी महाऋद्धि यावत् महाप्रभाव वाला है।

विवेचन—वरुण लोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत छठे सूत्र में वरुणलोकपाल के विमान के स्थान, उसके परिमाण, राजधानी, प्रासादावतंसक, वरुण के आज्ञानुवर्ती देव अपत्यरूप से अभिमत देव, उसके द्वारा ज्ञात आदि कार्यकलाप एवं उसकी स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

वैश्रमण लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

७. [१] कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो वग्गू णामं महाविमाणे पण्णत्ते।

गोयमा! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरेणं जहा सोमस्स विमाण-रायहाणि-वत्तव्वया तहा नेयव्वा जाव पासायवडिंसया।

[७-१ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल—वैश्रमण महाराज का वल्गु नामक महाविमान कहां है?

[७-१ उ.] गौतम! वैश्रमण महाराज का विमान, सौधर्मावतंसक नामक महाविमान के

उत्तर में है। इस सम्बन्ध में सारा वर्णन सोम महाराज के महाविमान की तरह जानना चाहिए; और वह यावत् राजधानी यावत् प्रासादावतंसक तक का वर्णन भी उसी तरह जान लेना चाहिए।

[२] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति, तं जहा—वेसमणकाइया ति वा, वेसमण-देवयकाइया ति वा, सुवण्णकुमारा सुवण्ण-कुमारीओ, दीवकुमारा दीवकुमारीओ, दिसाकुमारा दिसाकुमारीओ, वाणमंतरा वाणमंतरीओ, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया जाव चिट्ठंति।

[७-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वैश्रमण महाराज की आज्ञा, सेवा (उपपात-निकट) वचन और निर्देश में ये देव रहते हैं। यथा—वैश्रमणकायिक, वैश्रमणदेवकायिक, सुवर्णकुमार-सुवर्ण-कुमारियाँ, द्वीपकुमार-द्वीपकुमारियाँ, दिक्कुमार-दिक्कुमारियाँ, वाणव्यन्तर देव-वाणव्यन्तर देवियाँ, ये और इसी प्रकार के अन्य सभी देव, जो उसकी भक्ति, पक्ष और भृत्यता (या भारवहन) करते हैं, उसकी आज्ञा आदि में रहते हैं।

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—अयागरा इ वा, तउयागरा इ वा, तंवयागरा इ वा, एवं सीसागरा इ वा, हिरण्ण०, सुवण्ण०, रयण०, वयरागरा इ वा, वसुधारा ति वा, हिरण्णवासा ति वा, सुवण्णवासा ति वा, रयण०, वइर०, आभरण०, पत्त०, पुप्फ०, फल०, बीय०, मल्ल०, वण्ण०, चुण्ण०, गंध०, वत्थवासा इ वा, हिरण्णवुट्ठी इ वा, सु०, र०, व०, आ०, प०, पु०, फ०, बी०, म०, व०, चुण्ण०, गंधवुट्ठी०, वत्थवुट्ठी ति वा, भायणवुट्ठी ति वा, खीरवुट्ठी ति वा, सुकाला ति वा, दुक्काला ति वा, अप्पग्घा ति वा, महग्घा ति वा, सुभिक्खा ति वा, दुभिक्खा ति वा, कयविक्कया ति वा, सन्निहि त्ति वा, सन्निचया ति वा, निही ति वा, णिहाणा ति वा, चिरपोराणाइ वा, पहीणसामियाति वा, पहीणसेतुयाति वा, पहीणमग्गाणि वा, पहीणगोत्तागाराइ वा उच्छन्नसामियाति वा उच्छन्नसेतुयाति वा, उच्छन्नगोत्तागाराति वा सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु नगर-निद्धमणेसु सुसाण-गिरि-कंदर-संति-सेलोवट्ठाण-भवणगिहेसु सन्निखित्ताइं चिट्ठंति, ण ताइं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो अण्णायाइं अदिट्ठाइं असुयाइं अविन्नायाइं, तेसिं वा वेसमणकाइयाणं देवाणं।

[७-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दरपर्वत से दक्षिण में जो ये कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे कि—लोहे की खानें, रांगे की खानें, ताम्बे की खानें, तथा शीशे की खानें, हिरण्य (चांदी) की, सुवर्ण की, रत्न की और वज्र की खानें, वसुधारा, हिरण्य की, सुवर्ण की, रत्न की, आभरण की, पत्र की, पुष्प की, फल की, बीज की, माला की, वर्ण की, चूर्ण की, गन्ध की और वस्त्र की वर्षा, भाजन (बर्तन) और क्षीर की वृष्टि, सुकाल, दुष्काल, अल्पमूल्य (सस्ता), महामूल्य (महंगा), सुभिक्ष (भिक्षा की सुलभता), दुर्भिक्ष (भिक्षा की दुर्लभता), क्रय-विक्रय (खरीदना-बेचना) सन्निधि (घी, गुड़ आदि का संचय), सन्निचय (अन्न आदि का संचय), निधियाँ (खजाने—कोष), निधान (जमीन में गड़ा हुआ धन), चिर-पुरातन (बहुत पुराने), जिनके स्वामी समाप्त हो गए, जिनकी सारसंभाल करने वाले नहीं रहे, जिनकी कोई खोजखबर (मार्ग) नहीं है, जिनके स्वामियों के गोत्र और आगार (घर) नष्ट

हो गए, जिनके स्वामी उच्छिन्न (छिन्नभिन्न) हो गए, जिनकी सारसंभाल करने वाले छिन्न-भिन्न हो गए, जिनके स्वामियों के गोत्र, और घर तक छिन्नभिन्न हो गए, ऐसे खज़ाने शृंगाटक (सिंगाड़े के आकार वाले) मार्गों में, त्रिक (तिकोने मार्ग), चतुष्क (चौक), चत्वर, चतुर्मुख एवं महापथों, सामान्य मार्गों, नगर के गन्दे नालों में श्मशान, पर्वतगृह गुफा (कन्दरा), शान्तिगृह, शैलोपस्थान (पर्वत को खोद कर बनाए गए सभा-स्थान), भवनगृह (निवास-गृह) इत्यादि स्थानों में गाड़ कर रखा हुआ धन; ये सब पदार्थ देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वैश्रमण महाराज से अथवा उसके वैश्रमण-कायिक देवों से अज्ञात, अदृष्ट (परोक्ष), अश्रुत, अविस्मृत और अविज्ञात नहीं हैं।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चाभिण्णाया होत्था, तं जहा—पुण्णभद्दे माणिभद्दे सालिभद्दे सुमणभद्दे चक्करक्खे पुण्णरक्खे सव्वाणे सव्वजसे सव्वकामसमिद्धे अमोहे असंगे।

[७-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल वैश्रमण महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभीष्ट हैं; वे इस प्रकार हैं—पूर्णभद्र, मणिभद्र, शालिभद्र, सुमनोभद्र, चक्र-रक्ष, पूर्णरक्ष, सद्‌वान, सर्वयश, सर्वकामसमृद्ध, अमोघ और असंग।

[५] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो दो पलिओवमाणि ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता। एमहिड्ढीए जाव वेसमणे महाराया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तइयसते : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

[७-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल—वैश्रमण महाराज की स्थिति दो पल्योपम की है; और उनके अपत्यरूप से अभिमत देवों की स्थिति एक पल्योपम की है।

इस प्रकार वैश्रमण महाराज बड़ी ऋद्धि वाला यावत् महाप्रभाव वाला है।

'हे भगवन् यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—वैश्रमण लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत ७ वें सूत्र में शास्त्रकार ने वैश्रमण लोकपालदेव के विमानों की अवस्थिति, उसकी लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई आदि परिमाण, वैश्रमण लोकपाल की राजधानी, प्रासाद आदि का, तथा वैश्रमण महाराज के आज्ञानुवर्ती भक्ति-सेवा-कार्यभारवहनादि कर्ता देवों का, मेरु पर्वत के दक्षिण में होने वाले धनादि से सम्बन्धित कार्यों की समस्त जानकारी का एवं वैश्रमण महाराज के अपत्यरूप से माने हुए देवों का तथा उसकी तथा उसके अपत्यदेवों की स्थिति आदि का समस्त निरूपण किया गया है।

वैश्रमणदेव को लोक में कुवेर, धनद एवं धन का देवता कहते हैं। धन, धान्य, निधि, भण्डार आदि सब इसी लोकपाल के अधीन रहते हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—हिरण्णवासा=झरमर झरमर बरसती हुई घड़े हुए सोने की या चांदी की वर्षा तथा हिरण्णवुट्ठी–तेजी से बरसती हुई घड़े हुए सोने या चांदी की वर्षा वृष्टि कहलाती है। यही वर्षा और वृष्टि में अन्तर है। सुभिक्खा-दुभिक्खा=सुकाल हो या दुष्काल। 'निहीति वा निहाणाति वा'=लाख रुपये अथवा उस से भी अधिक धन का एक जगह संग्रह करना निधि है, और जमीन में गाड़े हुए लाखों रुपयों के भण्डार या खजाने निधान कहलाते हैं। पहीणसेउयाइं=जिसमें धन को सींचने (या बढ़ाने) वाला मौजूद नहीं रहा। पहीणमग्गाणि=इतने पुराने हो गए हैं, कि जिनकी तरफ जाने-आने का मार्ग भी नष्ट हो गया है; अथवा उस मार्ग की ओर कोई जाता-आता नहीं। पहीणगोत्तागाराइं=जिस व्यक्ति ने ये धन-भंडार भरे हैं, उसका कोई गोत्रीय सम्बन्धी तथा उसके सम्बन्धी का घर तक अब रहा नहीं।[1]

॥ तृतीय शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

1. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २००
(ख) भगवती. टीकानुवादयुक्त, खण्ड २, पृ. १२०

अट्ठमो उद्देसओ : 'अहिवइ'

अष्टम उद्देशक : अधिपति

भवनपति देवों के अधिपति के विषय में प्ररूपणा—

१. रायगिहे नगरे जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं कति देवा आहेवच्चं जाव विहरंति ?

गोयमा ! दस देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—चमरे असुरिंदे असुरराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे, बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे ।

[१ प्र.] राजगृह नगर में, यावत्....पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! असुरकुमार देवों पर कितने देव आधिपत्य करते रहते हैं ?'

[१ उ.] गौतम ! असुरकुमार देवों पर दस देव आधिपत्य करते हुए यावत्....रहते हैं । वे इस प्रकार हैं—असुरेन्द्र असुरराज चमर, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण तथा वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज वलि, सोम, यम, वरुण और वैश्रमण ।

२. नागकुमाराणं भंते ! पुच्छा ।

गोयमा ! दस देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—धरणे नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले सेलवाले, संखवाले, भूयाणंदे नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले, संखवाले, सेलवाले ।

[२ प्र.] भगवन् ! नागकुमार देवों पर कितने देव आधिपत्य करते हुए, यावत्....विचरते हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! नागकुमार देवों पर दस देव आधिपत्य करते हुए, यावत्....विचरते हैं । वे इस प्रकार हैं—नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण, कालपाल, कोलपाल, शंखपाल और शैलपाल । तथा नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज भूतानन्द, कालपाल, कोलपाल, शंखपाल और शैलपाल ।

३. जहा नागकुमारिंदाणं एताए वत्तव्वताए णीयं एवं इमाणं नेयव्वं—सुवण्णकुमाराणं वेणुदेवे, वेणुदाली, चित्ते, विचित्ते, चित्तपक्खे, विचित्तपक्खे । विज्जुकुमाराणं हरिक्कंत, हरिस्सह, पभ, सुप्पभ, पभकंत, सुप्पभकंत । अग्गिकुमाराणं अग्गिसीहे, अग्गिमाणव, तेउ, तेउसीहे, तेउकंते, तेउप्पभे । दीवकुमाराणं पुण्ण, विसिट्ठ, रूय, सुरूय, रूयकंत, रूयप्पभ । उदहिकुमाराणं जलकंते, जलप्पभ, जल, जलरूय, जलकंत, जलप्पभ । दिसाकुमाराणं अमियगति, अमियवाहण, तुरियगति, खिप्पगति, सीहगति, सीहविक्कमगति । वाउकुमाराणं वेलंब, पभंजण, काल महाकाला अंजण रिट्ठा । थणियकुमाराणं घोस,

महाघोस, आवत्त, वियावत्त, नंदियावत्त, महानंदियावत्त। एवं भाणियव्वं जहा असुरकुमारा। सो० १ का० २ चि० ३ प० ४ ते० ५ रू० ६ ज० ७ तु० ८ का० ९ आ० १०।

[३] जिस प्रकार नागकुमारों के इन्द्रों के विषय में यह (पूर्वोक्त) वक्तव्यता कही गई है, उसी प्रकार इन (देवों) के विषय में भी समझ लेना चाहिए। सुवर्णकुमार देवों पर—वेणुदेव, वेणुदालि, चित्र, विचित्र, चित्रपक्ष और विचित्रपक्ष (का आधिपत्य रहता है।); विद्युत्कुमार देवों पर—हरिकान्त, हरिसिंह, प्रभ, सुप्रभ, प्रभाकान्त और सुप्रभाकान्त (का आधिपत्य रहता है।); अग्निकुमार देवों पर—अग्निसिंह, अग्निमाणव, तेजस् तेजःसिंह तेजस्कान्त और तेजःप्रभ (आधिपत्य करते हैं।); 'द्वीपकुमार'-देवों पर—पूर्ण, विशिष्ट, रूप, रूपांश, रूपकान्त और रूपप्रभ (आधिपत्य करते हैं।); उदधिकुमार देवों पर—जलकान्त (इन्द्र), जलप्रभ (इन्द्र), जल, जलरूप, जलकान्त और जलप्रभ (का आधिपत्य है।); दिक्कुमार देवों पर—अमितगति, अमितवाहन, तूर्य-गति, क्षिप्रगति, सिंहगति और सिंहविक्रमगति (आधिपत्य करते हैं।); वायुकुमारदेवों पर—वेलम्ब, प्रभञ्जन, काल, महाकाल, अंजन और रिष्ट (का आधिपत्य रहता है।); तथा स्तनितकुमारदेवों पर—घोष, महाघोष, आवर्त, व्यावर्त, नन्दिकावर्त और महानन्दिकावर्त (का आधिपत्य रहता है)। इन सबका कथन असुरकुमारों की तरह कहना चाहिए। दक्षिण भवनपतिदेवों के अधिपति इन्द्रों के प्रथम लोकपालों के नाम इस प्रकार हैं—सोम, कालपाल, चित्र, प्रभ, तेजस् रूप, जल, त्वरितगति, काल और आयुक्त।

विवेचन—भवनपतिदेवों के अधिपति के विषय में प्ररूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों में भवनपतिदेवों के असुरकुमार से ले कर स्तनितकुमार तक के भेदों तथा दक्षिण भवनपति देवों के अधिपतियों के विषय में निरूपण किया गया है।

आधिपत्य में तारतम्य—जिस प्रकार मनुष्यों में भी पदों और अधिकारों के सम्बन्ध में तारतम्य होता है, वैसे ही यहाँ दशविध भवनपतिदेवों के आधिपत्य में तारतम्य समझना चाहिए। जैसे कि असुरकुमार आदि दसों प्रकार के भवनपतियों में प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं, यथा—असुर-कुमार देवों के दो इन्द्र हैं—(१) चमरेन्द्र और (२) बलीन्द्र, नागकुमारदेवों के दो इन्द्र हैं—(१) धरणेन्द्र और भूतानन्देन्द्र। इसी प्रकार प्रत्येक के दो-दो इन्द्रों का आधिपत्य अपने अधीनस्थ लोकपालों तथा अन्य देवों पर होता है, और लोकपालों का अपने अधीनस्थ देवों पर आधिपत्य होता है। इस प्रकार आधिपत्य, अधिकार, ऋद्धि, वर्चस्व एवं प्रभाव आदि में तारतम्य समझ लेना चाहिए।[1]

दक्षिण भवनपति देवों के इन्द्र और उनके प्रथम लोकपाल—मूल में भवनपति देव दो प्रकार के हैं—उत्तर दिशावर्ती और दाक्षिणात्य। उत्तरदिशा के दशविध भवनपति देवों के जो जो अधीनस्थ देव होते हैं, इन्द्र से लेकर लोकपाल आदि तक, उनका उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है। इसके पश्चात् दाक्षिणात्य भवनपति देवों के सर्वोपरि अधिपति इन्द्रों के प्रथम लोकपालों के नाम सूचित किये हैं। इस सम्बन्ध में एक गाथा भी मिलती है—

'सोमे य कालवाले य चित्तप्पभ-तेउ तह रुए चेव।
जल तह तुरियगई य काले आउत्त पढमा उ॥'

इसका अर्थ पहले आ चुका है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २००
(ख) तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ४, सू. ६—'पूर्वयोर्द्वीन्द्राः' का भाष्य देखिये।

दूसरे ग्रन्थ में यह बताया गया है कि दक्षिण दिशावर्ती लोकपालों के प्रत्येक सूत्र में जो तीसरा और चौथा कहा गया है, वही उत्तरदिशावर्ती लोकपालों में चौथा और तीसरा कहना चाहिए।[1]

सोमादि लोकपाल : वैदिक ग्रन्थों में—यहाँ जैसे सोम, यम, वरुण और वैश्रमण, एक प्रकार के लोकपाल देव कहे गए हैं, वैसे ही यास्क-रचित वैदिकधर्म के प्राचीन ग्रन्थ निरुक्त में भी इनकी व्याख्या प्राकृतिक देवों के रूप में मिलती है। सोम की व्याख्या की गई है—सोम एक प्रकार की औषधि है। यथा—'हे सोम ! अभिषव (रस) युक्त बना हुआ तू स्वादिष्ट और मदिष्टधारा से इन्द्र के पीने के लिए टपक पड़।' 'इस सोम का उपभोग कोई अदेव नहीं कर सकता।' 'सर्प और ज्वरादिरूप होकर जो प्राणिमात्र का नाश करता है, यह 'यम' है।' 'अग्नि को भी यम कहा गया है।' जो आवृत करता—ढकता है, (मेघसमूह द्वारा आकाश को), वह 'वरुण' कहलाता है।[2]

वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों पर आधिपत्य की प्ररूपणा—

४. पिसायकुमाराणं पुच्छा।

गोयमा ! दो देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—

काले य महाकाले सुरूवं पडिरूव पुन्नभद्दे य।
अमरवइ माणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥

किन्नर किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे।
अतिकाय महाकाए गीतरती चेव गीयजसे ॥२॥

एते वाणमंतराणं देवाणं।

[४ प्र.] भगवन् ! पिशाचकुमारों (वाणव्यन्तर देवों) पर कितने देव आधिपत्य करते हुए विचरण करते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! उन पर दो-दो देव (इन्द्र) आधिपत्य करते हुए यावत् विचरते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) काल और महाकाल, (२) सुरूप और प्रतिरूप, (३) पूर्णभद्र और मणिभद्र, (४) भीम और महाभीम, (५) किन्नर और किम्पुरुष, (६) सत्पुरुष और महापुरुष, (७) अतिकाय और महाकाय, तथा (८) गीतरति और गीतयश। ये सब वाणव्यन्तर देवों के अधिपति-इन्द्र हैं।

५. जोतिसियाणं देवाणं दो देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—चंदे य सूरे य।

[५] ज्योतिष्क देवों पर आधिपत्य करते हुए दो देव यावत् विचरण करते हैं। यथा—चन्द्र और सूर्य।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०१

२. (क) 'औषधिः सोमः सुनोतेः यद् एनमभिषुण्वन्ति।' 'स्वादिष्टया मदिष्ठया पवस्व सोम ! धारया इन्द्राय पातवे सुतः' 'न तस्य अश्नाति कश्चिद्देवः। —यास्क निरुक्त पृ. ७६९-७७१

(ख) 'यमो यच्छतीति सतः' ''यच्छति—उपरमयति जीवितात् (तस्कर, इ० सर्पज्वरादिरूपो भूत्वा) 'सर्वं भूतग्रामम्—यमः।' 'अग्निरपि यम उच्यते'—यास्क निरुक्त पृ. ७३२-७३३

(ग) 'वरुणः—वृणोति इति, स हि वियद् वृणोति मेघजालेन।'—यास्क निरुक्त पृ. ७१२-७१३

६. सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु कति देवा आहेवच्चं जाव विहरंति ?

गोयमा ! दस देवा जाव विहरंति, तं जहा—सक्के देविंदे देवराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। ईसाणे देविंदे देवराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। एसा वत्तव्वया सव्वेसु वि कप्पेसु, एते चेव भाणियव्वा। जे य इंदा ते य भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं ! भंते त्ति०।

॥ तइयसते : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥

[६ प्र.] भगवन् ! सौधर्म और ईशानकल्प में आधिपत्य करते हुए कितने देव विचरण करते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! उन पर आधिपत्य करते हुए यावत् दस देव विचरण करते हैं। यथा—देवेन्द्र देवराज शक्र, सोम, यम, वरुण और वैश्रमण, देवेन्द्र देवराज ईशान, सोम, यम, वरुण, और वैश्रमण।

यह सारी वक्तव्यता सभी कल्पों (देवलोकों) के विषय में कहनी चाहिए और जिस देवलोक का जो इन्द्र है, वह कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों पर आधिपत्य की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में क्रमशः वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों पर आधिपत्य की प्ररूपणा की गई है।

वाणव्यन्तर देव और उनके अधिपति दो-दो इन्द्र—चतुर्थ सूत्र में प्रश्न पूछा गया है पिशाचकुमारों के सम्बन्ध में, किन्तु उत्तर दिया गया है—वाणव्यन्तर देवों के सम्बन्ध में। इसलिए यहाँ पिशाचकुमार का अर्थ वाणव्यन्तर देव ही समझना चाहिए। वाणव्यन्तर देवों के ८ भेद हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इन प्रत्येक पर दो-दो अधिपति—इन्द्र इस प्रकार हैं—किन्नर देवों के दो इन्द्र—किन्नरेन्द्र, किम्पुरुषेन्द्र, किम्पुरुष देवों के दो इन्द्र—सत्पुरुषेन्द्र और महापुरुषेन्द्र, महोरगदेवों के दो इन्द्र—अतिकायेन्द्र और महाकायेन्द्र, गन्धर्वदेवों के दो इन्द्र—गीतरतीन्द्र और गीतयशेन्द्र, यक्षों के दो इन्द्र—पूर्णभद्रेन्द्र और मणिभद्रेन्द्र, राक्षसों के दो इन्द्र—भीमेन्द्र और महाभीमेन्द्र, भूतों के दो इन्द्र—सुरूपेन्द्र (अतिरूपेन्द्र) और प्रतिरूपेन्द्र, पिशाचों के दो इन्द्र—कालेन्द्र और महाकालेन्द्र।[1]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १७७
   (ख) 'व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः।'—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य अ. ४, सू. १२, पृ. ९७ से ९९
   (ग) 'पूर्वयोर्द्वीन्द्राः'—तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य, अ. ४ सू. ६, पृ. ९२

ज्योतिष्क देवों के अधिपति इन्द्र—ज्योतिष्क देवों में अनेक सूर्य एवं चन्द्रमा इन्द्र हैं। वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में लोकपाल नहीं होते।[1]

वैमानिक देवों के अधिपति—इन्द्र एवं लोकपाल—वैमानिक देवों में सौधर्म से लेकर अच्युत-कल्प तक प्रत्येक अपने-अपने कल्प के नाम का एक-एक इन्द्र है। यथा—सौधर्मेन्द्र=शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र, सनत्कुमारेन्द्र आदि। किन्तु ऊपर के चार देवलोकों में दो-दो देवलोकों का एक-एक इन्द्र है; यथा--नौवें और दसवें देवलोक—(आणत और प्राणत) का एक ही प्राणतेन्द्र है। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें देवलोक—(आरण और अच्युत) का भी एक ही अच्युतेन्द्र है। इस प्रकार बारह देवलोकों में कुल १० इन्द्र हैं। नौ ग्रैवेयेकों और पांच अनुत्तर विमानों में कोई इन्द्र नहीं होते। वहाँ सभी 'अहमिन्द्र' (सर्वतन्त्रस्वतंत्र) होते हैं। सौधर्म आदि कल्पों के प्रत्येक इन्द्र के आधिपत्य में सोम, यम आदि चार-चार लोकपाल होते हैं, जिनके आधिपत्य में अन्य देव होते हैं।[2]

॥ तृतीय शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. ६ का भाष्य, पृ. ९२
(ख) 'त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः'—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. ५, भाष्य पृ. ९२

२. (क) तत्त्वार्थ. भाष्य अ. ४ सू. ६, पृ. ९३, (ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २०१

नवमो उद्देसओ : इंदिय

नवम उद्देशक : इन्द्रिय

पंचेन्द्रिय-विषयों का अतिदेशात्मक निरूपण—

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—कतिविहे णं भंते ! इंदियविसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे इंदियविसए पण्णत्ते, तं०—सोतिंदियविसए, जीवाभिगमे[1] जोतिसियउद्देसो नेयव्वो अपरिसेसो।

॥ तइयसए : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥

[१ प्र.] राजगृह नगर में यावत् श्रीगौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—भगवन् ! इन्द्रियों के विषय कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इन्द्रियों के विषय पाँच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय इत्यादि। इस सम्बन्ध में जीवाभिगमसूत्र में कहा हुआ ज्योतिष्क उद्देशक सम्पूर्ण कहना चाहिए।

विवेचन—पांच इन्द्रियों के विषयों का अतिदेशात्मक वर्णन—प्रस्तुत सूत्र में जीवाभिगम सूत्र के ज्योतिष्क उद्देशक का अतिदेश करके शास्त्रकार ने पंचेन्द्रिय विषयों का निरूपण किया है।

जीवाभिगम सूत्र के अनुसार इन्द्रिय विषय-सम्बन्धी विवरण—पांच इन्द्रियों के पांच विषय हैं; यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय, चक्षुरिन्द्रिय-विषय, घ्राणेन्द्रिय-विषय, रसेन्द्रिय-विषय और स्पर्शेन्द्रिय-विषय।

[प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रियविषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—शुभशब्द परिणाम और अशुभशब्द परिणाम।

[प्र.] भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरूप-परिणाम और दुरूपपरिणाम।

[प्र.] भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है।

[उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरभिगन्ध परिणाम और दुरभिगन्ध परिणाम।

---

१. जीवाभिगम सूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २ सू. १९१, पृ. ३७३-३७४ में इसका वर्णन देखिए।

होने से निष्प्रयोजन कोप उत्पन्न हो जाने के कारण तीसरी परिषद् का नाम 'जाता' है। इन्हीं तीनों परिषदों को क्रमशः आभ्यन्तरा, मध्यमा और बाह्या भी कहते हैं। जब इन्द्र को कोई प्रयोजन होता है, तब वह आदरपूर्वक आभ्यन्तर परिषद् बुलाता और उसके समक्ष अपना प्रयोजन प्रस्तुत करता है। मध्यम परिषद् बुलाने या न बुलाने पर भी आती है। इन्द्र, आभ्यन्तर परिषद् में विचारित बातें उसके समक्ष प्रकट कर निर्णय करता है। बाह्य परिषद् बिना बुलाये आती है। इन्द्र उसके समक्ष स्वनिर्णीत कार्य प्रस्तुत करके उसे सम्पादित करने की आज्ञा देता है। असुरकुमारेन्द्र की परिषद् के समान ही शेष नौ निकायों की परिषदों के नाम और काम हैं। व्यन्तर देवों की तीन परिषद् हैं—इसा, तुडिया और दृढ़रथा। ज्योतिष्क देवों की तीन परिषदों के नाम—तुम्बा, तुडिया और पर्वा। वैमानिक देवों की तीन परिषदें—शमिका, चण्डा और जाता। इसके अतिरिक्त भवनपति से लेकर अच्युत देवलोक तक के तीनों इन्द्रों की तीनों परिषदों के देव-देवियों की संख्या, उनकी स्थिति आदि का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र से जान लेना चाहिए।[1]

॥ तृतीय शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

तृतीय शतक सम्पूर्ण

१. (क) जीवाभिगम. प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, पृ. १६४-१७४ तथा ३८८-३९०

(ख) भगवती सूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक २०२

चतुर्थशतक

प्राथमिक

※ व्याख्याप्रज्ञप्ति का यह चतुर्थ शतक है। इस शतक में अत्यन्त संक्षेप में, विशेषत: अतिदेश द्वारा विषयों का निरूपण किया गया है।

※ इस शतक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उद्देशक में से प्रथम उद्देशक में ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालों के क्रमश: चार विमानों का नामोल्लेख करके प्रथम लोकपाल सोम महाराज के 'सुमन' नामक महाविमान की अवस्थिति एवं तत्सम्बन्धी समग्र वक्तव्यता अतिदेश द्वारा कही गई है। शेष द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उद्देशक में ईशानेन्द्र के यम, वैश्रमण और वरुण नामक द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ लोकपाल के सर्वतोभद्र, वल्गु और सुवल्गु नामक महाविमान की अवस्थिति, परिमाण आदि का समग्र वर्णन पूर्ववत् अतिदेशपूर्वक किया गया है।

※ पांचवें, छठे, सातवें और आठवें उद्देशक में ईशानेन्द्र के चार लोकपालों की चार राजधानियों का पूर्ववत् अतिदेशपूर्वक वर्णन है।

※ नौवें उद्देशक में नैरयिकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रज्ञापना-सूत्र के[2] लेश्यापद की अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा की गई है।

※ दसवें उद्देशक में लेश्याओं के प्रकार, परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त-संक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान और अल्पबहुत्व आदि द्वारों के माध्यम से प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद के[3] अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा की गई है।

□□

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भाग-१, पृ-३६

(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ-२

२. प्रज्ञापनासूत्र के १७ वें लेश्यापद का तृतीय उद्देशक देखिये।

३. प्रज्ञापनासूत्र के १७ वें लेश्यापद का चतुर्थ उद्देशक देखिए।

चउत्थं सयं : चतुर्थशतक

चतुर्थ शतक की संग्रहणी गाथा—

१. चत्तारि विमाणेहिं १-४, चत्तारि य होंति रायहाणीहिं ५-८ ।
नेरइए ९ लेस्साहि १० य दस उद्देसा चउत्थसते ॥१॥

[१] गाथा का अर्थ—इस चौथे शतक में दस उद्देशक हैं । इनमें से प्रथम चार उद्देशकों में विमान-सम्बन्धी कथन किया गया है । पाँचवें से लेकर आठवें उद्देशक तक चार उद्देशकों में राजधानियों का वर्णन है । नौवें उद्देशक में नैरयिकों का वर्णन है और दसवें उद्देशक में लेश्या के सम्बन्ध में निरूपण है ।

पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा :ईसाणलोगपालविमाणाणि

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक : ईशानलोकपाल-विमान

ईशानेन्द्र के चार लोकपालों के विमान एवं उनके स्थान का निरूपण—

२. रायगिहे नगरे जाव एवं वयासी—ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे जमे वेसमणे वरुणे ।

[२ प्र.] राजगृह नगर में, यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—'भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान के कितने लोकपाल कहे गए हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! उसके चार लोकपाल कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—सोम, यम, वैश्रमण और वरुण ।

३. एतेसि णं भंते ! लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—सुमणे सव्वतोभद्दे वग्गू सुवग्गू ।

[३ प्र.] भगवन् ! इन लोकपालों के कितने विमान कहे गए हैं ?'

[३ उ.] गौतम ! इनके चार विमान हैं; वे इस प्रकार हैं—सुमन, सर्वतोभद, वल्गु और सुवल्गु ।

४. कहि णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नामं महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव ईसाणे णामं कप्पे पण्णत्ते । तत्थ णं जाव पंच वडेंसया पण्णत्ता, तं जहा—अंकवडेंसए फलिहवडिंसए रयणवडेंसए जायरूववडिंसए, मज्झे यऽत्थ ईसाणवडेंसए । तस्स णं ईसाणवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेणं

तिरियमसंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं वीतिवतित्ता तत्थ णं ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नामं महाविमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरसजोयण० जहा सक्कस्स वत्तव्वता ततियसते[1] तहा ईसाणस्स वि जाव अच्चणिया समत्ता।

[४ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान कहाँ है ?

[४ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर में इस रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल से, यावत् ईशान नामक कल्प (देवलोक) कहा है। उसमें यावत् पांच अवतंसक कहे हैं, वे इस प्रकार हैं—अंकावतंसक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतंसक, और जातरूपावतंसक; इन चारों अवतंसकों के मध्य में ईशानावतंसक है। उस ईशानावतंसक नामक महाविमान से पूर्व में तिरछे असंख्येय हजार योजन आगे जाने पर देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई साढ़े वारह लाख योजन है। इत्यादि सारी वक्तव्यता तृतीय शतक (सप्तम उद्देशक) में कथित शक्रेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) की वक्तव्यता के समान यहाँ भी ईशानेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) के सम्बन्ध में यावत्-अर्चनिका समाप्तिपर्यन्त कहनी चाहिए।

५. चउण्ह वि लोगपालाणं विमाणे विमाणे उद्देसओ। चउसु विमाणेसु चत्तारि उद्देसा अपरिसेसा। नवरं ठितीए नाणत्तं—

आदि दुय तिभागूणा पलिया धणयस्स होंति दो चेव।
दो सतिभागा वरुणे पलियमहावच्चदेवाणं ॥१॥

॥ चउत्थे सए पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा समत्ता ॥

[५] (एक लोकपाल के विमान की वक्तव्यता जहाँ पूर्ण होती है, वहाँ एक उद्देशक समाप्त होता है।) इस प्रकार चारों लोकपालों में से प्रत्येक के विमान की वक्तव्यता पूरी हो वहाँ एक-एक उद्देशक समझना। चारों (लोकपालों के चारों) विमानों की वक्तव्यता में चार उद्देशक पूर्ण हुए समझना। विशेष यह है कि इनकी स्थिति में अन्तर है। वह इस प्रकार है—आदि के दो—सोम और यम लोकपाल की स्थिति (आयु) त्रिभगन्यून दो-दो पल्योपम की है, वैश्रमण की स्थिति दो पल्योपम की है और वरुण की स्थिति त्रिभागसहित दो पल्योपम की है। अपत्यरूप देवों की स्थिति एक पल्योपम की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के चार लोकपालों के विमानों का निरूपण—प्रस्तुत चार उद्देशकों में चार सूत्रों द्वारा ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालों के चार विमान, उन चारों का स्थान, तथा चारों लोकपालों की स्थिति का निरूपण किया है। सू. ४ में सोम लोकपाल के सुमन नामक महाविमान के सम्बन्ध में वतला कर प्रथम उद्देशक पूर्ण किया है, शेष तीन उद्देशकों में दूसरे, तीसरे और चौथे लोकपाल के विमान की वक्तव्यता शक्रेन्द्र के इसी नाम के लोकपालों के विमानों की वक्तव्यता के समान अतिदेश (भलामण) करके एक एक उद्देशक पूर्ण किया।

॥ चतुर्थ शतक : प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. तीसरे शतक का सातवां उद्देशक देखना चाहिए।

पंचम-छट्ठ-सत्तम-अट्ठमा उद्देसा : ईसाणलोगपालरायहाणी

पंचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम उद्देशक : ईशान-लोकपाल-राजधानी

ईशानेन्द्र के लोकपालों की चार राजधानियों का वर्णन—

१. रायहाणीसु वि चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा जाव एमहिड्ढीए जाव वरुणे महाराया।

॥ चउत्थे सए पंच-छट्ठ-सत्तम-अट्ठमा उद्देसा समत्ता ॥

[१] चारों लोकपालों की राजधानियों के चार उद्देशक कहने चाहिए। (अर्थात् एक-एक लोकपाल की राजधानी सम्बन्धी वर्णन पूर्ण होने पर एक-एक उद्देशक पूर्ण हुआ समझना चाहिए। इस तरह चारों राजधानियों के वर्णन में चार उद्देशक पूर्ण हुए। यों क्रमशः पांचवें से लेकर आठवाँ उद्देशक) यावत् वरुण महाराज इतनी महाऋद्धि वाले यावत् (इतनी विकुर्वणाशक्ति वाले हैं;) (यहाँ तक चार उद्देशक पूर्ण होते हैं।)

विवेचन—चार उद्देशकों में चार लोकपालों की चार राजधानियों का वर्णन—प्रस्तुत चार उद्देशकों (पांचवें से आठवें तक) का वर्णन एक ही सूत्र में अतिदेशपूर्वक कर दिया गया है।

चार राजधानियों के क्रमशः चार उद्देशक कैसे और कौन-से?—जीवाभिगमसूत्र में वर्णित विजय राजधानी के वर्णक के समान चार राजधानियों के चार उद्देशकों का वर्णन इस प्रकार करना चाहिए—

[प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज की सोमा नामक राजधानी कहाँ है?

[उ.] हे गौतम! वह (राजधानी) सुमन नामक महाविमान के ठीक नीचे है; इत्यादि सारा वर्णन इसी प्रकार कहना चाहिए।

इसी प्रकार क्रमशः एक-एक राजधानी के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तरपूर्वक वर्णन करके शेष तीनों लोकपालों की राजधानी-सम्बन्धी एक-एक उद्देशक कहना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक : पंचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. 'रायहाणीसु चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा', ते चैवम्—'कहि णं भंते! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता?' 'गोयमा! सुमणस्स महाविमाणस्स अहे, सपक्खि.......' इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेण जीवाभिगमोक्तविजयराजधानीवर्णकाऽनुसारेण च एकैक उद्देशकोऽध्येतव्यः।—भगवती० अ० वृत्ति, पत्रांक २०३ (—जीवाभिगम० पृ० २१७-२१९)

नवमो उद्देसो : नेरइअं

नवम उद्देशक : नैरयिक

नैरयिकों की उत्पत्तिप्ररूपणा—

१. नेरइए णं भंते ! नेरतिएसु उववज्जइ ? अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ?

पण्णवणाए लेस्सापदे ततिओ उद्देसओ भाणियव्वो जाव नाणाइं ।

॥ चउत्थे सए नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! जो नैरयिक है, क्या वह नैरयिकों में उत्पन्न होता है, या जो अनैरयिक है, वह नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[१ उ.] (हे गौतम !) प्रज्ञापनासूत्र में कथित लेश्यापद का तृतीय उद्देशक यहाँ कहना चाहिए, और वह यावत् ज्ञानों के वर्णन तक कहना चाहिए ।

विवेचन—नैरयिकों में नैरयिक उत्पन्न होता है या अनैरयिक ? : शंका-समाधान—प्रस्तुत सूत्र में नैरयिकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर शास्त्रकार ने उत्तर में प्रज्ञापना सूत्र के १७ वें लेश्यापद के तृतीय उद्देशक का अतिदेश किया है । वह इस प्रकार है—(प्र.) 'भगवन् ! क्या नैरयिक ही नैरयिकों में उत्पन्न होता है या अनैरयिक नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?' (उ.) गौतम ! नैरयिक ही नैरयिकों में उत्पन्न होता है, अनैरयिक नैरयिकों में उत्पन्न नहीं होता ।'

इस कथन का आशय—यहाँ से मर कर नरक में उत्पन्न होने वाले जीव की तिर्यञ्च या मनुष्य-सम्बन्धी आयु तो यहीं समाप्त हो जाती है, सिर्फ नरकायु ही बंधी हुई होती है । यहाँ मर कर नरक में पहुँचते हुए मार्ग में जो एक-दो आदि समय लगते हैं, वे उसकी नरकायु में से ही कम होते हैं । इस प्रकार नरकगामी जीव मार्ग में भी नरकायु को भोगता है, इसलिए वह नैरयिक ही है । ऋजुसूत्रनय की वर्तमानपर्यायपरक दृष्टि से भी यह कथन सर्वथा उचित है कि नैरयिक ही नैरयिकों में उत्पन्न होता है, अनैरयिक नहीं ।

इसी तरह शेष दण्डकों के जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ।[१]

कहाँ तक ?—प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद का तीसरा उद्देशक ज्ञानसम्बन्धी वर्णन तक कहना चाहिए । वह वहाँ इस प्रकार से प्रतिपादित है—(प्र.) भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला जीव कितने ज्ञान

---

१. (क) प्रज्ञापना सूत्र पद १७ उ. ३ (पृ. २८७ म. वि.) में देखें—"गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अणेरइए णेरइएसु उववज्जइ' इत्यादि ।

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०५

वाला होता है ?'—(उ.) गौतम ! वह दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञान वाला होता है। यदि दो ज्ञान हों तो—मति और श्रुत होते हैं, तीन ज्ञान हों तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान होते हैं, यदि चार ज्ञान हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान होते हैं, इत्यादि जानना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) कण्हलेस्से णं भंते ! जीवे कइसु (कयरेसु) नाणेसु होज्जा ? गोयमा ! दोसु वा, तिसु वा, चउसु वा नाणेसु होज्जा। दोसु होज्जमाणे आभिणिवोहिअ-सुअणाणेसु होज्जा,....'इत्यादि।

—प्रज्ञापना पद १७ उ-३ (पृ. २९१ म. वि.)

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०५

दसमो उद्देसो : लेस्सा

दशम उद्देशक : लेश्या

लेश्याओं का परिणमनादि पन्द्रह द्वारों से निरूपण—

१. से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प ताख्वत्ताए तावण्णत्ताए० ?
एवं चउत्थो उद्देसओ पण्णवणाए चेव लेस्सापदे नेयव्वो जाव—

परिणाम-वण्ण-रस-गंध-सुद्ध-अपसत्थ-संकिलिट्ठुण्हा—
गति-परिणाम-पदेसोगाह-वग्गणा-ठाणमप्पबहुं ॥१॥

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ चउत्थे सए : दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ चउत्थं सयं समत्तं ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या का संयोग पाकर तद्रूप और तद्वर्ण में परिणत हो जाती है ?

[१ उ.] (हे गौतम !) प्रज्ञापना सूत्र में उक्त लेश्यापद का चतुर्थ उद्देशक यहाँ कहना चाहिए; और वह यावत् परिणाम इत्यादि द्वार-गाथा तक कहना चाहिए। गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान और अल्पवहुत्व; (ये सब बातें लेश्याओं के सम्बन्ध में कहनी चाहिए।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', (यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।)

विवेचन—लेश्याओं का परिणमनादि पन्द्रह द्वारों से निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में एक लेश्या को दूसरी लेश्या का संयोग प्राप्त होने पर वह उक्त लेश्या के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप में परिणत होती है या नहीं ? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर के रूप में प्रज्ञापना के लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक (परिणामादि द्वारों तक) का अतिदेश किया गया है। वस्तुत: लेश्या से सम्वन्धित परिणामादि १५ द्वारों की प्ररूपणा का अतिदेश किया गया है।

अतिदेश का सारांश—प्रज्ञापना में उक्त मूलपाठ का भावार्थ इस प्रकार है—(प्र.) 'भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या (के संयोग) को प्राप्त करके तद्रूप यावत् तत्स्पर्श रूप में वारवार परिणत होती है।'

इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णलेश्यापरिणामी जीव, यदि नीललेश्या के योग्य द्रव्यों, को ग्रहण करके मृत्यु पाता है, तब वह जिस गति-योनि में उत्पन्न होता है; वहां नीलेश्या-परिणामी होकर उत्पन्न होता है क्योंकि कहा है—**'जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ, तल्लेसे उववज्जइ'** अर्थात्-'जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके जीव मृत्यु पाता है, उसी लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है।' जो कारण होता है, वही संयोगवश कार्यरूप वन जाता है। जैसे—कारणरूप मिट्टी साधन-संयोग से घटादि कार्यरूप वन जाती है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी कालान्तर में साधन-संयोगों को पाकर नीललेश्या के रूप में परिणत (परिवर्तित) हो जाती है। ऐसी स्थिति में कृष्ण और नीललेश्या में सिर्फ औपचारिक भेद रह जाता है, मौलिक भेद नहीं।

प्रज्ञापना में एक लेश्या का लेश्यान्तर को प्राप्त कर तद्रूप यावत् तत्स्पर्शरूप में परिणत होने का कारण पूछने पर वताया गया है—जिस प्रकार छाछ का संयोग मिलने दूध अपने मधुरादि गुणों को छोड़कर छाछ के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में परिवर्तित हो जाता है, अथवा जैसे स्वच्छ वस्त्र रंग के संयोग से उस रंग के रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श-रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी नीललेश्या का संयोग पा कर तद्रूप या तत्स्पर्शरूप में परिणत हो जाती है। जैसे कृष्णलेश्या का नीललेश्या में परिणत होने का कहा, वैसे ही नीललेश्या कापोतलेश्या को, कापोत तेजोलेश्या को, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को तथा पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को पाकर उसके रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप में परिणत हो जाती है, इत्यादि सव कहना चाहिए।[1]

पारिणामादि द्वार का तात्पर्य—लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक में परिणामादि १५ द्वारों का यहाँ अतिदेश किया गया है, उसका तात्पर्य यह है—**परिणाम द्वार** के विषय में ऊपर कह दिया गया है।' **वर्णद्वार**—कृष्णलेश्या का वर्ण मेघादि के समान काला, नीललेश्या का भ्रमर आदिवत् नीला, कापोत-लेश्या का वर्ण खैरसार (कत्थे) के समान कापोत, तेजोलेश्या का शशक के रक्त के समान लाल, पद्मलेश्या का चम्पक पुष्प आदि के समान पीला और शुक्ललेश्या का शंखादि के समान श्वेत है। **रसद्वार**—कृष्णलेश्या का रस नीम के वृक्ष के समान तिक्त (कटु), नीललेश्या का सोंठ आदि के समान तीखा, कापोतलेश्या का कच्चे वेर के समान कसैला, तेजोलेश्या का पके हुए आम के समान खटमीठा, पद्मलेश्या का चन्द्रप्रभा आदि मदिरा के समान तीखा, कसैला और मधुर (तीनों संयुक्त) है, तथा शुक्ललेश्या का रस गुड़ के समान मधुर है। **गन्धद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ दुरभिगन्ध वाली हैं, और तेजो, पद्म एवं शुक्ल ये तीन लेश्याएँ सुरभिगन्ध वाली हैं। **शुद्ध-प्रशस्त संक्लिष्ट-उष्णादिद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ अशुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट, शीत

---

१. (क) 'से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए, तावण्णत्ताए, तागंधत्ताए, तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।' से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ-कण्हलेस्सा····जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'गोयमा ! से जहानामए खीरे दूसिं पप्प, सुद्धे वा वत्थे रागं पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—कण्हलेस्सा इत्यादि।'

—प्रज्ञापना० लेश्यापद १७, उ-४

(ख) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०५

और रुक्ष हैं, तथा दुर्गति की कारण हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ शुद्ध, प्रशस्त, असंक्लिष्ट, उष्ण और स्निग्ध हैं, तथा सुगति की कारण हैं। **परिणाम-प्रदेश-वर्गणा-अवगाहना-स्थानादि द्वार**—लेश्याओं के तीन परिणाम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इनके भी तीन-तीन भेद करने से नौ इत्यादि भेद होते हैं। प्रत्येक लेश्या अनन्त प्रदेशवाली है। प्रत्येक लेश्या की अवगाहना असंख्यात आकाश प्रदेशों में है। कृष्णादि छहों लेश्याओं के योग्य द्रव्यवर्गणाएं औदारिक आदि वर्गणाओं की तरह अनन्त हैं। तरतमता के कारण विचित्र अध्यवसायों के निमित्त रूप कृष्णादिद्रव्यों के समूह असंख्य हैं; क्योंकि अध्यवसायों के स्थान भी असंख्य हैं। **अल्पबहुत्वद्वार**—लेश्याओं के स्थानों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—द्रव्यार्थरूप से कापोतलेश्या के जघन्य स्थान सबसे थोड़े हैं, द्रव्यार्थरूप से नीललेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्य गुणे हैं, द्रव्यार्थरूप से कृष्णलेश्या के जघन्य स्थान असंख्य-गुणे हैं, द्रव्यार्थरूप से तेजोलेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्य गुणे हैं और द्रव्यार्थरूप से पद्मलेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्य गुणे हैं और द्रव्यार्थरूप से शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान उससे भी असंख्यगुणे हैं।

इत्यादिरूप से सभी द्वारों का वर्णन प्रज्ञापनासूत्रोक्त लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ शतक सम्पूर्ण

१. (क) देखिये—प्रज्ञापना० मलयगिरि टीका, पद १७, उ. ४ में परिणामादि द्वार की व्याख्या।
(ख) भगवती सूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक २०५-२०६

पंचमं सयं : पंचम शतक

प्राथमिक

※ व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र का यह पंचम शतक है।

※ इस शतक में सूर्य, चन्द्रमा, छद्मस्थ एवं केवली की ज्ञानशक्ति, शब्द, आयुष्य वृद्धि-हानि आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

※ इस शतक के भी दस उद्देशक हैं।

※ **प्रथम उद्देशक** के प्ररूपण स्थान—चम्पानगरी का वर्णन करके विभिन्न दिशाओं-विदिशाओं से सूर्य के उदय-अस्त का एवं दिन-रात्रि का प्ररूपण है। फिर जम्बूद्वीप में दिवस-रात्रि कालमान का विविध दिशाओं एवं प्रदेशों में ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक के अस्तित्व का तथा लवण-समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एवं पुष्करार्द्ध में सूर्य के उदयास्त आदि का विचार किया गया है।

※ **द्वितीय उद्देशक** में विविध पहलुओं से चतुर्विध वायु का, चावल आदि की पूर्व-पश्चादवस्था का, अस्थि, अंगार आदि की पूर्व-पश्चादवस्था का, तथा लवण-समुद्र की लम्बाई-ऊँचाई संस्थान आदि का निरूपण है।

※ **तृतीय उद्देशक** में एक जीव द्वारा एक समय में इह-पर (उभय) भव सम्बन्धी आयुष्यवेदन के मत का निराकरण करके यथार्थ प्ररूपणा तथा चौबीस दण्डकों और चतुर्विध योनियों की अपेक्षा आयुष्य-सम्बन्धी विचारणा की गई है।

※ **चतुर्थ उद्देशक** में छद्मस्थ और केवली की शब्दश्रवणसम्बन्धी सीमा तथा हास्य-औत्सुक्य, निद्रा, प्रचला सम्बन्धी विचारणा की गई है। फिर हरिणैगमैषी देव द्वारा गर्भापहरण का, अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा एवं भगवत्समाधान का, देवों के मनोगत प्रश्न का भगवान् द्वारा मनोगत समाधान का, देवों को 'नो-संयत' कहने का, देवभाषा का, केवली और छद्मस्थ के अन्तकर आदि का, केवली के प्रशस्त मन-वचन का, उनके मन-वचन को जानने में समर्थ वैमानिक देव का, अनुत्तरोपपातिक देवों के असीम-मनः सामर्थ्य तथा उपशान्तमोहत्व का, केवली के अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का, अवगाहन सामर्थ्य का तथा चतुर्दशपूर्वधारी के लब्धि-सामर्थ्य का निरूपण है।

※ **पंचम उद्देशक** में सर्वप्राणियों के एवम्भूत-अनेवम्भूत वेदन का, तथा जम्बूद्वीप में हुए कुलकर, तीर्थंकर आदि श्लाघ्य पुरुषों का वर्णन है।

✻ छठे उद्देशक में अल्पायु-दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों का, विक्रेता-क्रेता को किराने से सम्बन्धित लगने वाली क्रियाओं का, अग्निकाय के महाकर्म-अल्पकर्म युक्त होने का, धनुर्धर तथा धनुष-सम्बन्धित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाओं का, नैरयिक विकुर्वणा का, आधाकर्मादि दोषसेवी साधु का, आचार्य-उपाध्याय के सिद्धिगमन का तथा मिथ्याभ्याख्यानी के दुष्कर्मबन्ध का प्ररूपण किया गया है ।

✻ सातवें उद्देशक में परमाणु और स्कन्धों के कम्पन, अवगाहन, प्रवेश तथा सार्धादि का एवं उनके परस्पर स्पर्श का द्रव्यादिगत पुद्गलों की कालापेक्षया स्थिति, अन्तरकाल, अल्पबहुत्व का, चौवीस दण्डक के जीवों के आरम्भ-परिग्रह का पंचहेतु-अहेतु का निरूपण है ।

✻ आठवें उद्देशक में द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता की, संसारी एवं सिद्ध जीवों की वृद्धि हानि और अवस्थिति के कालमान की, उनके सोपचयादि की प्ररूपणा है ।

✻ नवें उद्देशक में राजगृह-स्वरूप, समस्त जीवों के उद्योत-अन्धकार तथा समयादि कालज्ञान का, पार्श्वापत्यों द्वारा लोकसम्बन्धी समाधान का एवं देवों के भेद-प्रभेदों का वर्णन है ।

✻ दसवें उद्देशक में चम्पा में वर्णित चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि का अतिदेशपूर्वक वर्णन है ।[1]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा-१ (विसयाणुक्कमो) पृ. ३६ से ४०

(ख) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, विषयसूची पृ. ३ से ५ तक

पंचमं सयं : पंचम शतक

पंचम शतक की संहग्रणी गाथा—

१. चंप रवि १ अणिल २ गंठिय ३ सद्दे ४ छउमायु ५-६ एयण ७ णियंठे ८ ।
रायगिहं ९ चंपाचंदिमा १० य दस पंचमम्मि सते ॥१॥

[१] (गाथा का अर्थ)—पांचवें शतक में ये दस उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक में चम्पा नगरी में सूर्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। द्वितीय उद्देशक में वायु-सम्बन्धी प्ररूपण है। तृतीय उद्देशक में जाल-ग्रन्थी का उदाहरण देकर तथ्य का निरूपण किया है। चतुर्थ उद्देशक में शब्द-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। पंचम उद्देशक में छद्मस्थ के सम्बन्ध में वर्णन है। छठे उद्देशक में आयुष्य की वृद्धि-हानि-सम्बन्धी निरूपण है। सातवें उद्देशक में पुद्गलों के कम्पन का वर्णन है। आठवें उद्देशक में निर्ग्रन्थी-पुत्र अनगार द्वारा पदार्थ-विषयक विचार किया है। नौवें उद्देशक में राजगृह नगर सम्बन्धी पर्यालोचन है और चम्पानगरी में वर्णित चन्द्रमा-सम्बन्धी प्ररूपणा है।

पढमो उद्देसओ : रवि

प्रथम उद्देशक : रवि

प्रथम उद्देशक का प्ररूपणा-स्थान : चम्पानगरी—

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था।[1] वण्णओ। तीसे णं चंपाए नगरीए पुण्णभद्दे नामे चेतिए होत्था।[1] वण्णओ। सामी समोसढे जाव[2] परिसा पडिगता।

[२] उस काल और समय में चम्पा नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। उस चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र नाम का चैत्य (व्यन्तरायतन) था। उसका भी वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। (एक बार) वहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे, (समवसरण लगा)....यावत् परिषद् भगवान् को वन्दन करने और उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए गई और यावत् परिषद् वापस लौट गई।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का प्ररूपण-स्थान : चम्पानगरी—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम उद्देशक के उपोद्घात में चम्पानगरी में, पूर्णभद्र नामक व्यन्तरायतन में भगवान् महावीर के पदार्पण, समवसरण, दर्शन-वन्दनार्थ परिषद् का आगमन तथा धर्मोपदेश श्रवण के पश्चात् पुनः गमन आदि

---

१. चम्पानगरी और पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना।

२. यहाँ जाव शब्द से परिषद्-निर्गमन से लेकर प्रतिगमन तक सारा वर्णन पूर्ववत्।

का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है, ताकि पाठक यह स्पष्टतया समझ सकें कि प्रथम उद्देशक में वर्णित विषयों का निरूपण चम्पानगरी में हुआ था।[1]

चम्पानगरी : तब और अब—औपपातिक सूत्र में चम्पानगरी का विस्तृत वर्णन मिलता है, तदनुसार 'चम्पा' ऋद्धियुक्त, स्तमित एवं समृद्ध नगरी थी। महावीर-चरित्र के अनुसार अपने पिता श्रेणिक राजा की मृत्यु के शोक के कारण सम्राट् कोणिक मगध की राजधानी राजगृह में रह नहीं सकता था, इस कारण उसने वास्तुशास्त्रियों के परामर्श के अनुसार एक विशाल चम्पावृक्ष वाले स्थान को पसंद करके अपनी राजधानी के हेतु चम्पानगरी बसाई। इसी चम्पानगरी में दधिवाहन राजा की पुत्री चन्दनवाला का जन्म हुआ था। पाण्डवकुलभूषण प्रसिद्ध दानवीर कर्ण ने इसी नगरी को अंगदेश की राजधानी बनाई थी। दशवैकालिक सूत्र-रचयिता आचार्य शय्यंभव सूरि ने राजगृह से आए हुए अपने लघुवयस्क पुत्र मनक को इसी नगरी में दीक्षा दी थी और यहीं दशवैकालिक सूत्र की रचना की थी। बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी के पांच कल्याणक इसी नगरी में हुए थे। इस नगरी के बंद हुए दरवाजों को महासती सुभद्रा ने अपने शील की महिमा से अपने कलंक निवारणार्थ कच्चे सूत की चलनी बांध कर उसके द्वारा कुए में से पानी निकाला और तीन दरवाजों पर छींट कर उन्हें खोला था। चौथा दरवाजा ज्यों का त्यों बंद रखा था। परन्तु बाद में वि. सं. १३६० में लक्षणावती के हम्मीर और सुलतान समदीन ने शंकरपुर का किला बनाने हेतु उपयोगी पाषाणों के लिए इस दरवाजे को तोड़ कर इसके कपाट ले लिये थे। वर्तमान में चम्पानगरी चम्पारन कस्बे के रूप में भागलपुर के निकटवर्ती एक जिला है। महात्मा गाँधीजी ने चम्पारन में प्रथम सत्याग्रह किया था।[2]

जम्बूद्वीप में सूर्यों के उदय-अस्त एवं रात्रि-दिवस से सम्बन्धित प्ररूपणा—

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोतमे गोत्तेणं जाव[3] एवं वदासी—

[३] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति अनगार थे, यावत् उन्होंने इस प्रकार पूछा—

४. जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे सूरिया उदीण-पादीणमुग्गच्छ पादीण-दाहिणमागच्छंति? पादीण-दाहिणमुग्गच्छ दाहिण-पडीणमागच्छंति? दाहिण-पडीणमुग्गच्छ पडीण-उदीणमागच्छंति? पडीण-उदीणमुग्गच्छ उदीचि-पादीणमागच्छंति?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७

२. (क) जिनप्रभसूरिरचित 'चम्पापुरीकल्प'
   (ख) हेमचन्द्राचार्यरचित महावीरचरित्र सर्ग १२, श्लोक १८० से १८९ तक
   (ग) आचार्य शय्यंभवसूरिरचित परिशिष्टपर्व सर्ग ५, श्लोक ६८, ८०, ८५
   (घ) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १४४

३. 'जाव' पद से गौतम स्वामी का समस्त वर्णन एवं उपासनादि कहना चाहिए।

हंता, गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उदीण-पादीणमुग्गच्छ जाव[1] उदीचि-पादीणमागच्छंति ।

[४ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सूर्य क्या उत्तरपूर्व (ईशान-कोण) में उदय हो कर पूर्वदक्षिण (आग्नेय कोण) में अस्त होते (होने आते) हैं ? अथवा आग्नेय कोण में उदय होकर दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य कोण) में अस्त होते हैं ? अथवा नैर्ऋत्य कोण में उदय होकर पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में अस्त होते हैं, या फिर पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में उदय होकर उत्तरपूर्व (ईशान कोण) में अस्त होते हैं ?

[४ उ.] हाँ, गौतम ! जम्बूद्वीप में सूर्य उत्तरपूर्व—ईशान कोण में उदित हो कर अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण) में अस्त होते हैं, यावत् (पूर्वोक्त कथनानुसार)·······ईशानकोण में अस्त होते हैं ।

५. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति ? जदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे जाव राती भवति ।

[५ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी दिन होता है ? और जब जम्बूद्वीप के उत्तरार्द्ध में दिन होता है, तब क्या मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम में रात्रि होती है ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है; अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में दिन में होता है, तब यावत् रात्रि होती है ।

६. जदा णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि दिवसे भवति ? जदा णं पच्चत्थिमेणं दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर-दाहिणेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जबु० मंदर० पुरत्थिमेणं दिवसे जाव राती भवति ।

[६ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व में दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी दिन होता है ? और जब पश्चिम में दिन होता है, , तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से उत्तर-दक्षिण में रात्रि होती है ?

[६ उ.] गौतम ! हाँ, इसी प्रकार होता है; अर्थात्—जब जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पूर्व में दिन होता है, तब यावत्-रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप में सूर्यों के उदय-अस्त एवं दिवस-रात्रि से सम्बन्धित प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में से दो सूत्रों में जम्बूद्वीपान्तर्गत सूर्यों का विभिन्न विदिशाओं (कोणों) से उदय और अस्त का निरूपण किया गया है, तथा पिछले दो सूत्रों में जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध, पूर्व-पश्चिम, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि की अपेक्षा से दिन और रात का प्ररूपण किया गया है ।

१. यहाँ 'जाव' पद से सम्पूर्ण प्रश्नगत वाक्य सूचित किया गया है ।

सूर्य के उदय-अस्त का व्यवहार : दर्शक लोगों की दृष्टि की अपेक्षा से—यहाँ जो दिशा-विदिशा या समय की दृष्टि से सूर्य का उदय-अस्त बताया गया है, वह सब व्यवहार दर्शकों की दृष्टि की अपेक्षा से बताया है, क्योंकि समग्र भूमण्डल पर सूर्य के उदय-अस्त का समय या दिशा-विदिशा (प्रदेश) नियत नहीं है। वास्तव में देखा जाए तो सूर्य तो सदैव भूमण्डल पर विद्यमान रहता है, किन्तु जब सूर्य के समक्ष किसी प्रकार की आड़ (ओट या व्यवधान) आ जाती है, तब (उस समय) उस देश (उस दिशा-विदिशा) के लोग उक्त सूर्य को देख नहीं पाते, तब उस देश के लोग इस प्रकार का व्यवहार करते हैं—अब सूर्य अस्त हो गया है। जब सूर्य के सामने किसी प्रकार की आड़ नहीं होती, तब उस देश (दिशा-विदिशा) के लोग सूर्य को देख पाते हैं, और वे इस प्रकार का व्यवहार करते हैं—अब (इस समय) सूर्य उदय हो गया है। एक आचार्य ने कहा है—'सूर्य प्रति समय ज्यों-ज्यों आकाश में आगे गति करता जाता है, त्यों-त्यों निश्चित ही इस तरफ रात्रि होती जाती है। इसलिए सूर्य की गति पर ही उदय-अस्त का व्यवहार निर्भर है। मनुष्यों की (दृष्टि की) अपेक्षा से उदय और अस्त दोनों क्रियाएँ अनियत हैं, क्योंकि अपने-अपने देश (दिशा) भेद के कारण कोई किसी प्रकार का और दूसरा किसी अन्य प्रकार का व्यवहार करते हैं। इससे सिद्ध है कि सूर्य आकाश में सब दिशाओं में गति करता है; इस प्ररूपणा के अनुसार इस मान्यता का स्वतः निराकरण हो जाता है कि "सूर्य पश्चिम की ओर के समुद्र में प्रविष्ट होकर पाताल में चला जाता है, फिर पूर्व की ओर के समुद्र पर उदय होता है।"[1]

सूर्य सभी दिशाओं में गतिशील होते हुए भी रात्रि क्यों?—यद्यपि सूर्य सभी दिशाओं (देशों) में गति करता है, तथापि उसका प्रकाश अमुक सीमा तक ही फैलता है, उससे आगे नहीं, इसलिए जगत् में जो रात्रि-दिवस का व्यवहार होता है, वह निर्बाध है। आशय यह है कि जितनी सीमा तक जिस देश में सूर्य का प्रकाश, जितने समय तक पहुँचता है, उतनी सीमा तक उस प्रदेश में, उतने समय तक दिवस होता है, शेष सीमा में, शेष प्रदेश में उतने समय रात्रि होती है। इसलिए सूर्य के प्रकाश का क्षेत्र मर्यादित होने के कारण रात्रि-दिवस का व्यवहार होता है।

एक ही समय में दो दिशाओं में दिवस कैसे?—जम्बूद्वीप में सूर्य दो हैं, इसलिए एक ही समय में दो दिशाओं में दिवस होता है और दो दिशाओं में रात्रि होती है।

दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध का आशय—यदि यह अर्थ माना जाएगा कि जम्बूद्वीप के उत्तर के सम्पूर्ण खण्ड और दक्षिण के सम्पूर्ण खण्ड में दिवस होता है, तब तो सर्वत्र दिवस होगा, रात्रि कहीं नहीं; मगर यहाँ उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध के ये अर्थ अभीष्ट न होकर उत्तरदिशा में आया हुआ अमुक भाग 'उत्तरार्द्ध' और दक्षिणदिशा में आया हुआ अमुक भाग 'दक्षिणार्द्ध' अर्थ ही अभीष्ट है। इसी कारण पूर्व और पश्चिम दिशा में रात्रि का होना संगत हो सकता है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७

(ख) जह-जह समये-समये पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे।
तह-तह इओऽवि नियमा, जायइ रयणी य भावत्थो ॥ १॥
एवं च सइ नराणं उदयत्थमणाइं होंतिऽनिययाइं।
सयदेसभेए कस्सइ किंचि ववदिस्सइ नियमा ॥ २॥

—भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २०७ में उद्धृत

चार विदिशाएँ, अर्थात् चार कोण—उदीण-पाईणं=उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा=ईशान-कोण; दाहिण-पडीणं=दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा=नैऋत्यकोण; पाईण-दाहिणं=पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा=आग्नेय कोण, तथा पडीण-उदीणं=पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा=वायव्य कोण।[1] उदीण=उत्तर दिशा के पास का प्रदेश उदीचीन, तथा पाईण=प्राची (पूर्व) दिशा के निकट का प्रदेश—प्राचीन।

जम्बूद्वीप में दिवस और रात्रि का कालमान—

७. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जदा णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति।

[७ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी उत्कृष्ट (सब से बड़ा) अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है ?, और जब उत्तरार्द्ध में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप में मन्दर (मेरु) पर्वत से पूर्व-पश्चिम में जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[७ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप में, यावत्....... बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

८. जदा णं जंबु० मंदरस्स पुरत्थिमेणं उक्कोसए अट्ठारस जाव तदा णं जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमेण वि उक्को० अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जया णं पच्चत्थिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता जाव राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति।

[८ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरु-पर्वत से पूर्व में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के पश्चिम में भी उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है ?, और भगवन् ! जब पश्चिम में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिवस होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के उत्तर में जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह—यावत्.......होता है।

९. जदा णं भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरे अट्ठारस-मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति ? जदा णं उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० जाव राती भवति।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७-२०८

(ख) भगवती० (विवेचनयुक्त) (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ-७५३ से ७५६ तक

[९ प्र.] हे भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में अठारह मुहूर्त्तानन्तर (मुहूर्त्त से कुछ कम) का दिवस होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध (उत्तर) में भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिवस होता है ? और जब उत्तरार्द्ध में अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत से पूर्व पश्चिम दिशा में सातिरेक (कुछ अधिक) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[९ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है; अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के……यावत् रात्रि होती है ।

१०. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति ? जदा णं पच्चत्थिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति ।

[१० प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दराचल से पूर्व में अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है ?, और जब पश्चिम में अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप में मेरु-पर्वत से उत्तर दक्षिण में भी सातिरेक बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१० उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह) यावत् होती है ।

११. एवं एतेणं कमेणं ओसारेयव्वं—सत्तरसमुहुत्ते दिवसे, तेरसमुहुत्ता राती । सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती । सोलसमुहुत्ते दिवसे, चोद्दसमुहुत्ता राती । सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगा चोद्दसमुहुत्ता राती । पन्नरसमुहुत्ते दिवसे, पन्नरसमुहुत्ता राती । पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती । चोद्दसमुहुत्ते दिवसे, सोलसमुहुत्ता राती । चोद्दसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती । तेरसमुहुत्ते दिवसे, सत्तरसमुहुत्ता राती । तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती ।

[११] इस प्रकार इस क्रम से दिवस का परिमाण बढ़ाना-घटाना और रात्रि का परिमाण घटाना-बढ़ाना चाहिए । *यथा*—जब सत्रह मुहूर्त्त का दिवस होता है, तब तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सत्रह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सोलह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सोलह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब पन्द्रह मुहूर्त्तान्तर का दिन होता है, तब सातिरेक पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब चौदह मुहूर्त्त का दिन होता, तब सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब चौदह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब तेरह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब तेरह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ।

१२. जदा णं जंबु० दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया णं उत्तरड्ढे वि ? जया णं उत्तरड्ढे तया णं जंबुदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे-पच्चत्थिमे णं उक्कोसिया अट्ठारस-मुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं चेव उच्चारेयव्वं जाव राती भवति ।

[१२ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिणार्द्ध में जघन्य बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी (इसी तरह होता है) ? और जब उत्तरार्द्ध में भी इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व और पश्चिम में उत्कृष्ट (सबसे बड़ी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१२ उ.] हाँ, गौतम ! इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से सब कहना चाहिए, यावत्........रात्रि होती है ।

१३. जदा णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि० ? जया णं पच्चत्थिमेण वि तदा णं जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव राती भवति ।

[१३ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व में जघन्य (सबसे छोटा) बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी इसी प्रकार होता है ? और जब पश्चिम में इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर और दक्षिण में उत्कृष्ट (सबसे बड़ी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१३ उ.] हाँ, गौतम ! यह उसी तरह यावत्........रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप में दिवस और रात्रि का काल-परिमाण—प्रस्तुत सात सूत्रों में जम्बूद्वीप में दिन और रात का मुहूर्त्तों के रूप में परिमाण बताया गया है ।

दिन और रात्रि की कालगणना का सिद्धान्त—जैन सिद्धान्त की दृष्टि से दिन और रात्रि मिला कर दोनों कुल ३० मुहूर्त्त के होते हैं । दक्षिण और उत्तर में दिन और रात्रि का उत्कृष्ट मान १८ मुहूर्त्त का होगा तो पूर्व और पश्चिम में रात्रि १२ मुहूर्त्त की होगी । यदि रात्रि पूर्व व पश्चिम में उत्कृष्टतः १८ मुहूर्त्त की होगी तो दक्षिणार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा, इसी तरह पूर्व पश्चिम में जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा तो उत्तर एवं दक्षिण में रात्रि उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्त की होगी । यदि दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध अथवा पूर्व और पश्चिम में १८ मुहूर्त्तानन्तर का दिन होगा तो पूर्व और पश्चिम में अथवा उत्तर और दक्षिण में रात्रि सातिरेक १२ मुहूर्त्त की होगी ।

तात्पर्य यह है कि ३० मुहूर्त्त अहोरात्र में से दिवस का जितना भाग बढ़ता या घटता है, उतना ही भाग, रात्रि का घटता या बढ़ता जाता है । सूर्य के कुल १८४ मण्डल हैं । उनमें से जम्बूद्वीप में ६५ और लवणसमुद्र में शेष ११९ मण्डल हैं । जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल में होता है, तब १८ मुहूर्त्त का दिन होता है और १२ मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सूर्य बाह्यमण्डल से आभ्यन्तरमण्डल की ओर आता है, तब क्रमशः प्रत्येक मण्डल में दिवस बढ़ता जाता है और रात्रि

घटती जाती है; और जब सूर्य आभ्यन्तरमण्डल से बाह्यमण्डल की ओर प्रयाण करता है, तब प्रत्येक मण्डल में डेढ़ मिनट से कुछ अधिक रात्रि बढ़ती जाती है तथा दिन उतना ही घटता जाता है। जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल से निकल कर उसके पास वाले दूसरे मण्डल में जाता है, तब मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, जिसे शास्त्र में 'अष्टादश-मुहूर्त्तानन्तर' कहते हैं, क्योंकि यह समय १८ मुहूर्त्त का दिन होने के तुरंत बाद में आता है।

क्रमशः सूर्य की विभिन्न मण्डलों में गति के अनुसार दिन-रात्रि का परिमाण इस प्रकार है—

(१) दूसरे से ३१ वें मण्डल के अर्द्ध भाग में जब सूर्य जाता है, तब दिन १७ मुहूर्त्त का, रात्रि १३ मुहूर्त्त की।

(२) ३२ वें मण्डल के अर्द्ध भाग में जब सूर्य जाता है, तब १ मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम १७ मुहूर्त्त का दिन और रात्रि मुहूर्त्त के २/६१ भाग अधिक १३ मुहूर्त्त।

(३) ३३वें मण्डल से ६१वें मण्डल में जब सूर्य जाता है, तब १६ मुहूर्त्त का दिन, १४ मुहूर्त्त की रात्रि।

(४) सूर्य जब दूसरे से ९२वें मण्डल के अर्द्धभाग में जाता है, तब १५-१५ मुहूर्त्त के दिन और रात्रि।

(५) सूर्य जब १२२वें मण्डल में जाता है, तब दिन १४ मुहूर्त्त का होता है।

(६) सूर्य जब १५३वें मण्डल के अर्द्धभाग में जाता है तब दिन १३ मुहूर्त्त का होता है।

(७) सूर्य जब दूसरे से सर्व बाह्य १८३वें मण्डल में होता है, तब[1] ठीक १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है।

ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक विविध दिशाओं एवं प्रदेशों (क्षेत्रों) में अस्तित्व की प्ररूपणा—

१४. जया णं भंते! जंबु० दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तया णं उत्तरड्ढे वि

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०८-२०९

(ख) भगवती०—हिन्दी विवेचनयुक्त (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ७६०-७६१

(ग) दिन और रात्रि का कालमान—घंटों के रूप में, १। मुहूर्त्त = १ घंटा १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट। यदि सूर्य १ मण्डल में ४८ घंटे रहता हो तो ४८ को १० का भाग करके भाजक संख्या को तिगुनी करने पर जितने घंटे मिनट आवें, उतनी संख्या दिन के माप की होती है। जैसे ४८ घंटे सूर्य रहता है तो ४८ ÷ १० = ४ ३/४ भागशेष = १ = ३० मिनट। १० ÷ ३० करने से ३ सिर्फ रहता है। इस प्रकार ४८ को १० का भाग देने से ४।।। घंटे और ३ मिनट आते हैं। फिर उसे तीन गुणा करने पर १४। घंटे ९ मिनट आते हैं। अभिप्राय यह है कि जब तक सूर्य एक मण्डल में ४८ घंटे तक रहता है, वहाँ तक इतने घंटे (१४। घंटे, ९ मिनट) का दिन बड़ा होता है। रात्रि के लिए भी यही बात समझना। अर्थात्—इतना बड़ा दिन हो तो रात्रि ९।। घंटे, ६ मिनट की होती है।

—भगवती. टीकानुवाद टिप्पण. खण्ड २ पृ. १५०

वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ? जया णं उत्तरड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जति ?

हंत, गोयमा ! जदा णं जंबु० २ दाहिणड्ढे वासाणं प० स० पडिवज्जति तह चेव जाव पडिवज्जति।

[१४ प्र.] 'भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में वर्षा (ऋतु) (चौमासे की मौसम) का प्रथम समय होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब उत्तरार्द्ध में वर्षा-ऋतु का प्रथम समय होता है, तब जम्बूद्वीप में मन्दर-पर्वत से पूर्व पश्चिम में वर्षा-ऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पुरस्कृत समय में होता है ? (अर्थात्-जिस समय दक्षिणार्द्ध में वर्षाऋतु का प्रारम्भ होता है, उसी समय के तुरंत पश्चात् दूसरे समय में मन्दरपर्वत से पूर्व-पश्चिम में वर्षा-ऋतु प्रारम्भ होती है ?)

[१४ उ.] 'हाँ, गोतम ! (यह इसी तरह होता है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब उसी तरह यावत्....होता है।'

१५. जदा णं भंते ! जंबु० मंदरस्स० पुरत्थिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तया णं पच्चत्थिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ? जया णं पच्चत्थिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं जाव मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडसमयंसि वासाणं प० स० पडिवन्ने भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं एवं चेव उच्चारेयव्वं जाव पडिवन्ने भवति।

[१५ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप में मन्दराचल से पूर्व में वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब पश्चिम में भी क्या वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब पश्चिम में वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब, यावत्....मन्दरपर्वत से उत्तर दक्षिण में वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत् समय में होता है ? (अर्थात्—मन्दरपर्वत से पश्चिम में वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के प्रथम समय पहले एक समय में वहाँ (मन्दरपर्वत के) उत्तर-दक्षिण में वर्षा प्रारम्भ हो जाती है ?)

[१५ उ.] हाँ, गौतम ! (इसी तरह होता है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप में मन्दराचल से पूर्व में वर्षाऋतु प्रारम्भ होती है, तब पश्चिम में भी....इसी प्रकार यावत्—उत्तर दक्षिण में वर्षाऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत समय में होता है, इसी तरह सारा वक्तव्य कहना चाहिए।

१६. एवं जहा समएणं अभिलावो भणिओ वासाणं तहा आवलियाए[1] वि भाणियव्वो २,

१. आवलिका सम्बन्धी पाठ इस प्रकार कहना चाहिए—'जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि, जयाणं उत्तरड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ, तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ ?' हंता गोयमा ! इत्यादि। इसी प्रकार आनपान आदि पदों का भी सूत्र पाठ समझ लेना चाहिए। —सं.

आणापाणूण वि ३, थोवेण वि ४, लवेण वि ५, मुहुत्तेण वि ६, अहोरत्तेण वि ७, पक्खेण वि ८, मासेण वि ९, उउणा वि १०। एतेसिं सव्वेसिं जहा समयस्स अभिलावो तहा भाणियव्वो।

[१६] जिस प्रकार वर्षाऋतु के प्रथम समय के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ की प्रथम आवलिका के विषय में भी कहना चाहिए। इसी प्रकार आन-पान, स्तोक, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु; इन सबके विषय में भी समय के अभिलाप की तरह कहना चाहिए।

१७. जदा णं भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे हेमंताणं पढमे समए पडिवज्जति ? जहेव वासाणं अभिलावो तहेव हेमंताण वि २०, गिम्हाण वि ३० भाणियव्वो जाव उऊ। एवं एते तिन्नि वि। एतेसिं तीसं आलावगा भाणियव्वा।

[१७ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में हेमन्त ऋतु का प्रथम समय होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी हेमन्तऋतु का प्रथम समय होता है; और जब उत्तरार्द्ध में हेमन्त ऋतु का प्रथम समय होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम में हेमन्त ऋतु का प्रथम समय अनन्तर पुरस्कृत समय में होता है ? इत्यादि प्रश्न है।

[१७ उ.] हे गौतम ! इस विषय का सारा वर्णन वर्षा-ऋतु के (अभिलाप) कथन के समान जान लेना चाहिए। इसी तरह ग्रीष्मऋतु का भी वर्णन कह देना चाहिए। हेमन्तऋतु और ग्रीष्मऋतु के प्रथम समय की तरह उनकी प्रथम आवलिका, यावत् ऋतुपर्यन्त सारा वर्णन कहना चाहिए। इस प्रकार वर्षाऋतु, हेमन्तऋतु, और ग्रीष्मऋतु; इन तीनों का एक सरीखा वर्णन है। इसलिए इन तीनों के तीस आलापक होते हैं।

१८. जया णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमे अयणे पडिवज्जइ ? जहा समएणं अभिलावो तहेव अयणेण वि भाणियव्वो जाव अणंतरपच्छाकडसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति।

[१८ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत से दक्षिणार्द्ध में जब प्रथम 'अयन' होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी प्रथम 'अयन' होता है ?

[१८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार 'समय' के विषय में आलापक कहा, उसी प्रकार 'अयन' के विषय में भी कहना चाहिए; यावत् उसका प्रथम समय अनन्तर पश्चात्कृत समय में होता है; इत्यादि सारा वर्णन कहना चाहिए।

१९. जहा अयणेणं अभिलावो तहा संवच्छरेण वि भाणियव्वो, जुएण वि, वाससतेण वि, वाससहस्सेण वि, वाससतसहस्सेण वि, पुव्वंगेण वि, पुव्वेण वि, तुडियंगेण वि, तुडिएण वि, एवं पुव्वे २, तुडिए २, अडडे २, अववे २, हूहूए २, उप्पले २, पउमे २, नलिणे २, अत्थणिउरे २, अउए २, णउए २, पउए २, चूलिया २, सीसपहेलिया २, पलिओवमेण वि, सायरोवमेण वि, भाणितव्वो।

[१९] जिस प्रकार 'अयन' के सम्बन्ध में कहा; उसी प्रकार संवत्सर के विषय में भी कहना

चाहिए; तथैव युग, वर्षशत, वर्षसहस्र, वर्षशतसहस्र, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनूपुरांग, अर्थनूपुर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्ष-प्रहेलिका, पल्योपम और सागरोपम; (इन सब) के सम्बन्ध में भी (पूर्वोक्त प्रकार से) कहना चाहिए।

२०. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ ? जता णं उत्तरड्ढे वि पडिवज्जइ तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं णेवत्थि ओसप्पिणी णेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिते णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो ! ?

हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं जाव समणाउसो !

[२० प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी प्रथम अवसर्पिणी होती है ?; और जब उत्तरार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत के पूर्व पश्चिम में अवसर्पिणी नहीं होती ?, उत्सर्पिणी नहीं होती ?, किन्तु हे आयुष्मान् श्रमणपुंगव ! क्या वहाँ अवस्थित काल कहा गया है ?

[२० उ.] हाँ, गौतम ! इसी तरह होता है। यावत् (श्रमणपुंगव ! तक) पूर्ववत् सारा वर्णन कह देना चाहिए।

२१. जहा ओसप्पिणीए आलावओ भणितो एवं उस्सप्पिणीए वि भाणितव्वो।

[२१] जिस प्रकार अवसर्पिणी के विषय में आलापक कहा है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी के विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—विविध दिशाओं एवं प्रदेशों (क्षेत्रों) में ऋतु से लेकर उत्सर्पिणी काल तक के अस्तित्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों में वर्षा आदि ऋतुओं के विविध दिशाओं और प्रदेशों में अस्तित्व की प्ररूपणा करके अहोरात्र, आनपान, मुहूर्त आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध में अतिदेश किया गया है। तदनन्तर अयन, युग, वर्षशत आदि से लेकर सागरोपमपर्यन्त तथा अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल तक के पूर्वादि दिशाओं तथा प्रदेशों में अस्तित्व का अतिदेशपूर्वक प्ररूपण किया गया है।

विविध कालमानों की व्यख्या—वासाणं=वर्षाऋतु का, **हेमंताणं**=हेमन्तऋतु का, **गिम्हाण**= ग्रीष्मऋतु का। ऋतु भी एक प्रकार का कालमान है। वर्षभर में यों तो ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर। परन्तु यहाँ तीन ऋतुओं का नामोल्लेख किया गया है, इसलिए चार-चार महीने की एक-एक ऋतु मानी जानी चाहिए। **अणंतर-पुरक्खडसमयंसि**= दक्षिणार्द्ध में प्रारम्भ होने वाली वर्षाऋतु प्रारम्भ की अपेक्षा अनन्तर (तुरन्त पूर्व) भविष्यत्कालीन समय को अनन्तरपुरस्कृत समय कहते हैं। **अणंतरपच्छाकडसमयंसि**=पूर्व और पश्चिम महाविदेह में प्रारम्भ होने वाली वर्षा ऋतु प्रारम्भ की अपेक्षा अनन्तर (तुरंत बाद के) अतीतकालीन समय को अनन्तर पश्चात्कृत समय कहते हैं। समय (अत्यन्त सूक्ष्मकाल) से लेकर ऋतु तक काल के १० भेद होते हैं—(१) **समय**, (काल का सबसे छोटा भाग, जिसका दूसरा भाग न हो सके), (२) **आवलिया**

(असंख्यात समय), (३) आणापाणू (आनपान=उच्छ्वास-निःश्वास, संख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास और इतनी ही आवलिकाओं का एक निःश्वास), (४) थोवं (स्तोक—सात आनप्राणों अथवा प्राणों का एक स्तोक), (५) लवं=(सात स्तोकों का एक लव), (६) मुहुत्तं (मुहूर्त्त=७७ लव, अथवा ३७७३ श्वासोच्छ्वास, या दो घड़ी अथवा ४८ मिनट का एक मुहूर्त्त), (७) अहोरत्तं—(अहोरात्र—३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र), (८) पक्खं (पक्ष=१५ दिनरात-अहोरात्र का एक पक्ष), (९) मासं (मास—दो पक्ष का एक महीना), और उऊ (ऋतु=दो मास की एक ऋतु—मौसम)। **अयन से ले कर सागरोपम तक—अयणं** (अयन=तीन ऋतुओं का एक), **संवच्छरं** (दो अयन का एक संवत्सर), **जुए** (युग=पांच संवत्सर का एक युग), **वाससतं** (वीस युगों का एक वर्षशत), **वाससहस्सं** (दश वर्षशत का एक वर्ष—सहस्र—हजार), **वाससतसहस्सं** (१०० वर्षसहस्रों का एक वर्षशतसहस्र—एक लाख वर्ष), **पुव्वंग** (८४ लाख वर्षो का एक पूर्वांग), **पुव्वं** (८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने से जितने वर्ष हों, उतने वर्षों का एक पूर्व), **तुडियंगं** (एक पूर्व को ८४ लाख से गुणा करने से एक त्रुटितांग), **तुडिए** (एक त्रुटितांग को ८४ लाख से गुणा करने पर एक त्रुटित), इसी प्रकार पूर्व-पूर्व की राशि को ८४ लाख से गुणा करने पर उत्तर-उत्तर की समयराशि क्रमशः बनती है। वह इस प्रकार है—अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका (१९४ अंकों की संख्या), पल्योपम और सागरोपम (ये दो गणना के विषय नहीं है, उपमा के विषय हैं, इन्हें उपमाकाल कहते हैं)।

अवसर्पिणीकाल—जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान उत्तरोत्तर हीन (न्यून) होते जाते हैं, आयु और अवगाहना घटती जाती है, तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम का क्रमशः ह्रास होता जाता है, पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते जाते हैं एवं शुभ भावों में कमी और अशुभभावों में वृद्धि होती जाती है, उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। यह काल दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसके ६ विभाग (आरे) होते हैं। एक प्रकार से यह अर्द्ध कालचक्र है। अवसर्पिणीकाल का प्रथम विभाग अर्थात् पहले आरे के लिए कहा गया है—**'पढमा ओसप्पिणी'**।

उत्सर्पिणीकाल—जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुभ होते हैं, आयु और अवगाहना बढ़ती जाती है; उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, तथा पुद्गलों के वर्णादि शुभ होते जाते हैं, अशुभतम भाव क्रमशः अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम हो जाते हैं, एवं उच्चतम अवस्था आ जाती है, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। यह काल भी दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसके भी ६ विभाग (आरे) होते हैं, यह भी अर्द्धकालचक्र कहलाता है।[1]

लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एवं पुष्करार्द्ध में सूर्य के उदय-अस्त तथा दिवस-रात्रि का विचार—

२२. [१] लवणे णं भंते! समुद्दे सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जच्चेव जंबुद्दीवस्स

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २११

(ख) भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ. १५५.

वत्तव्वता भणिता सच्चेव सव्वा अपरिसेसिता लवणसमुद्दस्स वि भाणितव्वा, नवरं अभिलावो इमो जाणितव्वो—'जता णं भंते ! लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं लवणे समुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?' एतेणं अभिलावेणं नेतव्वं—

[२२-१ प्र.] भगवन् ! लवणसमुद्र में सूर्य ईशानकोण में उदय हो कर क्या अग्निकोण में जाते हैं ?; इत्यादि सारा प्रश्न पूछना चाहिए।

[२२-१ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप में सूर्यों के सम्बन्ध में जो वक्तव्यता कही गई है, वह सम्पूर्ण वक्तव्यता यहाँ लवणसमुद्रगत सूर्यों के सम्बन्ध में भी कहनी चाहिए। विशेष बात यह है कि इस वक्तव्यता में पाठ का उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए—'भगवन् ! जब लवणसमुद्र के दक्षिणार्द्ध में दिन होता है,' इत्यादि सारा कथन उसी प्रकार कहना चाहिए, यावत् तब लवणसमुद्र के पूर्व पश्चिम में रात्रि होती है।' इसी अभिलाप द्वारा सब वर्णन जान लेना चाहिए।

[२] जदा णं भंते ! लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ ? जदा णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तदा णं लवणसमुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी, णेवत्थि उस्सप्पिणी समणाउसो ! ?

हंता, गोयमा ! जाव समणाउसो !

[२२-२ प्र.] भगवन् ! जब लवणसमुद्र के दक्षिणार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है ? और जब उत्तरार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है, तब क्या लवणसमुद्र के पूर्व-पश्चिम में अवसर्पिणी नहीं होती ? उत्सर्पिणी नहीं होती ? किन्तु हे दीर्घजीवी श्रमणपुंगव ! क्या वहां अवस्थित (अपरिवर्तनीय) काल होता है ?

[२२-२ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है।) और वहां......यावत् आयुष्मान् श्रमणवर ! अवस्थित काल कहा गया है।

२३. धायतिसंडे णं भंते ! दीवे सूरिया उदीचि-पादीणमुग्गच्छ.......? जहेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वता भणिता स च्चेव धायइसंडस्स वि भाणितव्वा, नवरं इमेणं अभिलावेणं सव्वे आलावगा भाणितव्वा—जता णं भंते ! धायतिसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि ? जदा णं उत्तरड्ढे वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं जाव राती भवति।

[२३ प्र.] भगवन् ! धातकीखण्ड द्वीप में सूर्य, ईशानकोण में उदय हो कर क्या अग्निकोण में अस्त होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२३ उ.] हे गौतम ! जिस प्रकार की वक्तव्यता जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में कही गई है, उसी प्रकार की सारी वक्तव्यता धातकीखण्ड के विषय में भी कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि इस पाठ का उच्चारण करते समय सभी आलापक इस प्रकार कहने चाहिए—

[प्र.] भगवन् ! जब धातकीखण्ड के दक्षिणार्द्ध में दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी दिन होता है ? और जब उत्तरार्द्ध में दिन होता है, तब क्या धातकीखण्ड द्वीप के मन्दरपर्वतों से पूर्व पश्चिम में रात्रि होती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह (होता है।) यावत् रात्रि होती है।

२४. जदा णं भंते ! धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरत्थिमेणं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि ? जदा णं पच्चत्थिमेण वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं उत्तरदाहिणेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति। एवं एतेणं अभिलावेणं नेयव्वं जाव०।

[२४ प्र.] भगवन् ! जब धातकीखण्डद्वीप के मन्दरपर्वतों से पूर्व में दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी दिन होता है ? और जब पश्चिम में दिन होता है, तब क्या धातकीखण्डद्वीप के मन्दरपर्वतों से उत्तर-दक्षिण में रात्रि होती है ?

[२४ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है,) यावत् (रात्रि) होती है और इसी अभिलाप से जानना चाहिए, यावत्—

२५. जदा णं भंते ! दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी तदा णं उत्तरड्ढे, जदा णं उत्तरड्ढे तया णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं णेवत्थि ओसप्पिणी जाव समणाउसो ! ?

हंता, गोयमा ! जाव समणाउसो !

[२५ प्र.] भगवन् ! जब दक्षिणार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी प्रथम अवसर्पिणी होती है ? और जब उत्तरार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या धातकीखण्ड द्वीप के मन्दरपर्वतों से पूर्व पश्चिम में भी अवसर्पिणी नहीं होती ? यावत् उत्सर्पिणी नहीं होती ? परन्तु आयुष्मान् श्रमणवर्य ! क्या वहाँ अवस्थितकाल होता है ?

[२५ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है,) यावत् हे आयुष्मान् श्रमणवर्य ! अवस्थित काल होता है।

२६. जहा लवणसमुद्दस्स वत्तव्वता तहा कालोदस्स वि भाणितव्वा, नवरं कालोदस्स नामं भाणितव्वं।

[२६] जैसे लवणसमुद्र के विषय में वक्तव्यता कही, वैसे कालोद (कालोदधि) के सम्बन्ध में भी कह देनी चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ लवणसमुद्र के स्थान पर कालोदधि का नाम कहना चाहिए।

२७. अब्भितरपुक्खरद्धे णं भंते ! सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जहेव धायइसंडस्स वत्तव्वता तहेव अब्भितरपुक्खरद्धस्स वि भाणितव्वा। नवरं अभिलावो जाणेयव्वो जाव तदा णं अब्भितर-

पुक्खरद्धे मंदराणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिते णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो !

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचमसतस्स पढमओ उद्देसओ ।।

[२७ प्र.] भगवन् ! आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध में सूर्य, ईशानकोण में उदय होकर अग्निकोण में अस्त होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ?

[२७ उ.] जिस प्रकार धातकीखण्ड की वक्तव्यता कही गई, उसी प्रकार आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध की वक्तव्यता कहनी चाहिए । विशेष यह है कि धातकीखण्ड के स्थान में आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध का नाम कहना चाहिए; यावत्—आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध में मन्दरपर्वतों के पूर्व-पश्चिम में न तो अवसर्पिणी है, और न ही उत्सर्पिणी है, किन्तु हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ सदैव अवस्थित (अपरिवर्त्तनीय) काल कहा गया है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है !, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे ।

विवेचन—लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि तथा पुष्करार्द्ध में सूर्य के उदय-अस्त एवं दिवस-रात्रि का विचार—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. २२ से २७ तक) में लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एवं पुष्करार्द्ध को लेकर विभिन्न दिशाओं की अपेक्षा सूर्योदय तथा दिन-रात्रि-आगमन का विचार किया गया है ।

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि का परिचय—जैन भौगोलिक दृष्टि से जम्बूद्वीप १ लाख योजन का विस्तृत गोलाकार है । जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र हैं । ये मनुष्यलोक में मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए नित्यगति करते हैं, इन्हीं से काल का विभाग होता है । जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए **लवणसमुद्र** है, जिसका पानी खारा है । यह दो लाख योजन विस्तृत है । जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र दोनों वलयाकार (गोल) हैं । लवणसमुद्र के चारों ओर **धातकीखण्ड द्वीप** है । यह चार लाख योजन का वलयाकार है । इसमें १२ सूर्य एवं १२ चन्द्रमा हैं । धातकीखण्ड के चारों ओर **कालोद** (कालोदधि) समुद्र है, यह ८ लाख योजन का वलयाकार है । कालोद समुद्र के चारों ओर १६ लाख योजन का बलयाकार **पुष्करवरद्वीप** है । उसके बीच में मानुषोत्तरपर्वत आ गया है, जो अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र के चारों ओर गढ़ (दुर्ग) के समान है तथा चूड़ी के समान गोल है । यह पर्वत बीच में आ जाने से पुष्करवरद्वीप के दो विभाग हो गये हैं—(१) आभ्यन्तर पुष्करवरद्वीप और (२) बाह्य पुष्करवरद्वीप । आभ्यन्तर पुष्करवरद्वीप में ७२ सूर्य और ७२ चन्द्र हैं । यह पर्वत मनुष्य-क्षेत्र की सीमा निर्धारित करता है, इसलिए इसे **मानुषोत्तरपर्वत** कहते हैं । मानुषोत्तरपर्वत के आगे भी असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, किन्तु उनमें मनुष्य नहीं हैं । निष्कर्ष यह है कि मनुष्यक्षेत्र में जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और अर्द्धपुष्करवर द्वीप; ये ढाई द्वीप और लवणसमुद्र तथा कालोद-समुद्र ये दो

समुद्र हैं। अढाई द्वीपों और दो समुद्रों की कुल लम्बाई-चौड़ाई ४५ लाख योजन है। अढाई द्वीप में कुल १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र हैं, और वे चर (गतिशील) हैं, इससे आगे के सूर्य-चन्द्र अचर (स्थिर) हैं। इसलिए अढ़ाई द्वीप-समुद्रवर्ती मनुष्यक्षेत्र या समयक्षेत्र में ही दिन, रात्रि, अयन, पक्ष, वर्ष आदि का काल का व्यवहार होता है। रात्रि-दिवस आदि काल का व्यवहार सूर्य-चन्द्र की गति पर निर्भर होने से तथा इस मनुष्यक्षेत्र के आगे सूर्य-चन्द्र के विमान जहाँ के तहाँ स्थिर होने से, वहाँ दिन रात्रि आदि काल व्यवहार नहीं होता।[1]

॥ पंचम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचनयुक्त) भा. २, पृ. ७७३-७७४

(ख) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य अ. ३, सू. १२ से १४ तक, पृ. ८३ से ८५, तथा अ. ४, सू. १४-१५, पृ. १०० से १०३ तक

बिइओ उद्देसओ : 'अणिल'

द्वितीय उद्देशक : 'अनिल'

ईषत्पुरोवात आदि चतुर्विध वायु की दिशा, विदिशा, द्वीप, समुद्र आदि विविध पहलुओं से प्ररूपणा—

१. रायगिहे नगरे जाव एवं वदासी—

[१] राजगृह नगर में····यावत् (श्री गौतमस्वामी ने) इस प्रकार पूछा—

२. अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाता, पत्था वाता, मंदा वाता, महावाता वायंति ?
हंता, अत्थि ।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या ईषत्पुरोवात (ओस आदि से कुछ स्निग्ध, या चिकनी व कुछ गीली हवा), पथ्यवात (वनस्पति आदि के लिए हितकर वायु), मन्दवात (धीमे-धीमे चलने वाली हवा), तथा महावात (तीव्रगति से चलने वाली, प्रचण्ड तूफानी वायु, झंझावात, या अन्धड़ उद्दण्ड आँधी आदि) बहती (चलती) हैं ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! पूर्वोक्त वायु (हवाएँ) बहती (चलती) हैं ।

३. अत्थि णं भंते ! पुरत्थिमेणं ईसिं पुरेवाता, पत्था वाता, मंदा वाता, महावाता वायंति ?
हंता, अत्थि ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या पूर्व दिशा से ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती हैं ?'

[३ उ.] हाँ, गौतम ! (उपर्युक्त समस्त वायु पूर्वदिशा में) बहती हैं ।

४. एवं पच्चत्थिमेणं, दाहिणेणं, उत्तरेणं, उत्तर-पुरत्थिमेणं, पुरत्थिम-दाहिणेणं, दाहिण-पच्चत्थिमेणं, पच्छिम-उत्तरेणं ।

[४] इसी तरह पश्चिम में, दक्षिण में, उत्तर में, ईशानकोण में, आग्नेयकोण में, नैऋत्यकोण में और वायव्यकोण में (पूर्वोक्त सब वायु बहती हैं ।)

५. जदा णं भंते ! पुरत्थिमेणं ईसिं पुरेवाता पत्था वाता मंदा वाता महावाता वायंति तदा णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं पुरेवाता० ? जया णं पच्चत्थिमेणं ईसिं पुरेवाता० तदा णं पुरत्थिमेण वि ?

हंता, गोयमा ! जदा णं पुरत्थिमेणं तदा णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं, जया णं पच्चत्थिमेणं तदा णं पुरत्थिमेण वि ईसिं । एवं दिसासु ।

[५ प्र.] भगवन् ! जब पूर्व में ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात वहती हैं, तब क्या पश्चिम में भी ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ वहती हैं ?, और जब पश्चिम में ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं, तब क्या पूर्व में भी (वे हवाएँ) वहती हैं ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! जब पूर्व में ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं, तब वे सब पश्चिम में भी वहती हैं, और जब पश्चिम में ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं, तब वे सब हवाएँ पूर्व में भी वहती हैं । इसी प्रकार सब दिशाओं में भी उपर्युक्त कथन करना चाहिए ।

६. एवं विदिसासु वि ।

[६] इसी प्रकार समस्त विदिशाओं में भी उपर्युक्त आलापक कहना चाहिए ।

७. अत्थि णं भंते ! दीविच्चया ईसिं ?

हंता, अत्थि ।

[७ प्र.] भगवन् ! क्या द्वीप में भी ईषत्पुरोवात आदि वायु होती हैं ?

[७ उ.] हाँ, गौतम ! होती हैं ।

८. अत्थि णं भंते ! सामुद्दया ईसिं ?

हंता, अत्थि ।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या समुद्र में भी ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ होती हैं ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! (समुद्र में भी ये सब हवाएँ) होती हैं ।

९. [१] जया णं भंते ! दीविच्चया ईसिं० तदा णं सामुद्दया वि ईसिं०, जदा णं सामुद्दया ईसिं० तदा णं दीविच्चया वि ईसिं० ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! जब द्वीप में ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं, तब क्या सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं ? और जब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं, तब क्या द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं ?

[९-१ उ.] हे गौतम ! यह वात (अर्थ) समर्थ (शक्य) नहीं है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'जदा णं दीविच्चया ईसिं णो णं तया सामुद्दया ईसिं, जया णं सामुद्दया ईसिं णो णं तदा दीविच्चया ईसिं ?

गोयमा ! तेसि णं वाताणं अन्नमन्नस्स विवच्चासेणं लवणे समुद्दे वेलं नातिक्कमति से तेणट्ठेणं जाव वाता वायंति ।

[९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि जब द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि

हवाएँ वहती हैं, तव सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ नहीं वहतीं, और जव सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ वहती हैं, तव द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ नहीं वहतीं ?

[९-२ उ.] गौतम ! ये सव वायु (हवाएँ) परस्पर व्यत्यासरूप से (एक दूसरे के विपरीत, पृथक्-पृथक् तथा एक दूसरे से साथ नहीं) वहती हैं। (जव द्वीप की ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती हैं, तव समुद्र की नहीं वहतीं, और जब समुद्र की ईषत्पुरोवात आदि वायु वहतीं हैं, तव द्वीप की ये सव वायु नहीं वहतीं। इस प्रकार ये सव हवाएँ एक दूसरे के विपरीत वहती हैं।) साथ ही, वे वायु लवणसमुद्र की वेला का उल्लंघन नहीं करतीं। इस कारण यावत् वे वायु पूर्वोक्त रूप से वहती हैं।

१०. [१] अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाता पत्था वाता मंदा वाता महावाता वायंति ?

हंता, अत्थि।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! (यह वताइए कि) क्या ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात वहती (चलती) हैं।

[१०-१ उ.] हाँ, गौतम ! (ये सव) बहती हैं।

[२] कया णं भंते ! ईसिं जाव वायंति ?

गोयमा ! जया णं वाउयाए अहारियं रियति तदा णं ईसिं जाव वायंति।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु कव वहती हैं ?

[१०-२ उ.] गौतम ! जव वायुकाय अपने स्वभावपूर्वक गति करता है, तव ईषत्पुरोवात आदि वायु यावत् वहती हैं।

११. [१] अत्थि णं भंते ! ईसिं ?

हंता, अत्थि।

[११-१ प्र.] भगवान् ! क्या ईषत्पुरोवात आदि वायु हैं ?

[११-१ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

[२] कया णं भंते ! ईसिं ?

गोतमा ! जया णं वाउयाए उत्तरकिरियं रियइ तया णं ईसिं।

[११-२ प्र.] भगवान् ईषत्पुरोवात आदि वायु (और भी) कभी चलती (वहती) हैं ?

[११-२ उ.] हे गौतम ! जव वायुकाय उत्तरक्रियापूर्वक (वैक्रिय शरीर वना कर) गति करता है, तव (भी) ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती (चलती) हैं।

१२. [१] अत्थि णं भंते ! ईसिं ?

हंता, अत्थि।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु (ही) हैं (न) ?'

[१२-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे (सब वायु ही) हैं।

[२] कया णं भंते ! ईसिं पुरेवाता पत्था वाता० ?

गोयमा ! जया णं वाउकुमारा वाउकुमारीओ वा अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा अट्ठाए वाउकायं उदीरेंति तया णं ईसिं पुरेवाया जाव वायंति।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! ईषत्पुरोवात, पथ्यवात आदि (और) कब (किस समय में) चलती हैं ?

[१२-२ उ.] गौतम ! जब वायुकुमार देव और वायुकुमार देवियाँ, अपने लिए, दूसरों के लिए या दोनों के लिए वायुकाय की उदीरणा करते हैं, तब ईषत्पुरोवात आदि वायु यावत् चलती (बहती) हैं।

१३. वाउकाए णं भंते ! वाउकायं चेव आणमति वा पाणमति वा ?

जहा खंदए तहा चत्तारि आलावगा नेयव्वा—अणेगसतसहस्स०। पुट्ठे उद्दाति वा। ससरीरी निक्खमति।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय वायुकाय को ही श्वासरूप में ग्रहण करता है और निःश्वासरूप में छोड़ता है ?

[१३ उ.] गौतम ! इस सम्बन्ध में स्कन्दक परिव्राजक के उद्देशक में कहे अनुसार चार आलापक जानना चाहिए—यावत् (१) अनेक लाख बार मर कर, (२) स्पृष्ट हो (स्पर्श पा) कर, (३) मरता है और (४) शरीर-सहित निकलता है।

विवेचन—ईषत्पुरोवात आदि चतुर्विध वायु की विविध पहलुओं से प्ररूपणा—प्रस्तुत १३ सूत्रों में ईषत्पुरोवात आदि चारों प्रकार के वायु के सम्बन्ध में निम्नलिखित सात पहलुओं से प्ररूपणा की गई है—

(१) ईषत्पुरोवात आदि चारों प्रकार की वायु चलती हैं।

(२) ये सब सुमेरु से पूर्वादि चारों दिशाओं और ईशानादि चारों विदिशाओं में चलती हैं।

(३) ये पूर्व में बहती हैं, तब पश्चिम में भी बहती हैं, और पश्चिम में बहती हैं, तब पूर्व में भी।

(४) द्वीप और समुद्र में भी ये सब वायु होती हैं।

(५) किन्तु जब ये द्वीप में बहती हैं, तब समुद्र में नहीं बहती और समुद्र में बहती हैं, तब द्वीप में नहीं बहतीं, क्योंकि ये सब एक दूसरे से विपरीत पृथक्-पृथक् बहती हैं, लवणसमुद्रीय वेला का अतिक्रमण नहीं करतीं।

(६) ईषत्पुरोवात आदि वायु हैं, और वे तीन समय में तीन कारणों से चलती हैं—(१) जब

वायुकाय स्व-स्वभावपूर्वक गति करता है, (२) जब वह उत्तरवैक्रिय से वैक्रिय शरीर बना कर गति करता है, तथा (३) जब वायुकुमार देव-देवीगण स्व, पर एवं उभय के निमित्त वायुकाय की उदीरणा करते हैं।

(७) वायुकाय अचित्त हुए वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता—छोड़ता है ।[1]

द्वीपीय और समुद्रीय हवाएँ एक साथ नहीं बहतीं—द्वीपसम्बन्धी और समुद्रसम्बन्धी वायु परस्पर विपर्यासपूर्वक बहती हैं, इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय अमुक प्रकार की ईषत्पुरोवात आदि वायु चलती है, तब उसी प्रकार की दूसरी ईषत्पुरोवात आदि वायु नहीं चलतीं। इसका कारण है—वायु के द्रव्यों का स्वभाव एवं सामर्थ्य ऐसा है कि वह समुद्र की वेला का अतिक्रमण नहीं करती। इसका आशय यह भी सम्भव है—ग्रीष्मऋतु में समुद्र की ओर से आई हुई शीत (जल से स्निग्ध एवं ठंडी) वायु जब चलती हैं, तब द्वीप की जमीन से उठी हुई उष्ण वायु नहीं चलती। शीत ऋतु में जब गर्म हवाएँ चलती हैं, तब वे द्वीप की जमीन से आई हुई होती हैं। यानी जब द्वीपीय उष्णवायु चलती है, तब समुद्रीय शीतवायु नहीं चलतीं। समुद्र की शीतल और द्वीप की उष्ण दोनों हवाएँ परस्पर विरुद्ध तथा परस्पर उपघातक होने से ये दोनों एक साथ नहीं चलतीं अपितु उन दोनों में से एक ही वायु चलती है।[2]

चतुर्विध वायु के बहने के तीन कारण—(१) ये अपनी स्वाभाविक गति से, (२) उत्तर वैक्रिय द्वारा कृत वैक्रियशरीर से, (३) वायुकुमार देव—देवीगण द्वारा स्व, पर और उभय के लिए उदीरणा किये जाने पर। यहाँ एक ही बात को तीन बार विविध पहलू से पूछे जाने के कारण तीन सूत्रों की रचना की गई है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। दूसरी वाचना के अनुसार ये तीन कारण पृथक्-पृथक् सूत्रों में बताए हैं, वे पृथक्-पृथक् प्रकार की वायु के बहने के बताए हैं। यथा—पहला कारण—महावायु के सिवाय अन्य वायुओं के बहने का है; दूसरा कारण—मन्दवायु के सिवाय अन्य तीन वायु के बहने का है। और तीसरा कारण चारों प्रकार की वायु के बहने का है।[3]

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास आदि के सम्बन्ध में चार आलापक—(१) स्कन्दक प्रकरणानुसार वायुकाय अचित्त (निर्जीव), वायु को श्वासोच्छ्वास रूप में ग्रहण-विसर्जन करता है (२) वायुकाय, स्वकाय शस्त्र के साथ अथवा परकायशस्त्र (पंख आदि परनिमित्त से उत्पन्न हुई वायु) से स्पृष्ट होकर मरता है, बिना स्पृष्ट हुए नहीं मरता; (३) वायुकाय अनेक लाख बार मर-मर कर पुनः पुनः उसी वायुकाय में जन्म लेता है। (४) वायुकाय तैजस कार्मणशरीर की अपेक्षा सशरीरी परलोक में जाता है, तथा औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा अशरीरी होकर परलोक में जाता है।[4]

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ-१८८ से १९० तक
२. (क) भगवती सूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ. १५८
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१२
३. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१२
४. (क) भगवतीसूत्र हिन्दीविवेचनयुक्त भा. २, पृ. ७८०
   (ख) भगवती० (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ-१६०
   (ग) इस प्रकरण का विस्तृत विवेचन भगवती. शतक २., उद्देशक १ सू. तक स्कन्दक प्रकरण में किया गया है। जिज्ञासुओं को वहां से देख लेना चाहिए।

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—'दीविच्चगा' = द्वीपसम्बन्धी, 'सामुद्दगा' = सामुद्रिक-समुद्र सम्बन्धी। वायंति = वहती हैं—चलती हैं। अहारियं रियंति = अपनी रीति या स्वभावानुसार गति करता है। पुट्ठे = स्पृष्ट होकर, स्पर्श पाकर।[1]

ओदन, कुल्माष और सुरा की पूर्वावस्था और पश्चादवस्था के शरीर का प्ररूपण—

१४. अह भंते ! ओदणे कुम्मासे सुरा एते णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! ओदणे कुम्मासे सुराए य जे घणे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च वणस्सति-जीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता सत्थपरिणामिता अगणिज्झामिता अगणिज्झूसिता अगणिपरिणामिता अगणिजीवसरीरा इ वत्तव्वं सिया। सुराए य जे दवे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च आउजीवसरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणिसरीरा ति वत्तव्वं सिया।

[१४ प्र.] भगवन् ! अब यह बताएँ कि ओदन (चावल), कुल्माष (उड़द) और सुरा (मदिरा), इन तीनों द्रव्यों को किन जीवों का शरीर कहना चाहिए ?

[१४ उ.] गौतम ! ओदन, कुल्माष और सुरा में जो घन (ठोस या कठिन) द्रव्य हैं, वे पूर्वभाव-प्रज्ञापना की अपेक्षा से वनस्पतिजीव के शरीर हैं। उसके पश्चात् जब वे (ओदनादि द्रव्य) शस्त्रातीत (ऊखल, मूसल आदि शस्त्रों से कूटे जा कर पूर्वपर्याय से अतिक्रान्त) हो जाते हैं, शस्त्र-परिणत (शस्त्र लगने से नये रूप में परिवर्तित) हो (वदल) जाते हैं; अग्निध्यामित (आग से जलाये गए एवं काले वर्ण के वने हुए), अग्निझूषित (अग्नि से सेवित—तप्त हो जाने से पूर्वस्वभाव से रहित वने हुए) अग्निसेवित और अग्निपरिणामित (अग्नि में जल जाने से नये आकार में परिवर्तित) हो जाते हैं, तव वे द्रव्य अग्नि के शरीर कहलाते हैं। तथा सुरा (मदिरा) में जो तरल पदार्थ है, वह पूर्वभाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से अप्कायिक जीवों का शरीर है, और जब वह तरल पदार्थ (पूर्वोक्त प्रकार से) शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित हो जाता है, तव वह भाग, अग्निकाय—शरीर कहा जा सकता है।

विवेचन—चावल, उड़द और मदिरा की पूर्वावस्था और पश्चादवस्था के शरीर का प्ररूपण— प्रस्तुत सूत्र में चावल, उड़द, और मदिरा इन तीनों को किस किस जीव का शरीर कहा जाए ? यह प्रश्न उठा कर इनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था का विश्लेपण करके शास्त्रीय समाधान किया गया है।

पूर्वावस्था की अपेक्षा से—चावल, उड़द, और मद्य, इन तीनों में जो घन—ठोस या कठिन द्रव्य हैं, वे भूतपूर्व वनस्पतिकाय के शरीर हैं। मद्य में जो तरल पदार्थ है, वह भूतपूर्व अप्काय के शरीर हैं।

पश्चादवस्था की अपेक्षा से—किन्तु इन सव के शस्त्र-परिणत, अग्निसेवित, अग्निपरिणामित

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २१२

आदि हो जाने तथा इनके रंगरूप, आकर—रस आदि के वदल जाने से इन्हें भूतपूर्व अग्निकाय के शरीर कहा जा सकता है ।[1]

लोह आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था वौर पश्चादवस्था की दृष्टि से निरूपण—

१५. अह णं भंते ! अये तंबे तउए सीसए उवले कसट्टिया, एए णं किंसरीरा इ वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! अए तंबे तउए सीसए उवले कसट्टिया,[2] एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च पुढविजीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया ।

[१५. प्र.] भगवन् ! प्रश्न है—लोहा, तांवा, त्रपुष् (कलाई या रांगा), शीशा, उपल (जला हुआ पत्थर—कोयला) और कसट्टिका (लोहे का काट—मैल), ये सव द्रव्य किन (जीवों के) शरीर कहलाते हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! लोहा, तांवा, कलई, शीशा, कोयला और लोहे का काट; ये सव द्रव्य पूर्वप्रज्ञापना की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं, और उसके वाद शस्त्रातीत यावत् शस्त्र-परिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं ।

अस्थि आदि तथा अंगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था एवं पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—

१६. अह भंते ! अट्ठी अट्ठिज्झामे, चम्मे चम्मज्झामे, रोमे रोमज्झामे, सिंगे सिंगज्झामे, खुरे खुरज्झामे, नखे नखज्झामे, एते णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! अट्ठी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे, एए णं तसपाणजीवसरीरा । अट्ठिज्झामे चम्मज्झामे रोमज्झामे सिंगज्झामे खुरज्झामे णहज्झामे, एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च तसपाणजीवसरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणि० जाव सिया ।

[१६ प्र.] भगवन् ! और ये हड्डी, अस्थिध्याम (अग्नि से दूसरे स्वरूप=पर्यायान्तर को प्राप्त हड्डी और उसका जला हुआ भाग), चमड़ा, चमड़े का जला हुआ स्वरूपान्तरप्राप्त भाग, रोम, अग्निज्वलित रोम, सींग, अग्नि प्रज्वलित विकृत सींग, खुर, अग्निप्रज्वलित खुर, नख और अग्नि-प्रज्वलित नख, ये सव किन (जीवों) के शरीर कहे जा सकते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! अस्थि (हड्डी), चमड़ा, रोम, सींग, खुर, और नख ये सव त्रसजीवों के शरीर कहे जा सकते हैं, और जली हुई हड्डी, प्रज्वलित विकृत चमड़ा, जले हुए रोम, प्रज्वलित-रूपान्तरप्राप्त सींग, प्रज्वलित खुर और प्रज्वलित नख; ये सव पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से तो त्रसजीवों के शरीर; किन्तु उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१३

२. 'कसट्टिका' का अर्थ भगवती, अवचूर्णि में कसपट्टिका=कसौटी भी किया गया है ।

१७. अह भंते ! इंगाले छारिए, भुसे, गोमए एए णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! इंगाले छारिए भुसे गोमए एए णं पुव्वभावपण्णवणाए एगिंदियजीवसरीरप्पओग-परिणामिया वि जाव पंचिदियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि, तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणि-जीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया।

[१७ प्र.] भगवन् ! अब प्रश्न है—अंगार (कोयला, जला हुआ ईंधन या अंगारा) राख, भूसा और गोवर, इन सबको किन जीवों के शरीर कहे जाएँ ?

[१७ उ.] गौतम ! अंगार, राख, भूसा और गोवर (छाणा) ये सब पूर्व-भाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से एकेन्द्रियजीवों द्वारा अपने शरीर रूप से, प्रयोगों से—अपने व्यापार से अपने साथ परिणामित एकेन्द्रिय शरीर हैं, यावत् (यथासम्भव द्वीन्द्रिय से) पंचेन्द्रिय जीवों तक के शरीर भी कहे जा सकते हैं, और तत्पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निकाय—परिणामित हो जाने पर वे अग्निकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं।

विवेचन—अस्थि आदि तथा अंगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय में प्रथम हड्डी आदि तथा प्रज्वलित हड्डी आदि एवं अंगार आदि के शरीर के विषय में पूछे जाने पर इनकी पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था की अपेक्षा से उत्तर दिये गए हैं।

अंगार आदि चारों अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित—यहाँ अंगार आदि चारों द्रव्य अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित हैं, अन्यथा आगे बताए गए अग्निव्यामित आदि विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं।[1]

पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था—हड्डी आदि तो भूतपूर्व अपेक्षा से त्रस जीव के और अंगार आदि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के शरीर कहे जा सकते हैं, किन्तु बाद की शस्त्रपरिणत एवं अग्निपरिणामित अवस्था की दृष्टि से ये सब अग्निकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं। हड्डी आदि तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रि एवं पंचेन्द्रिय जीवों में से किसी भी जीव के तथा नख, खुर, सींग आदि पंचेन्द्रिय जीवों के ही शरीर में होते हैं। इसी प्रकार अंगारा या राख ये दोनों वनस्पति-कायिक हरी लकड़ी के सूख जाने पर बनती है। भूसा भी गेहूँ आदि का होने से पहले एकेन्द्रिय (वनस्पतिकाय) का शरीर ही था, तथा गाय, भैंस आदि पशु जब हरी घास, पत्ती, या गेहूँ, जौ आदि का भूसा खाते हैं, तब उनके शरीर में से वह गोवर के रूप में निकलता है, अतः गोमय (गोवर) एकेन्द्रिय का शरीर ही माना जाता है। किन्तु पंचेन्द्रिय जीवों (पशुओं) के शरीर में द्वीन्द्रियादि जीव चले जाने से उनके शरीर प्रयोग से परिणामित होने से उन्हें द्वीन्द्रियजीव से ले कर पंचेन्द्रियजीव तक का शरीर कहा जा सकता है।[2]

लवणसमुद्र की स्थिति, स्वरूप आदि का निरूपण—

१८. लवणे णं भंते ! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं पन्नत्ते ?

एवं नेयव्वं जाव लोगट्ठिती लोगाणुभावे।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१३

२. (क) भगवती. टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त, खण्ड २, पृ-१६२

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१३

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं जाव विहरति ।

।। पंचम सए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ।।

[१८ प्र.] भगवन् ! लवणसमुद्र का चक्रवाल—विष्कम्भ (सब तरफ़ की चौड़ाई) कितना कहा गया है ?

[१८ उ.] गौतम ! (लवणसमुद्र के सम्बन्ध में सारा वर्णन) पहले कहे अनुसार जान लेना चाहिए, यावत् लोकस्थिति लोकानुभाव तक (जीवाभिगमोक्त सूत्रपाठ) कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर भगवान् गौतम स्वामी······ यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—लवणसमुद्र की चौड़ाई आदि के सम्बन्ध में अतिदेशपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में जीवाभिगमोक्त सूत्रपाठ का लोकस्थिति-लोकानुभाव-पर्यन्त अतिदेश करके लवणसमुद्र सम्बन्धी निरूपण किया गया है ।

जीवाभिगम में लवणसमुद्र-सम्बन्धी वर्णन: संक्षेप में—लवणसमुद्र का संस्थान गोतीर्थ, नौका, सीप-सम्पुट, अश्वस्कन्ध, और वलभी के जैसा, गोल चूड़ी के आकार का है । उसका चक्रवाल-विष्कम्भ २ लाख योजन का है । तथा १५८११३९ से कुछ अधिक उसका परिक्षेप (घेरा) है । उसका उद्वेध (ऊँचाई-गहराई) १ हजार योजन है । इसकी ऊँचाई १६ हजार योजन, सर्वाग्र १७ हजार योजन का है । इतना विस्तृत और विशाल लवण समुद्र से अब तक जम्बूद्वीप क्यों नहीं डूबा, इसका कारण है—भारत और ऐरवत क्षेत्रों में स्वभाव से भद्र, विनीत, उपशान्त, मन्दकषाय, सरल, कोमल, जितेन्द्रिय, भद्र और नम्र अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, चारण, विद्याधर, श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका एवं धर्मात्मा मनुष्य हैं, उनके प्रभाव से लवणसमुद्र जम्बूद्वीप को डुबाता नहीं है, यावत् जलमय नहीं करता यावत् इस प्रकार का लोक का स्वभाव भी है, यहाँ तक कहना चाहिए ।[1]

।। पंचम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१४
(ख) जीवाभिगम सूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, सूत्र १७३, लवणसमुद्राधिकार पृ-३२४-२५

तइओ उद्देसओ : गंठिय

तृतीय उद्देशक : ग्रन्थिका

एक जीव द्वारा एक समय में इहभविक एवं परभविक आयुष्य-वेदन विषयक अन्य-तीर्थिक मत निराकरणपूर्वक भगवान् का समाधान—

१. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भा० प० एवं परूवेंति—से जहानामए जालगंठिया सिया आणुपुव्विगढिया अणंतरगढिया परंपरगढिता अन्नमन्नगढिता अन्नमन्नगुरुयत्ताए अन्नमन्नभारियत्ताए अन्नमन्नगुरुयसंभारियत्ताए अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति, एवामेव बहूणं जीवाणं बहूसु आजातिसहस्सेसु बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुव्विगढियाइं जाव चिट्ठंति। एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पडिसंवेदयति, तं जहा—इहभवियाउयं च परभवियाउयं च; जं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ तं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, जाव से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोतमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया तं चेव जाव परभवियाउयं च; जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—जहानामए जालगंठिया सिया जाव अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति, एवामेव एगमेगस्स जीवस्स बहूहिं आजातिसहस्सेहिं बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुव्विगढियाइं जाव चिट्ठंति। एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ, तं जहा—इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा, जं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ नो तं समयं पर० पडिसंवेदेति, जं समयं प० नो तं समयं इहभवियाउयं प०, इहभवियाउयस्स पडिसंवेयणाए नो परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, परभवियाउयस्स पडिसंवेयणाए नो इहभवियाउयं पडिसंवेदेति। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं प०, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा।

[१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं, भाषण करते हैं, बतलाते हैं, प्ररूपणा करते हैं कि जैसे कोई (एक) जालग्रन्थि (गांठें लगी हुई, जाल) हो, जिसमें क्रम से गांठें दी हुई हों, एक के बाद दूसरी अन्तररहित (अनन्तर) गांठें लगाई हुई हों, परम्परा से गूंथी हुई हो, परस्पर गूंथी हुई हो, ऐसी वह जालग्रन्थि परस्पर विस्तार रूप से, परस्पर भाररूप से तथा परस्पर विस्तार और भाररूप से, परस्पर संघटित रूप से यावत् रहती है, (अर्थात्—जाल तो एक है, लेकिन उसमें जैसे अनेक गांठें संलग्न रहती हैं) वैसे ही बहुत-से जीवों के साथ क्रमशः हजारों-लाखों जन्मों से सम्बन्धित बहुत-से आयुष्य परस्पर क्रमशः गूंथे हुए हैं, यावत् परस्पर संलग्न रहते हैं। ऐसी स्थिति में उनमें से एक जीव भी एक समय में दो आयुष्यों को वेदता (भोगता—अनुभव करता) है। यथा एक ही जीव, इस भव का आयुष्य वेदता है और वही जीव, परभव का भी आयुष्य वेदता है। जिस समय इस भव के आयुष्य का वेदन करता है, उसी समय वह जीव परभव के आयुष्य का भी वेदन करता है; यावत् हे भगवन् ! यह (बात) किस तरह है ?

[१ उ.] गौतम ! उन अन्यतीर्थिकों ने जो यह कहा है कि " यावत् एक ही जीव, एक ही समय में इस भव का और पर-भव का—दोनों का आयुष्य (एक साथ) वेदता है, उनका यह सब (पूर्वोक्त) कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि—जैसे कोई एक जाल ग्रन्थि हो और वह यावत्.......परस्पर संघटित [सामूहिक रूप से संलग्न] रहती है, इसी प्रकार क्रमपूर्वक बहुत-से सहस्रों जन्मों से सम्बन्धित, बहुत-से हजारों आयुष्य, एक-एक जीव के साथ शृंखला (सांकल) की कड़ी के समान परस्पर क्रमशः ग्रथित (गूंथे हुए) यावत् रहते हैं। (ऐसा होने से) एक जीव एक समय में एक ही आयुष्य का प्रतिसंवेदन (अनुभव) करता है, जैसे कि—या तो वह इस भव का ही आयुष्य वेदता है, अथवा पर भव का ही आयुष्य वेदता है। परन्तु जिस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता, और जिस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता। इस भव के आयुष्य का वेदन करने से परभव का आयुष्य नहीं वेदा जाता और परभव के आयुष्य का वेदन करने से इस भव का आयुष्य नहीं वेदा जाता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही आयुष्य का वेदन करता है; वह इस प्रकार—या तो इस भव के आयुष्य का, अथवा परभव के आयुष्य का।

विवेचन—एक जीव द्वारा एक समय में इहभविक एवं परभविक आयुष्य वेदन विषयक अन्यतीर्थिकमतनिराकरण पूर्वक भगवान् का समाधान—प्रस्तुत सूत्र में अन्यतीर्थिकों के एक जीव द्वारा एक समय में उभयभविक आयुष्य-वेदन के मत का खण्डन करते हुए भगवान् द्वारा प्रतिपादित एकभविक आयुष्य-वेदन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

जाल की गांठों के समान अनेक जीवों के अनेक आयुष्यों की गांठ—यहां अन्यतीर्थिकों के द्वारा निरूपित जाल (मछलियां पकड़ने के जाल) की गांठों का उदाहरण देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार जाल एक के बाद एक, क्रमपूर्वक, अन्तर-रहित गांठें देकर बनाया जाता है, और वह जाल उन सब गांठों से गुम्फित—संलग्न रहता है। इसी तरह जीवों ने अनेक भव किये हैं, उन अनेक भवों के अनेक आयुष्य उस जाल की गांठों के समान परस्पर संलग्न हैं; इसलिए एक जीव दो भव का आयुष्य (एक साथ) वेदता है।' भगवान् ने इस मत को मिथ्या बताया है। उनका आशय यह है कि अनेक जीवों के एक साथ अनेक आयुष्यों के या एक जीव के एक साथ दो आयुष्यों के वेदन को सिद्ध करने के लिए अन्यतीर्थिकों ने जो जालग्रन्थि का दृष्टान्त दिया है, वह अयुक्त है; क्योंकि प्रश्न होता है, वे सब आयुष्य जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर भलीभांति सम्बद्ध हैं या असम्बद्ध? यदि वे सब आयुष्य जीव के प्रदेशों के साथ भलीभांति सम्बद्ध हैं तो जालग्रन्थि के समान उनको बताना मिथ्या है, क्योंकि वे सब आयुष्य तो भिन्न-भिन्न जीवों के साथ सम्बद्ध हैं, इस कारण वे सब पृथक्-पृथक् होने से उनको जालग्रन्थि की तरह परस्पर संलग्न बताना ठीक नहीं। यदि उनको जालग्रन्थि की तरह बताया जाएगा तो सभी जीवों का सम्बन्ध उन सब आयुष्यों के साथ मानना पड़ेगा, क्योंकि आयुष्यों का सीधा सम्बन्ध जीवों के साथ है। इसीलिए जीवों के साथ जालग्रन्थि की तरह परस्पर सम्बन्ध माना जाने पर सभी जीवों द्वारा एक साथ सभी प्रकार के आयुष्य भोगने का प्रसंग आएगा, जो कि प्रत्यक्षबाधित है, तथा जैसे एक जाल के साथ अनेक ग्रन्थियाँ होती हैं, एक जीव के साथ भी अनेक भवों के आयुष्य का सम्बन्ध होने से एक साथ अनेक गतियों के वेदन का प्रसंग आएगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतः जालग्रन्थि की तरह एक जीव के साथ दो या अनेक भवों

के आयुष्य का वेदन मानना युक्तिसंगत नहीं। यदि यह माना जाएगा कि उन आयुष्यों का जीव से साथ कोई सम्बन्ध नहीं है. तो आयुष्य के कारण जो जीवों को देवादि गति में उत्पन्न होना पड़ता है, वह सम्भव न हो सकेगा। अतः जीव और आयुष्य का परस्पर सम्बन्ध तो मानना चाहिए, अन्यथा, जीव और आयुष्य का किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से जीव पर आयुष्य निमित्तक असर जरा भी नहीं होगा। अतः आयुष्य और जीव का परस्पर सम्बन्ध शृंखलारूप समझना चाहिए। शृंखला की कड़ियाँ जैसे परस्पर संलग्न होती हैं, वैसे ही एक भव के आयुष्य के साथ दूसरे भव का आयुष्य प्रतिबद्ध है और उसके साथ तीसरे, चौथे, पांचवें आदि भवों का आयुष्य क्रमशः शृंखलावत् प्रतिबद्ध है। तात्पर्य यह है कि इस तरह एक के बाद दूसरे आयुष्य का वेदन होता रहता है, किन्तु एक ही भव में अनेक आयुष्य नहीं भोगे जाते। वर्त्तमान भव के आयुष्य का वेदन करते समय भावी जन्म के आयुष्य का बंध तो हो जाता है, पर उसका उदय नहीं होता, अतएव एक जीव एक भव में एक ही आयुष्य का वेदन करता है।[1]

चौवीस दण्डकों तथा चतुर्विध योनियों की अपेक्षा से आयुष्यबन्ध सम्बन्धी विचार—

२. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं साउए संकमति, निराउए संकमति ?

गोयमा ! साउए संकमति, नो निराउए संकमति।

[२ प्र.] भगवन् ! जो जीव नैरयिकों में उत्पन्न होने के योग्य है, क्या वह जीव यहीं से आयुष्य-युक्त होकर नरक में जाता है, अथवा आयुष्य रहित होकर जाता है ?

[२ उ.] गौतम ! (जो जीव नैरयिकों में उत्पन्न होने वाला है,) वह यहीं से आयुष्ययुक्त होकर नरक में जाता है, परन्तु आयुष्यरहित होकर नरक में नहीं जाता।

३. से णं भंते ! आउए कहिं कडे ? कहिं समाइण्णे ?

गोयमा ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे।

[३ प्र.] हे भगवन् ! उस जीव ने वह आयुष्य कहाँ बांधा ? और उस आयुष्य-सम्बन्धी आचरण कहाँ किया ?

[३ उ.] गौतम ! उस (नारक) जीव ने वह आयुष्य पूर्वभव में बांधा था और उस आयुष्य-सम्बन्धी आचरण भी पूर्वभव में किया था।

४ एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ।

[४] जिस प्रकार यह बात नैरयिक के विषय में कही गई है, इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक सभी दण्डकों के विषय में कहनी चाहिए।

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २१४
(ख) भगवती. हिन्दी विवेचन भाग २, पृ. ७९०
(ग) भगवती सूत्र (टीकानुवाद-टिप्पण) खण्ड १ में प्रथम शतक, उद्दे. ९, सू. २९५ पृ. २०४ देखिये।

५. से नूणं भंते ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा—नेरतियाउयं वा जाव देवाउयं वा ?

हंता, गोयमा ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा—नेरइयाउयं वा, तिरि०, मणु०, देवाउयं वा। नेरइयाउयं पकरेमाणे सत्तविहं पकरेइ, तं जहा—रयणप्पभापुढविनेरइयाउयं वा जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयाउयं वा। तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे पंचविहं पकरेइ, तं जहा—एगिंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा, भेदो सव्वो भाणियव्वो। मणुस्साउयं दुविहं। देवाउयं चउव्विहं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचम सए : तइओ उद्देसओ ॥

[५ प्र.] भगवन् ! जो जीव जिस योनि में उत्पन्न होने योग्य होता है, क्या वह जीव, उस योनि सम्बन्धी आयुष्य बांधता है ? जैसे कि जो जीव नरक योनि में उत्पन्न होने योग्य होता है, क्या वह नरकयोनि का आयुष्य बांधता है, यावत् देवयोनि में उत्पन्न होने योग्य जीव क्या देवयोनि का आयुष्य बांधता है ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! जो जीव जिस योनि में उत्पन्न होने योग्य होता है, वह जीव उस योनिसम्बन्धी आयुष्य को बाँधता है। जैसे कि नरक योनि में उत्पन्न होने योग्य जीव नरकयोनि का आयुष्य बांधता है, तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न होने योग्य जीव, तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बांधता है, मनुष्ययोनि में उत्पन्न होने योग्य जीव मनुष्ययोनि का आयुष्य बाँधता है यावत् देवयोनि में उत्पन्न होने योग्य जीव देवयोनि का आयुष्य बांधता है।

जो जीव नरक का आयुष्य बांधता है, वह सात प्रकार की नरकभूमि में से किसी एक प्रकार की नरकभूमि सम्बन्धी आयुष्य बांधता है। यथा—रत्नप्रभा (प्रथम नरक) पृथ्वी का आयुष्य, अथवा यावत् अधःसप्तम पृथ्वी (सप्तम नरक) का आयुष्य बांधता है। जो जीव तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बांधता है, वह पांच प्रकार के तिर्यञ्चों में से किसी एक प्रकार का तिर्यञ्च-सम्बन्धी आयुष्य बांधता है। यथा—एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य इत्यादि। तिर्यञ्च के सभी भेद-विशेष विस्तृत रूप से यहाँ कहने चाहिए। जो जीव मनुष्य-सम्बन्धी आयुष्य बांधता है, वह दो प्रकार के मनुष्यों में से किसी एक प्रकार के मनुष्य-सम्बन्धी आयुष्य को बांधता है, (यथा-सम्मूर्च्छिम मनुष्य का, अथवा गर्भज मनुष्य का।) जो जीव देवसम्बन्धी आयुष्य बांधता है, तो वह चार प्रकार के देवों में से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बांधता है। (यथा—भवनपति देव का, वाणव्यन्तर देव का, ज्योतिष्क देव का अथवा वैमानिक देव का आयुष्य। इनमें से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बांधता है।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् विचरते हैं।

विवेचन—चौवीस दण्डकों तथा चतुर्विध योनियों की अपेक्षा से आयुष्यबन्ध सम्बन्धी

विचार—प्रस्तुत चार सूत्रों में मुख्यतया चार पहलुओं से चारों गतियों तथा चौवीसों दण्डकों के जीवों का आयुष्यबन्ध-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया गया है। वे चार पहलू इस प्रकार हैं—

(१) नरक से लेकर वैमानिक देवों तक चौवीस ही दण्डकों का दूसरी गति में जाने योग्य जीव आयुष्य सहित होकर दूसरी गति में जाता है।

(२) जीव अगली गति में जाने योग्य आयुष्य इसी गति में बांध लेता है तथा तद्योग्य आचरण इसी (पूर्व) गति में करता है।

(३) नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों में से जो जीव जिस योनि में उत्पन्न होने योग्य होता है, वह उसी योनि का आयुष्य बांध लेता है।

(४) नरकयोनि का आयुष्य बांधने वाला सात नरकों में से किसी एक नरक का, तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बांधने वाला जीव पांच प्रकार के तिर्यंचों में किसी एक प्रकार के तिर्यञ्च का, एवं मनुष्ययोनि सम्बन्धी आयुष्य बांधने वाला जीव दो प्रकार के मनुष्यों में से किसी एक प्रकार के मनुष्य का और देवयोनि का आयुष्य बांधने वाला जीव चार प्रकार के देवों में से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बांधता है।[1]

॥ पंचम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती अ० वृत्ति, पत्रांक २१५

चउत्थो उद्देसओ : 'सद्द'

चतुर्थ उद्देशक : शब्द

छद्मस्थ और केवली द्वारा शब्द-श्रवण-सम्बन्धी सीमा की प्ररूपणा—

१. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेति, तं जहा—संखसद्दाणि वा, सिंगसद्दाणि वा, संखियसद्दाणि वा, खरमुहिसद्दाणि वा, पोयासद्दाणि वा, परिपिरियासद्दाणि वा, पणवसद्दाणि वा, पडहसद्दाणि वा, भंभासद्दाणि वा, होरंभसद्दाणि वा, भेरिसद्दाणि वा, झल्लरिसद्दाणि वा, दुंदुभिसद्दाणि वा, तताणि वा, वितताणि वा, घणाणि वा, झुसिराणि वा ?

हंता, गोयमा ! छउमत्थे णं मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेति, तं जहा—संखसद्दाणि वा जाव झुसिराणि वा।

[१ प्र.] भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य क्या बजाये जाते हुए वाद्यों (के) शब्दों को सुनता है ? यथा—शंख के शब्द, रणसींगे के शब्द, शंखिका (छोटे शंख) के शब्द, खरमुही (काहली नामक वाजे) के शब्द, पोता (बड़ी काहली) के शब्द, परिपीरिता (सूअर के चमड़े से मढ़े हुए मुख वाले एक प्रकार के बाजे) के शब्द, पणव (ढोल) के शब्द, पटह (ढोलकी) के शब्द, भंभा (छोटी भेरी) के शब्द, झल्लरी (झालर) के शब्द, दुन्दुभि के शब्द, तत (तांत वाले वाजों—वीणा आदि वाद्यों) के शब्द, विततशब्द (ढोल आदि विस्तृत बाजों के शब्द), घनशब्द (ठोस वाजों—कांस्य, ताल आदि वाद्यों के शब्द), शुषिरशब्द (बीच में पोले वाजों—बिगुल, बांसुरी, वंशी आदि के शब्द); इत्यादि वाजों के शब्दों को।

[१ उ.] हाँ गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य बजाये जाते हुए शंख यावत्—शुषिर आदि (पूर्वोक्त) वाद्यों के शब्दों को सुनता है।

२. ताइं भंते ! किं पुट्ठाइं सुणेति ? अपुट्ठाइं सुणेति ?

गोयमा ! पुट्ठाइं[1] सुणेति, नो अपुट्ठाइं सुणेति जाव णियमा छद्दिसिं सुणेति।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या वह (छद्मस्थ) उन (पूर्वोक्त वाद्यों के) शब्दों को स्पृष्ट होने (कानों से स्पर्श किये जाने—टकराने) पर सुनता है, या अस्पृष्ट होने (कानों से स्पर्श न करने– न टकराने) पर भी सुन लेता है ?

[२ उ.] गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य (उन वाद्यों के) स्पृष्ट (कानों से स्पर्श किये गए—टकराए

---

१. 'पुट्ठाइं सुणेति' इस सम्बन्ध में भगवती सूत्र प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक का आहाराधिकार देखना चाहिए। भगवती० (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड १, पृ. ७० से ७२ तक।

हुए) शब्दों को सुनता है, अस्पृष्ट शब्दों को नहीं सुनता; यावत् नियम से छह दिशाओं से आए हुए स्पृष्ट शब्दों को सुनता है।

३. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से किं आरगताइं सद्दाइं सुणेइ ? पारगताइं सद्दाइं सुणेइ ?

गोयमा ! आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य आरगत (आराद्गत—इन्द्रिय विषय के समीप रहे हुए) शब्दों को सुनता है, अथवा पारगत (इन्द्रिय विषय से दूर रहे हुए) शब्दों को सुनता है ?

[३ उ.] गौतम ! (छद्मस्थ मनुष्य) आरगत शब्दों को सुनता है, किन्तु पारगत शब्दों को नहीं सुन पाता।

४. [१] जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ, तहा णं भंते ! केवली किं आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ ?

गोयमा ! केवली णं आरगयं वा पारगयं वा सव्वदूरमूलमणंतियं सद्दं जाणइ पासइ।

[४-१ प्र.] भगवन् ! जैसे छद्मस्थ मनुष्य आरगत शब्दों को सुनता है, किन्तु पारगत शब्दों को नहीं सुनता; वैसे ही, हे भगवन् ! क्या केवली (केवलज्ञानी) भी आरगत शब्दों को ही सुन पाता है, पारगत शब्दों को नहीं सुन पाता ?

[४-१ उ.] गौतम ! केवली मनुष्य तो आरगत, पारगत, अथवा समस्त दूरवर्ती (दूर तथा अत्यन्त दूर के) और निकटवर्ती (निकट तथा अत्यन्त निकट के) अनन्त (अन्तरहित) शब्दों को जानता और देखता है।

[२] से केणट्ठेणं तं चेव केवली णं आरगयं वा जाव पासइ ?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ; एवं दाहिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं, उड्ढं, अहे मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, सव्वं जाणइ केवली, सव्वं पासइ केवली, सव्वतो जाणइ पासइ, सव्वकालं जा० पा०, सव्वभावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ केवली, अणंते नाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स, निव्वुडे नाणे केवलिस्स,[1] निव्वुडे दंसणे केवलिस्स। से तेणट्ठेणं जाव पासइ।

[४-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि केवली मनुष्य आरगत, पारगत, अथवा यावत् सभी प्रकार के (दूरवर्ती, निकटवर्ती) अनन्त शब्दों को जानता-देखता है ?

[४-२ उ.] गौतम ! केवली (भगवान् सर्वज्ञ) पूर्व दिशा की मित वस्तु को भी जानता—देखता है, और अमित वस्तु को भी जानता-देखता है; इसी प्रकार दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा की मित वस्तु को भी जानता-देखता है तथा अमित वस्तु को भी जानता-देखता है। केवलज्ञानी सब जानता है और सब देखता है। केवली भगवान् सर्वतः (सब

---

१. पाठान्तर—'निव्वुडे वितिमिरे विसुद्धे' इन तीनों विशेषणों से युक्त पाठ अन्य प्रतियों में मिलता है।

ओर से) जानता-देखता है, केवली सर्वकाल में, सर्वभावों (पदार्थों) को जानता-देखता है। केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन होता है। केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन निरावरण (सभी प्रकार के आवरणों से रहित) होता है।

हे गौतम ! इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि केवली मनुष्य आरगत और पारगत शब्दों को, यावत् सभी प्रकार के दूरवर्ती और निकटवर्ती शब्दों को जानता-देखता है।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली की शब्द-श्रवण-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में छद्मस्थ और केवली मनुष्य के द्वारा शब्दश्रवण के सम्बन्ध में निम्नोक्त तीन तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) छद्मस्थ मनुष्य वजाये जाते हुए शंख आदि वाद्यों के शब्दों को सुनता है।

(२) किन्तु वह (छद्मस्थ) उन वजाये हुए वाद्य-शब्दों को कानों से स्पर्श होने पर सुनता है, तथा इन्द्रिय विषय के निकटवर्त्ती शब्दों को सुन सकता है।

(३) केवलज्ञानी आरगत पारगत, निकट-दूर के समस्त अनन्त शब्दों को जानता-देखता है तथा वह सभी दिशाओं से, सब ओर से, सब काल में अपने निरावरण अनन्त-परिपूर्ण-केवलज्ञान केवलदर्शन से सर्वभावों (पदार्थों) को जानता-देखता है।

मूल सूत्र में छद्मस्थ के लिए 'सुणेइ' क्रियापद का प्रयोग किया गया है जब कि केवली के लिए 'जाणइ पासइ' पद का प्रयोग किया है। इस भेद का कारण यह है कि छद्मस्थ जीव कान से शब्द सुनता है किन्तु केवली शब्द को कान से नहीं सुनते, केवलज्ञान-दर्शन से ही जानते-देखते हैं।

'आउडिज्जमाणाइं' पद की व्याख्या—संस्कृत में इस शब्द के दो रूपान्तर होते हैं—(१) आजोड्माना एवं (आजोड्यमानानि) (२) 'आकुट्यमानानि'। प्रथमरूपान्तर की व्याख्या इस प्रकार है—मुखादि से आसम्बद्ध होते हुए वाद्यविशेष; अर्थात्—मुख के साथ शंख का संयोग होने से, हाथ के साथ ढोल का संयोग होने से, लकड़ी के टुकड़े या डंडे के साथ झालर का संयोग होने से, इसी तरह अन्यान्य पदार्थों के साथ अनेक प्रकार के वाद्यों का संयोग होने से; अथवा वजाने के साधनरूप अनेक प्रकार के पदार्थों के पीटने—कूटने—चोट लगाने अथवा टकराने से बजने वाले अनेक प्रकार के बाजों से।

कठिन शब्दों की व्याख्या—आरगयाइं=इन्द्रियों के निकट भाग में स्थित, या इन्द्रियगोचर। **पारगयाइं**=इन्द्रियविषयों से पर, दूर या अगोचर रहे हुए। **सव्वदूरमूलमणंतियं**= (१) सर्वथा दूर और मूल=निकट में रहे हुए शब्द को, तथा अनन्तिक अर्थात्—न तो बहुत दूर और न बहुत निकट अर्थात्—मध्यवर्ती शब्दों को, (२) अथवा सर्वदूरमूल यानी अनादि और अन्तरहित शब्दों को। **णिव्वुडे नाणे**=कर्मों से अत्यन्त निवृत्त होने के कारण निरावरण ज्ञान।[२]

छद्मस्थ और केवली के हास्य और औत्सुक्य सम्बन्धी प्ररूपणा—

५. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से हसेज्ज वा ? उस्सुआएज्ज वा ?

हंता, हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १९४-१९५

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१६

(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १७१

[५ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य हंसता है तथा (किसी पदार्थ को ग्रहण करने के लिए) उत्सुक (उतावला) होता है ?

[५ उ.] गौतम ! हाँ, छद्मस्थ मनुष्य हंसता तथा उत्सुक होता है।

६. [१] जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से हसेज्ज वा उस्सु० तहा णं केवली वि हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

[६-१ प्र.] भगवन् ! जैसे छद्मस्थ मनुष्य हंसता है तथा उत्सुक होता है, वैसे क्या केवली भी हंसता और उत्सुक होता है ?

[६-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्—छद्मस्थ मनुष्य की तरह केवली न तो हंसता है और न उत्सुक होता है।)

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ?

गोयमा ! जं णं जीवा चरित्तमोहणिज्जकम्मस्स उदएणं हसंति वा उस्सुयायंति वा, से णं केवलिस्स नत्थि, से तेणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ।

[६-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि केवली मनुष्य (छद्मस्थ की तरह) न तो हंसता है और न उत्सुक होता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! जीव, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से हंसते हैं या उत्सुक होते हैं, किन्तु वह (चारित्रमोहनीय कर्म) केवलीभगवान् के नहीं है; (उनके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय हो चुका है।) इस कारण से यह कहा जाता है कि जैसे छद्मस्थ मनुष्य हंसता है अथवा उत्सुक होता है, वैसे केवलीमनुष्य न तो हंसता है और न ही उत्सुक होता है।

७. जीवे णं भंते ! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा ।

[७ प्र.] भगवन् ! हंसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों (कितने प्रकार के कर्म) को बांधता है ?

[७ उ.] गौतम ! (हंसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव) सात प्रकार के कर्मों को बांधता है, अथवा आठ प्रकार के कर्मों को बांधता है।

८. एवं जाव[१] वेमाणिए ।

[८] इसी प्रकार (नैरयिक से लेकर) वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों के लिए (ऐसा आलापक) कहना चाहिए।

---

१. 'जाव' पद यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक पर्यन्त चौवीस दण्डकों का सूचक है।

९. पोहत्तिएहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[९] जब उपर्युक्त प्रश्न बहुत जीवों की अपेक्षा पूछा जाए, तो उसके उत्तर में समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर कर्मबन्ध से सम्बन्धित तीन भंग (विकल्प) कहने चाहिए।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली के हास्य और औत्सुक्य—प्रस्तुत ५ सूत्रों (सू. ५ से ९ तक) में छद्मस्थ और केवलज्ञानी मनुष्य के हंसने और उत्सुक (किसी वस्तु को लेने के लिए उतावला) होने के सम्बन्ध में पांच तथ्यों का निरूपण किया गया है—

१. छद्मस्थ मनुष्य हंसता भी है और उत्सुक भी होता है।

२. केवली मनुष्य न हंसता है, और न उत्सुक होता है।

३. क्योंकि केवली के चारित्रमोहनीय कर्म का उदय नहीं होता, वह क्षीण हो चुका है।

४. जीव (एक जीव) हंसता और उत्सुक होता है, तब सात या आठ प्रकार के कर्म बांध लेता है।

५. यह बात नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस ही दण्डकों पर घटित होती है।

६. जब बहुवचन (बहुत-से जीवों) की अपेक्षा से कहा जाए, तब समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर शेष १९ दण्डकों में कर्मबन्ध सम्बन्धी तीन भंग कहने चाहिए।

तीन भंग—पृथक्त्वसूत्रों (पोहत्तिएहिं) अर्थात् बहुवचन-सूत्रों (बहुत-से जीवों) की अपेक्षा से पांच एकेन्द्रियों में हास्यादि न होने से ५ स्थावरों के ५ दण्डकों को छोड़कर शेष १९ दण्डकों में कर्मबन्धसम्बन्धी तीन भंग होते हैं—(१) सभी जीव सात प्रकार के कर्म बांधते हैं, (२) बहुत-से जीव ७ प्रकार के कर्म बांधते हैं और एक जीव ८ प्रकार के कर्म बांधता है, (३) बहुत-से जीव ७ प्रकार के कर्मों को और बहुत-से जीव ८ प्रकार के कर्मों को बांधते हैं।[1]

आयुकर्म के बन्ध के समय आठ और जब आयुकर्म न बंध रहा हो, तब सात कर्मों का बन्ध समझना चाहिए।

छद्मस्थ और केवली का निद्रा और प्रचला से सम्बन्धित प्ररूपण—

१०. छउमत्थे णं भंते! मणूसे निद्दाएज्ज वा? पयलाएज्ज वा?

हंता, निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा।

[१० प्र.] भगवन्! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा लेता है अथवा प्रचला नामक निद्रा लेता है?

[१० उ.] हाँ, गौतम! छद्मस्थ मनुष्य निद्रा लेता है और प्रचला निद्रा (खड़ा खड़ा नींद) भी लेता है।

११. जहा हसेज्ज वा तहा, नवरं दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं निद्दायंति वा, पयलायंति वा। से णं केवलिस्स नत्थि। अन्नं तं चेव।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१७

[११] जिस प्रकार हंसने (और उत्सुक होने) के सम्बन्ध में (छद्मस्थ और केवली मनुष्य के विषय में) प्रश्नोत्तर बतलाए गए हैं, उसी प्रकार निद्रा और प्रचला-निद्रा के सम्बन्ध में (छद्मस्थ और केवली मनुष्य के विषय में) प्रश्नोत्तर जान लेने चाहिए। विशेष यह है कि छद्मस्थ मनुष्य दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा अथवा प्रचला लेता है, जबकि केवली भगवान् के वह दर्शनावरणीय कर्म नहीं है; (उनके दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुका है।) इसलिए केवली न तो निद्रा लेता है, न ही प्रचलानिद्रा लेता है। शेष सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

१२. जीवे णं भंते ! निद्दायमाणे वा पयलायमाणे वा कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा।

[१२ प्र.] भगवन् ! निद्रा लेता हुआ अथवा प्रचलानिद्रा लेता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों (कितने प्रकार के कर्मों) को बांधता है ?

[१२ उ.] गौतम ! निद्रा अथवा प्रचला-निद्रा लेता हुआ जीव सात कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध करता है, अथवा आठ कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध करता है।

१३. एवं जाव वेमाणिए।

[१३] इसी तरह (एकवचन की अपेक्षा से) [नैरयिक से लेकर] वैमानिक-पर्यन्त (चौवीस ही दण्डकों के लिए) कहना चाहिए।

१४. पोहत्तिएसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१४] जब उपर्युक्त प्रश्न बहुवचन (बहुत-से जीवों) की अपेक्षा से पूछा जाए, तब (समुच्चय) जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर [शेष १९ दण्डकों में] कर्मबन्ध-सम्बन्धी तीन भंग कहने चाहिए।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली का निद्रा और प्रचला से सम्बन्धित प्ररूपण—प्रस्तुत चार सूत्रों में हास्य और औत्सुक्य के सूत्रों की तरह ही सारा निरूपण है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ हास्य और औत्सुक्य के बदले निद्रा और प्रचला शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शेष सब पूर्ववत् है।

हरिनैगमेषी द्वारा गर्भापहरण किये जाने के सम्बन्ध में शंका-समाधान—

१५. हरी णं भंते ! नेगमेसी सक्कदूते इत्थीगब्भं साहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरति ? गब्भाओ जोणिं साहरइ ? जोणीतो गब्भं साहरति ? जोणीतो जोणिं साहरइ ?

गोयमा ! नो गब्भातो गब्भं साहरति, नो गब्भाओ जोणिं साहरति, नो जोणीतो जोणिं साहरति, परामसिय परामसिय अव्वाबाहेणं अव्वाबाहं जोणीओ गब्भं साहरइ।

[१५ प्र.] भगवन् ! इन्द्र (हरि)-सम्बन्धी शक्रदूत हरिनैगमेषी देव जब स्त्री के गर्भ का संहरण करता है, तब क्या वह एक गर्भाशय से गर्भ को उठाकर दूसरे गर्भाशय में रखता है ? या गर्भ को लेकर योनि द्वारा दूसरी (स्त्री) के उदर में रखता है ? अथवा योनि से (गर्भ को बाहर

निकाल कर दूसरी स्त्री के) गर्भाशय में रखता है? या फिर योनि द्वारा गर्भ को पेट में से बाहर निकाल कर (वापस उसी तरह) योनि द्वारा ही (दूसरी स्त्री के पेट में) रखता है?

[१५ उ.] हे गौतम! वह हरिनैगमेषी देव, एक गर्भाशय से गर्भ को उठा कर दूसरे गर्भाशय में नहीं रखता; गर्भाशय से गर्भ को लेकर उसे योनि द्वारा दूसरी स्त्री के उदर में नहीं रखता; तथा योनि द्वारा गर्भ को (पेट में से) बाहर निकालकर (वापस उसी तरह) योनि द्वारा दूसरी स्त्री के पेट में नहीं रखता; परन्तु अपने हाथ से गर्भ को स्पर्श कर करके, उस गर्भ को कुछ पीड़ा (बाधा) न हो, इस तरीके से उसे योनि द्वारा बाहर निकाल कर दूसरी स्त्री के गर्भाशय में रख देता है।

१६. पभू णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कस्स दूते इत्थीगब्भं नहसिरंसि वा रोमकूवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा?

हंता, पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचि वि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेदं पुण करेज्जा, एसुहुमं च णं साहरिज्ज वा, नीहरिज्ज वा।

[१६ प्र.] भगवन्! क्या शक्र का दूत हरिनैगमेषी देव, स्त्री के गर्भ को नखाग्र (नख के सिरे) द्वारा, अथवा रोमकूप (छिद्र) द्वारा गर्भाशय में रखने या गर्भाशय से निकालने से समर्थ है?

[१६ उ.] हाँ, गौतम! हरिनैगमेषी देव उपर्युक्त रीति से कार्य करने में समर्थ है। (किन्तु ऐसा करते हुए) वह देव उस गर्भ को थोड़ी या बहुत, किञ्चित्मात्र भी पीड़ा नहीं पहुँचाता। हाँ, वह उस गर्भ का छविच्छेद (शरीर का छेदन-भेदन) करता है, और फिर उसे बहुत सूक्ष्म करके अंदर रखता है, अथवा इसी तरह अंदर से बाहर निकालता है।

विवेचन—हरिनैगमेषी देव द्वारा गर्भापहरण किये जाने के सम्बन्ध में शंका-समाधान— सूत्रद्वय (सू. १५ और १६) में शक्रेन्द्र के दूत एवं गर्भापहारक हरिनैगमेषी देव द्वारा गर्भापहरण कैसे, किस तरीके से किया जाता है? तथा क्या वह नखाग्र और रोमकूप द्वारा गर्भ को गर्भाशय में रखने या उससे निकालने में समर्थ है? इन दो शंकाओं को प्रस्तुत करके भगवान् द्वारा दिया गया उनका सुन्दर एवं सन्तोषजनक समाधान अंकित किया गया है।

हरिनैगमेषी देव का संक्षिप्त परिचय—'हरि', इन्द्र को कहते हैं तथा इन्द्र से सम्बन्धित व्यक्ति को भी हरि कहते हैं। इसलिए हरिनैगमेषी का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (निर्वचन) इस प्रकार किया गया है—हरि=इन्द्र के, नैगम=आदेश को जो चाहता है, वह **हरिनैगमेषी**, अथवा हरि=इन्द्र का नैगमेषी नामक देव। शक्रेन्द्र की पदाति (पैदल) सेना का वह नायक तथा शक्रदूत है। शक्रेन्द्र की आज्ञा से उसी ने भगवान् महावीर की माता त्रिशलादेवी के गर्भ में देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से भगवान् महावीर के गर्भ को संहरण करके स्थापित किया था।

यद्यपि यहाँ भगवान् महावीर का नाम मूलपाठ में नहीं दिया है, तथापि हरिनैगमेषी का नाम आने से यह घटना भ० महावीर से सम्बन्धित होने की संभावना है। वृत्तिकार का कथन है कि अगर इस घटना को भ० महावीर के साथ घटित करना न होता तो 'हरिनैगमेषी' नाम मूलपाठ में न देकर सामान्यरूप से देव का निरूपण किया जाता।

भगवतीसूत्र के अतिरिक्त हरिणैगमेषी द्वारा गर्भापहरण का वृत्तान्त अन्तकृद्दशांग में, आचारांग भावना चूलिका में, तथा कल्पसूत्र में भी उल्लिखित है।[1]

गर्भसंहरण के चार प्रकारों में से तीसरा प्रकार ही स्वीकार्य—मूलपाठ में गर्भापहरण के ४ तरीके विकल्परूप में उठाए गए हैं, किन्तु हरिनैगमेषी द्वारा योनि द्वारा गर्भ को निकाल कर दूसरी स्त्री के गर्भाशय में रखना—ही उपयोगी और लोकप्रसिद्ध तीसरा तरीका ही अपनाया जाता है, क्योंकि यह लौकिक प्रथा है कि कच्चा (अधूरा) या पक्का (पूरा) कोई भी गर्भ स्वाभाविक रूप से योनि द्वारा ही बाहर आता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—साहरइ = संहरण करता है; साहरित्तए = संहरण—प्रवेश कराने के लिए। नीहरित्तए = निकालने के लिए। आबाहं = थोड़ी-सी बाधा-पीड़ा, विबाहं = विशेष बाधा-पीड़ा।[2]

अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविर मुनियों का समाधान—

१७. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी अतिमुत्ते णामं कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए।

[१७-१] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (समीप रहने वाले = शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमार श्रमण थे। वे प्रकृति से भद्र यावत् विनीत थे।

[२] तए णं से अतिमुत्ते कुमारसमणे अन्नया कयाइ महावुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि कक्ख-पडिग्गह-रयहरणमायाए बहिया संपट्ठिते विहाराए।

[१७-२] (दीक्षित होने के) पश्चात् वह अतिमुक्तक कुमार श्रमण किसी दिन महावृष्टिकाय (मूसलधार वर्षा) पड़ रही थी, तब कांख (बगल) में अपना रजोहरण तथा (हाथ में, झोली में) पात्र लेकर बाहर विहार (स्थण्डिल भूमिका में बड़ी शंका के निवारण) के लिए रवाना (प्रस्थित) हुए (चले)।

[३] तए णं से अतिमुत्ते कुमारसमणे वाहयं वहमाणं पासति, २ मट्टियापालिं बंधति, २ 'नाविया मे २' णाविओ विव णावमयं पडिग्गहकं, उदगंसि कट्टु पव्वाहमाणे पव्वाहमाणे अभिरमति।

---

१. (क) अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग ७, पृ. ११९४ हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी, अथवा हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देवः। (आव. म. २ अ.)

(ख) आचारांग अन्तिम भावना-चूलिका।

(ग) अन्तकृद्दशांग अ. ७, वर्ग ४, सुलसाप्रकरण

(घ) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १७४-१७५.

(ङ) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१८

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१८

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १९६

[१७-३] तत्पश्चात् (बाहर जाते हुए) उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण ने (मार्ग में) बहता हुआ पानी का एक छोटा-सा नाला देखा। उसे देखकर उसने उस नाले के दोनों ओर मिट्टी की पाल बांधी। इसके पश्चात् नाविक जिस प्रकार अपनी नौका पानी में छोड़ता है, उसी प्रकार उसने भी अपने पात्र को नौकारूप मानकर, पानी में छोड़ा। फिर 'यह मेरी नाव है, यह मेरी नाव है', यों पात्रीरूपी नौका को पानी में प्रवाहित करते (बहाते=तिराते हुए) क्रीड़ा करने (खेलने) लगे।

[४] तं च थेरा अद्दक्खु। जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी अतिमुत्ते णामं कुमारसमणे, से णं भंते! अतिमुत्ते कुमारसमणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति!

'अज्जो!' त्ति समणे भगवं महावीरे ते थेरे एवं वदासी—एवं खलु अज्जो! ममं अंतेवासी अतिमुत्ते णामं कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए, से णं अतिमुत्ते कुमारसमणे इमेणं चेव भवग्गहणेणं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति। तं मा णं अज्जो! तुब्भे अतिमुत्तं कुमारसमणं हीलेह निंदह खिसह गरहह अवमन्नह। तुब्भे णं देवाणुप्पिया! अतिमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हह, अगिलाए उवगिण्हह, अगिलाए भत्तेणं पाणेणं विणयेणं वेयावडियं करेह। अतिमुत्ते णं कुमारसमणे अंतकरे चेव, अंतिमसरीरिए चेव।

[१७-४] इस प्रकार करते हुए उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्थविरों ने देखा। स्थविर (अतिमुक्तक कुमारश्रमण को कुछ भी कहे विना) जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और निकट आकर उन्होंने उनसे पूछा (कहा)—

[प्र.] भगवन्! आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) जो अतिमुक्तक कुमारश्रमण है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होगा, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा?

[उ.] 'हे आर्यो!' इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उन स्थविरों को सम्बोधित करके कहने लगे—'आर्यो! मेरा अन्तेवासी (शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण, जो प्रकृति से भद्र यावत् प्रकृति से विनीत है; वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण इसी भव (जन्मग्रहण) से सिद्ध होगा, यावत् सब दुःखों का अन्त करेगा। अतः हे आर्यो! तुम अतिमुक्तक कुमारश्रमण की हीलना मत करो, न ही उसे झिड़को (जनता के समक्ष चिढ़ाओ, डांटो या खिसना करो), न ही गर्हा (बदनामी) और अवमानना (अपमान) करो। किन्तु हे देवानुप्रियो! तुम अग्लानभाव से (ग्लानि—घृणा या खिन्नता लाए विना) अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्वीकार करो, अग्लान भाव से (संयम में) उसकी सहायता (उपग्रह=उपकार) करो, और अग्लानभाव से आहार-पानी से विनय सहित उसकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करो; क्योंकि अतिमुक्तक कुमारश्रमण (इसी भव में सब कर्मों का या संसार का) अन्त करने वाला है, और चरम (अन्तिम) शरीरी है।

[५] तए णं ते थेरा भगवंतो समणेणं भगवता महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति, अतिमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हंति जाव वेयावडियं करेंति।

[१७-५] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर (तत्क्षण) उन स्थविर भगवन्तों ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया। फिर उन स्थविर मुनियों ने अतिमुक्तक कुमारश्रमण को अग्लान भाव से स्वीकार किया और यावत् वे उसकी वैयावृत्य (सेवाशुश्रूषा) करने लगे।

विवेचन—अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविरों का समाधान— प्रस्तुत १७ वें सूत्र के पांच विभागों में अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा पात्ररूपी नौका वर्षा के जल में तिराने की बालचेष्टा से लेकर भगवान् द्वारा किये गए समाधान से स्थविरों की अतिमुक्तक मुनि की सेवा में अग्लानिपूर्वक संलग्नता तक का वृत्तान्त दिया गया है।

भगवान द्वारा आविष्कृत सुधार का मनोवैज्ञानिक उपाय—यद्यपि अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा सचित्त जल में अपने पात्र को नौका रूप मानकर तिराना और क्रीड़ा करना, साधुजीवन चर्या में दोषयुक्त था, उसे देखकर स्थविरमुनियों के मन में अतिमुक्तक श्रमण के संयम के प्रति शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किन्तु एक तो बालसुलभ स्वभाव के कारण अतिमुक्तक मुनि से ऐसा हुआ था, दूसरे वे प्रकृति से भद्र, सरल और विनीत थे, हठाग्रही और अविनीत नहीं थे। इसलिए एकान्त में वात्सल्यभाव से भगवान् ने उन्हें समझाया होगा, तब वे तुरन्त अपनी भूल को मान गए होंगे, और उसके लिए यथोचित प्रायश्चित्त लेकर उन्होंने आत्मशुद्धि भी कर ली होगी। शास्त्र के मूलपाठ में उल्लेख न होने पर भी **'पगइभद्दए जाव पगइविणीए'** पदों से ऐसी संभावना की जा सकती है।

दूसरी ओर—भगवान् ने स्थविरों की मनोदशा अतिमुक्तक के प्रति घृणा, उपेक्षा, अवमानना और ग्लानि से युक्त देखी तो उन्होंने स्थविरों को भी वात्सल्यवश सम्बोधित करके अतिमुक्तक के प्रति घृणादि भाव छोड़कर अग्लानभाव से उसकी सेवा करने की प्रेरणा दी। ऐसे मनोवैज्ञानिक उपाय से भगवान् ने दोषयुक्त व्यक्ति को सुधारने का अचूक उपाय बता दिया। साथ ही अतिमुक्तक मुनि में निहित गुणों को प्रकट करके उन्हें भगवान् ने चरमशरीरी एवं भवान्तकर बताया, यह भी स्थविरों को घृणादि से मुक्त करने का ठोस उपाय था।[1]

'कुमारश्रमण'—अल्पवय में दीक्षित होने के कारण अतिमुक्तक को **'कुमारश्रमण'** कहा गया है।

दो देवों के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतमस्वामी का मनःसमाधान—

१८. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो विमाणातो[2] दो देवा महिड्ढीया जाव[3] महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूता।

[१८-१] उस काल और उस समय में महाशुक्र कल्प (देवलोक) से महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान (विमान) से दो महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रादुर्भूत (प्रगट) हुए (आए)।

---

१. (क) भगवती. (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १७७-१७८
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१९ के आधार पर

२. पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणाओ'

३. 'जाव' पद से 'महज्जुती' इत्यादि देववर्णन में आया हुआ समग्र विशेषणयुक्त पाठ कहना चाहिए।

[२] तए णं ते देवा समणं भगवं महावीरं वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं पुच्छंति—कति णं भंते ! देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति ? तए णं समणे भगवं महावीरे तेहिं देवेहिं मणसा पुट्ठे, तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंतेवासिसताइं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति।

[१८-२ प्र.] तत्पश्चात् उन देवों ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उन्होंने मन से हो (मन ही मन) (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार का ऐसा प्रश्न पूछा—'भगवन् ! आपके कितने सौ शिष्य सिद्ध होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे ?'

[१८-२ उ.] तत्पश्चात् उन देवों द्वारा मन से पूछे जाने पर श्रमण भगवान् महावीर ने उन देवों को भी मन से ही इस प्रकार का उत्तर दिया—'हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होंगे, यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे।'

[३] तए णं ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्ठेणं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा जाव हयहियया समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति, २ त्ता मणसा चेव सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा जाव पज्जुवासंति।

[१८-३] इस प्रकार उन देवों द्वारा मन से पूछे गए प्रश्न का उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने भी मन से ही इस प्रकार दिया, जिससे वे देव हर्षित, सन्तुष्ट (यावत्) हृदय वाले एवं प्रफुल्लित हुए। फिर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके मन से उनकी शुश्रूषा और नमस्कार करते हुए अभिमुख होकर यावत् पर्युपासना करने लगे।

१९. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे जाव अदूरसामंते उड्ढंजाणू जाव विहरति।

[१९-१] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (पट्टशिष्य) इन्द्रभूति नामक अनगार यावत् न अतिदूर और न ही अतिनिकट उत्कुटुक (उकडू) आसन से बैठे हुए यावत् पर्युपासना करते हुए उनकी सेवा में रहते थे।

[२] तए णं तस्स भगवतो गोतमस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु दो देवा महिड्ढीया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूया, तं नो खलु अहं ते देवे जाणामि कयरातो कप्पातो वा सग्गातो वा विमाणातो वा कस्स वा अत्थस्स अट्ठाए इहं हव्वमागता ?' तं गच्छामि णं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि जाव[१] पज्जुवासामि, इमाइं च णं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहेति, २ उट्ठाए उट्ठेति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव पज्जुवासति।

१. 'जाव' शब्द से गौतमस्वामी द्वारा समाचरित आराधना-पर्युपासना सम्बन्धी पूर्वोक्त समग्र वर्णन कहना चाहिए।

[१९-२] तत्पश्चात् ध्यानान्तरिका में प्रवृत्त होते हुए (प्रचलित ध्यान की समाप्ति होने पर और दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व) भगवान् गौतम के मन में इस प्रकार का इस रूप का अध्यवसाय (संकल्प) उत्पन्न हुआ—निश्चय ही महर्द्धिक यावत् महानुभाग (महाभाग्यशाली) दो देव, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट प्रकट हुए; किन्तु मैं तो उन देवों को नहीं जानता कि वे कौन-से कल्प (देवलोक) से या स्वर्ग से, कौन-से विमान से और किस प्रयोजन से शीघ्र यहाँ आए हैं ? अतः मैं भगवान् महावीर स्वामी के पास जाऊँ और वन्दना-नमस्कार करूं; यावत् पर्युपासना करूं, और ऐसा करके मैं इन और इस प्रकार के उन (मेरे मन में पहले उत्पन्न) प्रश्नों को पूछूँ। यों श्री गौतम स्वामी ने विचार किया और अपने स्थान से उठे। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए यावत् उनकी पर्युपासना करने लगे।

[३] 'गोयमा !' इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वदासी—से नूणं तव गोयमा ! झाणंतरियाए वट्टमाणस्स इमेतारूवे अज्झत्थिए जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं गोतमा ! अट्ठे समट्ठे ? हंता, अत्थि। तं गच्छाहि णं गोतमा ! एते चेव देवा इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं वागरेहिंति।

[१९-३] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम आदि अनगारों को सम्बोधित करके भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—'गौतम ! एक ध्यान को समाप्त करके दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व (ध्यानान्तरिका में प्रवृत्त होते समय) तुम्हारे मन में इस प्रकार का अध्यवसाय (संकल्प) उत्पन्न हुआ कि मैं देवों सम्बन्धी तथ्य जानने के लिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में जा कर उन्हें वन्दन-नमस्कार करूं, यावत् उनकी पर्युपासना करूं, उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रश्न पूछूँ, यावत् इसी कारण से जहाँ मैं हूँ वहाँ तुम मेरे पास शीघ्र आए हो। हे गौतम ! यही बात है न ? (क्या यह अर्थ समर्थ है ?)' (श्री गौतम स्वामी ने कहा—)' हाँ, भगवन् ! यह बात ऐसी ही है।'

(इसके पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी ने कहा–) 'गौतम ! तुम (अपनी शंका के निवारणार्थ उन्हीं देवों के पास) जाओ। वे देव ही इस प्रकार की जो भी बातें हुई थीं, तुम्हें बताएँगे।'

[४] तए णं भगवं गोतमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसति, २ जेणेव ते देवा तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१९-४] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर द्वारा इस प्रकार की आज्ञा मिलने पर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर जिस तरफ वे देव थे, उसी ओर जाने का संकल्प किया।

[५] तए णं ते देवा भगवं गोतमं एज्जमाणं पासंति, २ हट्ठा जाव हयहिदया खिप्पामेव अब्भुट्ठेंति, २ खिप्पामेव पच्चुवगच्छंति, २ जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छंति, २ त्ता जाव णमंसित्ता एवं वदासी—एवं खलु भंते ! अम्हे महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो[1] विमाणातो

---

१. पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणातो'।

दो देवा महिड्ढिया जाव पादुब्भूता, तए णं अम्हे समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो, २ मणसा चेव इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं पुच्छामो—कति णं भंते ! देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे भगवं महावीरे अम्हेहिं मणसा पुट्ठे अम्हं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंतेवासि० जाव अंतं करेहिंति । तए णं अम्हे समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्ठेणं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरिया समाणा समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो, २ जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु भगवं गोतमं वंदंति नमंसंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं पडिगया ।

[१६-५] इधर उन देवों ने भगवान् गौतम स्वामी को अपनी ओर आते देखा तो वे अत्यन्त हर्षित हुए यावत् उनका हृदय प्रफुल्लित हो गया; वे शीघ्र ही खड़े हुए, फुर्ती से उनके सामने गए और जहाँ गौतम स्वामी थे, वहाँ उनके पास पहुँचे । फिर उन्हें यावत् वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—'भगवन् ! महाशुक्रकल्प (सप्तम देवलोक) से, महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान से हम दोनों महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव यहाँ आये हैं । यहाँ आ कर हमने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और मन से ही (मन ही मन) इस प्रकार की ये बातें पूछीं कि 'भगवन् ! आप देवानुप्रिय के कितने शिष्य सिद्ध होंगे यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेंगे ?' तब हमारे द्वारा मन से ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से (यह प्रश्न) पूछे जाने पर उन्होंने हमें मन से ही इस प्रकार का यह उत्तर दिया—'हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होंगे, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेंगे ।' 'इस प्रकार मन से पूछे गए प्रश्न का उत्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा मन से ही प्राप्त करके हम अत्यन्त हृष्ट और सन्तुष्ट हुए यावत् हमारा हृदय उनके प्रति खिंच गया । अतएव हम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके यावत् उनकी पर्युपासना कर रहे हैं ।' यों कह कर उन देवों ने भगवान् गौतम स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और वे दोनों देव जिस दिशा से आए (प्रादुर्भूत हुए) थे, उसी दिशा में वापस लौट गए ।

विवेचन—दो देवों के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतम स्वामी का मनःसमाधान—प्रस्तुत दो सूत्रों द्वारा शास्त्रकार वे सात तथ्यों का स्पष्टीकरण किया है—

(१) दो देवों का अपना जिज्ञासा शान्त करने हेतु भगवान् महावीर की सेवा में आगमन ।

(२) सिद्ध-मुक्त होने वाले भगवान् के शिष्यों के सम्बन्ध में देवों द्वारा प्रस्तुत मनोगत प्रश्न ।

(३) उनका मनोगत प्रश्न जान कर भगवान् द्वारा मन से ही प्रदत्त उत्तर—'मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होंगे ।'

(४) यथार्थ उत्तर पा कर देव हृष्ट और सन्तुष्ट होकर वन्दन नमस्कार करके पर्युपासना में लीन हुए ।

(५) गौतम स्वामी के ध्यानपरायण मन में देवों के सम्बन्ध में उठी हुई जिज्ञासा शान्त करने का विचार ।

(६) भगवान् द्वारा गौतमस्वामी को अपनी जिज्ञासा शान्त करने हेतु देवों के पास जाने का परामर्श ।

(७) देवों द्वारा अपने आगमन के उद्देश्य और उसमें प्राप्त सफलता का अथ से इति तक गौतमस्वामी से निवेदन ।

प्रतिफलित तथ्य—इस समग्र वृत्तान्त पर से चार तथ्य प्रतिफलित होते हैं—

(१) देवों की तथा सर्वज्ञ तीर्थंकर की क्रमशः प्रचण्ड मनःशक्ति और आत्मशक्ति ।

(२) सत्य की प्राप्ति होने पर देव हृष्ट-तुष्ट, विनम्र और धर्मात्मा के पर्युपासक बन जाते हैं ।

(३) सत्यार्थी गौतमस्वामी की प्रबल ज्ञानपिपासा ।

(४) अपने से निम्नगुणस्थानवर्ती देवों के पास सत्य-तथ्य जानने का भगवान् का परामर्श मान कर विनम्रमूर्ति जिज्ञासुशिरोमणि श्री गौतमस्वामी का देवों के पास गमन, और यथार्थमनः-समाधान से सन्तोष ।[1]

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—अब्भणुण्णाए=आज्ञा प्राप्त होने पर । **खिप्पामेव**=शीघ्र ही । **पहारेत्थ गमणाए**=जाने के लिए मन में धारणा की । **एज्जमाणं**=आते हुए । **अब्भुट्ठेति**=उठ खड़े होते हैं । **पच्चुवागच्छंति**=सामने आते हैं । **झाणंतरिया**=ध्यानान्तरिका—एक ध्यान समाप्त करके जब तक दूसरा ध्यान प्रारम्भ न किया जाए उसके बीच का समय ।[2]

देवों को संयत, असंयत, एवं संयतासंयत न कहकर 'नो-संयत'' कथन-निर्देश—

२०. 'भंते !' त्ति भगवं गोतमे समणं जाव एवं वदासी—देवा णं भंते ! 'संजया' ति वत्तव्वं सिया ? गोतमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अब्भक्खाणमेयं देवाणं ।

[२० प्र.] 'भगवन् !' इस प्रकार सम्बोधित करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया यावत् इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या देवों को 'संयत' कहा जा सकता है ?

[२० उ.] 'गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (यथार्थ सम्यक्) नहीं है, यह (देवों को 'संयत' कहना) देवों के लिए अभ्याख्यान (मिथ्या आरोपित कथन) है ।

२१. भंते ! 'असंजता' ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । णिट्ठुरवयणमेयं देवाणं ।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या देवों को 'असंयत' कहना चाहिए ?

[२१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (भी) समर्थ (सम्यक् अर्थ) नहीं है । देवों के लिए ('देव असंयत हैं') यह (कथन) निष्ठुर वचन है ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग १, पृ. १९८-१९९

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२१

२२. भंते ! 'संजयासंजया' ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असब्भूयमेयं देवाणं ।

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या देवों को 'संयतासंयत' कहना चाहिए ?

[२२ उ.] गौतम ! यह अर्थ (भी) समर्थ नहीं है, देवों को 'संयतासंयत' कहना (देवों के लिए) असद्भूत (असत्य) वचन है ।

२३. से किं खाति णं भंते ! देवा ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! देवा णं 'नोसंजया' ति वत्तव्वं सिया ।

[२३ प्र.] भगवन् ! तो फिर देवों को किस नाम से कहना (पुकारना) चाहिए ?

[२३ उ.] गौतम ! देवों को 'नोसंयत' कहा जा सकता है ।

विवेचन—देवों को संयत, असंयत और संयतासंयत न कह कर 'नोसंयत'-कथन-निर्देश— प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. २० से २२ तक) में देवों को संयत, असंयत एवं संयतासंयत न कहने का कारण वताकर चतुर्थ सूत्र में 'नोसंयत' कहने का भगवान् का निर्देश अंकित किया गया है ।

देवों के लिए 'नोसंयत' शब्द उपयुक्त क्यों ? दो कारण—(१) जिस प्रकार 'मृत' और 'दिवंगत' का अर्थ एक होते हुए भी 'मर गया' शब्द निष्ठुर (कठोर) वचन होने से 'स्वर्गवासी हो गया' ऐसे अनिष्ठुर शब्दों का प्रयोग किया जाता है वैसे ही यहाँ 'असंयत' शब्द के बदले 'नोसंयत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(२) ऊपर के देवलोकों के देवों में गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान न्यून होने तथा लेश्या भी प्रशस्त तथा सम्यग्दृष्टि होने से कषाय भी मन्द होने तथा ब्रह्मचारी होने के कारण यत्किंचित् भावसंयतता उनमें आ जाती है, इन देवों की अपेक्षा से उन्हें 'नोसंयत' कहना उचित है ।[1]

देवों की भाषा एवं विशिष्ट भाषा : अर्धमागधी—

२४. देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कतरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति, सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ।

[२४ प्र.] भगवन् ! देव कौन-सी भाषा वोलते हैं ? अथवा (देवों द्वारा) वोली जाती हुई कौन-सी भाषा विशिष्टरूप होती है ?

[२४ उ.] गौतम ! देव अर्धमागधी भाषा वोलते हैं, और वोली जाती हुई वह अर्धमागधी भाषा ही विशिष्टरूप होती है ।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२१

(ख) 'गति-शरीर-परिग्रहाऽभिमानतो हीनाः-तत्त्वार्थ सूत्र अ. ४, सू-२२

'परेऽप्रवीचाराः'—तत्वार्थसूत्र, अ. ४, सू. १०

विवेचन—देवों की भाषा एवं विशिष्टरूप भाषा : अर्धमागधी—प्रस्तुत सूत्र में देवों की भाषा-सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

अर्धमागधी का स्वरूप—वृत्तिकार के अनुसार जो भाषा मगधदेश में बोली जाती है, उसे मागधी कहते हैं। जिस भाषा में मागधी और प्राकृत आदि भाषाओं के लक्षण (निशान) का मिश्रण हो गया हो, उसे अर्धमागधी भाषा कहते हैं। अर्धमागधी शब्द की व्युत्पत्ति—**'मागध्या अर्धम् अर्धमागधी'** के अनुसार अर्धमागधी शब्द स्पष्टत: सूचित करता है कि जिस भाषा में आधी मागधी भाषा हो और आधी दूसरी भाषाएँ मिश्रित हुई हों, वही अर्धमागधी भाषा है। आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथ-चूर्णि में अर्धमागधी का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'मगध देश की आधी भाषा में जो निबद्ध है, वह अर्धमागधी है अथवा अठारह प्रकार की देशी भाषा में नियत हुई जो भाषा है, वह अर्धमागधी है। 'प्राकृतसर्वस्व' में महर्षि मार्कण्डेय बताते हैं, मगधदेश और सूरसेन देश अधिक दूर न होने से तथा शौरसेनी भाषा में पाली और प्राकृत भाषा का मिश्रण होने से तथा मागधी के साथ सम्पर्क होने से शौरसेनी को ही **अर्धमागधी**[1] कहने में कोई आपत्ति नहीं।

विभिन्न धर्मों की अलग-अलग देवभाषाओं का समावेश अर्धमागधी में—वैदिक धर्मसम्प्रदाय ने संस्कृत को देवभाषा माना है। बौद्धसम्प्रदाय ने पाली को, इस्लाम ने अरबी को, ईसाई धर्म-सम्प्रदाय ने हिब्रू को देवभाषा माना है। अगर अपभ्रंश भाषा में इन सबको गतार्थ कर दें तो जैनधर्म-सम्प्रदाय मान्य देवभाषा अर्धमागधी में इन सब धर्मसम्प्रदायों की देवभाषाओं का समावेश हो जाता है। भ० महावीर के युग में भाषा के सम्बन्ध में यह मिथ्या धारणा फैली हुई थी कि 'अमुक भाषा देव-भाषा है, अमुक अपभ्रष्ट भाषा। देवभाषा बोलने से पुण्य और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है।' परन्तु महावीर ने कहा कि भाषा का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नहीं है। चारित्र-आचरण शुद्ध न होगा तो कोरी भाषा दुर्गति से बचा नहीं सकती **'न चित्ता तायए भासा'**[2]

केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिम शरीरी चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानने-देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा—

२५. केवली णं भंते ! अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासइ ?

हंता, गोयमा ! जाणति पासति।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२१
   (ख) सिद्धहैमशब्दानुशासन, अ. ८, पाद ४
   (ग) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २ पृ. १८२
   (घ) निशीथचूर्णि (लि. भा. पृ. ३५२) में—**'मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं, अहवा अट्ठारसदेसी-भासाणियतं अद्धमागधं।'**
   (ङ) प्राकृत-सर्वस्व (पृ. १०३) में—**'शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी।'**

२. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १८२
   (ख) 'अद्धमागह' भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह—
   'प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च।
   षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥ —भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २२१
   (ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भा. १, पृ. २०३
   (घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६, गा. १०-"न चित्ता."

[२५ प्र.] भगवन् ! क्या केवली मनुष्य अन्तकर (कर्मों का या संसार का अन्त करने वाले) को अथवा चरमशरीरी को जानता-देखता है ?

[२५ उ.] हाँ गौतम ! वह उसे जानता-देखता है।'

२६. [१] जहा णं भंते ! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासति तधा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा।

[२६-१ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार केवली मनुष्य अन्तकर को, अथवा अन्तिमशरीरी को जानता-देखता है, क्या उसी प्रकार छद्मस्थ-मनुष्य भी अन्तकर को अथवा अन्तिमशरीरी को जानता-देखता है ?

[२६-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं, (अर्थात्—केवली की तरह छद्मस्थ अपने ही ज्ञान से नहीं जान सकता), किन्तु छद्मस्थ मनुष्य किसी से सुन कर अथवा प्रमाण द्वारा अन्तकर और अन्तिम शरीरी को जानता-देखता है।

[२] से किं तं सोच्चा ?

सोच्चा णं केवलिस्स वा, केवलिसावयस्स वा, केवलिसावियाए वा, केवलिउवासगस्स वा, केवलिउवासियाए वा, तप्पक्खियस्स वा, तप्पक्खियसावगस्स वा, तप्पक्खियसावियाए वा, तप्पक्खिय-उवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा। से तं सोच्चा।

[२६-२ प्र.] भगवन् ! सुन कर (किसीसे सुन कर) का अर्थ क्या है ? (अर्थात्—वह किससे सुन कर जान—देख पाता है ?)

[२६-२ उ.] हे गौतम ! केवली से, केवली के श्रावक से, केवली की श्राविका से, केवली के उपासक से, केवली की उपासिका से, केवली-पाक्षिक (स्वयम्बुद्ध) से, केवलीपाक्षिक के श्रावक से, केवली-पाक्षिक की श्राविका से, केवलीपाक्षिक के उपासक से अथवा केवलीपाक्षिक की उपासिका से, इनमें से किसी भी एक से 'सुनकर' छद्मस्थ मनुष्य यावत् जानता और देखता है। यह हुआ 'सोच्चा'='सुन कर' का अर्थ।

[३] से किं तं पमाणे ?

पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे। जहा अणुयोगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं जाव तेण परं नो अत्तागमे, नो अणंतरागमे, परंपरागमे।

[२६-३ प्र.] भगवन् (और) वह 'प्रमाण' क्या है ? कितने हैं ?

[२६-३ उ.] गौतम ! प्रमाण चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य (उपमान) और (४) आगम। प्रमाण के विषय में जिस प्रकार अनुयोग-द्वारसूत्र में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी जान लेना चाहिए; यावत् न आत्मागम, न अनन्त-रागम, किन्तु परम्परागम तक कहना चाहिए।

२७. केवली णं भंते ! चरमकम्मं वा चरमनिज्जरं वा जाणति, पासति ?
हंता, गोयमा ! जाणति, पासति ।

[२७ प्र.] भगवन् क्या केवली मनुष्य चरम कर्म को अथवा चरम निर्जरा को जानता-देखता है?
[२७ उ.] हाँ, गौतम ! केवली चरम कर्म को या चरम निर्जरा को जानता-देखता है ।

२८. जहा णं भंते ! केवली चरमकम्मं वा०, जहा णं अंतकरेणं आलावगो तहा चरमकम्मेणं वि अपरिसेसितो णेयव्वो ।

[२८ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार केवली चरमकर्म को या चरमनिर्जरा को जानता-देखता है, क्या उसी तरह छद्मस्थ भी""यावत् जानता-देखता है ?

[२८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार 'अन्तकर' के विषय में आलापक कहा था, उसी प्रकार 'चरमकर्म' का पूरा आलापक कहना चाहिए ।

विवेचन—केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिमशरीरी, चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानने-देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में क्रमशः छह तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है—(१) केवली मनुष्य अन्तकर और अन्तिम शरीरी को जानता-देखता है, (२) किन्तु छद्मस्थ मनुष्य केवली की तरह पारमार्थिक प्रत्यक्ष से इन्हें नहीं जानता-देखता, वह सुनकर या प्रमाण से जानता-देखता है । (३) सुन कर का अर्थ है—केवली, केवली के श्रावक-श्राविका तथा उपासक-उपासिका से, और स्वयंबुद्ध, स्वयम्बुद्ध के श्रावक-श्राविका तथा उपासक-उपासिका से । (४) 'प्रमाण द्वारा' का अर्थ है—अनुयोगद्वार वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से । (५) केवली मनुष्य चरमकर्म और चरमनिर्जरा को आत्मप्रत्यक्ष से जानता-देखता है । (६) छद्मस्थ इन्हें केवली की तरह नहीं जान-देख पाता वह पूर्ववत् सुन कर या प्रमाण से जानता-देखता है ।[1]

चरमकर्म एवं चरमनिर्जरा की व्याख्या—शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय में जिस कर्म का अनुभव हो, उसे **चरमकर्म** तथा उसके अनन्तर समय में (शीघ्र ही) जो कर्म जीवप्रदेशों से झड़ जाते हैं, उसे **चरमनिर्जरा** कहते हैं ।

प्रमाण : स्वरूप और प्रकार—जिसके द्वारा वस्तु का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित परिच्छेद—विश्लेषणपूर्वक ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है । अथवा स्व (ज्ञानरूप आत्मा) और पर (आत्मा से भिन्न पदार्थ) का व्यवसायी—निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है । अनुयोगद्वार सूत्र में 'ज्ञानगुणप्रमाण' का विस्तृत निरूपण है । संक्षेप में इस प्रकार है—**ज्ञानगुणप्रमाण के मुख्यतया चार प्रकार हैं**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा और आगम ।

प्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नो-इन्द्रियप्रत्यक्ष । इन्द्रियप्रत्यक्ष के ५ इन्द्रियों की अपेक्षा से ५ भेद और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेद—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ।

अनुमान के तीन मुख्य प्रकार—पूर्ववत् शेषवत् और दृष्ट साधर्म्यवत् । घर से भागे हुए पुत्र को उसके पूर्व के निशान (क्षत, व्रण, लांछन, मस, तिल आदि) से अनुमान करके जान लिया जाता है,

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूल-पाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २००-२०१

वह पूर्ववत् । कार्य, कारण, गुण, अवयव और आश्रय द्वारा किये गए अनुमान से होने वाला ज्ञान शेषवत् । दृष्टसाधर्म्यवत्—यथा—एक पुरुष को देख कर अनेक पुरुषों का अनुमान, एक पके चावल को देखकर अनेक चावलों के पकाने का अनुमान, सामान्यदृष्टवत् तथा अनेक पुरुषों के बीच में अपने परिचित विशिष्ट व्यक्ति को जानना विशेषदृष्टवत् है । इसके भी अतीतकालग्रहण, वर्तमानकालग्रहण और अनागतकालग्रहण ये तीन भेद हैं ।

उपमान (उपमा) के दो भेद—साधर्म्य से उपमा, वैधर्म्य से उपमा । साधर्म्य और वैधर्म्य उपमान के भी तीन-तीन भेद हैं—किंचित्साधर्म्य, प्राय:साधर्म्य और सर्वसाधर्म्य, किंचित्वैधर्म्य, प्राय:वैधर्म्य और सर्ववैधर्म्य ।

आगम के दो भेद—लौकिक आगम और लोकोत्तर-आगमप्रमाण ।[1]

केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जानने-देखने में समर्थ वैमानिक देव—

२९. केवली णं भंते ! पणीतं मणं वा, वइं वा धारेज्जा ?

हंता, धारेज्जा ।

[२९ प्र.] भगवन् ! क्या केवली प्रकृष्ट (प्रणीत=प्रशस्त) मन और प्रकृष्ट वचन धारण करता है ?

[२९ उ.] हाँ, गौतम ! धारण करता है ।

३०. [१] जे णं भंते ! केवली पणीयं मणं वा वइं वा धारेज्जा तं णं वेमाणिया देवा जाणंति, पासंति ?

गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति, अत्थेगइया न जाणंति न पासंति ।

[३०-१ प्र.] भगवन् ! केवली जिस प्रकार के प्रकृष्ट मन और प्रकृष्ट वचन को धारण करता है, क्या उसे वैमानिक देव जानते-देखते हैं ?

[३०-१ उ.] गौतम ! कितने ही (वैमानिक देव उसे) जानते-देखते हैं, और कितने ही (देव) नहीं जानते-देखते ।

[२] से केणट्ठेणं जाव न जाणंति न पासंति ?

गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—मायिमिच्छादिट्ठिउववन्नगा य, अमायि-

---

१. (क) अनुयोगद्वारसूत्र, ज्ञानगुणप्रमाण-प्रकरण पृ. २११ से २१९ तक
(ख) भगवतीसूत्र, (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १८३ से १८६ तक
(ग) प्रकर्षेण संशयाऽऽद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् ॥
'स्व-पर-व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ।' —रत्नाकरावतारिका १ परि.
(घ) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२२,

सम्मद्दिट्ठिउववन्नगा य।[1] एवं अणंतर-परंपर-पज्जत्ताऽपज्जत्ता य उवउत्ता अणुवउत्ता। तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति। से तेणट्ठेणं०, तं चेव।

[३०-२ प्र.] भगवन्! कितने ही देव यावत् जानते-देखते हैं, कितने ही नहीं जानते-देखते; ऐसा किस कारण से कहा जाता है?

[३०-२ उ.] गौतम! वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं; वे इस प्रकार हैं—मायी-मिथ्यादृष्टिरूप से उत्पन्न और अमायीसम्यग्दृष्टिरूप से उत्पन्न। [इन दोनों में से जो मायी-मिथ्यादृष्टिरूप से उत्पन्न हुए हैं, वे (वैमानिक देव केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को) नहीं जानते-देखते तथा जो अमायी सम्यग्दृष्टिरूप से उत्पन्न हुए हैं, वे जानते-देखते हैं।]

[प्र.] भगवन् यह किस कारण से कहा जाता है कि अमायी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव यावत् जानते-देखते हैं?

[उ.] गौतम! अमायी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक। इनमें से जो अनन्तरोपपन्नक हैं, वे नहीं जानते-देखते; किन्तु जो परम्परोपपन्नक हैं, वे जानते-देखते हैं।

[प्र.] भगवन्! परम्परोपपन्नक वैमानिक देव जानते-देखते हैं, ऐसा कहने का क्या कारण है?

[उ.] गौतम! परम्परोपपन्नक वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनमें से जो पर्याप्त हैं, वे इसे जानते-देखते हैं; किन्तु जो अपर्याप्त वैमानिक देव हैं, वे नहीं जानते-देखते।]

इसी तरह अनन्तरोपपन्नक-परम्परोपपन्नक, पर्याप्त-अपर्याप्त, एवं उपयोगयुक्त (उपयुक्त)-उपयोगरहित (अनुपयुक्त) इस प्रकार के वैमानिक देवों में से जो उपयोगयुक्त (उपयुक्त) वैमानिक देव हैं, वे ही (केवली के प्रकृष्ट मन एवं वचन को) जानते-देखते हैं। इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि कितने ही वैमानिक देव जानते-देखते हैं, और कितने ही नहीं जानते-देखते।

विवेचन—केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जानने-देखने में समर्थ वैमानिक देव—प्रस्तुत (३० वें) सूत्र में केवली के प्रकृष्ट मन और वचन को कौन-से वैमानिक देव जानते हैं, कौन-से नहीं जानते? इस विषय में शंका उठाकर सिद्धान्तसम्मत समाधान प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्ष—जो वैमानिक देव मायी-मिथ्यादृष्टि हैं, उनको सम्यग्ज्ञान नहीं होता, अमायी

---

१. वृत्तिकार के अनुसार वाचनान्तर में 'अमायिसम्मदिट्ठिउववन्नगा य, के बाद 'एवं अणंतर'—तक निम्नोक्त सूत्र-पाठ साक्षात् उपलब्ध है—

तत्थ णं जे ते माइमिच्छादिट्ठीउववन्नगा ते न याणंति न पासंति। तत्थ णं जे ते अमाईसम्मादिट्ठीउववन्नगा ते णं जाणंति पासंति। से केणट्ठेणं एवं वु० अमाईसम्मदिट्ठी जाव पा०? गोयमा! अमाईसम्मदिट्ठी दुविहा पण्णत्ता—अणंतरोववन्नगा य परंपरोववन्नगा य। तत्थ अणंतरोववन्नगा न जा०, परंपरोववन्नगा जाणंति। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ, परंपरोववन्नगा जाव जाणंति? गोयमा! परंपरोववन्नगा दुविहा पण्णत्ता—पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य। पज्जत्ता जा०। अपज्जत्तगा न जा०।

सम्यग्दृष्टि वैमानिकों में से जो अनन्तरोपपन्नक होते हैं, उन्हें भी ज्ञान नहीं होता, तथा परम्परोपपन्नक वैमानिकों में भी जो अपर्याप्त होते हैं, उन्हें भी ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार जो पर्याप्त वैमानिक देव हैं, उनमें जो उपयोगयुक्त होता है, वही केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जान-देख सकता है, उपयोगरहित नहीं। तात्पर्य यह है कि जो वैमानिक देव अमायी सम्यग्दृष्टि, परम्परोपपन्नक पर्याप्त एवं उपयोगयुक्त होते हैं,[1] वे ही केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जान-देख सकते हैं।

अनुत्तरौपपातिक देवों का असीम मनोद्रव्य-सामर्थ्य और उपशान्तमोहत्व—

३१. [१] पभू णं भंते ! अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगया चेव समाणा इहगतेणं केवलिणा सद्धि आलावं वा संलावं वा करेत्तए ?

हंता, पभू।

[३१-१ प्र.] भगवन् ! क्या अनुत्तरौपपातिक (अनुत्तरविमानों में उत्पन्न हुए) देव अपने स्थान पर रहे हुए ही, यहाँ रहे हुए केवली के साथ आलाप (एक वार वातचीत) और संलाप (वार-बार बातचीत) करने में समर्थ हैं ?

[३१-१ उ.] गौतम ! हाँ, (वे ऐसा करने में) समर्थ हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव पभू णं अणुत्तरोववातिया देवा जाव करेत्तए ?

गोयमा ! जं णं अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगता चेव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा पुच्छंति, तं णं इहगते केवली अट्ठं वा जाव वागरणं वा वागरेति। से तेणट्ठेणं०।

[३१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि अनुत्तरौपपातिक देव यावत् आलाप और संलाप करने में समर्थ हैं ?

[३१-२ उ.] हे गौतम ! अनुत्तरौपपातिक देव अपने स्थान पर रहे हुए ही, जो अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण (व्याख्या) पूछते हैं, उस (अर्थ, हेतु आदि) का उत्तर यहाँ रहे हुए केवली भगवान् देते हैं। इस कारण से यह कहा गया है कि अनुत्तरौपपातिक देव यावत् आलाप-संलाप करने में समर्थ हैं।

३२. [१] जं णं भंते ! इहगए चेव केवली अट्ठं वा जाव वागरेति तं णं अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगता चेव समाणा जाणंति, पासंति ?

हंता, जाणंति पासंति।

[३२-१ प्र.] भगवन् ! केवली भगवान् यहाँ रहे हुए जिस अर्थ, यावत् व्याकरण का उत्तर देते हैं, क्या उस उत्तर को वहाँ रहे हुए अनुत्तरौपपातिक देव जानते-देखते हैं ?

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसूत्रं (मूलपाठटिप्पणयुक्त), पृ. २०१

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२३.

[३२-१ उ.] हाँ गौतम ! वे जानते-देखते हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव पासंति ?

गोतमा ! तेसि णं देवाणं अणंताओ मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमन्नागताओ भवंति । से तेणट्ठेणं जं णं इहगते केवली जाव पा० ।

[३२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से (कहा जाता है कि वहाँ रहे हुए अनुत्तरौपपातिक देव, यहाँ रहे हुए केवली के द्वारा प्रदत्त उत्तर को) जानते-देखते हैं ?

[३२-२ उ.] गौतम ! उन देवों को अनन्त मनोद्रव्य-वर्गणा लब्ध (उपलब्ध) हैं, प्राप्त हैं, अभिसमन्वागत (अभिमुख समानीत=सम्मुख की हुई) हैं। इस कारण से यहाँ विराजित केवली भगवान् द्वारा कथित अर्थ, हेतु आदि को वे वहाँ रहे हुए ही जान-देख लेते हैं।

३३. अणुत्तरोववातिया णं भंते ! देवा किं उदिण्णमोहा उवसंतमोहा खीणमोहा ?

गोयमा ! नो उदिण्णमोहा, उवसंतमोहा, नो खीणमोहा ।

[३३ प्र.] भगवन् ! क्या अनुत्तरौपपातिक देव उदीर्णमोह हैं, उपशान्त-मोह हैं, अथवा क्षीणमोह हैं ?

[३३ उ.] गौतम ! वे उदीर्ण-मोह नहीं हैं, उपशान्तमोह हैं, क्षीणमोह नहीं है।

विवेचन—अनुत्तरौपपातिक देवों का असीम मनोद्रव्यसामर्थ्य और उपशान्तमोहत्व—प्रस्तुत त्रिसूत्री में अनुत्तरौपपातिक देवों की विशिष्ट मानसिकशक्ति और उसकी उपलब्धि के कारण का परिचय दिया गया है।

चार निष्कर्ष—(१) अनुत्तरौपपातिक देव स्वस्थान में रहे हुए ही यहाँ विराजित केवली के साथ (मनोगत) आलाप-संलाप कर सकते हैं; (२) वे अपने स्थान में रहे हुए यहाँ विराजित केवली से प्रश्नादि पूछते हैं और केवली द्वारा प्रदत्त उत्तर को जानते देखते हैं; (३) क्योंकि उन्हें अनन्त मनोद्रव्यवर्गणा उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुखसमानीत हैं, (४) उनका मोह उपशान्त है, किन्तु वे उदीर्णमोह या क्षीणमोह नहीं हैं।

अनुत्तरौपपातिक देवों का अनन्त मनोद्रव्य-सामर्थ्य—अनुत्तरौपपातिक देवों के अवधिज्ञान का विषय सम्भिन्न लोकनाड़ी (लोकनाड़ी से कुछ कम) है। जो अवधिज्ञान लोकनाड़ी का ग्राहक (ज्ञाता) होता है, वह असीम मनोवर्गणा ग्राहक होता ही है; क्योंकि जिस अवधिज्ञान का विषय लोक का संख्येय भाग होता है, वह भी मनोद्रव्य का ग्राहक होता है, तो फिर जिस अवधिज्ञान का विषय सम्भिन्न लोकनाड़ी है, वह मनोद्रव्य का ग्राहक हो, इसमें सन्देह ही क्या ? इसलिए अनुत्तरविमानवासी देवों का मनोद्रव्यसामर्थ्य असीम है।

अनुत्तरौपपातिक देव उपशान्तमोह हैं—अनुत्तरौपपातिक देवों के वेदमोहनीय का उदय उत्कट नहीं हैं, इसलिए वे उदीर्णमोह नहीं हैं; वे क्षीणमोह भी नहीं, क्योंकि उनमें क्षपक श्रेणी का अभाव

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२२

है; किन्तु उनमें मैथुन का कथमपि सद्भाव न होने से तथा वेदमोहनीय अनुत्कट होने से वे 'उपशान्त-मोह' कहे गए हैं।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते—

३४. [१] केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ, पासइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[३४-१ प्र.] भगवन् ! क्या केवली भगवान् आदानों (इन्द्रियों) से जानते और देखते हैं ?

[३४-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं जाव केवली णं आयाणेहिं न जाणति, न पासति ?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमेणं मियं पि जाणति, अमियं पि जाणइ जाव[1] निव्वुडे दंसणे केवलिस्स। से तेणट्ठेणं०।

[३४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से केवली भगवान् इन्द्रियों (आदानों) से नहीं जानते-देखते ?'

[३४-२ उ.] गौतम ! केवली भगवान् पूर्वदिशा में मित (सीमित) भी जानते-देखते हैं, अमित (असीम) भी जानते-देखते हैं, यावत् केवली भगवान् का (ज्ञान और) दर्शन निरावरण है। इस कारण से कहा गया है कि वे इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते।

विवेचन—अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते—प्रस्तुत सूत्र में यह सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है कि केवलज्ञानी का दर्शन और ज्ञान परिपूर्ण एवं निरावरण होने के कारण उन्हें इन्द्रियों से जानने-देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य में अवगाहन-सामर्थ्य—

३५. [१] केवली णं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पादं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहित्ताणं चिट्ठति, पभू णं भंते ! केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव ओगाहित्ताणं चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[३५-१ प्र.] भगवन् ! केवली भगवान् इस समय (वर्त्तमान) में जिन आकाश-प्रदेशों पर अपने हाथ, पैर, बाहू और उरू (जंघा) को अवगाहित करके रहते हैं, क्या भविष्यत्काल में भी वे उन्हीं आकाशप्रदेशों पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रह सकते हैं ?

[३५-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

---

१. **'जाव'** शब्द से यहाँ शतक ५ उ. ४, सू. ४-२ में अंकित पाठ—**'एवं दाहिणेणं'**....से लेकर **'निव्वुडे दंसणे केवलिस्स'** तक समझना चाहिए।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव केवली णं अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठति नो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियसजोगद्दव्वताए चलाइं उवगरणाइं भवंति चलोवगरणट्ठयाए य णं केवली अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठति णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव जाव चिट्ठित्तए। से तेणट्ठेणं जाव वुच्चइ—केवली णं अस्सिं समयंसि जाव चिट्ठित्तए ?

[३५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि केवली भगवान् इस समय में जिन आकाशप्रदेशों पर अपने हाथ आदि को यावत् अवगाढ करके रहते हैं, भविष्यकाल में वे उन्हीं आकाशप्रदेशों पर अपने हाथ आदि को यावत् अवगाढ करके रहने में समर्थ नहीं हैं ?'

[३५-२ उ.] गौतम ! केवली भगवान् का जीवद्रव्य वीर्यप्रधान योग वाला होता है, इससे उनके हाथ आदि उपकरण (अंगोपांग) चलायमान होते हैं। हाथ आदि अंगों के चलित होते रहने से वर्तमान (इस) समय में जिन आकाशप्रदेशों में केवली भगवान् अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रहे हुए हैं, उन्हीं आकाशप्रदेशों पर भविष्यत्काल में वे हाथ आदि को अवगाहित करके नहीं रह सकते। इसी कारण से यह कहा गया है कि केवली भगवान् इस समय में जिन आकाशप्रदेशों पर अपने हाथ, पैर यावत् उरू को अवगाहित करके रहते हैं, उस समय के पश्चात् आगामी समय में वे उन्हीं आकाशप्रदेशों पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके नहीं रह सकते।

विवेचन—केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य में अवगाहनसामर्थ्य—प्रस्तुत सूत्र में केवली भगवान् के अवगाहन-सामर्थ्य के विषय में प्ररूपणा की गई है कि वे वर्तमान समय में जिन आकाशप्रदेशों पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रहते हैं, भविष्य में उन्हीं आकाशप्रदेशों को अवगाहित करके रहेंगे ऐसा नहीं है क्योंकि उनका जीवद्रव्य वीर्यप्रधान योग वाला होने से उनके अंग चलित होते रहते हैं, इसलिए वे उन्हीं आकाशप्रदेशों को उस समय के अनन्तर भविष्यत्काल में अवगाहित नहीं कर सकते।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—अस्सिं समयंसि=इस (वर्त्तमान) समय में। **ऊरुं**=जंघा। **सेयंकालंसि**=भविष्यत्काल में। **वीरियसजोगसद्दव्वताए**=वीर्यप्रधान योग वाला स्व (जीव) द्रव्य होने से। **चलोवकरणट्ठयाए**=उपकरण (हाथ आदि अंगोपांग) चल—(अस्थिर) होने के कारण।[2]

चतुर्दश पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य-निरूपण—

३६. [१] पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्सं, कडाओ कडसहस्सं, रहाओ रहसहस्सं, छत्ताओ छत्तसहस्सं, दंडाओ दंडसहस्सं अभिनिव्वत्तित्ता उवदंसेत्तए ?

हंता, पभू।

[३६-१ प्र.] भगवन् ! क्या चतुर्दशपूर्वधारी (श्रुतकेवली) एक घड़े में से हजार घड़े, एक वस्त्र में से हजार वस्त्र, एक कट (चटाई) में से हजार कट, एक रथ में से हजार रथ, एक छत्र में से हजार छत्र और एक दण्ड में से हजार दण्ड करके दिखलाने में समर्थ हैं ?

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०३
२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२४

[३६-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे ऐसा करके दिखलाने में समर्थ हैं।

[२] से केणट्ठेणं पभू चोद्दसपुव्वी जाव उवदंसेत्तए ?

गोयमा ! चउद्दसपुव्विस्स णं अणंताइं दव्वाइं उक्करियाभेदेणं भिज्जमाणाइं लद्धाइं पत्ताइं अभिसमन्नागताइं भवंति। से तेणट्ठेणं जाव उवदंसित्तए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

[३३-२ प्र.] भगवन् ! चतुर्दशपूर्वधारी एक घट में से हजार घट यावत् करके दिखलाने (प्रदर्शित करने) में कैसे समर्थ हैं ?

[३६-२ उ.] गौतम ! चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली ने उत्करिका भेद द्वारा भेदे जाते हुए अनन्त द्रव्यों को लब्ध किया है, प्राप्त किया है तथा अभिसमन्वागत किया है। इस कारण से वह उपर्युक्त प्रकार से एक घट से हजार घट आदि करके दिखलाने में समर्थ है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—चतुर्दश-पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य—प्रस्तुत सूत्र में निरूपण किया गया है कि चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली में श्रुत से उत्पन्न हुई एक प्रकार की लब्धि से उत्करिकाभेद से भिद्यमान अनन्तद्रव्यों के आश्रय द्वारा एक घट, पट, कट, रथ, छत्र और दण्ड से सहस्र घट-पट-कटादि बनाकर दिखला सकने का सामर्थ्य है।[1]

उत्करिका भेद : स्वरूप और विश्लेषण—पुद्गलों को पांच प्रकार से खण्डित (भिन्न-टुकड़े-टुकड़े) किया जाता है। इन्हें 'पुद्गलों के भेद' कहते हैं, वे पांच प्रकार के हैं—(१) खण्डभेद, (२) प्रतरभेद, (३) चूर्णिकाभेद, (४) अनुतटिका-भेद और (५) उत्करिका भेद। जैसे ढेले को फेंकने पर उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, इसी तरह लोहे, ताम्बे आदि पुद्गलों के भेद को **'खण्डभेद'** कहते हैं। एक तह के ऊपर दूसरी तह का होना **'प्रतरभेद'** कहलाता है। जैसे—अभ्रक (भोडल) भोजपत्र आदि में प्रतरभेद पाया जाता है। तिल, गेहूँ आदि के पिस जाने पर भेद होना, **'चूर्णिका-भेद'** कहलाता है। तालाब आदि में फटी हुई दरार के समान पुद्गलों के भेद को **'अनुतटिकाभेद'** कहते हैं। एरण्ड के बीज के समान पुद्गलों के भेद को **'उत्करिकाभेद'** कहते हैं।[2]

लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की प्रकरणसंगत व्याख्या—**लब्ध**=लब्धिविशेष द्वारा ग्रहण करने योग्य बनाये हुए, **प्राप्त**=लब्धि-विशेष द्वारा ग्रहण किये हुए, **अभिसमन्वागत**=घटादि रूप से परिणमाने के लिए प्रारम्भ किये हुए। इन तीनों के द्वारा चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली एक घट आदि से हजार घट आदि आहारक शरीर की तरह बनाकर मनुष्यों को दिखला सकता है।[3]

॥ पंचम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०३
(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२४

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र पद ११, भाषापद (पृ. २६६ स.) में विस्तृत टिप्पण।
(ख) प्रज्ञापना मलयगिरि टीका, पद ११ में संक्षिप्त विवेचन।
(ग) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२४

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२४

पंचमो उद्देसओ : 'छउमत्थ'

पंचम उद्देशक : 'छद्मस्थ'

छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ? : एक चर्चा—

१. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीयमणंतं सासतं समयं केवलेणं संजमेणं० ?

जहा पढमसए चउत्थुद्देसे आलावगा तहा नेयव्वं जाव 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य शाश्वत, अनन्त, अतीत काल (भूतकाल) में केवल संयम द्वारा सिद्ध हुआ है ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम शतक के चतुर्थ उद्देशक में कहा है, वैसा ही आलापक यहाँ भी कहना चाहिए; (और वह) यावत् 'अलमस्तु' कहा जा सकता है; यहाँ तक कहना चाहिए ।

विवेचन—छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ? प्रस्तुत सूत्र में छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम द्वारा सिद्ध (मुक्त) हो सकता है या केवली होकर ही सिद्ध हो सकता है; यह प्रश्न उठाकर प्रथम शतकीय चतुर्थ उद्देशक में प्ररूपित समाधान का अतिदेश किया गया है । वहाँ संक्षेप में यही समाधान है कि केवलज्ञानी हुए बिना कोई भी व्यक्ति सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वदुःखान्तकर, परिनिर्वाण प्राप्त, उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधर, जिन, अर्हत् केवली और 'अलमस्तु' नहीं हो सकता ।[1]

समस्त प्राणियों द्वारा एवम्भूत-अनेवम्भूतवेदन सम्बन्धी प्ररूपणा—

२. [१] अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेंति, से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदेंति, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेंति ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि समस्त प्राण, समस्त भूत, समस्त जीव और समस्त सत्त्व, एवंभूत (जिस प्रकार कर्म बांधा है, उसी प्रकार) वेदना वेदते (भोगते=अनुभव करते) हैं, भगवन् ! यह ऐसा कैसे है ?

[२-१ उ.] गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवंभूत वेदना वेदते हैं, उन्होंने यह मिथ्या कथन किया है । हे गौतम !

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति

(ख) भगवतीसूत्र प्रथम शतक चतुर्थ उद्देशक, सू. १५९ से १६३ तक (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) प्रथमखण्ड पृ. १३७-१३८

मैं यों कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एवंभूत वेदना वेदते हैं और कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, अनेवंभूत (जिस प्रकार से कर्म बांधा है, उससे भिन्न प्रकार से) वेदना वेदते हैं।

[२] से केणट्ठेणं अत्थेगइया० तं चेव उच्चारेयव्वं।

गोयमा ! जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेदणं वेदेंति ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदंति। जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेदणं वेदेंति ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेंति। से तेणट्ठेणं० तहेव।

[२-२ प्र] 'भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है, कि कितने ही प्राण भूत आदि एवंभूत और कितने ही अनेवंभूत वेदना वेदते हैं ?

[२-२ उ.] गौतम ! जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, जिस प्रकार स्वयं ने कर्म किये हैं, उसी प्रकार वेदना वेदते हैं (उसी प्रकार उदय में आने पर भोगते—अनुभव करते) हैं, वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एवंभूत वेदना वेदते हैं किन्तु जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, जिस प्रकार कर्म किये हैं, उसी प्रकार वेदना नहीं वेदते (भिन्न प्रकार से वेदन करते हैं) वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व अनेवंभूत वेदना वेदते हैं। इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि कतिपय प्राण भूतादि एवम्भूत वेदना वेदते हैं और कतिपय प्राण भूतादि अनेवंभूत वेदना वेदते हैं।

३. [१] नेरतिया णं भंते ! किं एवंभूतं वेदणं वेदेंति ? अणेवंभूयं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! नेरइया णं एवंभूयं पि वेदणं वेदेंति, अणेवंभूयं पि वेदणं वेदेंति।

[३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक क्या एवम्भूत वेदना वेदते हैं, अथवा अनेवम्भूत वेदना वेदते हैं ?

[३-१ उ] गौतम ! नैरयिक एवम्भूत वेदना भी वेदते हैं और अनेवम्भूत वेदना भी वेदते हैं।

[२] से केणट्ठेणं० ? तं चेव।

गोयमा ! जे णं नेरइया जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदेंति ते णं नेरइया एवंभूयं वेदणं वेदेंति। जे णं नेरतिया जहा कडा कम्मा णो तहा वेदणं वेदेंति ते णं नेरइया अणेवंभूयं वेदणं वेदेंति। से तेणट्ठेणं०।

[३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ? (पूर्ववत् सारा पाठ यहाँ कहना चाहिए।)

[३-२ उ.] गौतम ! जो नैरयिक अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वेदना वेदते हैं वे एवम्भूत वेदना वेदते हैं और जो नैरयिक अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वेदना नहीं वेदते; (अपितु भिन्न प्रकार से वेदते हैं;) वे अनेवम्भूत वेदना वेदते हैं।

४. एवं जाव वेमाणिया। संसारमंडलं नेयव्वं।

[४] इसी प्रकार यावत् वैमानिक-(दण्डक) पर्यन्त संसार मण्डल (संसारी जीवों के समूह) के विषय में जानना चाहिए।

विवेचन—समस्त प्राणियों द्वारा एवम्भूत-अनेवम्भूतवेदन-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में जीवों द्वारा कर्मफलवेदन के विषय में क्रमशः चार तथ्यों का निरूपण, शास्त्रकार ने किया है—

(१) अन्यतीर्थिकों का मत यह है कि सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवम्भूत वेदना वेदते हैं।

(२) तीर्थंकर भगवन् महावीर का कथन यह है कि यह मान्यता यथार्थ नहीं है। कतिपय जीव एवम्भूत वेदना वेदते हैं और कतिपय जीव अनेवंभूत वेदना वेदते हैं।

(३) इसका करण यह है कि जो प्राणी, जैसे कर्म किये हैं उसी प्रकार से असातावेदनीयादि कर्म का उदय होने पर वेदना को वेद (भोग)ते हैं, वे एवम्भूतवेदनावेदक होते हैं, इससे विपरीत जो कर्मबन्ध के अनुसार वेदना का वेदन नहीं करते, वे अनेवम्भूतवेदनावेदक होते हैं।

(४) यही प्ररूपणा नैरयिकों के दण्डक से लेकर वैमानिकदण्डक-पर्यन्त समस्त संसारी जीवों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।[1]

एवम्भूतवेदन और अनेवम्भूतवेदन का रहस्य—जिन प्राणियों ने जिस प्रकार से कर्म बांधे हैं, उन कर्मों के उदय में आने पर वे उसी प्रकार से असाता आदि वेदना भोग लेते हैं, उनका वह वेदन एवम्भूतवेदनावेदन है, किन्तु जो प्राणी जिस प्रकार से कर्म बांधते हैं, उसी प्रकार से उनके फलस्वरूप वेदना नहीं वेदते, उनका वह वेदन—अनेवम्भूतवेदना वेदन है। जैसे—कई व्यक्ति दीर्घ-काल में भोगने योग्य आयुष्य आदि कर्मों की उदीरणा करके अल्पकाल में ही भोग लेते हैं, उनका वह वेदन अनेवम्भूत वेदना-वेदन कहलाएगा। अन्यथा, अपमृत्यु (अकालमृत्यु) का अथवा युद्ध आदि में लाखों मनुष्यों का एक साथ एक ही समय में मरण कैसे संगत होगा!

आगमोक्त सिद्धान्त के अनुसार जिन जीवों के जिन कर्मों का स्थितिघात, रसघात प्रकृति-संक्रमण आदि हो जाते हैं, वे अनेवम्भूत वेदना वेदते हैं, किन्तु जिन जीवों के स्थितिघात, रसघात आदि नहीं होते, वे एवम्भूत वेदना[2] वेदते हैं।

अवसर्पिणीकाल में हुए कुलकर तीर्थंकरादि की संख्या का निरूपण—

[५. प्र.] जंबुद्दीवे णं भंते! इह भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए समाए कइ कुलगरा होत्था?

[५. उ.] गोयमा! सत्त।

[५ प्र.] भगवन्! जम्बूद्वीप में, इस भारतवर्ष में, इस अवसर्पिणी काल में कितने कुलकर हुए हैं?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०४

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२५

[५ उ.] गौतम ! (जम्बूद्वीप में, इस भारतवर्ष में, इस अवसर्पिणी काल में) सात कुलकर हुए हैं ।

६. एवं चेव तित्थयरमायरो, पियरो, पढमा सिस्सिणीओ, चक्कवट्टिमायरो, इत्थिरयणं, बलदेवा, वासुदेवा वासुदेवमायरो, पियरो, एएसिं पडिसत्तू जहा समवाए णामपरिवाडीए तहा णेयव्वा ।][1]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ ।

॥ पंचम सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[६] इसी तरह तीर्थंकरों की माता, पिता, प्रथम शिष्याएँ, चक्रवर्तियों की माताएँ, स्त्रीरत्न, बलदेव, वासुदेव, वासुदेवों के माता-पिता, प्रतिवासुदेव आदि का कथन जिस प्रकार 'समवायांगसूत्र' में नाम की परिपाटी में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए ।]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् विचरने लगे ।

विवेचन—अवसर्पिणीकाल में हुए कुलकर-तीर्थंकरादि की संख्या का निरूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों में भरतक्षेत्र में हुए कुलकर तथा तीर्थंकरमाता आदि की संख्या का प्रतिपादन समवायांगसूत्र के अतिदेशपूर्वक किया गया है ।

कुलकर—अपने-अपने युग में जो मानवकुलों की मर्यादा निर्धारित करते हैं, वे कुलकर कहलाते हैं । वर्त्तमान अवसर्पिणीकाल में हुए ७ कुलकर ये हैं—(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वान् (४) अभिचन्द्र (५) प्रसेनजित (६) मरुदेव और (७) नाभि । इनकी भार्याओं के नाम क्रमशः ये हैं—(१) चन्द्रयशा, (२) चन्द्रकान्ता, (३) सुरूपा, (४) प्रतिरूपा, (५) चक्षुष्कान्ता, (६) श्रीकान्ता और (७) मरुदेवी ।

चौबीस तीर्थंकरों के नाम—(१) श्रीऋषभदेव (आदिनाथ) स्वामी, (२) श्रीअजितनाथ स्वामी (३) श्रीसम्भवनाथस्वामी, (४) श्रीअभिनन्दनस्वामी, (५) श्रीसुमतिनाथस्वामी, (६) श्रीपद्मप्रभ-स्वामी, (७) श्रीसुपार्श्वनाथस्वामी (८) श्रीचन्द्रप्रभस्वामी, (९) श्रीसुविधिनाथस्वामी (पुष्पदन्तस्वामी), (१०) श्रीशीतलनाथस्वामी, (११) श्रीश्रेयांसनाथस्वामी, (१२) श्रीवासुपूज्यस्वामी, (१३) श्रीविमलनाथस्वामी, (१४) श्रीअनन्तनाथस्वामी, (१५) श्री धर्मनाथस्वामी, (१६) श्रीशान्तिनाथस्वामी, (१७) श्रीकुन्थुनाथ स्वामी, (१८) श्रीअरनाथस्वामी,

---

१. यह पाठ आगमोदय समिति से प्रकाशित भगवतीसूत्र की अभयदेवसूरीयवृत्ति में नहीं है, वहाँ वृत्तिकार ने इस पाठ का संकेत अवश्य किया है—'अथवा इह स्थाने वाचनान्तरे कुलकर-तीर्थकरादि-वक्तव्यता दृश्यते' (अथवा इस स्थान में अन्य वाचना में कुलकर-तीर्थंकर आदि की वक्तव्यता दृष्टिगोचर होती है) । यही कारण है कि भगवती. टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, पृ. १९५, तथा भगवती. हिन्दी विवेचनयुक्त भा. २, पृ. ८३६ में यह पाठ और इसका अनुवाद दिया गया है । —सं०

(१९) श्रीमल्लिनाथस्वामी, (२०) श्रीमुनिसुव्रतस्वामी, (२१) श्रीनमिनाथस्वामी (२२) श्री अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) स्वामी, (२३) श्रीपार्श्वनाथस्वामी, और (२४) श्रीमहावीर (वर्धमान) स्वामी।

चौवीस तीर्थंकरों के पिता के नाम—(१) नाभि (२) जितशत्रु, (३) जितारि, (४) संवर, (५) मेघ, (६) धर, (७) प्रतिष्ठ, (८) महासेन, (९) सुग्रीव, (१०) दृढ़रथ, (११) विष्णु, (१२) वसुपूज्य, (१३) कृतवर्मा, (१४) सिंहसेन, (१५) भानु (१६) विश्वसेन, (१७) सूर, (१८) सुदर्शन, (१९) कुम्भ, (२०) सुमित्र, (२१) विजय, (२२) समुद्रविजय, (२३) अश्वसेन और (२४) सिद्धार्थ।

चौवीस तीर्थंकरों की माताओं के नाम—(१) मरुदेवी, (२) विजयादेवी, (३) सेना, (४) सिद्धार्था (५) मंगला, (६) सुसीमा, (७) पृथ्वी (८) लक्ष्मणा (लक्षणा) (९) रामा, (१०) नन्दा, (११) विष्णु, (१२) जया, (१३) श्यामा, (१४) सुयशा, (१५) सुव्रता, (१६) अचिरा, (१७) श्री, (१८) देवी, (१९) प्रभावती, (२०) पद्मा, (२१) वप्रा, (२२) शिवा, (२३) वामा, और (२४) त्रिशलादेवी।

चौवीस तीर्थंकरों की प्रथम शिष्याओं के नाम—(१) ब्राह्मी, (२) फल्गु (फाल्गुनी), (३) श्यामा, (४) अजिता, (५) काश्यपी, (६) रति, (७) सोमा, (८) सुमना, (९) वारुणी, (१०) सुलशा (सुयशा), (११) धारणी, (१२) धरिणी, (१३) धरणीधरा (धरा), (१४) पद्मा, (१५) शिवा, (१६) श्रुति (सुभा), (१७) दामिनी (ऋजुका), (१८) रक्षिका (रक्षिता), (१९) वन्धुमती, (२०) पुष्पवती, (२१) अनिला (अमिला), (२२) यक्षदत्ता (अधिका) (२३) पुष्पचूला और (२४) चन्दना (चन्दनवाला)।

वारह चक्रवर्तियों के नाम—(१) भरत, (२) सगर, (३) मघवान् (४) सनत्कुमार, (५) शान्तिनाथ, (६) कुन्थुनाथ, (७) अरनाथ, (८) सुभूम, (९) महापद्म, (१०) हरिषेण, (११) जय और (१२) ब्रह्मदत्त।

चक्रवर्त्तियों की माताओं के नाम—(१) सुमंगला, (२) यशस्वती, (३) भद्रा, (४) सुदेवी, (५) अचिरा, (६) श्री, (७) देवी, (८) तारा, (९) ज्वाला, (१०) मेरा, (११) वप्रा और (१२) चुल्लणी।

चक्रवर्त्तियों के स्त्रीरत्नों के नाम—(१) सुभद्रा, (२) भद्रा, (३) सुनन्दा, (४) जया, (५) विजया, (६) कृष्णश्री, (७) सूर्यश्री, (८) पद्मश्री, (९) वसुन्धरा, (१०) देवी, (११) लक्ष्मीमती और (१२) कुरुमती।

नौ वलदेवों के नाम—(१) अचल, (२) विजय, (३) भद्र, (४) सुप्रभ, (५) सुदर्शन, (६) आनन्द, (७) नन्दन, (८) पद्म, और (९) राम।

नौ वासुदेवों के नाम—(१) त्रिपृष्ठ, (२) द्विपृष्ठ, (३) स्वयम्भू, (४) पुरुषोत्तम, (५) पुरुषसिंह, (६) पुरुष-पुण्डरीक, (७) दत्त, (८) नारायण और (९) कृष्ण।

नौ वासुदेवों की माताओं के नाम—(१) मृगावती, (२) उमा, (३) पृथ्वी, (४) सीता, (५) अम्बिका, (६) लक्ष्मीमती, (७) शेषवती, (८) कैकयी और (९) देवकी।

नौ वासुदेवों के पिताओं के नाम—(१) प्रजापति, (२) ब्रह्म, (३) सोम, (४) रुद्र, (५) शिव, (६) महाशिव, (७) अग्निशिव, (८) दशरथ और (९) वासुदेव।

नौ वासुदेवों के प्रतिशत्रु—प्रतिवासुदेवों के नाम—(१) अश्वग्रीव, (२) तारक, (३) मेरक, (४) मधुकैटभ, (५) निशुम्भ, (६) वली, (७) प्रभराज (प्रह्लाद) (८) रावण और (९) जरासन्ध।[1]

इसके अतिरिक्त समवायांगसूत्र में भूतकालीन और भविष्यकालीन अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के तीर्थंकरों और चक्रवर्त्तियों आदि के नामों का भी उल्लेख है; यहाँ विस्तारभय से उन्हें नहीं दे रहे हैं।

॥ पंचम शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भाग २, पृ. ८३७ से ८३९ तक।
(ख) समवायांगसूत्र (स. पृ. १५० से १५५ तक)
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति (प्रारम्भ)
(घ) भगवती० (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १९५ से १९८ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'आउ'

छठा उद्देशक : 'आयुष्य'

अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों का निरूपण—

१. कहं णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोतमा ! तिहिं ठाणेहिं, तं जहा—पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[१ प्र.] भगवन् ! जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म किस कारण से बांधते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! तीन कारणों से जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म बांधते हैं—(१) प्राणियों की हिंसा करके, (२) असत्य भाषण करके और (३) तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक, अनेषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम—(रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) कर। इस प्रकार (तीन कारणों से) जीव अल्पायुष्कफल वाला (कम जीने का कारणभूत) कर्म बांधते हैं।

२. कहं णं भंते ! जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! तिहिं ठाणेहिं—नो पाणे अतिवाइत्ता, नो मुसं वदित्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[२ प्र.] भगवन् ! जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म कैसे बांधते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! तीन कारणों से जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म बांधते हैं—(१) प्राणातिपात न करने से, (२) असत्य न बोलने से, और (३) तथारूप श्रमण और माहन को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम—(रूप चतुर्विध आहार) देने से। इस प्रकार (तीन कारणों) से जीव दीर्घायुष्क के (कारणभूत) कर्म का बन्ध करते हैं।

३. कहं णं भंते ! जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! पाणे अतिवाइत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता, अन्नतरेणं अमणुण्णेणं अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[३ प्र.] भगवन् ! जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणों से (कैसे) बांधते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! प्राणियों की हिंसा करके, असत्य बोल कर, एवं तथारूप श्रमण और माहन की (जातिप्रकाश द्वारा) हीलना, (मन द्वारा) निन्दा, खिंसना (लोगों के समक्ष झिड़कना, बदनाम

करना), गर्हा (जनता के समक्ष निन्दा) एवं अपमान करके, अमनोज्ञ और अप्रीतिकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम (रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) करके। इस प्रकार (इन तीन कारणों से) जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म बांधते हैं।

४. कहं णं भंते! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?

गोयमा! नो पाणे अतिवातित्ता, नो मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, अन्नतरेणं मणुण्णेणं पीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[४ प्र.] भगवन्! जीव शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणों से बांधते हैं?

[४ उ.] गौतम! प्राणिहिंसा न करने से, असत्य न बोलने से, और तथारूप श्रमण या माहन को वन्दना, नमस्कार यावत् पर्युपासना करके मनोज्ञ एवं प्रीतिकारक अशन, पान, खादिम और स्वादिम देने (प्रतिलाभित करने) से। इस प्रकार जीव (इन तीन कारणों से) शुभ दीर्घायु का कारणभूत कर्म बांधते हैं।

विवेचन—अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों का निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रों में क्रमशः अल्पायु, दीर्घायु, अशुभ दीर्घायु और शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

अल्पायु और दीर्घायु का तथा उनके कारणों का रहस्य—प्रथम सूत्र में अल्पायुबन्ध के कारण बतलाए गए हैं। यहाँ अल्प आयु, दीर्घ आयु की अपेक्षा से समझनी चाहिए, क्षुल्लकभवग्रहणरूप निगोद की आयु नहीं। अर्थात्—प्रासुक-एषणीय आहारादि लेने वाले मुनि को अप्रासुक-अनेषणीय आहारादि देने से जो अल्प आयु का बन्ध होना बताया गया है, उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि दीर्घायु की अपेक्षा जिसकी आयु थोड़ी है। जैनशास्त्र में पारंगत मुनि किसी सांसारिक ऋद्धि-सम्पत्तियुक्त भोगी पुरुष की अल्प आयु में मृत्यु सुनकर प्रायः कहते हैं—इस व्यक्ति ने पूर्व जन्मों में प्राणिवध आदि अशुभ कर्मों का आचरण किया होगा। अतः यहाँ अल्पायु का अर्थ—मानवदीर्घायु की अपेक्षा अल्प आयु पाना है।

इससे आगे के सूत्र में दीर्घायुबन्ध के कारणों का निरूपण किया गया है, उनको देखते हुए प्रतीत होता है, यह दीर्घायु भी पूर्ववत् अल्पायु की अपेक्षा दीर्घायु समझनी चाहिए, वह भी सुखरूप शुभ दीर्घायु ही यहाँ विवक्षित है, अशुभ दीर्घायु (कसाई, चोर आदि पापकर्म परायण व्यक्ति की दीर्घायु) नहीं। क्योंकि इस सूत्र में उक्त दीर्घायु के तीन कारणों में से तीसरे कारण में अन्तर है—जैसे तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक एषणीय आहार देने से दीर्घायुरूप फल मिलता है। किन्तु आगे के दो सूत्रों में शुभ दीर्घायु और अशुभ दीर्घायुरूप फल के दो कारण पूर्व सूत्र निर्दिष्ट कारणों के समान ही हैं। तीसरे और चौथे सूत्र में क्रमशः तथारूप श्रमण-माहन को वन्दन-नमन-पर्युपासनापूर्वक मनोज्ञ-प्रीतिकर आहार देना शुभ दीर्घायु का और तथारूप श्रमण-माहन की हीलना-निन्दा आदि करके उसे अमनोज्ञ एवं अप्रीतिकर आहार देना, अशुभ दीर्घायु का तीसरा कारण बताया गया है।[1]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२६-२२७

इसके अतिरिक्त अल्प-आयु के जो दो प्रारम्भिक कारण—प्राणातिपात और मृषावाद बताए गए हैं, वे भी यहाँ सभी प्रकार के प्राणातिपात और मृषावाद नहीं लिए जाते, अपितु प्रसंगोपात्त तथारूप श्रमण को आहार देने के लिए जो आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार तैयार किया जाता है, उसमें जो प्राणातिपात होता है उसका, तथा वह दोषयुक्त आहार साधु को देने के लिए जो झूठ बोला जाता है कि यह हमने अपने लिए बनाया है, आपको तनिक भी शंका नहीं करनी चाहिए; इत्यादि रूप से जो मृषावाद होता है, उसका यहाँ ग्रहण किया गया है।[1]

चूंकि आगे के अशुभ-दीर्घायु तथा शुभ दीर्घायु के कारण बताने वाले दो सूत्रों में प्रासुक एषणीय तथा अप्रासुक अनेषणीय का उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल प्रीतिकर या अप्रीतिकर आहार देने का उल्लेख है। इसलिए यहाँ जो प्रीतिपूर्वक मनोज्ञ आहार, अप्रासुक अनेषणीय दिया जाता है, उसे शुभ अल्पायु-बन्ध का कारण समझना चाहिए, अशुभ अल्पायुबन्ध का कारण नहीं।

दूसरे सूत्र में दीर्घ-आयु-बन्ध के कारणों का कथन है, वह भी शुभ दीर्घायु समझनी चाहिए जो जीवदया आदि धार्मिक कार्यों को करने से होती है। जैसे कि लोक में दीर्घायुष्क पुरुष को देखकर कहा जाता है, इसने पूर्वजन्म में जीवदयादिरूप धर्मकृत्य किये होंगे। देवगति में अपेक्षाकृत शुभ दीर्घायु होती है।[2]

चूंकि अवहीलना, अवज्ञा मात्सर्य आदि करके दान देने में जो प्राणातिपात एवं मृषावाद की क्रियाएँ देखी जाती हैं, वे नरकगति का कारण होने से अशुभ दीर्घायु हो सकती हैं। अन्य ग्रन्थों में भी इसी तथ्य का समर्थन है।[3]

विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से सम्बन्धित लगने वाली क्रियाएँ—

५. गाहावतिस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! तं भंडं अणुगवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ ? पारिग्गहिया०, मायावत्तिया०, अपच्चक्खा०, मिच्छादंसण० ?

गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ, पारि०, माया०, अपच्च०; मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जति, सिय नो कज्जति। अह से भंडे अभिसमन्नागते भवति ततो से पच्छा सव्वाओ ताओ पयणुईभवंति।

---

१. 'तथाहि प्राणातिपाताधाकर्मादिकरणतो मृषोक्तं यथा—साधो ! स्वार्थं सिद्धमिदं भक्तादि, कल्पनीयं वा, नाशंका कार्या'—स्थानांग. टीका

२. (क) अणुव्वय-महव्वएहिं य बालतवो अकामणिज्जराए य। देवाउयं निबंधइ, सम्मदिट्ठीय जो जीवो।
—भगवती० टीका, पत्रांक २२६

(ख) समणोवासगस्स तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं असण-पाण-खाइम साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो णिज्जरा कज्जइ। —भगवतीसूत्र, पत्रांक २२७

३. 'मिच्छद्दिट्ठी महारंभपरिग्गहो तिव्वलोभनिस्सीलो।
निरयाउयं निबंधइ, पावमई रोद्दपरिणामो ॥' —भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२७ में उद्धृत

[५ प्र.] भगवन् ! भाण्ड (किराने का सामान) वेचते हुए किसी गृहस्थ का वह किराने का माल कोई अपहरण कर (चुरा) ले, फिर उस किराने के सामान की खोज करते हुए उस गृहस्थ को, हे भगवन् ! क्या आरम्भिकी क्रिया लगती है, या पारिग्रहिकी क्रिया लगती है ? अथवा मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी या मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया लगती है ?

[५ उ.] गौतम ! (अपहृत किराने को खोजते हुए पुरुष को) आरम्भिकी क्रिया लगती है, तथा पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी एवं अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी लगती है, किन्तु मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् लगती है, और कदाचित् नहीं लगती । (किराने के सामान की खोज करते हुए) यदि चुराया हुआ सामान वापस मिल जाता है, तो वे सव (पूर्वोक्त) क्रियाएँ प्रतनु (अल्प—हल्की) हो जाती हैं ।

६. गाहावतिस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं सातिज्जेज्जा, भंडे य से अणुवणीए सिया, गाहावतिस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छा-दंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! गाहावतिस्स ताओ भंडाओ आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणिया; मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई-भवंति ।

[६ प्र.] भगवन् ! किराना बेचने वाले गृहस्थ से किसी व्यक्ति ने किराने का माल खरीद लिया, उस सौदे को पक्का करने के लिए खरीददार ने सत्यंकार (बयाना या साई) भी दे दिया, किन्तु वह (किराने का माल) अभी तक अनुपनीत (ले जाया गया नहीं) है; (बेचने वाले के यहाँ ही पड़ा है ।) (ऐसी स्थिति में) भगवन् ! उस भाण्डविक्रेता को उस किराने के माल से आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रियाओं में से कौन-सी क्रिया लगती है ?

[६ उ.] गौतम ! उस गृहपति को उस किराने के सामान से आरम्भिकी से लेकर अप्रत्याख्यानिकी तक चार क्रियाएँ लगती हैं । मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् लगती है और कदाचित् नहीं लगती । खरीददार को तो ये सब क्रियाएँ प्रतनु (अल्प या हल्की) हो जाती हैं ।

७. गाहावतिस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स जाव भंडे से उवणीए सिया, कइयस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जति० ? गाहावतिस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! कइयस्स ताओ भंडाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसण-किरिया भयणाए । गाहावतिस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ।

[७ प्र.] भगवन् ! किराना बेचने वाले गृहस्थ के यहाँ से यावत् खरीददार उस किराने के माल को अपने यहाँ ले आया, (ऐसी स्थिति में) भगवन् ! उस खरीददार को उस (खरीदे हुए)

किराने के माल से आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी तक कितनी क्रियाएँ लगती हैं ? और उस विक्रेता गृहस्थ को पांचों क्रियाओं में से कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[७ उ.] गौतम ! (उपर्युक्त स्थिति में) खरीददार को उस किराने के सामान से आरम्भिकी से लेकर अप्रत्याख्यानिकी तक चारों क्रियाएँ लगती हैं; मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया की भजना है; (अर्थात्—खरीददार यदि मिथ्यादृष्टि हो तो मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया लगती है, अगर वह मिथ्यादृष्टि न हो तो नहीं लगती)। विक्रेता गृहस्थ को तो (मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया की भजना के साथ) ये सब क्रियाएँ प्रतनु (अल्प) होती हैं।

८. [१] गाहावतिस्स णं भंते ! भंडं जाव धणे य[1] से अणुवणीए सिया० ?

एयं पि जहा 'भंडे उवणीते' तहा नेयव्वं।

[८-१ प्र.] भगवन् ! भाण्ड-विक्रेता गृहस्थ से खरीददार ने किराने का माल खरीद लिया, किन्तु जब तक उस विक्रेता को उस माल का मूल्यरूप धन नहीं मिला, तब तक, हे भगवन् ! उस खरीददार को उस अनुपनीत धन से कितनी क्रियाएँ लगती हैं ? (साथ ही) उस विक्रेता को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[८-१ उ.] गौतम ! यह आलापक भी उपनीत भाण्ड (खरीददार द्वारा ले जाए जाने वाले किराने) के आलापक के समान समझना चाहिए।

[२] चउत्थो आलावगो[1]-धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो 'भंडे य से अणुवणीए सिया' तहा नेयव्वो। पढम-चउत्थाणं एक्को गमो। बितिय-ततियाणं एक्को गमो।

[८-२] चतुर्थ आलापक—यदि धन उपनीत हो तो प्रथम आलापक, (जो कि अनुपनीत भाण्ड के विषय में कहा है)-के समान समझना चाहिए। (सारांश यह है कि) पहला और चौथा आलापक समान है, इसी तरह दूसरा और तीसरा आलापक समान हैं।

विवेचन—विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से लगने वाली क्रियाएँ—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ५ से ८ तक) में भाण्ड-विक्रेता और खरीददार को किराने के माल (भाण्ड)-सम्बन्धी विभिन्न अवस्थाओं में लगने वाली क्रियाओं का निरूपण किया गया है।

---

१. धन से सम्बन्धित प्रथम आलापक इस प्रकार कहना चाहिए—

"गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा, धणे य से अणुवणीए सिया, कइयस्स णं ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए। गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पतणुईभवंति।" —भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२९

१. धन से सम्बन्धित चतुर्थ आलापक इस प्रकार कहना चाहिए—

"गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया, गाहावइस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! गाहावइस्स ताओ धणाओ आरंभिया ५, मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति"—भगवती अ. वृत्ति, प. २२९

छह प्रतिफलित तथ्य—(१) किराना वेचने वाले का किराना (माल) कोई चुरा ले जाए तो उस किराने को खोजने में विक्रेता को आरम्भिकी आदि ४ क्रियाएँ लगती हैं, परन्तु मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया, कदाचित् लगती है, कदाचित् नहीं लगती। (२) यदि चुराया हुआ किराने का माल वापस मिल जाए तो विक्रेता को ये सब क्रियाएँ मन्द रूप में लगती हैं। (३) खरीददार ने विक्रेता से किराना (माल) खरीद लिया, उस सौदे को पक्का करने के लिए साई भी दे दी, किन्तु माल दूकान से उठाया नहीं, तब तक खरीददार को उस किराने-सम्बन्धी क्रियाएँ हलके रूप में लगती हैं, जबकि विक्रेता को वे क्रियाएँ भारी रूप में लगती हैं। (४) विक्रेता द्वारा किराना खरीददार को सौंप दिये जाने पर वह उसे उठाकर ले जाता है, ऐसी स्थिति में विक्रेता को वे सब सम्भावित क्रियाएँ हलके रूप में लगती हैं, जब कि खरीददार को भारी रूप में। (५) विक्रेता से खरीददार ने किराना खरीद लिया, किन्तु उसका मूल्यरूप धन विक्रेता को नहीं दिया, ऐसी स्थिति में विक्रेता को आरम्भिकी आदि चारों क्रियाएँ हलके रूप में लगती हैं, जबकि खरीददार को वे ही क्रियाएँ भारी रूप में लगती हैं। और (६) किराने का मूल्यरूप धन खरीददार द्वारा चुका देने के बाद विक्रेता को धनसम्बन्धी चारों सम्भावित क्रियाएँ भारी-रूप में लगती हैं, जबकि खरीददार को वे सब सम्भावित क्रियाएँ अल्परूप में लगती हैं।[1]

क्रियाएँ : कब हल्के रूप में, कब भारी रूप में ?—(१) चुराये हुए माल की खोज करते समय विक्रेता (व्यापारी) विशेष प्रयत्नशील होता है, इसलिए उसे सम्भावित क्रियाएँ भारीरूप में लगती हैं, किन्तु जब व्यापारी को चुराया हुआ माल मिल जाता है, तब उसका खोज करने का प्रयत्न बन्द हो जाता है, इसलिए वे सब सम्भावित क्रियाएँ हल्की हो जाती हैं। (२) विक्रेता के यहाँ खरीददार के द्वारा खरीदा हुआ माल पड़ा रहता है, वह उसका होने से तत्सम्बन्धित क्रियाएँ भारीरूप में लगती है, किन्तु खरीददार उस माल को उठाकर अपने घर ले जाता है, तब खरीददार को वे सब क्रियाएँ भारीरूप में और विक्रेता को हल्के रूप में लगती हैं। (३) किराने का मूल्यरूप धन जब तक खरीददार द्वारा विक्रेता को नहीं दिया गया है, तब तक वह धन खरीददार का है, अतः उससे सम्बन्धित क्रियाएँ खरीददार को भारीरूप में और विक्रेता को हल्के रूप में लगती हैं, किन्तु खरीददार खरीदे हुए किराने का मूल्यरूप धन विक्रेता को चुका देता है, उस स्थिति में विक्रेता को उस धनसम्बन्धी क्रियाएँ भारीरूप में, तथा खरीददार को हल्के रूप में लगती हैं।

मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया—तभी लगती है, जब विक्रेता या क्रेता मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि होने पर नहीं लगती।

कठिन शब्दों के अर्थ—**विकिणमाणस्स**=विक्रय करते हुए। **अवहरेज्जा**=अपहरण करे (चुरा ले जाए)। **सिय कज्जइ**=कदाचित् लगती है। **पयणुईभवंति**=प्रतनु=हल्की या अल्प हो जाती हैं। **साइज्जेज्जा**=सत्यंकार (सौदा पक्का) करने हेतु साई या बयाना दे दे। **अभिसमण्णागए**=माल वापस मिल जाए। **कइयस्स**=खरीददार के। **गवेसमाणस्स**=खोजते-ढूंढते हुए। **अणुवणीए**=अनुपनीत—नहीं ले जाया गया। **उवणीए**=उपनीत—माल उठाकर ले जाया गया।[2]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०६
(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२८

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२८-२२९

अग्निकाय : कब महाकर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ?

९. अगणिकाए णं भंते ! अहुणोज्जलिते समाणे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेदणतराए चेव भवति । अहे णं समए समए वोक्कसिज्जमाणे वोक्कसिज्जमाणे वोच्छिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि इंगालभूते मुम्मुरभूते छारियभूते, तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव, अप्पकिरियतराए चेव, अप्पासवतराए चेव, अप्पवेदणतराए चेव भवति ?

हंता, गोयमा ! अगणिकाए णं अहुणुज्जलिते समाणे० तं चेव ।

[९ प्र.] भगवन् ! तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय क्या महाकर्मयुक्त, तथा महाक्रिया, महाश्रव और महावेदना से युक्त होता है ? और इसके पश्चात् समय-समय में (क्षण-क्षण में) क्रमशः कम होता हुआ—बुझता हुआ तथा अन्तिम समय में (जब) अंगारभूत, मुर्मुरभूत (भोभर-सा हुआ) और भस्मभूत हो जाता है (तब) क्या वह अग्निकाय अल्पकर्मयुक्त तथा अल्पक्रिया, अल्पाश्रव अल्पवेदना से युक्त होता है ?

[९ उ.] हाँ गौतम ! तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय महाकर्मयुक्त····भस्मभूत हो जाता है, उसके पश्चात् यावत् अल्पवेदनायुक्त होता है ।

विवेचन—अग्निकाय : कब महाकर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ?—प्रस्तुत नौवें सूत्र में तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय को महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव एवं महावेदना से युक्त तथा धीरे-धीरे क्रमशः अंगारे-सा, मुर्मुर-सा एवं भस्म-सा हो जाने पर उसे अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्प-आश्रव और अल्प-वेदना से युक्त बताया गया है ।

महाकर्मादि या अल्पकर्मादि से युक्त होने का रहस्य—तत्काल प्रज्वलित अग्नि बन्ध की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय आदि महाकर्मबन्ध का कारण होने से 'महाकर्मतर' है । अग्नि का जलना क्रियारूप होने से यह महाक्रियातर है । अग्निकाय नवीन कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत होने से यह महाश्रवतर है । अग्नि लगने के पश्चात् होने वाली तथा उस कर्म (अग्निकाय से बद्ध कर्म) से उत्पन्न होने वाली पीड़ा के कारण अथवा परस्पर शरीर के सम्बाध (दबने) से होने वाली पीड़ा के कारण वह महावेदनातर है । लेकिन जब प्रज्वलित हुई अग्नि क्रमशः बुझने लगती है, तब क्रमशः अंगार आदि अवस्था को प्राप्त होती हुई वह अल्पकर्मतर, अल्पक्रियातर, अल्पाश्रवतर एवं अल्पवेदनातर हो जाती है । बुझते-बुझते जब वह भस्मावस्था को प्राप्त हो जाती है, तब वह कर्मादि-रहित हो जाती है ।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—अहुणोज्जलिए=अभी-अभी तत्काल जलाया हुआ । **वोक्कसिज्जमाणे**=अपकर्ष को प्राप्त (कम) होता हुआ । **अप्प**=अग्नि की अंगारादि अवस्था की अपेक्षा अल्प यानी थोड़ा, तथा भस्म की अपेक्षा अल्प का अर्थ अभाव करना चाहिए ।[2]

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२९

२. वही, पत्रांक २२९

धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सम्बन्धित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाएँ—

१०. [१] पुरिसे णं भंते ! धणुं परामुसति, धणुं परामुसित्ता उसुं परामुसति, उसुं परामुसित्ता ठाणं ठाति, ठाणं ठिच्चा आयतकण्णाययं उसुं करेति, आययकण्णाययं उसुं करेत्ता उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहति, २ ततो णं से उसुं उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणति वत्तेति लेस्सेति संघाएति संघट्टेति परितावेति किलामेति, ठाणाओ ठाणं संकामेति, जीवितातो ववरोवेति, तए णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसति जाव उव्विहति तावं च णं से पुरिसें काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए, पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! कोई पुरुष धनुष को स्पर्श करता है, धनुष का स्पर्श करके वह बाण का स्पर्श (ग्रहण) करता है, बाण का स्पर्श करके (धनुष से बाण फेंकने के) स्थान पर से आसनपूर्वक बैठता है, उस स्थिति में बैठकर फैंके जाने वाले बाण को कान तक आयत करे—खींचे, खींच कर ऊँचे आकाश में बाण फेंकता है। ऊँचे आकाश में फेंका हुआ वह बाण, वहाँ आकाश में जिन प्राण, भूत, जीव, और सत्त्व को सामने आते हुए मारे (हनन करे) उन्हें सिकोड़ दे, अथवा उन्हें ढक दे, उन्हें परस्पर श्लिष्ट कर (चिपका) दे, उन्हें परस्पर संहत (संघात= एकत्रित) करे, उनका संघट्टा—जोर से स्पर्श करे, उनको परिताप-संताप (पीड़ा) दे, उन्हें क्लान्त करे—थकाए, हैरान करे, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकाए, एवं उन्हें जीवन से रहित कर दे, तो हे भगवन् ! उस पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१०-१ उ.] गौतम ! यावत् वह पुरुष धनुष को ग्रहण करता यावत् बाण को फैंकता है, तावत् वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, और प्राणातिपातिकी, इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

[२] जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

[१०-२] जिन जीवों के शरीरों से वह धनुष बना (निष्पन्न हुआ) है, वे जीव भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

११. एवं धणुपुट्ठे पंचहिं किरियाहिं । जीवा पंचहिं । ण्हारू पंचहिं । उसू पंचहिं । सरे पत्तणे फले ण्हारू पंचहिं ।

[११] इसी प्रकार धनुष की पीठ भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होती है। जीवा (डोरी) पांच क्रियाओं से, ण्हारू (स्नायु) पाँच क्रियाओं से एवं बाण पांच क्रियाओं से तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

१२. अहे णं से उसू अप्पणो गरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव[1] जीविताओ ववरोवेति, एवं च णं से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से उसू अप्पणो गरुययाए जाव[2] ववरोवेति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसि पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि जीवा चउहिं किरियाहिं । धणुपुट्ठे चउहिं । जीवा चउहिं । ण्हारू चउहिं । उसू पंचहिं । सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं । जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठंति ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ।

[१२ प्र.] 'हे भगवन् ! जब वह बाण अपनी गुरुता से, अपने भारीपन से, अपने गुरुसंभारता से स्वाभाविकरूप (विस्रसा प्रयोग) से नीचे गिर रहा हो, तब (ऊपर से नीचे गिरता हुआ) वह (बाण) (बीच मार्ग में) प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को यावत् जीवन (जीवित) से रहित कर देता है, तब उस बाण फेंकने वाले पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! जब वह बाण अपनी गुरुता आदि से नीचे गिरता हुआ, यावत् जीवों को जीवन रहित कर देता है, तब वह बाण फेंकने वाला) पुरुष कायिकी आदि चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है । जिन जीवों के शरीर से धनुष बना है, वे जीव भी चार क्रियाओं से, धनुष की पीठ चार क्रियाओं से, जीवा (ज्या=डोरी) चार क्रियाओं से, ण्हारू चार क्रियाओं से, बाण पांच क्रियाओं से, तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं । 'नीचे' गिरते हुए बाण के अवग्रह में जो जीव आते हैं, वे जीव भी कायिकी आदि पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं ।

विवेचन—धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सम्बन्धित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाएँ—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १० से १२ तक) में धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष के विविध उपकरण (अवयव) जिन-जिन जीवों के शरीरों से बने हैं उनको बाण छूटते समय तथा बाण के नीचे गिरते समय होने वाली प्राणि-हिंसा से लगने वाली क्रियाओं का निरूपण किया गया है ।

किसको, क्यों, कैसे और कितनी क्रियाएँ लगती है ?—एक व्यक्ति धनुष हाथों में लेता है, फिर बाण उठाता है, उसे धनुष पर चढ़ा कर विशेष प्रकार के आसन से बैठता है, फिर कान तक बाण को खींचता और छोड़ता है । छूटा हुआ वह बाण आकाशस्थ या उसकी चपेट में आए हुए प्राणी के प्राणों का विविध प्रकार से उत्पीड़न एवं हनन करता है, ऐसी स्थिति में उस पुरुष को धनुष हाथ में लेने से छोड़ने तक में कायिकी से लेकर प्राणातिपातिकी तक पांचों क्रियाएँ लगती हैं । इसी प्रकार जिन जीवों के शरीर से धनुष, धनुःपृष्ठ, डोरी, ण्हारू, बाण, शर, पत्र, फल और ण्हारू आदि धनुष एवं धनुष के उपकरण बने हैं उन जीवों को भी पांच क्रियाएँ लगती हैं । यद्यपि वे इस समय अचेतन हैं तथापि उन जीवों ने मरते समय अपने शरीर का व्युत्सर्ग नहीं किया था, वे अविरति के परिणाम

---

१. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—

'भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणति वत्तेति लेस्सेति संघाएति संघट्टेति परितावेति किलामेति ठाणाओ ठाणं संकामेति' ।

(जो कि अशुभकर्म-बन्ध के हेतु हैं) से युक्त थे, इसलिए उन्हें भी पांचों क्रियाएँ लगती हैं। सिद्धों के अचेतन शरीर जीवहिंसा के निमित्त होने पर भी सिद्धों को कर्मबन्ध नहीं होता, न उन्हें कोई क्रिया लगती है, क्योंकि उन्होंने शरीर का तथा कर्मबन्ध के हेतु अविरति परिणाम का सर्वथा त्याग कर दिया था। रजोहरण, पात्र, वस्त्र आदि साधु के उपकरणों से जीवदया आदि करने से रजोहरणादि के भूतपूर्व जीवों को पुण्यबन्ध नहीं होता, क्योंकि रजोहरणादि के जीवों के मरते समय पुण्यबन्ध के हेतुरूप विवेक, शुभ अध्यवसाय आदि नहीं होते।

इसके अतिरिक्त अपने भारीपन आदि के कारण जब बाण नीचे गिरता है, तब जिन जीवों के शरीर से वह बाण बना है, उन्हें पांचों क्रियाएँ लगती हैं, क्योंकि बाणादिरूप बने हुए जीवों के शरीर तो उस समय मुख्यतया जीवहिंसा में प्रवृत्त होते हैं, जबकि धनुष की डोरी, धनुःपृष्ठ आदि साक्षात् वधक्रिया में प्रवृत्त न होकर केवल निमित्तमात्र बनते हैं, इसलिए उन्हें चार क्रियाएँ लगती हैं। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने जैसा अपने ज्ञान में देखा है, वैसा ही कहा है, इसलिए उनके वचन प्रमाण मान कर उन पर श्रद्धा करनी चाहिए।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—परामुसइ=स्पर्श-ग्रहण करता है। **उसु**=बाण। **आययकण्णाययं**=कान तक खींचा हुआ। **वेहासं**=आकाश में। **उव्विहइ**=फेंकता है। **जीवा**=धनुष की डोरी (ज्या), **ण्हारू**=स्नायु, **पच्चोवयमाणे**=नीचे गिरता हुआ।[2]

अन्यतीर्थिकप्ररूपित मनुष्यसमाकीर्ण मनुष्यलोक के बदले नारकसमाकीर्ण नरकलोक की प्ररूपणा एवं नैरयिक-विकुर्वणा—

१३. अन्नउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति—से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया एवामेव जाव चत्तारि पंच जोयणसताइं बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणुस्सेहिं। से कहमेतं भंते! एवं?

गोतमा! जं णं ते अन्नउत्थिया जाव मणुस्सेहिं, जे ते एवमाहंसु मिच्छा०। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव एवामेव चत्तारि पंच जोयणसताइं बहुसमाइण्णे निरयलोए नेरइएहिं।

[१३ प्र.] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि जैसे कोई युवक अपने हाथ से युवती का हाथ (कस कर) पकड़े हुए (खड़ा) हो, अथवा जैसे आरों से एकदम सटी (जकड़ी) हुई चक्र (पहिये) की नाभि हो, इसी प्रकार यावत् चार सौ-पांच सौ योजन तक यह मनुष्यलोक मनुष्यों से ठसाठस भरा हुआ है। भगवन्! यह सिद्धान्त प्ररूपण कैसे है?

[१३ उ.] हे गौतम! अन्यतीर्थियों का यह कथन मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि चार-सौ, पाँच सौ योजन तक नरकलोक, नैरयिक जीवों से ठसाठस भरा हुआ है।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३०

२. वही, पत्रांक २३०

१४. नेरइया णं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए ? पुहत्तं पभू विकुव्वित्तए ?

जहा जीवाभिगमे[1] आलावगो तहा नेयव्वो जाव दुरहियासं।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव, एकत्व (एक रूप) की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं, अथवा बहुत्व (बहुत से रूपों) की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! इस विषय में जीवाभिगमसूत्र में जिस प्रकार आलापक कहा है, उसी प्रकार का आलापक यहाँ भी 'दुरहियास' शब्द तक कहना चाहिए।

विवेचन—अन्यतीर्थिक-प्ररूपित मनुष्य समाकीर्ण मनुष्य लोक के बदले नारकसमाकीर्ण नरकलोक प्ररूपणा, एवं नैरयिक-विकुर्वणा—प्रस्तुत दो सूत्रों में दो मुख्य तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) मनुष्योक ४००-५०० योजन तक ठसाठस मनुष्यों से भरा है, अन्यतीर्थिकों के विभंग-ज्ञान द्वारा प्ररूपित इस कथन को मिथ्या बताकर नरक लोक नैरयिक जीवों से ठसाठस भरा है, इस तथ्य की प्ररूपणा की गई है।

(२) नैरयिक जीव एकरूप एवं अनेक रूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं।[2]

नैरयिकों की विकुर्वणा के सम्बन्ध में जीवाभिगम का अतिदेश—जीवाभिगम सूत्र के आलापक का सार इस प्रकार है—रत्नप्रभा आदि नरकों में नैरयिक जीव एकत्व (एकरूप) की भी विकुर्वणा करने में समर्थ हैं, बहुत्व (बहुत-से रूपों) की भी। एकत्व की विकुर्वणा करते हैं, तब वे एक बड़े मुद्गर या मुसुंढि, करवत, तलवार, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, नाराच, कुन्त (भाला), तोमर, शूल और लकड़ी यावत् भिंडमाल के रूप की विकुर्वणा कर सकते हैं और, जब बहुत्व (बहुत से रूपों) की विकुर्वणा करते हैं, तब मुद्गर से लेकर भिंडमाल तक बहुत-से शस्त्रों की विकुर्वणा कर सकते हैं। वे सब संख्येय होते हैं, असंख्येय नहीं। इसी प्रकार वे सम्बद्ध और सदृश रूपों की विकुर्वणा करते हैं, असम्बद्ध एवं असदृश रूपों की नहीं। इस प्रकार की विकुर्वणा करके वे एक दूसरे के शरीर को अभिघात पहुँचाते हुए वेदना की उदीरणा करते हैं। वह वेदना उज्ज्वल (तीव्र), विपुल (व्यापक), प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, परुष (कठोर), निष्ठुर, चण्ड, तीव्र, दुर्ग, दुःखरूप और दुःसह होती है।[3]

---

१. आलापक इस प्रकार है—

"गोयमा ! एगत्तं पि पहू विउव्वित्तए पुहत्तं पि पहू विउव्वित्तए। एगत्तं विउव्वमाणे एगं महं मोग्गर-रूवं मुसुंढिरूवं वा' इत्यादि। 'पुहत्तं विउव्वमाणे मोग्गररूवाणि वा' इत्यादि। ताइं संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं। एवं संबद्धाइं २ सरीराइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं अभिहणमाणा २ वेयणं उदीरेंति उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निट्ठुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियासं ति"

—जीवाभिगम प्र. ३ उ.-२ भगवती अ. वृत्ति, पृ. २३१.

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठटिप्पणयुक्त) भा-१ पृ-२०८-२०९

३. (क) जीवाभिगम सूत्र, प्रतिपत्ति ३, द्वितीय उद्देशक नारकस्वरूपवर्णन, पृ. ११७

(ख) भगवती-टीकानुवाद खं. २, पृ-२०८

विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोषसेवी साधु अनाराधक कैसे ?, आराधक कैसे ?

१५. [१] 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति मणं पहारेत्ता भवति, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा।

[१५-१] 'आधाकर्म अनवद्य-निर्दोष है', इस प्रकार जो साधु मन में समझता (धारणा बना लेता) है, वह यदि उस आधाकर्म-स्थान की आलोचना (तदनुसार प्रायश्चित्त) एवं प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है, तो उसके आराधना नहीं होती।

[२] से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।

[१५-२] वह (पूर्वोक्त प्रकार की धारणा वाला साधु) यदि उस (आधाकर्म-) स्थान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

[३] एतेणं गमेणं नेयव्वं—कीयकडं ठवियगं रइयगं कंतारभत्तं दुब्भिक्खभत्तं वद्दलियाभत्तं गिलाणभत्तं सिज्जातरपिंडं रायपिंडं।

[१५-३] आधाकर्म के (पूर्वोक्त) आलापकद्वय के अनुसार ही क्रीतकृत (साधु के लिए खरीद कर लाया हुआ), स्थापित (साधु के लिए स्थापित करके रखा हुआ) रचितक (साधु के लिये बिखरे हुए चूरे को मोदक के रूप में बांधा हुआ (औद्देशिक दोष का भेदरूप), कान्तारभक्त (अटवी में भिक्षुकों के निर्वाह के लिये तैयार किया हुआ आहार), दुर्भिक्षभक्त (दुष्काल के समय भिक्षुओं के लिये तैयार किया हुआ आहार), वर्दलिकाभक्त (आकाश में बादल छाये हों, घनघोर वर्षा हो रही हो, ऐसे समय में भिक्षुओं के लिए तैयार किया हुआ आहार), ग्लान भक्त (ग्लान—रुग्ण के लिए बनाया हुआ आहार), शय्यातरपिण्ड (जिसकी आज्ञा से मकान में ठहरे हैं, उस व्यक्ति के यहाँ से आहार लेना), राजपिण्ड (राजा के लिए तैयार किया गया आहार), इन सब दोषों से युक्त आहारादि के विषय में (आधाकर्म सम्बन्धी आलापकद्वय के समान ही) प्रत्येक के दो-दो आलापक कहने चाहिए।

१६. [१] 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति बहुजणमज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवति, से णं तस्स ठाणस्स जाव[1] अत्थि तस्स आराहणा।

[२] एयं पि तह चेव जाव[1] रायपिंडं।

[१६-१] आधाकर्म अनवद्य (निर्दोष) है, इस प्रकार जो साधु बहुत-से मनुष्यों के बीच में कह (भाषण) कर, स्वयं ही उस आधाकर्म-आहारादि का सेवन (उपभोग) करता है, यदि वह उस स्थान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती, यावत् यदि वह उस स्थान की आलोचना—प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

[१६-२] आधाकर्मसम्बन्धी इस प्रकार के आलापकद्वय के समान क्रीतकृत से लेकर राजपिण्डदोष तक पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्येक के दो-दो आलापक समझ लेने चाहिए।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ पूर्ववत् 'अणालोइय' का तथा 'आलोइय' का आलापक कहना चाहिए।

१७. 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति सयं अन्नमन्नस्स अणुप्पदावेत्ता भवति, से णं तस्स० एयं तह चेव जाव रायपिंडं।

[१७] 'आधाकर्म अनवद्य है', इस प्रकार कह कर, जो साधु स्वयं परस्पर (भोजन करता है, तथा) दूसरे साधुओं को दिलाता है, किन्तु उस आधाकर्म दोष स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण किये विना काल करता है तो उसके अनाराधना तथा यावत् आलोचनादि करके काल करता है तो उसके आराधना होती है। इसी प्रकार क्रीतकृत से लेकर राजपिण्ड तक पूर्ववत् यावत् अनाराधना एवं आराधना जान लेनी चाहिए।

१८. 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति वहुजणमज्झे पन्नवइत्ता भवति, से णं तस्स जाव[1] अत्थि आराहणा जाव रायपिंडं।

[१८] 'आधाकर्म अनवद्य है', इस प्रकार जो साधु वहुत-से लोगों के वीच में प्ररूपण (प्रज्ञापन) करता है, उसके भी यावत् आराधना नहीं होती, तथा वह यावत् आलोचना-प्रतिक्रमण करके काल करता है, उसके आराधना होती है।

इसी प्रकार क्रीतकृत से लेकर यावत् राजपिण्ड तक पूर्वोक्त प्रकार से अनाराधना होती है, तथा यावत् आराधना होती है।

विवेचन—विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोषसेवी साधु अनाराधक कैसे, आराधक कैसे?— प्रस्तुत चार सूत्रों में आधाकर्मादि दोष से दूषित आहारादि को निष्पाप समझने वाले, सभा में निष्पाप कहकर सेवन करने वाले, स्वयं वैसा दोषयुक्त आहार करने तथा दूसरे को दिलाने वाले, वहुजन समाज में आधाकर्मादि के निर्दोष होने की प्ररूपणा करने वाले साधु के विराधक एवं आराधक होने का रहस्य वताया गया है।[2]

विराधना और आराधना का रहस्य—आधाकर्म से लेकर राजपिण्ड तक में से किसी भी दोष का किसी भी रूप में मन-वचन-काया से सेवन करने वाला साधु यदि अन्तिम समय में उस दोष-स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमणादि किये विना ही काल कर जाता है तो वह विराधक होता है, आराधक नहीं; किन्तु यदि पूर्वोक्त दोषों में से किसी दोष का किसी भी रूप में सेवन करने वाला साधु अन्तिम समय में उस दोष की आलोचना-प्रतिक्रमण कर लेता है, तो वह आराधक होता है। निष्कर्ष यह है कि दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमणादि न करके काल करने वाला साधु विराधक और आलोचना-प्रतिक्रमणादि करके काल करने वाला साधु आराधक होता है। आधाकर्मादि दोष निर्दोष होने की मन में धारणा वना लेना, तथा आधाकर्मादि के विषय में निर्दोष होने की प्ररूपणा करना विपरीतश्रद्धानादिरूप होने से दर्शन-विराधना है; इन्हें विपरीत रूप में जानना ज्ञान-विराधना है। तथा इन दोषों को निर्दोष कह कर स्वयं आधाकर्मादि आहारादि सेवन करना, तथा दूसरों को वैसा दोषयुक्त आहार दिलाना, चारित्रविराधना है।[3]

---

१. जाव पद से यहाँ 'अणालोइय' इत्यादि पद तथा 'आलोइय' इत्यादि पद कहने चाहिए।

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०९-२१०

३. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३१

आधाकर्म की व्याख्या—साधु के निमित्त से जो सचित्त को अचित्त बनाया जाता है, अचित्त दाल, चावल आदि को पकाया जाता है, मकान आदि बनाए जाते हैं, या वस्त्रादि बुनाए जाते हैं, उन्हें आधाकर्म कहते हैं।[1]

गणसंरक्षणतत्पर आचार्य-उपाध्याय के सम्बन्ध में सिद्धत्व-प्ररूपणा—

१९. आयरिय-उवज्झाए णं भंते ! सविसयंसि गणं अगिलाए संगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंतं करेति ?

गोतमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झति, तच्चं पुण भवग्गहणं नातिक्कमति।

[१९ प्र] भगवन् ! अपने विषय में (सूत्र और अर्थ की वाचना-प्रदान करने में) गण (शिष्यवर्ग) को अग्लान (अखेद) भाव से स्वीकार (संग्रह) करते (अर्थात्-सूत्रार्थ पढ़ाते) हुए तथा अग्लानभाव से उन्हें (शिष्यवर्ग को संयम पालन में) सहायता करते हुए आचार्य और उपाध्याय, कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ?

[१९ उ.] गौतम ! कितने ही आचार्य-उपाध्याय उसी भव से सिद्ध होते हैं, कितने ही दो भव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, किन्तु तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते।

विवेचन—तथारूप आचार्य-उपाध्याय के सम्बन्ध में सिद्धत्वप्ररूपणा—जो आचार्य और उपाध्याय अपने कर्तव्य और दायित्व का भली-भांति वहन करते हैं, उनके सम्बन्ध में एक, दो या अधिक से अधिक तीन भव में सिद्धत्व प्राप्ति की प्ररूपणा की गई है।

एक दो या तीन भव में मुक्त—कई आचार्य-उपाध्याय उसी भव में मुक्त हो जाते हैं, कई देवलोक में जा कर दूसरा मनुष्यभव धारण करके मुक्त होते हैं, और कितने ही देवलोक में जाकर तीसरा मनुष्यभव धारण करके मुक्त होते हैं, किन्तु तीन भव से अधिक भव नहीं करते।[2]

मिथ्यादोषारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्ध-प्ररूपणा—

२०. जे णं भंते ! परं अलिएणं असंतएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति तस्स णं कहप्पगारा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! जे णं परं अलिएणं असंतएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति तस्स णं तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जंति, जत्थेव णं अभिसमागच्छति तत्थेव णं पडिसंवेदेति, ततो से पच्छा वेदेति।

सेवं भंते ! २ त्ति०।

॥ पंचमसए : छट्ठो उद्देसओ ॥

---

१. "आधाकर्म—आधया साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते, अचेतनं वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकम्, वयते वा वस्त्रादिकम्, तदाधाकर्म।"—भगवती. हि. विवेचन, भा. २, पृ. ८६०

२. भगवती सूत्र वृत्ति, पत्रांक २३२

[२० प्र.] भगवन् ! जो दूसरे पर सद्भूत का अपलाप और असद्भूत का आरोप करके असत्य मिथ्यादोपारोपण (अभ्याख्यान) करता है, उसे किस प्रकार के कर्म बंधते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! जो दूसरे पर सद्भूत का अपलाप और असद्भूत का आरोपण करके मिथ्या दोष लगाता है, उसके उसी प्रकार के कर्म बंधते हैं। वह जिस योनि में जाता है, वहीं उन कर्मों को वेदता (भोगता) है और वेदन करने के पश्चात् उनकी निर्जरा करता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर यावत् गौतमस्वामी विचरने लगे।

विवेचन—मिथ्यादोपारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्धन प्ररूपणा—जो व्यक्ति दूसरे पर अविद्यमान या अशोभनीय कार्य करने का दोपारोपण करता है, वह उसी रूप में उसका फल पाता है। इस प्रकार दुष्कर्मबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

ब्रह्मचर्यपालक को अब्रह्मचारी कहना, यह सद्भूत का अपलाप है, अचोर को चोर कहना असद्भूत दोष का आरोपण है। ऐसा करके किसी पर मिथ्या दोपारोपण करने से इसी प्रकार का फल देने वाले कर्मों कर बन्ध होता है। ऐसा कर्मबन्ध करने वाला वैसा ही फल पाता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—अलिएणं=सत्य बात का अपलाप करना। **असब्भूएणं**=असद्भूत =अविद्यमान बात को प्रकट करना। **अब्भक्खाणेणं**=अभ्याख्यान=मिथ्यादोपारोपण।[1]

॥ पंचम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ) भा. १, पृ. २१०, (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २३२

सत्तमो उद्देसओ : एयरण

सप्तम उद्देशक : एजन

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशिकादि स्कन्धों के एजनादि के विषय में प्ररूपणा—

१. परमाणुपोग्गले णं भंते ! एयति वेयति जाव[1] तं तं भावं परिणमति ?

गोयमा ! सिय एयति वेयति जाव परिणमति, सिय णो एयति जाव णो परिणमति ।

[१ प्र] भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल कांपता है, विशेष रूप से कांपता है ? यावत् उस-उस भाव में (विभिन्न परिणामों में) परिणत होता है ?

[१ उ.] गौतम ! परमाणु पुद्गल कदाचित् कांपता है, विशेष कांपता है, यावत् उस-उस भाव में परिणत होता है; कदाचित् नहीं कांपता, यावत् उस-उस भाव में परिणत नहीं होता ।

२. [१] दुपदेसिए णं भंते ! खंधे एयति जाव परिणमइ ?

गोयमा ! सिय एयति जाव परिणमति, सिय णो एयति जाव णो परिणमति; सिय देसे एयति, देसे नो एयति ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध कांपता है, विशेष कांपता है, यावत् उस-उस भाव में परिणत होता है ?

[२-१ उ.] हे गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, यावत् परिणत होता है, कदाचित् कम्पित नहीं होता, यावत् परिणत नहीं होता । कदाचित् एक देश (भाग) से कम्पित होता है, एक देश से कम्पित नहीं होता ।

[२] तिपदेसिए णं भंते ! खंधे एयति० ?

गोयमा ! सिय एयति १, सिय नो एयति २, सिय देसे एयति, नो देसे एयति ३, सिए देसे एयति नो देसा एयंति ४, सिय देसा एयंति नो देसे एयति ५ ।

[२-२ प्र.] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशिक स्कन्ध कम्पित होता है, यावत् परिणत होता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, कदाचित् कम्पित नहीं होता; कदाचित् एक देश से कम्पित होता है, और एक देश से कम्पित नहीं होता; कदाचित् एक देश से कम्पित होता है, और बहुत देशों से कम्पित नहीं होता; कदाचित् बहुत देशों से कम्पित होता है और एक देश से कम्पित नहीं होता ।

---

१. 'जाव' पद यहाँ 'चलति, फंदति, खोभति' इन क्रियापदों का सूचक है ।

[३] चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे एयति० ?

गोयमा ! सिय एयति १, सिय नो एयति २, सिय देसे एयति, णो देसे एयति ३, सिय देसे एयति णो देसा एयंति ४, सिय देसा एयंति नो देसे एयति ५, सिय देसा एयंति नो देसा एयंति ६।

[२-३ प्र.] भगवन् ! क्या चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध कम्पित होता है ?

[२-३ उ.] गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, कदाचित् कम्पित नहीं होता; कदाचित् उसका एकदेश कम्पित होता है, कदाचित् एकदेश कम्पित नहीं होता; कदाचित् एकदेश कम्पित होता है, और बहुत देश कम्पित नहीं होते; कदाचित् बहुत देश कम्पित होते हैं और एक देश कम्पित नहीं होता; कदाचित् बहुत देश कम्पित होते हैं और बहुत देश कम्पित नहीं होते।

[४] जहा चउप्पदेसिओ तहा पंचपदेसिओ, तहा जाव अणंतपदेसिओ।

[२-४] जिस प्रकार चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार पंचप्रदेशी स्कन्ध से लेकर यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक (प्रत्येक स्कन्ध के लिए) कहना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल और स्कन्धों के कम्पन आदि के विषय में प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में परमाणुपुद्गल तथा द्विप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध के कम्पन (एजन), विशेष कम्पन, चलन, स्पन्दन, क्षोभण और उस-उस भाव में परिणमन के सम्बन्ध में प्रश्न उठाकर उसका सैद्धान्तिक अनेकान्तशैली से समाधान किया गया है।[1]

परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक कम्पनादि धर्म—पुद्गलों में कम्पनादि धर्म कादाचित्क हैं। इस कारण परमाणुपुद्गल में कम्पन आदि विषयक दो भंग, द्विप्रदेशिक स्कन्ध में तीन भंग, त्रिप्रदेशिक स्कन्ध में पांच भंग और चतुष्प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक प्रत्येक स्कन्ध में कम्पनादि के ६ भंग होते हैं।

विशिष्ट शब्दों के अर्थ—एयति = कांपता है। वेयति = विशेष कांपता है। सिय = कदाचित्।[2]

परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के विषय में विभिन्न पहलुओं से प्रश्नोत्तर—

३. [१] परमाणुपोग्गले णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?

हंता, ओगाहेज्जा।

[३-१ प्र.] भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल तलवार की धार या क्षुरधार (उस्तरे की धार) पर अवगाहन करके रह सकता है ?

[३-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह अवगाहन करके रह सकता है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २१०-२११

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३२

[२] से णं भंते ! तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

गोतमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमति ।

[३-२ प्र.] भगवन् ! उस धार पर अवगाहित होकर रहा हुआ परमाणुपुद्गल छिन्न या भिन्न हो जाता है ?

[३-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है । परमाणुपुद्गल में शस्त्र क्रमण (प्रवेश) नहीं कर सकता ।

४. एवं जाव असंखेज्जपएसिओ ।

[४] इसी तरह (द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर) यावत् असंख्यप्रदेशी स्कन्ध तक समझ लेना चाहिए। (निष्कर्ष यह है कि एक परमाणु से असंख्यप्रदेशी स्कन्ध तक किसी भी शस्त्र से छिन्नभिन्न नहीं होता, क्योंकि कोई भी शस्त्र इसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता)।

५. [१] अणंतपदेसिए णं भंते ! खंधे असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?

हंता, ओगाहेज्जा ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तलवार की धार पर या क्षुरधार पर अवगाहन करके रह सकता है ?

[५-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह रह सकता है ।

[२] से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

गोयमा ! अत्थेगइए छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा, अत्थेगइए नो छिज्जेज्ज वा नो भिज्जेज्ज वा ।

[५-२ प्र.] भगवन् ! क्या तलवार की धार को या क्षुरधार को अवगाहित करके रहा हुआ अनन्तप्रदेशी स्कन्ध छिन्न या भिन्न हो जाता है ?

[५-२ उ.] हे गौतम ! कोई अनन्तप्रदेशी स्कन्ध छिन्न या भिन्न हो जाता है, और कोई न छिन्न होता है, न भिन्न होता है ।

६. एवं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं । तहि णवरं 'झियाएज्जा' भाणितव्वं ।

[६] जिस प्रकार छेदन-भेदन के विषय में प्रश्नोत्तर किये गए हैं, उसी तरह से 'अग्निकाय के बीच में प्रवेश करता है'—इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के कहने चाहिए । किन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ उस पाठ में सम्भावित छेदन-भेदन का कथन किया है; वहाँ इस पाठ में 'जलता है' इस प्रकार कहना चाहिए ।

७. एवं पुक्खलसंवट्टगस्स महामेहस्स मज्झंमज्झेणं । तहि 'उल्ले सिया' ।

[७] इसी प्रकार पुष्कर-संवर्त्तक नामक महामेघ के मध्य में (बीचोंबीच) प्रवेश करता है, इस प्रकार के प्रश्नोत्तर (एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के) कहने चाहिए। किन्तु वहाँ सम्भावित 'छिन्न-भिन्न होता है' के स्थान पर यहाँ 'गीला होता—भीग जाता है,' कहना चाहिए।

८. एवं गंगाए महाणदीए पडिसोतं हव्वमागच्छेज्जा। तहिं विणिघायमावज्जेज्जा, उदगावत्तं वा उदगबिंदुं वा ओगाहेज्जा, से णं तत्थ परियावज्जेज्जा।

[८] इसी प्रकार 'गंगा महानदी के प्रतिस्रोत (विपरीत प्रवाह) में वह परमाणुपुद्गल आता है और प्रतिस्खलित होता है।' इस तरह के तथा 'उदकावर्त्त या उदकबिन्दु में प्रवेश करता है, और वहाँ वह (परमाणु आदि) विनष्ट होता है,' (इस तरह के प्रश्नोत्तर एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक के कहने चाहिए।)

विवेचन—परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्रों में परमाणुपुद्गल से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के अवगाहन करके रहने, छिन्न-भिन्न होने, अग्निकाय में प्रवेश करने, उसमें जल जाने, पुष्करसंवर्त्तक महामेघ में प्रवेश करने उसमें भीग जाने, गंगानदी के प्रतिस्रोत में आने तथा उसमें प्रतिस्खलित होने, उदकावर्त्त या उदकबिन्दु में प्रवेश करने और वहाँ विनष्ट होने के सम्बन्ध में प्रश्न उठा कर, अवगाहन करके रहने और छिन्न-भिन्न होने के प्रश्न के उत्तर की तरह ही इन सबके संगत और सम्भावित प्रश्नोत्तरों का अतिदेश किया गया है।[१]

असंख्यप्रदेशी स्कन्ध तक छिन्न-भिन्नता नहीं, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में कादाचित्क छिन्न-भिन्नता—छेदन—दो टुकड़े हो जाने का नाम है और भेदन—विदारण होने या बीच में से चीरे जाने का नाम है। परमाणुपुद्गल से लेकर असंख्यप्रदेशी स्कन्ध तक सूक्ष्मपरिणामवाला होने से उसका छेदन-भेदन नहीं हो पाता, किन्तु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बादर परिणाम वाला होने से वह कदाचित् छेदन-भेदन को प्राप्त हो जाता है, कदाचित् नहीं। इसी प्रकार अग्निकाय में प्रवेश करने तथा जल जाने आदि सभी प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में छेदन-भेदन आदि की तरह ही[२] समझ लेना चाहिए। अर्थात् सभी उत्तरों का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सार्ध, समध्य आदि एवं तद्विपरीत होने के विषय में प्रश्नोत्तर—

९. परमाणुपोग्गले णं भंते! किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे?

गोतमा! अणड्ढे अमज्झे अपदेसे, नो सअड्ढे नो समज्झे नो सपदेसे।

[९ प्र.] भगवन्! क्या परमाणु-पुद्गल सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है?

---

३. वियाहपण्णत्ति सुत्तं, (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा-१, पृ. २१०-२११

४. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३३

[९ उ.] गौतम ! (परमाणुपुद्गल) अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है, किन्तु, सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश नहीं है।

१०. [१] दुपदेसिए णं भंते ! खंधे किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे ? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे ?

गोयमा ! सअड्ढे अमज्झे, सपदेसे, णो अणड्ढे णो समज्झे णो अपदेसे।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-१ उ.] गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्ध, समध्य और अप्रदेश नहीं है।

[२] तिपदेसिए णं भंते ! खंधे ० पुच्छा।

गोयमा ! अणड्ढे समज्झे सपदेसे, नो सअड्ढे णो अमज्झे णो अपदेसे।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है।

[१०-२ उ.] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्ध है, समध्य है और सप्रदेश है; किन्तु सार्ध नहीं है, अमध्य नहीं है, और अप्रदेश नहीं है।

[३] जहा दुपदेसिओ तहा जे समा ते भाणियव्वा। जे विसमा ते जहा तिपएसिओ तहा भाणियव्वा।

[१०-३] जिस प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध के विषय में सार्ध आदि विभाग बतलाए गए हैं, उसी प्रकार समसंख्या (बेकी की संख्या) वाले स्कन्धों के विषय में कहना चाहिए। तथा विषमसंख्या एकी—एक की संख्या) वाले स्कन्धों के विषय में त्रिप्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहे गए अनुसार कहना चाहिए।

[४] संखेज्जपदेसिए णं भंते ! खंधे किं सअड्ढे ६, पुच्छा ?

गोयमा ! सिय सअड्ढे अमज्झे सपदेसे, सिय अणड्ढे समज्झे सपदेसे।

[१०-४ प्र.] भगवन् ! क्या संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-४ उ.] गौतम ! वह कदाचित् सार्ध होता है, अमध्य होता है, और सप्रदेश होता है, और कदाचित् अनर्ध होता है, समध्य होता है और सप्रदेश होता है।

[५] जहा संखेज्जपदेसिओ तहा असंखेज्जपदेसिओ वि अणंतपदेसिओ वि।

[१०-५] जिस प्रकार संख्यातप्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी जान लेना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के सार्ध, समध्य आदि एवं तद्विपरीत होने के विषय में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्रद्वय में परमाणुपुद्गल आदि के सार्ध आदि होने, न होने के विषय में प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

फलित निष्कर्ष—परमाणुपुद्गल अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश, होते हैं। परन्तु जो द्विप्रदेशी जैसे समसंख्या (दो, चार, छह, आठ आदि संख्या) वाले स्कन्ध होते हैं, वे सार्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं, जबकि जो त्रिप्रदेशी जैसे विषम (तीन-पांच, सात, नौ आदि एकी) संख्या वाले स्कन्ध होते हैं वे अनर्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं। इसी प्रकार संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों में जो समसंख्यकप्रदेशी होते हैं, वे सार्ध, अमध्य और सप्रदेशी होते हैं, और जो विषम-संख्यक-प्रदेशी होते हैं, वे अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

सार्ध, समध्य, सप्रदेश, अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश—सग्रड्ढे = सार्ध, जिसका बराबर आधा भाग हो सके, समज्झे—मध्यसहित—जिसका मध्य भाग हो, सप्पदेसे = जो स्कन्ध प्रदेशयुक्त होता है। अणद्धे = जो स्कन्ध अर्धरहित (अनर्द्ध) होता है, अमज्झे = जिस स्कन्ध के मध्य नहीं होता, और अप्रदेश—प्रदेशरहित।[1]

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों की परस्पर स्पर्शप्ररूपणा—

११. [१] परमाणुपोग्गले णं भंते! परमाणुपोग्गलं फुसमाणे किं देसेणं देसं फुसति १? देसेणं देसे फुसति २? देसेणं सव्वं फुसति ३? देसेहिं देसं फुसति ४? देसेहिं देसे फुसति ५? देसेहिं सव्वं फुसति ६? सव्वेणं देसं फुसति ७? सव्वेणं देसे फुसति ८? सव्वेणं सव्वं फुसति ९?

गोयमा! नो देसेणं देसं फुसति, नो देसेणं देसे फुसति, नो देसेणं सव्वं फुसति, णो देसेहिं देसं फुसति, नो देसेहिं देसे फुसति, नो देसेहिं सव्वं फुसति, णो सव्वेणं देसं फुसति, णो सव्वेणं देसे फुसति, सव्वेणं सव्वं फुसति।

[११-१ प्र.] भगवन्! परमाणुपुद्गल, परमाणुपुद्गल को स्पर्श करता हुआ १-क्या एक-देश से एकदेश को स्पर्श करता है?, २-एकदेश से बहुत देशों को स्पर्श करता है?, ३. अथवा एकदेश से सबको स्पर्श करता है?, ४. अथवा बहुत देशों से एकदेश को स्पर्श करता है?, ५. या बहुत देशों से बहुत देशों को स्पर्श करता है?, ६. अथवा बहुत देशों से सभी को स्पर्श करता है?, ७. अथवा सर्व से एकदेश को स्पर्श करता है?, ८. या सर्व से बहुत देशों को स्पर्श करता है?, अथवा ९. सर्व से सर्व को स्पर्श करता है?

[११-१ उ.] गौतम! (परमाणुपुद्गल परमाणपुद्गल को) १. एकदेश से एकदेश को स्पर्श नहीं करता, २. एकदेश से बहुत देशों को स्पर्श नहीं करता, ३. एकदेश से सर्व को स्पर्श नहीं करता, ४. बहुत देशों से एकदेश को स्पर्श नहीं करता, ५. बहुत देशों से बहुत देशों को स्पर्श नहीं करता, ६. बहुत देशों से सभी को स्पर्श नहीं करता, ७. न सर्व से एकदेश को स्पर्श करता है, ८. न सर्व से बहुत देशों को स्पर्श करता है, अपितु ९. सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३३

[२] एवं परमाणुपोग्गले दुपदेसियं फुसमाणे सत्तम-णवमेहिं फुसति।

[११-२] इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करता हुआ परमाणु-पुद्गल सातवें (सर्व से एकदेश का) अथवा नौवें (सर्व से सर्व का), इन दो विकल्पों से स्पर्श करता है।

[३] परमाणुपोग्गले तिपदेसियं फुसमाणे निप्पच्छिमएहिं तिहिं फुसति।

[११-३] त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ परमाणुपुद्गल (उपर्युक्त नौ विकल्पों में से) अन्तिम तीन विकल्पों (सातवें, आठवें और नौवें) से स्पर्श करता है। (अर्थात्-७-सर्व से एकदेश को, ८-सर्व से बहुत देशों को और ९-सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।)

[४] जहा परमाणुपोग्गलो तिपदेसियं फुसाविओ एवं फुसावेयव्वो जाव अणंतपदेसिओ।

[११-४] जिस प्रकार एक परमाणुपुद्गल द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध के स्पर्श करने का आलापक कहा गया है, उसी प्रकार एक परमाणुपुद्गल से चतुष्प्रदेशीस्कन्ध; पंचप्रदेशी स्कन्ध यावत् संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध, असंख्यातप्रदेशीस्कन्ध एवं अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक को स्पर्श करने का आलापक कहना चाहिए। (अर्थात्—एक परमाणुपुद्गल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को तीन विकल्पों से स्पर्श करता है।)

१२. [१] दुपदेसिए णं भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं फुसमाणे० पुच्छा ?

ततिय-नवमेहिं फुसति।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशी स्कन्ध परमाणुपुद्गल को स्पर्श करता हुआ किस प्रकार स्पर्श करता है ?

[१२-१ उ.] हे गौतम ! (द्विप्रदेशीस्कन्ध परमाणुपुद्गल को) तीसरे और नौवें विकल्प से (अर्थात्—एकदेश से सर्व को, तथा सर्व से सर्व को) स्पर्श करता है।

[२] दुपएसिओ दुपदेसियं फुसमाणो पढम-तइय-सत्तम-णवमेहिं फुसति।

[१२-२] द्विप्रदेशीस्कन्ध, द्विप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, सातवें और नौवें विकल्प से स्पर्श करता है।

[३] दुपएसिओ तिपदेसियं फुसमाणो आदिल्लएहि य पच्छिल्लएहि य तिहिं फुसति, मज्झिम-एहिं तिहिं वि पडिसेहेयव्वं।

[१२-३] द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ आदिम तीन (प्रथम, द्वितीय और तृतीय) तथा अन्तिम तीन (सप्तम, अष्टम और नवम) विकल्पों से स्पर्श करता है। इसमें बीच के तीन (चतुर्थ, पंचम और षष्ठ) विकल्पों को छोड़ देना चाहिए।

[४] दुपदेसिओ जहा तिपदेसियं फुसावितो एवं फुसावेयव्वो जाव अणंतपदेसियं।

[१२-४] जिस प्रकार द्विप्रदेशीस्कन्ध द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध के स्पर्श का आलापक कहा गया है, उसी प्रकार द्विप्रदेशीस्कन्ध द्वारा चतुष्प्रदेशीस्कन्ध, पंचप्रदेशीस्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श का आलापक कहना चाहिए।

१३. [१] तिपदेसिए णं भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं फुसमाणे० पुच्छा।

ततिय-छट्ठ-नवमेहिं फुसति।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! अब त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा परमाणुपुद्गल को स्पर्श करने के सम्बन्ध में पृच्छा है।

[१३-१ उ.] गौतम ! त्रिप्रदेशीस्कन्ध परमाणुपुद्गल को तीसरे, छठे और नौवें विकल्प से; (अर्थात्—एकदेश से सर्व को, बहुत देशों से सर्व को और सर्व से सर्व को) स्पर्श करता है।

[२] तिपदेसिओ दुपदेसियं फुसमाणो पढमएणं ततियएणं चउत्थ-छट्ठ-सत्तम-णवमेहिं फुसति।

[१३-२] त्रिप्रदेशी स्कन्ध, द्विप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, चौथे, छठे, सातवें और नौवें विकल्प से स्पर्श करता है।

[३] तिपदेसिओ तिपदेसियं फुसमाणो सव्वेसु वि ठाणेसु फुसति।

[१३-३] त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ त्रिप्रदेशीस्कन्ध पूर्वोक्त सभी स्थानों (नौ ही विकल्पों) से स्पर्श करता है।

[४] जहा तिपदेसिओ तिपदेसियं फुसावितो एवं तिपदेसिओ जाव अणंतपएसिएणं संजोएयव्वो।

[१३-४] जिस प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करने के सम्बन्ध में आलापक कहा गया है, उसी प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा चतुष्प्रदेशी स्कन्ध, यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करने के सम्बन्ध में आलापक कहना चाहिए।

[५] जहा तिपदेसिओ एवं जाव अणंतपएसिओ भाणियव्वो।

[१३-५] जिस प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध के द्वारा स्पर्श के सम्बन्ध में (तेरहवें सूत्र के चार भागों में) कहा गया है, वैसे ही (चतुष्प्रदेशी स्कन्ध से) यावत् (अनन्तप्रदेशीस्कन्ध द्वारा परमाणु-पुद्गल से लेकर) अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक को स्पर्श करने के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशीस्कन्ध आदि की परस्पर स्पर्श-सम्बन्धी प्ररूपणा— प्रस्तुत तीन सूत्रों द्वारा परमाणुपुद्गल से लेकर द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशीस्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के परस्पर स्पर्श की प्ररूपणा नौ विकल्पों में से अमुक विकल्पों द्वारा की गई है।

स्पर्श के नौ विकल्प—(१) एकदेश से एकदेश का स्पर्श, (२) एकदेश से बहुत देशों का स्पर्श, (३) एकदेश से सर्व का स्पर्श, (४) बहुत देशों से एक देश का स्पर्श, (५) बहुत देशों से बहुत देशों

का स्पर्श, (६) बहुत देशों से सर्व का स्पर्श, (७) सर्व से एकदेश का स्पर्श (८) सर्व से बहुत देशों का स्पर्श और (९) सर्व से सर्व का स्पर्श। देश का अर्थ यहाँ भाग है, और 'सर्व' का अर्थ है—सम्पूर्ण भाग।

सर्व से सर्व के स्पर्श की व्याख्या—सर्व से सर्व को स्पर्श करने का अर्थ यह नहीं है कि दो परमाणु परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह है कि दो परमाणु समस्त स्वात्मा द्वारा परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते हैं, क्योंकि दो परमाणुओं में आधा आदि विभाग नहीं होते।

द्विप्रदेशी और त्रिप्रदेशी स्कन्ध में अन्तर—द्विप्रदेशीस्कन्ध स्वयं अवयवी है, वह किसी का अवयव नहीं है; इसलिए इसमें सर्व से दो (बहुत) देशों का स्पर्श घटित नहीं होता, जबकि त्रिप्रदेशी-स्कन्ध में तीन प्रदेशों की अपेक्षा दो प्रदेशों का स्पर्श करते समय एक प्रदेश बाकी रहता है।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्गलों का काल की अपेक्षा से निरूपण—

१४. [१] परमाणुपोग्गले णं भंते ! कालतो केवच्चिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! परमाणुपुद्गल काल की अपेक्षा कब तक रहता है ?

[१४-१ उ.] गौतम ! परमाणुपुद्गल (परमाणुपुद्गल के रूप में) जघन्य (कम से कम) एक समय तक रहता है, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असंख्यकाल तक रहता है।

[२] एवं जाव अणंतपदेसिओ।

[१४-२] इसी प्रकार (द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक कहना चाहिए।

१५. [१] एगपदेसोगाढे णं भंते ! पोग्गले सेए तम्मि वा ठाणे अन्नम्मि वा ठाणे कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! एक आकाश-प्रदेशावगाढ़ (एक आकाशप्रदेश में स्थित) पुद्गल उस (स्व)स्थान में या अन्य स्थान में काल की अपेक्षा से कब तक सकम्प (सैज) रहता है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! (एकप्रदेशावगाढ़ पुद्गल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्येय भाग तक (उभय स्थानों में) सकम्प रहता है।

[२] एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढे।

[१५-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ़ से लेकर) यावत् असंख्येय प्रदेशावगाढ़ तक कहना चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३४

[३] एगपदेसोगाढे णं भंते ! पोग्गले निरेए कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[१५-३ प्र.] भगवन् ! एक आकाशप्रदेश में अवगाढ़ पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक निष्कम्प (निरेज) रहता है ?

[१५-३ उ.] गौतम ! (एक-प्रदेशावगाढ़ पुद्गल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असंख्येय काल तक निष्कम्प रहता है ।

[४] एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढे ।

[१५-४] इसी प्रकार (द्विप्रदेशावगाढ़ से लेकर) यावत् असंख्येय प्रदेशावगाढ़ तक (के विषय में कहना चाहिए ।)

१६. [१] एगगुणकालए णं भंते ! पोग्गले कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! एकगुण काला पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक (एकगुण काला) रहता है ?

[१६-१ उ.] गौतम ! जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः असंख्येयकाल तक (एक-गुण काला पुद्गल रहता है ।)

[२] एवं जाव अणंतगुणकालए ।

[१६-२] इसी प्रकार (द्विगुणकाले पुद्गल से लेकर) यावत् अनन्तगुणकाले पुद्गल का (पूर्वोक्त प्रकार से) कथन करना चाहिए ।

१७. एवं वण्ण-गंध-रस-फास० जाव अणंतगुणलुक्खे ।

[१७] इसी प्रकार (एक गुण) वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले पुद्गल के विषय में यावत् अनन्तगुण रूक्ष पुद्गल तक पूर्वोक्त प्रकार से काल की अपेक्षा से कथन करना चाहिए ।

१८. एवं सुहुमपरिणए पोग्गले ।

[१८] इसी प्रकार सूक्ष्म-परिणत (सूक्ष्म-परिणामी) पुद्गल के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

१९. एवं बादरपरिणए पोग्गले ।

[१९] इसी प्रकार बादर-परिणत (स्थूल परिणाम वाले) पुद्गल के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

२०. सद्दपरिणते णं भंते ! पुग्गले कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ।

[२० प्र.) भगवन् ! शब्दपरिणत पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक (शब्दपरिणत) रहता है ?

[२० उ.] गौतम ! शब्दपरिणतपुद्गल जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्येय भाग तक रहता है।

२१. असद्दपरिणते जहा एगगुणकालए।

[२१] जिस प्रकार एकगुण काले पुद्गल के विषय में कहा है, उसी तरह अशब्दपरिणत पुद्गल (की कालावधि) के विषय में (कहना चाहिए।)

विवेचन—द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्गलों का काल की अपेक्षा से निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने द्रव्यगत, क्षेत्रगत, एवं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शभावगत पुद्गलों का काल की अपेक्षा से निरूपण किया है।

द्रव्य-क्षेत्र-भावगतपुद्गल—प्रस्तुत सूत्रों में 'परमाणुपुद्गल' का उल्लेख करके द्रव्यगत पुद्गल की ओर, एकप्रदेशावगाढ़ आदि कथन करके क्षेत्रगतपुद्गल की ओर, तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श गुणयुक्त, शब्दपरिणत-अशब्दपरिणत, सकम्प-निष्कम्प, एकगुणकृष्ण इत्यादि कथन से भावगत पुद्गल की ओर संकेत किया है। तथा इन सब प्रकार के विशिष्ट पुद्गलों का कालसम्बन्धी अर्थात् पुद्गलों की संस्थितिसम्बन्धी निरूपण है। कोई भी पुद्गल 'अनन्तप्रदेशावगाढ़' नहीं होता, वह उत्कृष्ट असंख्येयप्रदेशावगाढ़ होता है, क्योंकि पुद्गल लोकाकाश में ही रहते हैं और लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही हैं। इसी तरह परमाणुपुद्गल उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक रहता है, उसके पश्चात् पुद्गलों की एकरूप स्थिति नहीं रहती।[1]

विविध पुद्गलों का अन्तरकाल—

२२. परमाणुपोग्गलस्स णं भंते अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[२२ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल का काल की अपेक्षा से कितना लम्बा अन्तर होता है ? (अर्थात्—जो पुद्गल अभी परमाणुरूप है उसे अपना परमाणुपन छोड़कर, स्कन्धादिरूप में परिणत होने पर, पुनः परमाणुपन प्राप्त करने में कितने लम्बे काल का अन्तर होता है ?)

[२२ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्येय काल का अन्तर होता है।

२३. [१] दुप्पदेसियस्स णं भंते ! खंधस्स अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध का काल की अपेक्षा से कितना लम्बा अन्तर होता है ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३५

[२३-१ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्टतः अनन्तकाल का अन्तर होता है ?

[२] एवं जाव अणंतपदेसिओ ।

[२३-२] इसी तरह (त्रिप्रदेशिकस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशिकस्कन्ध तक कहना चाहिए ।

२४. [१] एगपदेसोगाढस्स णं भंते ! पोग्गलस्स सेयस्स अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[२४-१ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ़ सकम्प पुद्गल का अन्तर कितने काल का होता है ? (अर्थात्—एक आकाश-प्रदेश में स्थित सकम्प पुद्गल अपना कम्पन वंद करे, तो उसे पुनः कम्पन करने में—सकम्प होने में—कितना समय लगता है ?)

[२४-१ उ.] हे गौतम ! जघन्यतः एक समय का, और उत्कृष्टतः असंख्येयकाल का अन्तर होता है । (अर्थात्—वह पुद्गल जब कम्पन करता रुक जाए—अकम्प अवस्था को प्राप्त हो और फिर कम्पन प्रारम्भ करे—सकम्प बने तो उसका अन्तर कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल का है ।)

[२] एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढे ।

[२४-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ़ सकम्प पुद्गल से लेकर) यावत् असंख्यप्रदेशावगाढ़ तक का अन्तर कहना चाहिए ।

२५. [१] एगपदेसोगाढस्स णं भंते ! पोग्गलस्स निरेयस्स अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ निष्कम्प पुद्गल का अन्तर कालतः कितने काल का होता है ?

[२५-१ उ.] गौतम ! जघन्यतः एक समय का और उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्येय भाग का अन्तर होता है ।

[२] एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे ।

[२५-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ निष्कम्प पुद्गल से लेकर) यावत् असंख्येयप्रदेशावगाढ तक कहना चाहिए ।

२६. वण्ण-गंध-रस-फास-सुहुमपरिणय-वादरपरिणयाणं एतेसिं ज च्चेव संचिट्ठणा तं चेव अंतरं पि भाणियव्वं ।

[२६] वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगत, सूक्ष्म-परिणत एवं वादरपरिणत पुद्गलों का जो संस्थितिकाल (संचिट्ठणाकाल) कहा गया है, वही उनका अन्तरकाल समझना चाहिए ।

२७. सद्दपरिणयस्स णं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[२७ प्र.] भगवन् ! शब्दपरिणत पुद्गल का अन्तर काल की अपेक्षा कितने काल का होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय का, उत्कृष्टतः असंख्येय काल का अन्तर होता है।

२८. असद्दपरिणयस्स णं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

[२८ प्र.] भगवन् ! अशब्दपरिणत पुद्गल का अन्तर कालतः कितने काल का होता है ?

[२८ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय का और उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्येय भाग का अन्तर होता है।

विवेचन—विविध पुद्गलों का अन्तर-काल—प्रस्तुत सात (सू. २२ से २८ तक) सूत्रों में परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी तक के सामान्य अन्तर-काल तथा सकम्प, निष्कम्प वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-सूक्ष्म-बादरपरिणत एवं शब्दपरिणत-अशब्दपरिणत के विशिष्ट अन्तर काल का निरूपण किया गया है।

अन्तरकाल की व्याख्या—एक विशिष्ट पुद्गल अपना वह वैशिष्ट्य छोड़ कर दूसरे रूप में परिणत हो जाने पर फिर वापस उसी भूतपूर्व विशिष्टरूप को जितने काल बाद प्राप्त करता है, उसे ही अन्तरकाल कहते हैं।[1]

क्षेत्रादि-स्थानायु का अल्प-बहुत्व—

२९. एयस्स णं भंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स खेत्तट्ठाणाउयस्स ओगाहणट्ठाणाउयस्स भावट्ठाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तट्ठाणाउए, ओगाहणट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, दव्वट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, भावट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे।

खेत्तोगाहण-दव्वे भावट्ठाणाउयं च अप्पबहुं।
खेत्ते सव्वत्थोवे सेसा ठाणा असंखगुणा ॥१॥

[२९ प्र.] भगवन् ! इन द्रव्यस्थानायु, क्षेत्रस्थानायु, अवगाहनास्थानायु और भावस्थानायु; इन सबमें कौन किससे कम, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक है ?

[२९ उ.] गौतम ! सबसे कम क्षेत्रस्थानायु है, उससे अवगाहनास्थानायु असंख्येयगुणा है, उससे द्रव्य-स्थानायु असंख्येयगुणा है और उससे भावस्थानायु असंख्येयगुणा है।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३५

गाथा का भावार्थ—क्षेत्रस्थानायु, अवगाहना-स्थानायु, द्रव्यस्थानायु और भावस्थानायु; इनका अल्प-वहुत्व कहना चाहिए। इनमें क्षेत्रस्थानायु सबसे अल्प है, शेष तीन स्थानायु क्रमश: असंख्येयगुणा हैं।

विवेचन—क्षेत्रादिस्थानायु का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत सूत्र और तदनुरूप गाथा में क्षेत्र, अवगाहना, द्रव्य और भावरूप स्थानायु के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

द्रव्य-स्थानायु आदि का स्वरूप—पुद्गल द्रव्य का स्थान—यानी परमाणु, द्विप्रदेशिकादि स्कन्ध आदि रूप में अवस्थान की आयु अर्थात् स्थिति (रहना) द्रव्यस्थानायु है। एकप्रदेशादि क्षेत्र में पुद्गलों के अवस्थान को क्षेत्रस्थानायु कहते हैं। इसी प्रकार पुद्गलों के आधार-स्थलरूप एक प्रकार का आकार अवगाहना है; इस अवगाहित किये हुए परिमित क्षेत्र में पुद्गलों का रहना अवगाहना-स्थानायु कहलाता है। द्रव्य के विभिन्न रूपों में परिवर्तित होने पर भी द्रव्य के आश्रित गुणों का जो अवस्थान रहता है, उसे भावस्थानायु कहते हैं।[1]

द्रव्यस्थानायु आदि के अल्प-बहुत्व का रहस्य—द्रव्यस्थानायु आदि चारों में क्षेत्र अमूर्तिक होने से तथा उसके साथ पुद्गलों के बंध का कारण 'स्निग्धत्व' न होने से पुद्गलों का क्षेत्रावस्थान-काल (अर्थात्—क्षेत्रस्थानायु) सबसे थोड़ा बताया गया है। एक क्षेत्र में रहा हुआ पुद्गल दूसरे क्षेत्र में चला जाता है, तब भी उसकी अवगाहना वही रहती है, इसलिए क्षेत्रस्थानायु की अपेक्षा अवगाहनास्थानायु असंख्यगुणा है। संकोच-विकासरूप अवगाहना की निवृत्ति हो जाने पर भी द्रव्य दीर्घकाल तक रहता है; इसलिए अवगाहना-स्थानायु की अपेक्षा द्रव्यस्थानायु असंख्यगुणा है। द्रव्य की निवृत्ति, या अन्यरूप में परिणति होने पर द्रव्य में बहुत से गुणों की स्थिति चिरकाल तक रहती है, सब गुणों का नाश नहीं होता; अनेक गुण अवस्थित रहते हैं, इसलिए द्रव्यस्थानायु की अपेक्षा भावस्थानायु असंख्यगुणा है।[2]

चौवीस दण्डकों के जीवों के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा—

३०. [१] नेरइया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा ? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा ?

गोयमा ! नेरइया सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा णो अपरिग्गहा।

[३०-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक आरम्भ और परिग्रह से सहित होते हैं, अथवा अनारम्भी एवं अपरिग्रही होते हैं ?

[३०-१ उ.] गौतम ! नैरयिक सारम्भ एवं सपरिग्रह होते हैं, किन्तु अनारम्भी एवं अपरिग्रही नहीं होते।

[२] से केणट्ठेणं जाव अपरिग्गहा ?

गोयमा ! नेरइया णं पुढविकायं समारंभंति जाव तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, सचित्त-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं तं चेव।

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २३६ (ख) भगवती० हिंदी विवेचन, भा. २, पृ. ८८३-८८४

२. (क) भगवती अ. वृत्ति. पत्रांक, २३६-२३७ (ख) भगवती० हिन्दी विवेचन, भा. २, पृ. ८८४

(ग) 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः'—तत्त्वार्थसूत्र अ. ५, सू. ३२

[३०-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से वे आरम्भयुक्त एवं परिग्रह-सहित होते हैं, किन्तु अनारम्भी एवं अपरिग्रही नहीं होते ।

[३०-२ उ.] गौतम ! नैरयिक पृथ्वीकाय का समारम्भ करते हैं, यावत् त्रसकाय का समारम्भ करते हैं, (इसलिए वे आरम्भयुक्त हैं) तथा उन्होंने शरीर परिगृहीत किये (ममत्वरूप से ग्रहण किये—अपनाए) हुए हैं, कर्म (ज्ञानावरणीयादिकर्मवर्गणा के पुद्गलरूप द्रव्यकर्म तथा रागद्वेषादि-रूप भावकर्म) परिगृहीत किये हुए हैं, और, सचित्त अचित्त एवं मिश्र द्रव्य परिगृहीत किये (ममत्त्वपूर्वक ग्रहण किये) हुए हैं, इस कारण से हे गौतम ! नैरयिक परिग्रहसहित हैं, किन्तु अनारम्भी और अपरिग्रही नहीं हैं ।

३१. [१] असुरकुमारा णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा ? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा ?

गोयमा ! असुरकुमारा सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा ।

[३१-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार क्या आरम्भयुक्त एवं परिग्रह-सहित होते हैं, अथवा अनारम्भी एवं अपरिग्रही होते हैं ?

[३१-१ उ.] गौतम ! असुरकुमार भी सारम्भ एवं सपरिग्रह होते हैं, किन्तु अनारम्भी एवं अपरिग्रही नहीं होते ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! असुरकुमारा णं पुढविकायं समारंभंति जाव तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, भवणा परि० भवंति, देवा देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ परिग्गहियाओ भवंति, आसण-सयण-भंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति, सचित्त-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं तहेव ।

[३१-२ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार किस कारण से सारम्भ एवं सपरिग्रह होते हैं, किन्तु अनारम्भी एवं अपरिग्रही नहीं होते ?

[३१-२ उ.] गौतम ! असुरकुमार पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक का समारम्भ करते हैं, तथा उन्होंने शरीर परिगृहीत किये हुए हैं, कर्म परिगृहीत किये हुए हैं, भवन परिगृहीत (ममत्वपूर्वक ग्रहण) किये हुए हैं, वे देव-देवियों, मनुष्य पुरुष-स्त्रियों, तिर्यञ्च नर-मादाओं को परिगृहीत किये हुए हैं, तथा वे आसन, शयन, भाण्ड (मिट्टी के बर्तन या अन्य सामान) मात्रक (वर्तन—कांसी आदि धातुओं के पात्र), एवं विविध उपकरण (कड़ाही, कुड़छी आदि) परिगृहीत किये (ममतापूर्वक संग्रह किये) हुए हैं; एवं सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्य परिगृहीत किये हुए हैं । इस कारण से वे आरम्भ-युक्त एवं परिग्रहसहित हैं, किन्तु अनारम्भी और अपरिग्रही नहीं हैं ।

[३] एवं जाव थणियकुमारा ।

[३१-३] इसी प्रकार (नागकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए ।

३२. एगिंदिया जहा नेरइया ।

[३२] जिस तरह नैरयिकों के (सारम्भ-सपरिग्रह होने के) विषय में कहा है, उसी तरह (पृथ्वीकायादि) एकेन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए।

३३. [१] वेइंदिया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा० ?

तं चेव जाव सरीरा परिग्गहिया भवंति, बाहरिया भंडमत्तोवगरणा परि० भवंति, सचित्त-अचित्त० जाव भवंति।

[३३-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव क्या सारम्भ-सपरिग्रह होते हैं, अथवा अनारम्भी एवं अपरिग्रही होते हैं ?

[३३-१ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीव भी आरम्भ-परिग्रह से युक्त हैं, वे अनारम्भी-अपरिगृही नहीं हैं; इसका कारण भी वही पूर्वोक्त है। (वे षट्काय का आरम्भ करते हैं) तथा यावत् उन्होंने शरीर परिगृहीत किये हुए हैं, उनके बाह्य भाण्ड (मिट्टी के वर्तन), मात्रक (कांसे आदि धातुओं के पात्र) तथा विविध उपकरण परिगृहीत किये हुए होते हैं; एवं सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्य भी परिगृहीत किये हुए होते हैं। इसलिए वे यावत् अनारम्भी, अपरिग्रही नहीं होते।

[२] एवं जाव चउरिंदिया।

[३३-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में कहना चाहिए।

३४. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ?

तं चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति, टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति, जल-थल-बिल-गुह-लेणा परिग्गहिया भवंति, उज्झर-निज्झर-चिल्लल-पल्लल-वप्पिणा परिग्गहिया भवंति, अगड-तडाग-दह-नदीओ वावि-पुक्खरिणी-दीहिया गुंजालिया सरा सरपंतियाओ सरसर-पंतियाओ बिलपंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति, आराम-उज्जाणा काणणा वणाइं वणसंडाइं वणराईओ परिग्गहियाओ भवंति, देवउल-सभा-पवा-थूभा खातिय-परिखाओ परिग्गहियाओ भवंति, पागा-रऽट्टालग-चरिया-दार-गोपुरा परिग्गहिया भवंति, पासाद-घर-सरण-लेण-आवणा परिग्गहिता भवंति, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहा परिग्गहिया भवंति, सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियाओ परिग्गहियाओ भवंति, लोही-लोहकडाह-कडच्छुया परिग्गहिया भवंति. भवणा परिग्गहिया भवंति, देवा देवीओ मणुस्सा चित्ताचित्त मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजो-णिणीओ आसण-सयण-खंभ-भंड-सचित्ताचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं०।

[३४ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव क्या आरम्भ-परिग्रहयुक्त हैं, अथवा आरम्भ-परिग्रहरहित हैं ?

[३४ उ.] गौतम ! पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव, आरम्भ-परिग्रह-युक्त हैं, किन्तु आरम्भ-परिग्रहरहित नहीं है; क्योंकि उन्होंने शरीर यावत् कर्म परिगृहीत किये हैं। तथा उनके टंक (पर्वत से विच्छिन्न टुकड़ा), कूट (शिखर अथवा उनके हाथी आदि को बांधने के स्थान), शैल (मुण्ड-

पर्वत), शिखरी (चोटी वाले पर्वत), एवं प्राग्भार (थोड़े से झुके पर्वत के प्रदेश) परिगृहीत (ममतापूर्वक ग्रहण किये हुए) होते हैं। इसी प्रकार जल, स्थल, बिल, गुफा, लयन (पहाड़ खोद कर बनाए हुए पर्वतगृह) भी परिगृहीत होते हैं। उनके द्वारा उज्झर (पर्वततट से नीचे गिरने वाला जलप्रपात), निर्झर (पर्वत से बहने वाला जलस्रोत—झरना), चिल्लल (कीचड़ मिला हुआ पानी या जलाशय), पल्लल (प्रल्हाददायक जलाशय) तथा वप्रीग (क्यारियों वाला जलस्थान अथवा तटप्रदेश) परिगृहीत होते हैं। उनके द्वारा कूप, तड़ाग (तालाब), द्रह (झील या जलाशय), नदी, वापी (चोकोन बावड़ी), पुष्करिणी (गोल बावड़ी या कमलों से युक्त बावड़ी), दीर्घिका (हौज या लम्बी बावड़ी), सरोवर, सर-पंक्ति (सरोवरश्रेणी), सरसरपंक्ति (एक सरोवर से दूसरे सरोवर में पानी जाने का नाला), एवं बिलपंक्ति (बिलों की श्रेणी) परिगृहीत होते हैं। तथा आराम (लतामण्डप आदि से सुशोभित परिवार के आमोद-प्रमोद का स्थान), उद्यान (सार्वजनिक बगीचा), कानन (सामान्य वृक्षों से युक्त ग्राम के निकट-वर्ती वन), वन (गाँव से दूर स्थित जंगल), वनखण्ड (एक ही जाति के वृक्षों से युक्त वन), वनराजि (वृक्षों की पंक्ति), ये सब परिगृहीत किये हुए होते हैं। फिर देवकुल (देवमन्दिर), सभा, आश्रम, प्रपा (प्याऊ), स्तूभ (खम्भा या स्तूप), खाई, परिखा (ऊपर और नीचे समान खोदी हुई खाई), ये भी परिगृहीत की होती हैं; तथा प्राकार (किला), अट्टालक (अटारी), या किले पर बनाया हुआ मकान अथवा झरोखा), चरिका (घर और किले के बीच में हाथी आदि के जाने का मार्ग), द्वार, गोपुर (नगरद्वार), ये सब परिगृहीत किये होते हैं। इनके द्वारा प्रासाद (देवभवन या राजमहल), घर, सरण (झोंपड़ा), लयन (पर्वतगृह), आपण (दुकान) परिगृहीत किये जाते हैं। शृंगाटक (सिंघाड़े के आकार का △ त्रिकोण मार्ग), त्रिक (तीन मार्ग मिलते हैं; ऐसा स्थान), चतुष्क (चौक—जहाँ चार मार्ग □ मिलते हैं); चत्वर (जहाँ सब मार्ग मिलते हों ऐसा स्थान, या आंगन), चतुर्मुख (चार द्वारों वाला मकान या देवालय), महापथ (राजमार्ग या चौड़ी सड़क) परिग्रहीत होते हैं। शकट (गाड़ी), रथ, यान (सवारी या वाहन), युग्य (युगल हाथ प्रमाण एक प्रकार की पालखी), गिल्ली (अम्वाड़ी), थिल्ली (घोड़े का पलान-काठी), शिविका (पालखी या डोली), स्यन्दमानिका (म्याना या सुखपालकी) आदि परिगृहीत किये होते हैं। लौही (लोहे की दाल-भात पकाने की देगची या बटलोई), लोहे की कड़ाही, कुड़छी आदि चीजें परिग्रहरूप में गृहीत होती हैं। इनके द्वारा भवन (भवनपति देवों के निवासस्थान) भी परिगृहीत होते हैं। (इनके अतिरिक्त) देवदेवियाँ, मनुष्यनर-नारियाँ, एवं तिर्यंच नर-मादाएँ, आसन, शयन, खण्ड (टुकड़ा), भाण्ड (बर्तन या किराने का सामान) एवं सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य परिगृहीत होते हैं। इस कारण से ये पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, किन्तु अनारम्भी—अपरिग्रही नहीं होते।

३५. जहा तिरिक्खजोणिया तहा मणुस्सा वि भाणियव्वा।

[३५] जिस प्रकार तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय जीवों के (सारम्भ सपरिग्रह होने के) विषय में कहा, उसी प्रकार मनुष्यों के विषय में भी कहना चाहिए।

३६. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा भवणवासी तहा नेयव्वा।

[३६] जिस प्रकार भवनवासी देवों के विषय में कहा, वैसे ही वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के (आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने के) विषय में (सहेतुक) कहना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकों के जीवों के आरम्भपरिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा— प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ३० से ३६ तक) में नारकों से लेकर वैमानिक तक चौवीस ही दण्डकों के जीवों के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने की कारणसहित प्ररूपणा विविध प्रश्नोत्तरों द्वारा की गई है।

आरम्भ और परिग्रह का स्वरूप—आरम्भ का अर्थ है—वह प्रवृत्ति जिससे किसी भी जीव का उपमर्दन—प्राणहनन होता हो। और परिग्रह का अर्थ है—किसी भी वस्तु या भाव का ममता-मूर्च्छापूर्वक ग्रहण या संग्रह। यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीव आरम्भ करते या परिग्रहयुक्त होते दिखाई नहीं देते, तथापि जब तक जीव द्वारा मन-वचन-काया से—स्वेच्छा से आरम्भ एवं परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं किया जाता, तब तक आरम्भ और परिग्रह का दोष लगता ही है, इसलिए उन्हें आरम्भ-परिग्रहयुक्त कहा गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राणियों के भी सिद्धान्तानुसार शरीर, कर्म एवं कुछ सम्बन्धित उपकरणों का परिग्रह होता है, और उनके द्वारा अपने खाद्य, शरीररक्षा आदि कारणों से आरम्भ भी होता है। तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों, मनुष्यों, नारकों, तथा समस्त प्रकार के देवों के द्वारा आरम्भ और परिग्रह में लिप्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि मनुष्यों में वीतराग पुरुष, केवली, तथा निर्ग्रन्थ साधुसाध्वी आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होते हैं, किन्तु यहाँ समग्र मनुष्यजाति की अपेक्षा से मनुष्य को सारम्भ-सपरिग्रह बताया गया है।[1]

विविध अपेक्षाओं से पांच हेतु-अहेतुओं का निरूपण—

३७. पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुं जाणति, हेतुं पासति, हेतुं बुज्झति, हेतुं अभिसमागच्छति, हेतुं छउमत्थमरणं मरति।

[३७] पाँच हेतु कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) हेतु को जानता है, (२) हेतु को देखता (सामान्यरूप से जानता) है, (३) हेतु का बोध प्राप्त करता—तात्त्विक श्रद्धान करता है, (४) हेतु का अभिसमागम—अभिमुख होकर सम्यक् रूप से प्राप्त—करता है, और (५) हेतुयुक्त छद्मस्थमरणपूर्वक मरता है।

३८. पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुणा जाणति जाव हेतुणा छउमत्थमरणं मरति।

[३८] पाँच हेतु (प्रकारान्तर से) कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) हेतु (अनुमान) द्वारा (अनुमेय को) सम्यक् जानता है, (२) हेतु (अनुमान) से देखता (सामान्य ज्ञान करता) है; (३) हेतु द्वारा (वस्तु-तत्त्व को सम्यक् जानकर) श्रद्धा करता है, (४) हेतु द्वारा सम्यक्तया प्राप्त करता है, और (५) हेतु (अध्यवसायादि) से छद्मस्थमरण मरता है।

३९. पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुं न जाणइ जाव हेतुं अण्णाणमरणं मरति।

[३९] पाँच हेतु (मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से) कहे गए हैं। यथा—(१) हेतु को नहीं जानता, (२) हेतु को नहीं देखता (३) हेतु की बोधप्राप्ति (श्रद्धा) नहीं करता, (४) हेतु को प्राप्त नहीं करता, और (५) हेतुयुक्त अज्ञानमरण मरता है।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३८

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २१६ से २१८ तक

४०. पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुणा ण जाणति जाव हेतुणा अण्णाणमरणं मरति ।

[४०] पाँच हेतु कहे गए हैं । यथा—(१) हेतु से नहीं जानता, यावत् (५) हेतु से अज्ञान-मरण मरता है ।

४१. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं जाणइ जाव अहेउं केवलिमरणं मरति ।

[४१] पांच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु को जानता है; यावत् (५) अहेतुयुक्त केवलि-मरण मरता है ।

४२. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा जाणइ जाव अहेउणा केवलिमरणं मरइ ।

[४२] पांच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु द्वारा जानता है, यावत् (५) अहेतु द्वारा केवलि-मरण मरता है ।

४३. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं न जाणइ जाव अहेउं छउमत्थमरणं मरइ ।

[४३] पांच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु को नहीं जानता, यावत् (५) अहेतुयुक्त छद्मस्थ-मरण मरता है ।

४४. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा न जाणइ जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचमसए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ।।

[४४] पांच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु से नहीं जानता, यावत् (५) अहेतु से छद्मस्थ-मरण मरता है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् श्री-गौतमस्वामी विचरण करते हैं ।

विवेचन—विविध अपेक्षाओं से पांच हेतु-अहेतुओं का निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. ३७ से ४४) द्वारा शास्त्रकार ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से, तथा विभिन्न क्रियाओं की अपेक्षा से पांच प्रकार के हेतुओं और पांच प्रकार के अहेतुओं का तात्त्विक निरूपण किया है ।

हेतु-अहेतु विषयक सूत्रों का रहस्य—प्रस्तुत आठ सूत्र; हेतु को, हेतु द्वारा; अहेतु को, अहेतु द्वारा इत्यादि रूप से कहे गए हैं । इनमें से प्रारम्भ के चार सूत्र छद्मस्थ की अपेक्षा से और बाद के ४ सूत्र केवली की अपेक्षा से कहे गए हैं । पहले के चार सूत्रों में से पहला-दूसरा सूत्र सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ की अपेक्षा से और तीसरा-चौथा सूत्र मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ की अपेक्षा से है । इन दो-दो सूत्रों में अन्तर यह है कि प्रथम दो प्रकार के व्यक्ति छद्मस्थ होने से साध्य का निश्चय करने के लिए साध्य से अविनाभूत कारण—हेतु को अथवा हेतु से सम्यक् जानते हैं, देखते हैं, श्रद्धा करते हैं, साध्यसिद्धि के लिए सम्यक् हेतु प्रयोग करके वस्तुतत्त्व प्राप्त करते हैं, और सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ का मरण हेतुपूर्वक या हेतु से समझ कर होता है, अज्ञानमरण नहीं होता; जबकि आगे के दो

सूत्रों में मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ हेतु को सम्यक्तया नहीं जानता-देखता, न ही सम्यक् श्रद्धा करता है, न वह हेतु का सम्यक् प्रयोग करके वस्तुतत्त्व को प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ होने के नाते सम्यग्ज्ञान न होने से अज्ञानमरणपूर्वक मरता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ हेतु द्वारा सम्यक् ज्ञान और दर्शन नहीं कर पाता, न ही हेतु से सम्यक् श्रद्धा करता है, न हेतु के प्रयोग से वस्तुतत्त्व का निश्चय कर पाता है, तथा हेतु का प्रयोग गलत करने से अज्ञानमरणपूर्वक ही मृत्यु प्राप्त करता है। इसके पश्चात्—पिछले चार सूत्रों में से दो सूत्रों में केवलज्ञानी की अपेक्षा से कहा गया है कि केवलज्ञानियों को सकलप्रत्यक्ष होने से उन्हें हेतु की अथवा हेतु द्वारा जानने (अनुमान करने) की आवश्यकता नहीं रहती। केवलज्ञानी स्वयं 'अहेतु' कहलाते हैं। अतः अहेतु से ही वे जानते-देखते हैं, अहेतुप्रयोग से ही वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, इसलिए पूर्ण श्रद्धा करते हैं, वस्तुतत्त्व का निश्चय भी अहेतु से करते हैं, और अहेतु से यानी विना किसी उपक्रम—हेतु से नहीं मरते, वे निरुपक्रमी होने से किसी भी निमित्त से मृत्यु नहीं पाते। इसलिए अहेतु केवलिमरण है उनका।

सातवां और आठवां सूत्र अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानी छद्मस्थ की अपेक्षा से है—वे अहेतु व्यवहार करने वाले जीव सर्वथा अहेतु से नहीं जानते, अपितु कथंचित् जानते हैं, कथंचित् नहीं—जानते-देखते। अध्यवसानादि उपक्रमकारण न होने से अहेतुमरण, किन्तु छद्मस्थमरण (केवलिमरण नहीं) होता है।[१]

इन आठ सूत्रों के विषय में वृत्तिकार अभयदेवसूरि स्वयं कहते हैं—कि "हमने अपनी समझ के अनुसार इन हेतुओं का शब्दशः अर्थ कर दिया है, इनका वास्तविक भावार्थ बहुश्रुत ही जानते हैं।"

॥ पंचम शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३९

(ख) 'गमनिकामात्रमेवेदम् अष्टानामपि सूत्राणाम्, भावार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति।'

—भ. अ. वृत्ति, पत्रांक २३९

अट्ठमो उद्देसओ : नियंठ

अष्टम उद्देशक : निर्ग्रन्थ

पुद्गलों की द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता आदि के सम्बन्ध में निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र की चर्चा—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव परिसा पडिगता। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी नारयपुत्ते नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव[1] विहरति।

[१] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर पधारे। परिषद् दर्शन के लिये गई, यावत् धर्मोपदेश श्रवण कर वापस लौट गई। उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) नारदपुत्र नाम के अनगार थे। वे प्रकृतिभद्र थे यावत् आत्मा को भावित करते विचरते थे।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी नियंठिपुत्ते णामं अणगारे पगतिभद्दए जाव[2] विहरति।

[२] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी निर्ग्रन्थीपुत्र नामक अनगार थे। वे प्रकृति से भद्र थे, यावत् विचरण करते थे।

३. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे जेणामेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता नारयपुत्तं अणगारं एवं वदासी—सव्वपोग्गला ते अज्जो ! किं सअड्ढा समज्झा सपदेसा ? उदाहु अणड्ढा समज्झा अपएसा ?

'अज्जो' त्ति नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वदासी—सव्वपोग्गला मे अज्जो ! सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा।

[३ प्र.] एक बार निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार, जहाँ नारदपुत्र नामक अनगार थे, वहाँ आए और उनके पास आकर उन्होंने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार पूछा—(कहा—) 'हे आर्य ! तुम्हारे मतानुसार सब पुद्गल क्या सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश हैं ?

[३ उ.] 'हे आर्य !' इस प्रकार सम्बोधित कर नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—आर्य ; मेरे मतानुसार सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं।

---

१. यहाँ दोनों जगह 'जाव' पद से 'विणीए' इत्यादि पूर्ववर्णित श्रमण वर्णन कहना चाहिए।

२. यहां 'जाव' शब्द से पूर्वसूचित 'समोसढे' तक भगवान् का तथा परिषद् का वर्णन कहना चाहिए।

४. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारदपुत्तं अणगारं एवं वदासी—जति णं ते अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा; किं दव्वादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा ? खेत्तादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा ? तह चेव । कालादेसेणं० तं चेव ? भावादेसेणं अज्जो ! ० तं चेव ?

तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वदासी—दव्वादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा; खेत्ताएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा०; तह चेव कालादेसेण वि; तं चेव भावादेसेण वि ।

[४-प्र.] तत्पश्चात् उन निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से यों कहा—हे आर्य ! यदि तुम्हारे मतानुसार सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं. अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं, तो क्या, हे आर्य ! द्रव्यादेश (द्रव्य की अपेक्षा) से वे सर्वपुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं ? अथवा हे आर्य ! क्या क्षेत्रादेश से सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश आदि पूर्ववत् हैं ? या कालादेश से सभी पुद्गल उसी प्रकार हैं या भावादेश से समस्त पुद्गल उसी प्रकार हैं ?

[४-उ.] तदनन्तर वह नारदपुत्र अनगार, निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से यों कहने लगे—हे आर्य ! मेरे मतानुसार (विचार में), द्रव्यादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं। क्षेत्रादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य आदि उसी तरह हैं, कालादेश से भी वे सब उसी तरह हैं, तथा भावादेश से भी उसी प्रकार हैं।

५. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जति णं अज्जो ! दव्वादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा; एवं ते परमाणुपोग्गले वि सअड्ढे समज्झे सपएसे, णो अणड्ढे अमज्झे अपएसे; जति णं अज्जो ! खेत्तादेसेण वि सव्वपोग्गला सअ० ३, जाव एवं ते एगपदेसोगाढे वि पोग्गले सअड्ढे समज्झे सपदेसे; जति णं अज्जो ! कालादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा; एवं ते एगसमयठितीए वि पोग्गले ३[1]; तं चेव जति णं अज्जो ! भावादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा ३[1], एवं ते एगगुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे ३[1] तं चेव; अह ते एवं न भवति, तो जं वदसि दव्वादेसेण वि सव्वपोग्गला सअ०[1] ३ नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा, एवं खेत्तादेसेण वि, काला०, भावादेसेण वि तं णं मिच्छा ।

[५ प्र.] इस पर निर्ग्रन्थपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार प्रतिप्रश्न किया—हे आर्य ! तुम्हारे मतानुसार द्रव्यादेश से सभी पुद्गल यदि सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, तो क्या तुम्हारे मतानुसार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं ? और हे आर्य ! क्षेत्रादेश से भी यदि सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं तो तुम्हारे मतानुसार एकप्रदेशावगाढ़ पुद्गल भी सार्द्ध, समध्य एवं सप्रदेश होने चाहिए !

---

१. यहाँ '३' का अंक तथा 'जाव' पद 'सअड्ढा समज्झा सपदेसा' पाठ का सूचक है ।

और फिर हे आर्य ! यदि कालादेश से भी समस्त पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, तो तुम्हारे मतानुसार एक समय की स्थिति वाला पुद्गल भी सार्द्ध, समध्य एवं सप्रदेश होना चाहिए। इसी प्रकार भावादेश से भी हे आर्य ! सभी पुद्गल यदि सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, तो तदनुसार एकगुण काला पुद्गल भी तुम्हें सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश मानना चाहिए। यदि आपके मतानुसार ऐसा नहीं है, तो फिर आपने जो यह कहा था कि द्रव्यादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, क्षेत्रादेश से भी उसी तरह हैं, कालादेश से और भावादेश से भी उसी तरह हैं, किन्तु वे अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं, इस प्रकार का आपका यह कथन मिथ्या हो जाता है।

६. तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वदासि—नो खलु वयं देवाणुप्पिया ! एतमट्ठं जाणामो पासामो, जति णं देवाणुप्पिया ! नो गिलायंति परिकहित्तए तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एतमट्ठं सोच्चा निसम्म जाणित्तए।

[६-जिज्ञासा] तब नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रिय ! निश्चय ही हम इस अर्थ (तथ्य) को नहीं जानते-देखते (अर्थात्—इस विषय का ज्ञान और दर्शन हमें नहीं है।) हे देवानुप्रिय ! यदि आपको इस अर्थ के परिकथन (स्पष्टीकरणपूर्वक कहने) में किसी प्रकार की ग्लानि, ऊब या अप्रसन्नता) न हो तो मैं आप देवानुप्रिय से इस अर्थ को सुनकर, अवधारणपूर्वक जानना चाहता हूँ।"

७. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वदासी—दव्वादेसेण वि मे अज्जो सव्वपोग्गला सपदेसा वि अपदेसा वि अणंता। खेत्तादेसेण वि एवं चेव। कालादेसेण वि एवं चेव। जे दव्वतो अपदेसे से खेत्तओ नियमा अपदेसे, कालतो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, भावओ सिय सपदेसे सिय अपदेसे। जे खेत्तओ अपदेसे से दव्वतो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, कालतो भयणाए, भावतो भयणाए। जहा खेत्तओ एवं कालतो। भावतो। जे दव्वतो सपदेसे से खेत्ततो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, एवं कालतो भावतो वि। जे खेत्ततो सपदेसे से दव्वतो नियमा सपदेसे, कालओ भयणाए, भावतो भयणाए। जहा दव्वतो तहा कालतो भावतो वि।

[७-समाधान] इस पर निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा (समाधान किया)—हे आर्य ! मेरी धारणानुसार द्रव्यादेश से भी पुद्गल सप्रदेश भी हैं, अप्रदेश भी हैं, और वे पुद्गल अनन्त हैं। क्षेत्रादेश से भी इसी तरह हैं, और कालादेश से तथा भावादेश से भी वे इसी तरह हैं। जो पुद्गल द्रव्यादेश से अप्रदेश हैं, वे क्षेत्रादेश से भी नियमतः (निश्चितरूप से) अप्रदेश हैं। कालादेश से उनमें से कोई सप्रदेश होते हैं, कोई अप्रदेश होते हैं और भावादेश से भी कोई सप्रदेश तथा कोई अप्रदेश होते हैं। जो पुद्गल क्षेत्रादेश से अप्रदेश होते हैं, उनमें कोई द्रव्यादेश से सप्रदेश और कोई अप्रदेश होते हैं, कालादेश और भावादेश से इसी प्रकार की भजना (कोई सप्रदेश और कोई अप्रदेश) जाननी चाहिए। जिस प्रकार क्षेत्र (क्षेत्रादेश) से कहा, उसी प्रकार काल से और भाव से भी कहना चाहिए। जो पुद्गल द्रव्य से सप्रदेश होते हैं, वे क्षेत्र से कोई सप्रदेश और कोई अप्रदेश होते हैं; इसी प्रकार काल से और भाव से भी वे सप्रदेश और अप्रदेश समझ लेने चाहिए। जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होते हैं; वे द्रव्य से नियमतः (निश्चित ही) सप्रदेश होते हैं, किन्तु काल से

तथा भाव से भजना से (विकल्प से—कदाचित् सप्रदेश, कदाचित् अप्रदेश) जानना चाहिए । जैसे (सप्रदेशी पुद्गल के सम्बन्ध में) द्रव्य से (द्रव्य की अपेक्षा से) कहा, वैसे ही काल से (कालादेश से) और भाव (भावादेश) से भी कथन करना चाहिए ।

८. एतेसि णं भंते ! पोग्गलाणं दव्वादेसेणं खेत्तादेसेणं कालादेसेणं भावादेसेणं सपदेसाण य अपदेसाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

नारयपुत्ता ! सव्वथोवा पोग्गला भावादेसेणं अपदेसा, कालादेसेणं अपदेसा असंखेज्जगुणा, दव्वादेसेणं अपदेसा असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं अपदेसा असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं चेव सपदेसा असंखेज्जगुणा, दव्वादेसेणं सपदेसा विसेसाहिया, कालादेसेणं सपदेसा विसेसाहिया, भावादेसेणं सपदेसा विसेसाहिया ।

[८ प्र.] हे भगवन् ! (निर्ग्रन्थीपुत्र !) द्रव्यादेश से, क्षेत्रादेश से, कालादेश से और भावादेश से, सप्रदेश और अप्रदेश पुद्गलों में कौन किन से कम, अधिक, तुल्य और विशेपाधिक हैं ?

[८ उ.] हे नारदपुत्र ! भावादेश से अप्रदेश पुद्गल सबसे थोड़े हैं । उनकी अपेक्षा कालादेश से अप्रदेश पुद्गल असंख्येयगुणा हैं; उनकी अपेक्षा द्रव्यादेश से अप्रदेश पुद्गल असंख्येयगुणा हैं और उनकी अपेक्षा भी क्षेत्रादेश से अप्रदेश पुद्गल असंख्येयगुणा हैं । उनसे क्षेत्रादेश से सप्रदेश पुद्गल असंख्यातगुणा हैं, उनसे द्रव्यादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेपाधिक हैं, उनसे कालादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेपाधिक हैं और उनसे भी भावादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेपाधिक हैं ।

९. तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं वंदइ नमंसइ, नियंठिपुत्तं अणगारं वंदित्ता नमंसित्ता एतमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति, २त्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

[९] इसके पश्चात् (यह सुन कर) नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार को वन्दन नमस्कार किया । उन्हें (निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार को) वन्दन-नमस्कार करके उनसे इस (अपनी कही हुई मिथ्या) वात के लिए सम्यक् विनयपूर्वक-वार-वार उन्होंने क्षमायाचना की । इस प्रकार क्षमायाचना करके वे (नारदपुत्र अनगार) संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे ।

विवेचन—द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलों की सप्रदेशता-अप्रदेशता के सम्बन्ध में निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र अनगार की चर्चा—प्रस्तुत ९ सूत्रों में भगवान् महावीर के ही दो शिष्यों—निर्ग्रन्थी-पुत्र और नारदपुत्र के वीच द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सर्वपुद्गलों की सार्द्धता-अनर्द्धता, समध्यता-अमध्यता और सप्रदेशता-अप्रदेशता के सम्बन्ध में हुई मधुर चर्चा का वर्णन किया गया है ।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का स्वरूप—द्रव्य की अपेक्षा परमाणुत्व आदि का कथन करना द्रव्यादेश, एकप्रदेशावगाढत्व इत्यादि का कथन करना क्षेत्रादेश; एक समय की स्थिति आदि का कथन कालादेश और एकगुण काला इत्यादि कथन भावादेश कहलाता है । दूसरे शब्दों में द्रव्यादि की अपेक्षा क्रमशः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का अर्थ है ।[2]

परिग्रहण संख्या

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २१९ से २२१

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४१ (ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा.

सप्रदेश-अप्रदेश के कथन में सार्द्ध-अनर्द्ध और समध्य-अमध्य का समावेश—निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने यद्यपि सप्रदेश-अप्रदेश का ही निरूपण किया है, किन्तु सप्रदेश में सार्द्ध और समध्य का, तथा अप्रदेश में अनर्द्ध और अमध्य का ग्रहण कर लेना चाहिए।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलों की अप्रदेशता के विषय में—जो पुद्गल **द्रव्य से अप्रदेश**—परमाणुरूप है, वह पुद्गल क्षेत्र से एकप्रदेशावगाढ़ होने से नियमतः अप्रदेश है। काल से वह पुद्गल यदि एक समय की स्थिति वाला है तो अप्रदेश है और यदि वह अनेक समय की स्थिति वाला है तो सप्रदेश है। इस तरह भाव से एकगुण काला आदि है तो अप्रदेश है, और अनेकगुण काला आदि है तो सप्रदेश है।

जो पुद्गल **क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश** (एकक्षेत्रावगाढ़) होता है, वह द्रव्य से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है; क्योंकि क्षेत्र (आकाश) के एक प्रदेश में रहने वाले द्वयणुक आदि सप्रदेश हैं, किन्तु क्षेत्र से वे अप्रदेश हैं; तथैव परमाणु एक प्रदेश में रहने वाला होने से द्रव्य से अप्रदेश है, वैसे ही क्षेत्र से भी अप्रदेश है। जो पुद्गल क्षेत्र से अप्रदेश है, वह काल से कदाचित् अप्रदेश और कदाचित् सप्रदेश इस प्रकार होता है। जैसे—कोई पुद्गल क्षेत्र से एकप्रदेश में रहने वाला है, वह यदि एक समय की स्थिति वाला है तो कालापेक्षया अप्रदेश है, किन्तु यदि वह अनेक समय की स्थिति वाला है तो कालापेक्षया सप्रदेश है। जो पुद्गल **क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश है**, यदि वह अनेकगुण काला आदि है तो भाव की अपेक्षा अप्रदेश है, किन्तु यदि वह अनेकगुण काला आदि है तो क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश होते हुए भी भाव की अपेक्षा सप्रदेश है। क्षेत्र से अप्रदेश पुद्गल के कथन की तरह **काल और भाव से भी** कथन करना चाहिए। यथा— **जो पुद्गल काल से अप्रदेश होता है**, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और भाव से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है। तथा **जो पुद्गल भाव से अप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और काल से कदाचित् सप्रदेश होता है, और कदाचित् अप्रदेश।

द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलों की सप्रदेशता के विषय में—जो पुद्गल द्वयणुकादिरूप होने से **द्रव्य से सप्रदेश** होता है, वह क्षेत्र से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है, क्योंकि वह यदि दो प्रदेशों में रहता है तो सप्रदेश है और एक ही प्रदेश में रहता है तो अप्रदेश है। इसी तरह काल से और भाव से भी कहना चाहिए।

आकाश के दो या अधिक प्रदेशों में रहने वाला पुद्गल **क्षेत्र से सप्रदेश** है, वह द्रव्य से भी सप्रदेश ही होता है; क्योंकि जो पुद्गल द्रव्य से अप्रदेश होता है, वह दो आदि प्रदेशों में नहीं रह सकता। जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होता है, वह काल से और भाव से कदाचित् सप्रदेश होता है, कदाचित् अप्रदेश होता है।

जो पुद्गल **काल से सप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और भाव से कदाचित् सप्रदेश होता है, कदाचित् अप्रदेश होता है।

जो पुद्गल **भाव से सप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और काल से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है।[2]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४१ (ख) भगवती सूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९००
२. (क) भगवती० अ. वृत्ति, पत्रांक २४१ से २४३ तक
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९००-९०१

सप्रदेश-अप्रदेश पुद्गलों का अल्प-बहुत्व—सबसे थोड़े एक गुणकाला आदि **भाव से अप्रदेशी पुद्गल** हैं, उनसे असंख्यात गुणा हैं—एक समय की स्थितिवाले—**काल से अप्रदेशी पुद्गल**। उनसे असंख्यातगुणा हैं—समस्त परमाणु पुद्गल, जो **द्रव्य से अप्रदेशी पुद्गल** हैं, उनसे भी असंख्यात गुणे हैं—**क्षेत्र से अप्रदेशी पुद्गल**, जो एक-एक आकाशप्रदेश के अवगाहन किये हुए हैं। उनसे भी असंख्यातगुणे हैं—**क्षेत्र से सप्रदेशी पुद्गल**, जिनमें द्विप्रदेशावगाढ़ से लेकर असंख्येयप्रदेशावगाढ़ आते हैं। उनसे **द्रव्य से सप्रदेशी पुद्गल**—अर्थात्—द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के पुद्गल विशेषाधिक हैं। उनसे **काल से सप्रदेशी पुद्गल**—दो समय की स्थिति वाले से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल विशेषाधिक हैं। उनसे भी भाव से सप्रदेशी पुद्गल—दो गुण काले यावत् अनन्तगुणकाले पुद्गल आदि विशेषाधिक हैं।[1]

संसारी और सिद्ध जीवों की वृद्धि हानि और अवस्थिति एवं उनके कालमान की प्ररूपणा—

१०. 'भंते!' त्ति भगवं गोतमे समणं जाव एवं वदासी—जीवा णं भंते! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिया?

गोयमा! जीवा णो वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिता।

[१० प्र.] 'भगवन्!' यों कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार पूछा—भगवन्! क्या जीव बढ़ते हैं, घटते हैं या अवस्थित रहते हैं?

[१० उ.] गौतम! जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, किन्तु अवस्थित रहते हैं।

११. नेरतिया णं भंते! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिता?

गोयमा! नेरइया वड्ढंति वि, हायंति वि, अवट्ठिया वि।

[११ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक बढ़ते हैं, घटते हैं, अथवा अवस्थित रहते हैं?

[११ उ.] गौतम! नैरयिक बढ़ते भी हैं, घटते भी हैं और अवस्थित भी रहते हैं।

१२. जहा नेरइया एवं जाव वेमाणिया।

[१२] जिस प्रकार नैरयिकों के विषय में कहा, इसी प्रकार वैमानिक-पर्यन्त (चौवीस ही दण्डकों के जीवों के विषय में) कहना चाहिए।

१३. सिद्धा णं भंते! ० पुच्छा।

गोयमा! सिद्धा वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिता वि।

[१३ प्र.] भगवन्! सिद्धों के विषय में मेरी पृच्छा है (कि वे बढ़ते हैं, घटते हैं या अवस्थित रहते हैं?)

---

१. (क) भगवती० अ. वृत्ति, पत्रांक २४३ (ख) भगवती० (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९०१

[१३ उ.] गौतम ! सिद्ध बढ़ते हैं, घटते नहीं, वे अवस्थित भी रहते हैं।

१४. जीवा णं भंते ! केवतियं कालं अवट्ठिता ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[१४ प्र.] भगवन् ! जीव कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! सर्वाद्धा (अर्थात्—सब काल में जीव अवस्थित ही रहते हैं)।

चौवीस दण्डकों की वृद्धि, हानि और अवस्थित कालमान की प्ररूपणा

१५. [१] नेरतिया णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं ।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक बढ़ते हैं ?

[१५-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्यतः एक समय तक, और उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्यात भाग तक बढते हैं।

[२] एवं हायंति ।

[१५-२] जिस प्रकार बढ़ने का काल कहा है, उसी प्रकार घटने का काल भी (उतना ही) कहना चाहिए।

[३] नेरइया णं भंते ! केवतियं कालं अवट्ठिया !

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता ।

[१५-३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ?

[१५-३ उ.] गौतम ! (नैरयिक जीव) जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः चौवीस मुहूर्त तक (अवस्थित रहते हैं।)

[४] एवं सत्तसु वि पुढवीसु 'वड्ढंति, हायंति' भाणियव्वं। नवरं अवट्ठितेसु इमं नाणत्तं, तं जहा—रयणप्पभाए पुढवीए अडतालीसं मुहुत्ता,[1] सक्करप्पभाए चोद्दस राइंदियाइं, वालुयप्पभाए मासं, पंकप्पभाए दो मासा, धूमप्पभाए चत्तारि मासा, तमाए अट्ठ मासा, तमतमाए बारस मासा।

[१५-४] इसी प्रकार सातों नरक-पृथ्वियों के जीव बढ़ते हैं, घटते हैं, किन्तु अवस्थित रहने के काल में इस प्रकार भिन्नता है। यथा—रत्नप्रभापृथ्वी में ४८ मुहूर्त्त का, शर्कराप्रभापृथ्वी में चौवीस अहोरात्रि का, वालुकाप्रभापृथ्वी में एक मास का, पंकप्रभा में दो मास का, धूमप्रभा में चार मास का, तमःप्रभा में आठ मास का और तमस्तमःप्रभा में बारह मास का अवस्थान-काल है।

---

१. रत्नप्रभा आदि में उत्पाद-उद्वर्तन-विरहकाल २४ मुहूर्त्त आदि बताया गया है, उसके लिए देखें—प्रज्ञापनासूत्र का छठा व्युत्कान्ति पद।—सं.

१६. [१] असुरकुमारा वि वड्ढंति हायंति, जहा नेरइया। अवट्ठिता जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अट्ठचालीसं मुहुत्ता।

[१६-१] जिस प्रकार नैरयिक जीवों की वृद्धि-हानि के विषय में कहा है, उसी प्रकार असुरकुमार देवों की वृद्धि-हानि के सम्बन्ध में समझना चाहिए। असुरकुमार देव जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट ४८ मुहूर्त्त तक अवस्थित रहते हैं।

[२] एवं दसविहा वि।

[१६-२] इसी प्रकार दस ही प्रकार के भवनपतिदेवों की वृद्धि, हानि और अवस्थिति का कथन करना चाहिए।

१७. एगिंदिया वड्ढंति वि, हायंति वि, अवट्ठिया वि। एतेहिं तिहि वि जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं।

[१७] एकेन्द्रिय जीव बढ़ते भी हैं, घटते भी हैं और अवस्थित भी रहते हैं। इन तीनों (वृद्धि-हानि-अवस्थिति) का काल जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टः आवलिका का असंख्यातवां भाग (समझना चाहिए।)

१८. [१] बेइंदिया वड्ढंति हायंति तहेव अवट्ठिता जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो अंतोमुहुत्ता।

[१८-१] द्वीन्द्रिय जीव भी इसी प्रकार बढ़ते-घटते हैं। इनके अवस्थान-काल में भिन्नता इस प्रकार है—ये जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः दो अन्तर्मुहूर्त्त तक अवस्थित रहते हैं।

[२] एवं जाव चतुरिंदिया।

[१८-२] द्वीन्द्रिय की तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों तक (का वृद्धि-हानि-अवस्थिति-काल) कहना चाहिए।

१९. अवसेसा सव्वे वड्ढंति, हायंति तहेव। अवट्ठियाणं णाणत्तं इमं, तं जहा—सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो अंतोमुहुत्ता। गब्भवक्कंतियाणं चउव्वीसं मुहुत्ता। सम्मुच्छिममणुस्साणं अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता। गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चउव्वीसं मुहुत्ता। वाणमंतर-जोतिस-सोहम्मीसाणेसु अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता। सणंकुमारे अट्ठारस रातिंदियाइं चत्तालीस य मुहुत्ता। माहिंदे चउवीसं रातिंदियाइं, वीस य मुहुत्ता। बंभलोए पंच चत्तालीसं रातिंदियाइं। लंतए नउतिं रातिंदियाइं। महासुक्के सट्ठं रातिंदियसतं। सहस्सारे दो रातिंदियसताइं। आणय-पाणयाणं संखेज्जा मासा। आरणऽच्चुयाणं संखेज्जाइं वासाइं। एवं गेवेज्जगदेवाणं। विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियाणं असंखिज्जाइंवाससहस्साइं। सव्वट्ठसिद्धे य पलिओवमस्स संखेज्जतिभागो। एवं भाणियव्वं-वड्ढंति हायंति जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं; अवट्ठियाणं जं भणियं।

[१९] शेष सब जीव (तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव), बढ़ते-घटते हैं, यह पहले की तरह ही कहना चाहिए। किन्तु उनके अवस्थान-काल में इस प्रकार भिन्नता है, यथा—सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यंग्योनिक जीवों का (अवस्थानकाल) दो अन्तर्मुहूर्त्त का; गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंग्योनिकों का चौवीस मुहूर्त्त का, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों का ४८ मुहूर्त्त का, गर्भज मनुष्यों का चौवीस मुहूर्त्त का, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान देवों का ४८ मुहूर्त्त का, सनत्कुमार देव का अठारह अहोरात्रि तथा चालीस मुहूर्त्त का अवस्थानकाल है। माहेन्द्र देवलोक के देवों का चौवीस रात्रिदिन और वीस मुहूर्त्त का, ब्रह्मलोकवर्ती देवों का ४५ रात्रिदिवस का, लान्तक देवों का ९० रात्रिदिवस का, महाशुक्र-देवलोकस्थ देवों का १६० अहोरात्रि का, सहस्रार-देवों का दो सौ रात्रिदिन का, आनत और प्राणत देवलोक के देवों का संख्येय मास का, आरण और अच्युत देवलोक के देवों का संख्येय वर्षों का अवस्थान-काल है। इसी प्रकार नौ ग्रैवेयक देवों के (अवस्थान-काल के) विषय में जान लेना चाहिए। विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान-वासी देवों का अवस्थानकाल असंख्येय हजार वर्षों का है। तथा सर्वार्थसिद्ध-विमानवासी देवों का अवस्थानकाल पल्योपम का संख्यातवाँ भाग है।

और ये सब जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग तक बढ़ते-घटते हैं; इस प्रकार कहना चाहिए, और इनका अवस्थानकाल जो ऊपर कहा गया है, वही है।

२०. [१] **सिद्धा णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढंति ?**

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अट्ठ समया।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक बढ़ते हैं ?

[२०-१ उ.] गौतम ! जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः आठ समय तक सिद्ध बढ़ते हैं।

[२] **केवतियं कालं अवट्ठिया ?**

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ?

[२०-२ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक सिद्ध अवस्थित रहते हैं।

विवेचन—संसारी और सिद्ध जीवों की वृद्धि, हानि और अवस्थिति एवं उनके काल-मान की प्ररूपणा—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रों (सू. १० से २० तक) में समस्त जीवों की वृद्धि, हानि एवं अवस्थिति तथा इनके काल-मान की प्ररूपणा की गई है।

वृद्धि, हानि और अवस्थिति का तात्पर्य—कोई भी जीव जब बहुत उत्पन्न होते हैं और थोड़े मरते हैं, तब **'वे बढ़ते हैं,'** ऐसा व्यपदेश किया जाता है, और जब वे बहुत मरते हैं और थोड़े उत्पन्न होते हैं, तब **'वे घटते हैं,'** ऐसा व्यपदेश किया जाता है। जब उत्पत्ति और मरण समान संख्या में होता है, अर्थात्—जितने जीव उत्पन्न होते हैं, उतने ही मरते हैं, अथवा कुछ काल तक जीव का जन्म-मरण नहीं होता, तब यह कहा जाता है कि **'वे अवस्थित हैं।'**

उदाहरणार्थ—नैरयिक जीवों का अवस्थान काल २४ मुहूर्त्त का कहा गया है। वह इस प्रकार समझना चाहिए—सातों नरकपृथ्वियों में १२ मुहूर्त्त तक न तो कोई जीव उत्पन्न होता है, और न ही किसी जीव का मरण (उद्वर्तन) होता है। इस प्रकार का उत्कृष्ट विरहकाल होने से इतने समय तक नैरयिक जीव अवस्थित रहते हैं; तथा दूसरे १२ मुहूर्त्त तक जितने जीव नरकों में उत्पन्न होते हैं, उतने ही जीव वहाँ से मरते हैं, यह भी नैरयिकों का अवस्थानकाल है। तात्पर्य यह है कि २४ मुहूर्त्त तक नैरयिकों की (हानि-वृद्धिरहित) एक परिमाणता होने से उनका अवस्थानकाल २४ मुहूर्त्त का कहा गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का अवस्थानकाल उत्कृष्ट दो अन्तर्मुहूर्त्त का बताया गया है। एक अन्तर्मुहूर्त्त तो उनका विरहकाल है। विरहकाल अवस्थानकाल से आधा होता है। इस कारण दूसरे अन्तर्मुहूर्त्त में वे समान संख्या में उत्पन्न होते और मरते हैं। इस प्रकार इनका अवस्थानकाल दो अन्तर्मुहूर्त्त का हो जाता है।[1]

सिद्ध पर्याय सादि अनन्त होने से उनकी संख्या कम नहीं हो सकती, परन्तु जब कोई जीव नया सिद्ध होता है तब वृद्धि होती है। जितने काल तक कोई भी जीव सिद्ध नहीं होता उतने काल तक सिद्ध अवस्थित (उतने के उतने) ही रहते हैं।

संसारी एवं सिद्ध जीवों में सोपचयादि चार भंग एवं उनके कालमान का निरूपण—

२१. जीवा णं भंते ! किं सोवचया, सावचया, सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जीवा णो सोवचया, नो सावचया, णो सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव सोपचय (उपचयसहित) हैं, सापचय (अपचयसहित) हैं, सोपचय-सापचय (उपचय-अपचयसहित) हैं या निरुपचय (उपचयरहित)-निरपचय (अपचय-रहित) हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! जीव न सोपचय हैं, और न ही सापचय हैं, और न सोपचय-सापचय हैं, किन्तु निरुपचय-निरपचय हैं।

२२. एगिंदिया ततियपदे, सेसा जीवा चउहि वि पदेहिं भाणियव्वा।

[२२] एकेन्द्रिय जीवों में तीसरा पद (विकल्प—सोपचय-सापचय) कहना चाहिए। शेष सब जीवों में चारों ही पद (विकल्प) कहने चाहिए।

२३. सिद्धा णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! सिद्धा सोवचया, णो सावचया, णो सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या सिद्ध भगवान् सोपचय हैं, सापचय हैं, सोपचय-सापचय हैं या निरुपचय-निरपचय हैं ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक २४५
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९११-९१२

[२३ उ.] गौतम ! सिद्ध भगवान् सोपचय हैं, सापचय नहीं हैं, सोपचय-सापचय भी नहीं हैं, किन्तु निरुपचय-निरपचय हैं।

२४. जीवा णं भंते ! केवतियं कालं निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[२४ प्र.] भगवन् ! जीव कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! जीव सर्वकाल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

२५. [१] नेरतिया णं भंते ! केवतियं कालं सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सोपचय रहते हैं ?

[२५-१ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्येय भाग तक नैरयिक सोपचय रहते हैं।

[२] केवतियं कालं सावचया ?

एवं चेव ।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सापचय रहते हैं ?

[२५-२ उ.] (गौतम !) उसी प्रकार (सोपचय के पूर्वोक्त कालमानानुसार) सापचय का काल जानना चाहिए।

[३] केवतियं कालं सोवचयसावचया ?

एवं चेव ।

[२५-३ प्र.] और वे सोपचय-सापचय कितने काल तक रहते हैं ?

[२५-३ उ.] (गौतम !) सोपचय का जितना काल कहा है, उतना ही सोपचय-सापचय का काल जानना चाहिए।

[४] केवतियं कालं निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

[२५-४ प्र.] नैरयिक कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं ?

[२५-४ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

२६. एगिंदिया सव्वे सोवचयसावचया सव्वद्धं ।

[२६] सभी एकेन्द्रिय जीव सर्व काल (सर्वदा) सोपचय-सापचय रहते हैं।

२७. सेसा सव्वे सोवचया वि, सावचया वि, सोवचयसावचया वि, निरुवचयनिरवचया वि जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं अवट्ठिएहिं वक्कंतिकालो[1] भाणियव्वो।

[२७] शेष सभी जीव सोपचय भी हैं, सापचय भी हैं, सोपचय-सापचय भी हैं और निरुपचय-निरपचय भी हैं। इन चारों का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट, आवलिका का असंख्यातवाँ भाग है। अवस्थितों (निरुपचय-निरपचय) में व्युत्क्रान्तिकाल (विरहकाल) के अनुसार कहना चाहिए।

२८. [१] सिद्धा णं भंते ! केवतियं कालं सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अट्ठ समया।

[२८-१ प्र.] भगवन् ! सिद्ध भगवान् कितने काल तक सोपचय रहते हैं ?

[२८-१ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आठ समय तक वे सोपचय रहते हैं।

[२] केवतियं कालं निरुवचयनिरवचया ?

जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। पंचमसए : अट्ठमो उद्देसो ।।

[२८-२ प्र.] और सिद्ध भगवान्, निरुपचय-निरपचय कितने काल तक रहते हैं ?

[२८-२ उ.] (गौतम !) वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे।

विवेचन—संसारी और सिद्ध जीवों में सोपचयादि चतुर्भंग एवं उनके काल-मान का निरूपण— प्रस्तुत आठ सूत्रों में समुच्चयजीवों, तथा चौवीस दण्डकों व सिद्धों में सोपचयादि के अस्तित्व एवं उनके कालमान का निरूपण किया गया है।

सोपचयादि चार भंगों का तात्पर्य—सोपचय का अर्थ है—वृद्धिसहित। अर्थात्—पहले के जितने जीव हैं, उनमें नये जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे **सोपचय** कहते हैं। पहले के जीवों में से कई जीवों के मर जाने से संख्या घट जाती है, उसे **सापचय** (हानिसहित) कहते हैं। उत्पाद और उद्वर्तन (मरण) द्वारा एक साथ वृद्धि-हानि होती है, उसे **सोपचय-सापचय** (वृद्धिहानिसहित) कहते हैं, उत्पाद और उद्वर्तन के अभाव से वृद्धि-हानि न होना **'निरुपचय-निरपचय'** कहलाता है।

---

१. व्युत्क्रान्ति (विरह) काल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए 'प्रज्ञापनासूत्र' का छठा 'व्युत्क्रान्ति पद' देखना चाहिए।—सं.

शंका-समाधान—इस प्रकरण से पूर्व सूत्रों में उक्त वृद्धि, हानि और अवस्थिति के ही समानार्थक क्रमशः उपचय, अपचय और सोपचयापचय शब्द हैं, फिर भी इन नये सूत्रों की आवश्यकता इसलिए है कि पूर्वसूत्रों में जीवों के परिमाण का कथन अभीष्ट है, जबकि इन सूत्रों में परिमाण की अपेक्षा बिना केवल उत्पाद और उद्वर्तन इष्ट है। तथा तीसरे भंग में वृद्धि, हानि और अवस्थिति इन तीनों का समावेश हो जाता है।[1]

॥ पंचम शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २४५ (ख) भगवती० हिन्दी विवेचन, भा. २, पृ. ९१२-९१३

नवमो उद्देसओ : 'रायगिह'

नवम उद्देशक : 'राजगृह'

राजगृह के स्वरूप का तात्त्विक दृष्टि से निर्णय—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव[1] एवं वयासी—

[१] उस काल और उस समय में····यावत् गौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

२. [१] किमिदं भंते ! 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ? किं पुढवी 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ? आऊ 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ? जाव[2] वणस्सती ? जहा एयणुद्देसए[3] पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वता तहा भाणियव्वं जाव सचित्त-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइं 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ?

गोतमा ! पुढवी वि 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति जाव सचित्त-अचित्त-मीसियाइं दव्वाइं 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! यह 'राजगृह' नगर क्या है—क्या कहलाता है ? क्या पृथ्वी राजगृह नगर कहलाता है ?, अथवा क्या जल राजगृहनगर कहलाता है ? यावत् वनस्पति क्या राजगृहनगर कहलाता है ? जिस प्रकार 'एजन' नामक उद्देशक (पंचम शतक के सप्तम उद्देशक) में पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनि जीवों की (परिग्रह-विषयक) वक्तव्यता कही गई है, क्या उसी प्रकार यहाँ भी कहनी चाहिए ? (अर्थात्—क्या 'कूट' राजगृह नगर कहलाता है ? शैल राजगृह नगर कहलाता है ? इत्यादि); यावत् क्या सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य, (मिलकर) राजगृह नगर कहलाता है ?

[२-१ उ.] गौतम ! पृथ्वी भी राजगृहनगर कहलाती है, यावत् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य (सब मिलकर) भी राजगृहनगर कहलाता है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! पुढवी जीवा ति य अजीवा ति य 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति जाव सचित्त-

---

१. 'जाव' शब्द से यहाँ पूर्वसूचित भगवद्वर्णन, नगर-वर्णन, समवसरण-वर्णन एवं परिषद् के आगमन-प्रतिगमन का वर्णन कहना चाहिए ।

२. यहाँ 'जाव' शब्द 'तेउ-वाउ' पदों का सूचक है ।

३. पाँचवें शतक के ७ वें उद्देशक (एजन) में वर्णित तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय वक्तव्यता में टंका, कूडा, सेला आदि पदों को यहाँ कहना चाहिए ।

अचित्त-मीसियाइं दव्वाइं जीवा ति य अजीवा ति य 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति, से तेणट्ठेणं तं चेव।

[२-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से (पृथ्वी को राजगृहनगर कहा जाता है,....यावत् सचित्त अचित्त-मिश्र द्रव्यों को राजगृहनगर कहा जाता है?)

[२-२ उ.] गौतम! पृथ्वी जीव-(पिण्ड) है और अजीव-(पिण्ड) भी है, इसलिए यह राजगृह नगर कहलाती है, यावत् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य भी जीव हैं, और अजीव भी हैं, इसलिए ये द्रव्य (मिलकर) राजगृहनगर कहलाते हैं। हे गौतम! इसी कारण से पृथ्वी आदि को राजगृहनगर कहा जाता है।

विवेचन—राजगृह के स्वरूप का निर्णय : तात्त्विक दृष्टि से—श्री गौतमस्वामी ने प्रायः वहुत से प्रश्न श्रमण भगवान् महावीर से राजगृह में पूछे थे, भगवान् के वहुत-से विहार भी राजगृह में हुए थे। इसलिए नौवें उद्देशक के प्रारम्भ में राजगृह नगर के स्वरूप के विपय में तात्त्विक दृष्टि से पूछा गया है।

निष्कर्ष—चूंकि पृथ्वी आदि के समुदाय के विना तथा राजगृह में निवास करने वाले मनुष्य पशु-पक्षी आदि के समूह के बिना 'राजगृह' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः राजगृह जीवा-जीव रूप है।[1]

चौबीस दण्डक के जीवों के उद्योत-अन्धकार के विषय में प्ररूपणा—

३. [१] से नूणं भंते दिया उज्जोते, रातिं अंधकारे?

हंता गोयमा! जाव अंधकारे।

[३-१ प्र.] हे भगवन्! क्या दिन में उद्योत (प्रकाश) और रात्रि में अन्धकार होता है?

[३-१ उ.] हाँ, गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेणं०?

गोतमा! दिया सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, रत्तिं असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गल-परिणामे, से तेणट्ठेणं०।

[४-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है?

[३-२ उ.] गौतम! दिन में शुभ पुद्गल होते हैं अर्थात् शुभ पुद्गल-परिणाम होते हैं, किन्तु रात्रि में अशुभ पुद्गल अर्थात् अशुभपुद्गल-परिणाम होते हैं। इस कारण से दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।

४. [१] नेरइयाणं भंते! किं उज्जोए, अंधकारे?

गोयमा! नेरइयाणं नो उज्जोए, अंधयारे।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २४६

[४-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के (निवासस्थान में) उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[४-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों के (स्थान में) उद्योत नहीं होता, (किन्तु) अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! नेरइयाणं असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं० ।

[४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से नैरयिकों के (स्थान में) उद्योत नहीं होता, अन्धकार होता है ?

[४-२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों के अशुभ पुद्गल और अशुभ पुद्गल परिणाम होते हैं, इस कारण से वहाँ उद्योत नहीं, किन्तु अन्धकार होता है।

५. [१] असुरकुमाराणं भंते ! किं उज्जोते, अंधकारे ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं उज्जोते, नो अंधकारे।

[५-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के क्या उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! असुरकुमारों के उद्योत होता है, अन्धकार नहीं होता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! असुरकुमाराणं सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चति० ।

[५-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है (कि असुरकुमारों के उद्योत होता है, अन्धकार नहीं ?)

[५-२ उ] गौतम ! असुरकुमारों के शुभ पुद्गल या शुभ परिणाम होते हैं; इस कारण से कहा जाता है कि उनके उद्योत होता है, अन्धकार नहीं होता।

[३] **एवं जाव[1] थणियाणं।**

[५-३] इसी प्रकार (नागकुमार देवों से लेकर) स्तनितकुमार देवों तक के लिए कहना चाहिए।

६. पुढविकाइया जाव[2] तेइंदिया जहा नेरइया।

[६] जिस प्रकार नैरयिक जीवों के (उद्योत-अन्धकार के) विषय में कथन किया, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर त्रीन्द्रिय जीवों तक के विषय में कहना चाहिए।

---

१. 'जाव' पद नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का सूचक है।

२. यहाँ जाव पद पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर से लेकर द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय जीवों तक का सूचक है।

७. [१] चउरिंदियाणं भंते ! किं उज्जोते, अंधकारे ?

गोतमा ! उज्जोते वि, अंधकारे वि।

[७-१ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों के क्या उद्योत है अथवा अन्धकार है ?

[७-१ उ.] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवों के उद्योत भी है, अन्धकार भी है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! चतुरिंदियाणं सुभाऽसुभा पोग्गला, सुभाऽसुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं०।

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से चतुरिन्द्रिय जीवों के उद्योत भी है, अन्धकार भी है ?

[७-२ उ.] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवों के शुभ और अशुभ (दोनों प्रकार के) पुद्गल होते हैं, तथा शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम होते हैं, इसलिए ऐसा कहा जाता है, कि उनके उद्योत भी है और अन्धकार भी है।

८. एवं जाव[1] मणुस्साणं।

[८] इसी प्रकार (तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय और) यावत् मनुष्यों तक के लिए कहना चाहिए।

९. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[९] जिस प्रकार असुरकुमारों के (उद्योत-अन्धकार) के विषय में कहा, उसी प्रकार वाण-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डक के जीवों के उद्योत-अन्धकार के विषय में प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ३ से ९ तक) में नैरयिक जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक के उद्योत और अन्धकार के सम्बन्ध में कारण-पूर्वक सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है।

उद्योत और अन्धकार के कारण : शुभाशुभ पुद्गल एवं परिणाम—क्यों और कैसे ?—शास्त्रकार ने दिन में शुभ और रात्रि में अशुभ पुद्गलों का कारण प्रकाश और अन्धकार बतलाया है, इसके पीछे रहस्य यह है कि दिन में सूर्य की किरणों के सम्पर्क के कारण पुद्गल के परिणाम शुभ होते हैं, किन्तु रात्रि में सूर्यकिरण-सम्पर्क न होने से पुद्गलों का परिणमन अशुभ होता है।

नरकों में पुद्गलों की शुभता के निमित्तभूत सूर्यकिरणों का प्रकाश नहीं है, इसलिए वहाँ अन्धकार है। पृथ्वीकायिक से लेकर त्रीन्द्रिय तक के जीव, जो मनुष्यक्षेत्र में हैं, और उन्हें सूर्य-किरणों आदि का सम्पर्क भी है, फिर भी उनमें अन्धकार कहा है, उसका कारण यह है कि उनके चक्षुरिन्द्रिय न होने से दृश्य वस्तु दिखाई नहीं देती, फलतः शुभ पुद्गलों का कार्य उनमें नहीं होता, उस अपेक्षा से उनमें अशुभ पुद्गल हैं; अतः उनमें अन्धकार ही है। चतुरिन्द्रिय जीवों से लेकर मनुष्य तक में शुभाशुभ दोनों पुद्गल होते हैं, क्योंकि उनके आँख होने पर भी जब रविकिरणादि का सद्भाव होता है, तब दृश्य पदार्थों के ज्ञान में निमित्त होने से उनमें शुभ पुद्गल होते हैं, किन्तु

---

१. यहाँ 'जाव' पद से तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों एवं मनुष्यों का ग्रहण करना चाहिए।

रविकिरणादि का सम्पर्क नहीं होता, तब पदार्थज्ञान का अजनक होने से उनमें अशुभ पुद्गल होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के रहने के आश्रय (स्थान) आदि की भास्वरता के कारण वहाँ शुभ पुद्गल हैं, अतएव अन्धकार नहीं उद्योत है।[1]

चौवीस दण्डकों में समयादि काल-ज्ञानसम्बन्धी प्ररूपणा—

१४. [१] अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं तत्थगयाणं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा आवलिया ति वा जाव[2] ओसप्पिणी ति वा उस्सप्पिणी ति वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! क्या वहाँ (नरकक्षेत्र में) रहे हुए नैरयिकों को इस प्रकार का प्रज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) होता है, जैसे कि—(यह) समय (है), आवलिका (है), यावत् (यह) उत्सर्पिणी काल (या) अवसर्पिणी काल (है) ?

[१०-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। (अर्थात्—वहाँ रहे हुए नैरयिक जीवों को समयादि का प्रज्ञान नहीं होता।)

[२] से केणट्ठेणं जाव[3] समया ति वा आवलिया ति वा जाव ओसप्पिणी ति वा उस्सप्पिणी ति वा ?

गोयमा ! इहं तेसिं माणं, इहं तेसिं पमाणं, इहं तेसिं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा। से तेणट्ठेणं जाव नो एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से नरकस्थ नैरयिकों को समय, आवलिका, यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का प्रज्ञान नहीं होता ?

[१०-२ उ.] गौतम ! यहाँ (मनुष्यलोक में) समयादि का मान है, यहाँ उनका प्रमाण है, इसलिए यहाँ (मनुष्य क्षेत्र में) उनका (समयादि का) ऐसा प्रज्ञान होता है कि—यह समय है, यावत् यह उत्सर्पिणीकाल है, (किन्तु नरक में न तो समयादि का मान है, न प्रमाण है और न ही प्रज्ञान है।) इस कारण से कहा जाता है कि नरकस्थित नैरयिकों को इस प्रकार से समय, आवलिका यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल का प्रज्ञान नहीं होता।

११. एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं।

[११] जिस प्रकार नरकस्थित नैरयिकों के (समयादिप्रज्ञान के) विषय में कहा गया है;

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४७

२. यहाँ 'जाव' पद से लव, स्तोक, मुहूर्त्त, दिवस, मास इत्यादि समस्त काल-विभागसूचक अवसर्पिणीपर्यन्त शब्दों का कथन करना चाहिए।

३. 'जाव' पद यहाँ समग्र प्रश्न वाक्य पुनः उच्चारण करने का सूचक है।

उसी प्रकार (भवनपति देवों, स्थावर जीवों, तीन विकलेन्द्रियों से ले कर) यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों तक के लिए कहना चाहिए।

१२. [१] अत्थि णं भंते ! मणुस्साणं इहगताणं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा ?

हंता, अत्थि ।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! क्या यहाँ (मनुष्यलोक में) रहे हुए मनुष्यों को इस प्रकार का प्रज्ञान होता है, कि (यह) समय (है,) अथवा यावत् (यह) उत्सर्पिणीकाल (है) ?

[१२-१ उ.] हाँ, गौतम ! (यहाँ रहे हुए मनुष्यों को समयादि का प्रज्ञान) होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! इहं तेसिं माणं, इहं तेसिं पमाणं, इहं चेव तेसिं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा। से तेणट्ठेणं०।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है) ?

[१२-२ उ.] गौतम ! यहाँ (मनुष्यलोक में) उनका (समयादि का) मान है, यहाँ उनका प्रमाण है, इसलिए यहाँ उनको उनका (समयादि का) इस प्रकार से प्रज्ञान होता है, यथा—यह समय है, या यावत् यह उत्सर्पिणीकाल है। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यहाँ रहे हुए मनुष्यों को समयादि का प्रज्ञान होता है।

१३. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं।

[१३] जिस प्रकार नैरयिक जीवों के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों के (समयादिप्रज्ञान के) विषय में कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डक के जीवों में समयादिकाल के ज्ञानसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १० से १३ तक) में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीवों में से कहाँ-कहाँ किन-किन जीवों को समयादि का ज्ञान नहीं होता, किनको होता है ? और किस कारण से ? यह निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—चौबीस दण्डक के जीवों में से मनुष्यलोक में स्थित मनुष्यों के अतिरिक्त मनुष्यलोक-बाह्य किसी भी जीव को समय आवलिका आदि का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वहाँ समयादि का मान-प्रमाण नहीं होता है। समयादि की अभिव्यक्ति सूर्य की गति से होती है और सूर्य की गति मनुष्यलोक में ही है, नरकादि में नहीं। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि मनुष्यलोक स्थित मनुष्यों को ही समयादि का ज्ञान होता है; मनुष्यलोक से बाहर समयादि कालविभाग का व्यवहार नहीं होता। यद्यपि मनुष्यलोक में कितने ही तिर्यंच-पंचेन्द्रिय, भवनपति, वाणव्यन्तर, और ज्योतिष्कदेव हैं, तथापि वे स्वल्प हैं और कालविभाग के अव्यवहारी हैं, साथ ही मनुष्यलोक के बाहर वे बहुत हैं। अतः उन

वहुतों की अपेक्षा से यह कहा गया है कि पंचेन्द्रियतिर्यंच, भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्कदेव समय आदि कालविभाग को नहीं जानते ।[1]

मान और प्रमाण का अर्थ—समय, आवलिका आदि काल के विभाग हैं। इनमें अपेक्षाकृत सूक्ष्म काल 'मान' कहलाता है, और अपेक्षाकृत प्रकृष्ट काल 'प्रमाण'। जैसे—'मुहूर्त्त' मान है, मुहूर्त्त की अपेक्षा सूक्ष्म होने से 'लव' 'प्रमाण' है। लव की अपेक्षा 'स्तोक' प्रमाण है और स्तोक की अपेक्षा 'लव' मान है। इस प्रकार से 'समय' तक जान लेना चाहिए।[2]

पार्श्वापत्य स्थविरों द्वारा भगवान् से लोक-सम्बन्धी शंका-समाधान एवं पंचमहाव्रत धर्म में समर्पण—

१४. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वदासी—से नूणं भंते ! असंखेज्जे लोए, अणंता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा ?, विगच्छिसु वा विगच्छंति वा विगच्छिस्संति वा ?, परित्ता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा ? विगच्छिंसु वा ३ ?

हंता, अज्जो ! असंखेज्जे लोए, अणंता रातिंदिया० तं चेव।

[१४-१ प्र.] उस काल और उस समय में पार्श्वापत्य (पार्श्वनाथ भगवान् के सन्तानीय शिष्य) स्थविर भगवन्त, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आए। वहाँ आ कर वे श्रमण भगवान् महावीर से अदूरसामन्त (अर्थात्—न वहुत दूर और न वहुत निकट; अपितु यथायोग्य स्थान पर) खड़े रह कर इस प्रकार पूछने लगे—भगवन् ! असंख्य लोक में क्या अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे; तथा नष्ट हुए हैं, नष्ट होते हैं और नष्ट होंगे ? अथवा परिमित (नियत परिमाण वाले) रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे; तथा नष्ट हुए हैं, नष्ट होते हैं और नष्ट होंगे ?

[१४-१ उ.] हाँ, आर्यो ! असंख्य लोक में अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं, यावत् उपर्युक्त रूप सारा पाठ कहना चाहिए।

[२] से केणट्ठेणं जाव विगच्छिस्संति वा ? से नूणं भे अज्जो ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं "सासते लोए वुइते अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे; हेट्ठा विच्छिण्णे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले, अहे पलियंकसंठिते, मज्झे वरवइरविग्गहिते, उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिते। तंसि च णं सासयंसि लोगंसि अणादियंसि अणवदग्गंसि परित्तंसि परिवुडंसि हेट्ठा विच्छिण्णंसि, मज्झे संखित्तंसि,

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४७
(ख) 'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके', 'तत्कृतः कालविभागः,' 'वहिरवस्थिताः'—तत्वार्थसूत्र अ. ४ सू. १४-१५-१६।

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४७

उप्पिं विसालंसि, अहे पलियंकसंठियंसि, मज्झे वरवइरविग्गहियंसि, उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठियंसि अणंता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति, परित्ता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति। से भूए उप्पन्ने विगते परिणए अजीवेहिं लोक्कति, पलोक्कइ। जे लोक्कइ से लोए ?

'हंता, भगवं !'। से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चति असंखेज्जे तं चेव[1]**।**

[१४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से असंख्य लोक में अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न यावत् नष्ट होंगे ?

[१४-२ उ.] हे आर्यो ! यह निश्चित है कि आपके (गुरुस्वरूप) पुरुषादानीय (पुरुषों में ग्राह्य), अर्हत् पार्श्वनाथ ने लोक को शाश्वत कहा है। इसी प्रकार लोक को अनादि, अनवदग्र (अनन्त), परिमित, अलोक से परिवृत (घिरा हुआ), नीचे विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त, और ऊपर विशाल, तथा नीचे पल्यंकाकार, बीच में उत्तम वज्राकार और ऊपर ऊर्ध्वमृदंगाकार कहा है। उस प्रकार के शाश्वत, अनादि, अनन्त, परित्त, परिवृत, नीचे विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त, ऊपर विशाल, तथा नीचे पल्यंकाकार, मध्य में उत्तमवज्राकार और ऊपर ऊर्ध्वमृदंगाकारसंस्थित लोक में अनन्त जीवघन उत्पन्न हो-हो कर नष्ट होते हैं और परित्त (नियत=असंख्य) जीवघन भी उत्पन्न हो-हो कर विनष्ट होते हैं। इसीलिए ही तो यह लोक भूत है, उत्पन्न है, विगत है, परिणत है। यह, अजीवों (अपनी सत्ता को धारण करते, नष्ट होते, और विभिन्न रूपों में परिणत होते लोक के अनन्यभूत पुद्‌गलादि) से लोकित—निश्चित होता है, तथा यह (भूत आदि धर्म वाला लोक) विशेषरूप से लोकित—निश्चित होता है। 'जो (प्रमाण से) लोकित—अवलोकित होता है, वही लोक है न ?' (पार्श्वापत्य स्थविर—) हाँ, भगवन् ! (वही लोक है।) इसी कारण से, हे आर्यो ! ऐसा कहा जाता है कि असंख्य लोक में (अनन्त रात्रिदिवस……यावत् परिमित रात्रि-दिवस यावत् विनष्ट होंगे।) इत्यादि सब पूर्ववत् कहना चाहिए।

[३] **तप्पभिंतिं च णं ते पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति 'सव्वण्णुं सव्वदरिसिं'।**

[१४-३] तब से वे पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जानने लगे।

१५. [१] तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, २ एवं वदासी— इच्छामो णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

[१५-१] इसके पश्चात् उन (पार्श्वापत्य) स्थविर भगवन्तों ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'भगवन् चातुर्याम धर्म के बदले हम आपके समीप प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहते हैं।

---

१. यहाँ 'लोक' के पूर्वसूचित समग्र विशेषण कहने चाहिए।

[२] 'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।'

[१५-२ भगवान्—] 'देवानुप्रियो ! जिस प्रकार आपको सुख हो, वैसा करो, किन्तु प्रतिबन्ध (शुभ कार्य में ढील या रुकावट) मत करो ।'

१६. तए णं ते पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जाव[1] चरिमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं सिद्धा जाव[2] सव्वदुक्खप्पहीणा, अत्थेगइया देवा देवलोगेसु उववन्ना ।

[१६] इसके पश्चात् वे पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त,……यावत् अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास के साथ सिद्ध हुए यावत् सर्वदुःखों से प्रहीण (मुक्त-रहित) हुए और (उनमें से) कई (स्थविर) देवलोकों में देवरूप में उत्पन्न हुए ।

विवेचन—पार्श्वापत्य स्थविरों द्वारा भगवान् से लोक-सम्बन्धी शंका-समाधान एवं पंचमहाव्रत-धर्म में समर्पण—प्रस्तुत तीन सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने पार्श्वनाथशिष्य स्थविरों के भगवान् महावीर के पास लोक सम्बन्धी शंका के समाधानार्थ आगमन से लेकर उनके सिद्धिगमन या स्वर्गगमन तक का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है ।

पार्श्वापत्य स्थविरों द्वारा कृत दो प्रश्नों का आशय—(१) स्थविरों द्वारा पूछे गए प्रथम प्रश्न का आशय यह है कि जो लोक असंख्यात प्रदेशवाला है, उसमें अनन्त रात्रि-दिवस (काल), कैसे हो या रह सकते हैं ? क्योंकि लोकरूप आधार असंख्यात होने से छोटा है और रात्रिदिवसरूप आधेय अनन्त होने से बड़ा है । अत: छोटे आधार में बड़ा आधेय कैसे रह सकता है ? (२) दूसरे प्रश्न का आशय यह है कि जब रात्रिदिवस (काल) अनन्त हैं, तो परित्त कैसे हो सकते हैं ?

भगवान् द्वारा दिये गए समाधान का आशय—उपर्युक्त दोनों प्रश्नों के समाधान का आशय यह है—एक मकान में हजारों दीपकों का प्रकाश समा सकता है, वैसे ही तथाविधस्वभाव होने से असंख्य-प्रदेशात्मक लोक में अनन्त जीव रहते हैं । वे जीव, साधारण शरीर की अपेक्षा एक ही स्थान में, एक ही समय में, आदिकाल में अनन्त उत्पन्न होते हैं और अनन्त ही विनष्ट होते हैं । उस समय वह समयादिकाल साधारण शरीर में रहने वाले अनन्तजीवों में से प्रत्येक जीव में विद्यमान है, तथैव प्रत्येक शरीर में रहने वाले परित्त (परिमित) जीवों में से प्रत्येक जीव में विद्यमान है । क्योंकि वह समयादि काल में जीवों की स्थिति पर्यायरूप है । इस प्रकार काल अनन्त भी हुआ और परित्त भी हुआ । इसी कारण से कहा गया—असंख्यलोक में रात्रिदिवस अनन्त भी हैं, परित्त भी । इसी प्रकार तीनों काल में हो सकता है ।

लोक अनन्त भी-है, परित्त भी; इसका तात्पर्य—भगवान् महावीर ने अपने पूर्वज पुरुषों में माननीय (आदानीय) तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मत का ही विश्लेषण करते हुए बताया कि लोक शाश्वत एवं प्रतिक्षण स्थिर भी है और उत्पन्न, विगत (विनाशी) एवं परिणामी (निरन्वय विनाशी नहीं किन्तु विविधपर्यायप्राप्त) भी है । वह अनादि होते हुए भी अनन्त है । अनन्त (अन्तरहित) होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा से परित्त (परिमित—असंख्येय) है ।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ निर्वाणगामी मुनि का वर्णन करना चाहिए ।

२. 'जाव' पद से यहाँ 'बुद्धा परिनिव्वुडा' आदि पद कहने चाहिए ।

अनन्त जीवघन और परित्त जीवघन—अनन्त जीवघन का अर्थ है—परिमाण से अनन्त अथवा जोवसन्तति की अपेक्षा अनन्त। जीवसंतति का कभी अन्त नहीं होता इसलिए सूक्ष्मादि साधारण शरीरों की अपेक्षा तथा संतति की अपेक्षा जीव अनन्त हैं। वे अनन्तपर्याय-समूहरूप होने से तथा असंख्येयप्रदेशों का पिण्डरूप होने से घन कहलाते हैं। ये हुए अनन्त जीवघन। तथा प्रत्येक शरीर वाले भूत भविष्यत्काल की संतति की अपेक्षा से रहित होने से पूर्वोक्तरूप से परित्त जीवघन कहलाते हैं। चूंकि अनन्त और परित्त जीवों के सम्बन्ध से रात्रि-दिवसरूप कालविशेष भी अनन्त और परित्त कहलाता है। इसलिए अनन्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी अनन्त हो जाता है और परित्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी परित्त हो जाता है। अतः इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है।[1]

चातुर्याम एवं सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत में अन्तर—सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान और बहिद्धादान का त्याग चातुर्याम धर्म है, और सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरमण पंचमहाव्रत धर्म है। बहिद्धादान में मैथुन और परिग्रह दोनों का समावेश हो जाता है। इसलिए इन दोनों प्रकार के धर्मों में विशेष अन्तर नहीं है। भरत और ऐरवत क्षेत्र के २४ तीर्थंकरों में से प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के सिवाय बीच के २२ तीर्थंकरों के शासन में तथा महाविदेह क्षेत्र में चातुर्याम प्रतिक्रमणरहित (कारण होने पर प्रतिक्रमण) धर्म प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासन में सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत धर्म प्रवृत्त होता है।[2]

१७—कइविहा णं भंते ! देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवासी-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिय-भेएणं। भवणवासी दसविहा, वाणमंतरा अट्ठविहा, जोइसिया पंचविहा, वेमाणिया दुविहा।

[१७ प्र.] भगवन् ! देवगण कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! देवगण चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से (चार प्रकार होते हैं।) भवनवासी दस प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क पांच प्रकार के हैं और वैमानिक दो प्रकार के हैं।

विवेचन—देवलोक और उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में देवगण के मुख्य चार प्रकार और उनमें से प्रत्येक के प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

देवलोक का तात्पर्य—प्रस्तुत प्रसंग में देवलोक का अर्थ—देवों का निवासस्थान या देवक्षेत्र

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक २४८-२४९ (ख) भगवती हिन्दी विवेचन भा. २ पृ. ९२५

२. (क) भगवती० हिन्दी विवेचन भा. २ पृ. ९२७, (ख) भगवती. अ. वृत्ति. पत्रांक २४९

(ग) सपडिक्कमणो धम्मो. पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं।

(घ) मूलपाठ के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर एवं अर्हत् पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर हैं, यह तथ्य पार्श्वापत्य स्थविरों को ज्ञात न था। इसी कारण प्रथम साक्षात्कार में वे भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार किये विना अथवा विनय भाव व्यक्त किये विना ही उनसे प्रश्न पूछते हैं। —जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा. १ पृ. १९७

नहीं, अपितु देव-समूह या देवनिकाय ही यथोचित है; क्योंकि यहाँ प्रश्न के उत्तर में देवलोक के भेद न बताकर देवों के भेद-प्रभेद बताए हैं। तत्त्वार्थसूत्र में देवों के चार निकाय बताए गए हैं।[1]

भवनवासी देवों के दस भेद—१. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. सुवर्ण (सुपर्ण)कुमार, ४. विद्युत्कुमार, ५. अग्निकुमार, ६. द्वीपकुमार, ७. उदधिकुमार, ८. दिशाकुमार, ९. पवनकुमार और १०. स्तनितकुमार।

वाणव्यन्तर देवों के आठ भेद—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देवों के पांच भेद—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे।

वैमानिक देवों के दो भेद—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। पहले से लेकर बारहवें देवलोक तक के देव 'कल्पोपपन्न' और उनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक एवं पंच अनुत्तरविमानवासी देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं।[2]

किमियं रायगिहं ति य, उज्जोए अंधकार-समए य।
पासंतिवासि-पुच्छा, राइंदिय देवलोगा य॥

उद्देशक की संग्रह-गाथा

[१८ गाथार्थ] राजगृह नगर क्या है? दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार क्यों होता है? समय आदि काल का ज्ञान किन जीवों को होता है, किनको नहीं? रात्रि-दिवस के विषय में पार्श्वजिनशिष्यों के प्रश्न और देवलोकविषयक प्रश्न; इतने विषय इस नौवें उद्देशक में कहे गए हैं।

॥ पंचम शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) 'देवाश्चतुर्निकायाः'—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. १ (ख) भगवती. (हिंदी विवेचन) भा. २, पृ. ९२९
२. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. ११, १२, १३, १७-१८ (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९२९

दसमो उद्देसओ : 'चंपाचंदिमा'

दशम उद्देशक : 'चम्पा-चन्द्रमा'

[१] तेणं कालेणं तेणं समाएणं चंपा णामं णयरी, जहा पढिमिल्लो उद्देसओ तहा णेयव्वो एसो वि, णवरं चंदिमा भाणियव्वा।

[१] उस काल और उस समय में चम्पा नाम की नगरी थी। जैसे (पंचम शतक का) प्रथम उद्देशक कहा है, उसी प्रकार यह उद्देशक भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ 'चन्द्रमा' कहना चाहिए।

विवेचन—जम्बूद्वीप में चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि से सम्बन्धित अतिदेशपूर्वक वर्णन— प्रस्तुत उद्देशक के प्रथम सूत्र में चम्पानगरी में श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित चन्द्रमा का उदय-अस्त-सम्बन्धी वर्णन, पंचम शतक के प्रथम उद्देशक (चम्पा-रवि) में वर्णित सूर्य के उदय-अस्त सम्बन्धी वर्णन का हवाला देकर किया गया है।

चम्पा-चन्द्रमा—चन्द्रमा का उदय-अस्त-सम्बन्धी प्ररूपण श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा चम्पा नगरी में किया गया था, इसलिए इस उद्देशक का नाम 'चम्पा-चन्द्रमा' रखा गया है। रवि के बदले चन्द्रमा नाम के अतिरिक्त सारा ही वर्णन सूर्य के उदयास्त वर्णनवत् समझना चाहिए।

॥ पंचम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ पंचम शतक सम्पूर्ण ॥

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो पहर तक अस्वाध्याय काल है।

६ यूपक- शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिकाकृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५ श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूषालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी वैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी वालिया, ग्रहमदावाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, व्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी वोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, वेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० ग्रमरचंदजी वोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री वादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, वैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखवचंदजी ब्राफना, ग्रागरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखवचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्री छगनीवाई विनायकिया, व्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चोपड़ा, व्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, व्यावर
७. श्री वी. गजराजजी वोकड़िया, सलेम,
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी वाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री वादरमलजी पुखराजजी वंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरवाई गोठी W/o श्री जंवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रुपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी ग्रमरचन्दजी कोठारी, व्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलावचन्दजी चतर, व्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री ग्रासूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीवाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री वच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रुणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१ श्री चम्पालालजी वुद्धराजजी बाफणा, व्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, व्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया भैरूंद
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखवचंदजी सुराणा, वोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु वड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी वरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी वेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रुणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी वोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पार्ली
११६. श्रीमती रामकुंवरवाई धर्मपत्नी श्रीचांदमलजी लोढ़ा, वम्वई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी वाफणा, वेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी वाफणा, औरंगावाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाविया, (कुडालोर), मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दरावाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दरावाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, वगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, विलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी वोहरा एण्ड कं. वेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़